वेदों में भारतीय संस्कृति

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१४५

वेदों में भारतीय संस्कृति

लेखक
पं० आद्यादत्त ठाकुर

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६७

मूल्य—१०.०० दस रुपये

मुद्रक
ओम्‌प्रकाश कपूर,
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी—६७११-२३

प्रकाशकीय

वैदिक संस्कृति और सभ्यता ही भारतीय आचार-विचार का मूल स्रोत है। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत भारतीय विचार-धारा और विचारों के अनुरूप आचरण दोनों ही सन्निविष्ट हैं। भारतीय विचारों में पंचभूतों से निष्पन्न शरीर के अन्तर्गत एक आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया गया है। यह आत्मा, जो अजर-अमर है, जब एक शरीर को त्यागकर दूसरे शरीर को ग्रहण करती है तो इसे ही पुनर्जन्म का सिद्धान्त कहते हैं। जिस प्रकार भोजन वस्त्रादि द्वारा शरीर के प्रति हमारे अनेक कर्तव्य हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं। आत्मा के प्रति कर्त्तव्यों को भारतीय संस्कृति में प्रमुख स्थान है। उन आचरणों को, जिनसे आत्मा उन्नत हो, धर्म कहा गया है। धर्म का अर्थ है जो उन्नति की ओर ले जाय और इस उन्नति से आशय आत्मा की उन्नति से है। धर्म से अर्थ और काम की भी सिद्धि होती है और उसी से अन्ततोगत्वा मोक्ष भी प्राप्त होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति मूलतः अध्यात्म प्रवण है। इसमें अनियन्त्रित तथा उच्छृंखल रूप से अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग को विघातक माना गया है किन्तु धर्म को लक्ष्य में रखकर अर्थ का उपार्जन और काम का उपभोग अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के भी साधन माने गये हैं।

वैदिक महर्षियों ने ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा प्राकृतिक तत्त्वों को हृदयंगम किया और प्रकृति के विधान को लक्ष्य में रखकर तदनुरूप ही––प्रकृति के नियमों के आधार पर––समाज व्यवस्था और धर्म व्यवस्था का सामंजस्य रखा। इस प्रकार भारतीय धर्म मनुष्यकृत स्वेच्छाचारिता का परिणाम नहीं वरन् प्रकृति के आधिदैविक, आधिभौतिक तत्त्वों का सम्यक् रूप से निरीक्षण करके अध्यात्म तत्त्व का निर्धारण है। किन्तु ये प्रयत्न केवल प्रकृति तत्त्व के आधिपत्य पर ही सीमित नहीं थे। इनमें पारमार्थिक दृष्टि का कभी भी परित्याग नहीं हुआ, इनका लक्ष्य सर्वांगीण उन्नति था। आधिभौतिक सिद्धि के साथ-साथ पारमार्थिक पथ का प्रश्रय लेना ही उनका ध्येय था। इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक संस्कृति और धर्म का किसी अन्य संस्कृति अथवा धर्म से कोई विरोध नहीं; वरन् उसमें विश्वकल्याण की भावना ही अन्तर्भूत रही है।

प्रस्तुत पुस्तक में वेदों में भारतीय संस्कृति के विशद अध्ययन के साथ-साथ उन पारिभाषिक तत्त्वों का भी विवेचन किया गया है जिनका यथार्थ ज्ञान वैदिक संस्कृति के महत्त्व को समझने के लिए नितान्त अपेक्षित है । आशा है कि यह पुस्तक वैदिक संस्कृति के छात्रों, शोधार्थियों तथा अन्य जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी ।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति, उत्तर-प्रदेश

भूमिका

वेद वाङमय का महत्त्व भारत में सदा से चला आ रहा है। परन्तु मध्यकालीन भारत में यज्ञविद्या के पुनरुद्धार और प्रचार की दृष्टि से यज्ञपरक मन्त्रों का ही प्राधान्य माना जाने लगा और वेदों में प्रतिपाद्य अन्य विषय उपेक्षा की कोटि में पड़ गये। इतिहास और विज्ञान आदि पर प्रकाश डालने वाले भाग अर्थवादकहे जा कर अनुपयुक्त से हो गये। प्राचीन आचार्यों में यास्क प्रायः अन्तिम थे जो वैदिक विज्ञान पर भी प्रकाश डालने के प्रयत्न में सफल हुए हैं। उनके बाद के वेद व्याख्याकारों का ध्येय केवल वैधानिक यज्ञों की इतिकर्त्तव्यता द्योतित करना था। इधर अर्वाचीन काल में महर्षि दयानन्द सरस्वती का ध्यान वैदिक विज्ञान की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने मध्यकालीन व्याख्यानों की त्रुटि पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की। वेदों का अध्ययन संकुचित हो रहा था, संस्कारों का रूप मात्र रह गया था, उनका मर्म लुप्त प्राय था। इन्होंने वेदों के अध्ययन को प्रोत्साहित किया, वेदों में अनेक वज्ञानिक तथ्यों का आविष्कार करके यह सिद्ध कर दिया कि वैदिक संस्कृति और सभ्यता ही समस्त भारतीय आचार-विचारों का मूल स्रोत है। इनके उपदेश से संस्कारों को भी पुनरुज्जीवन मिला और यज्ञ विद्या का भी महत्त्व हृदयंगम कराया गया। इन्हीं महानुभाव के प्रायः समकालीन पं० सत्यव्रत सामश्रमी का परिश्रम भी इस क्षेत्र में स्तुत्य है। परन्तु इन दोनों ही महानुभावों ने प्रक्षिप्त अंशों के दोष के कारण पुराण और इतिहास को महत्त्व नहीं दिया।

हमारे गुरुवर्य पूज्यपाद गोलोकवासी समीक्षाचक्रवर्ती विद्यावाचस्पति पं० मधुसूदन ओझाजी ने यह अनुभव किया कि 'इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' यह अक्षरशः सत्य है। इतिहास, पुराण, अन्य वेदांग तथा ब्राह्मण भाग के सम्यक् अध्ययन से ही वेद की ग्रन्थियाँ सुलझ सकती हैं। जो भाग अर्थवाद कह कर प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रक्षिप्त समझे जाते थे, उन्हीं में यथार्थ में वेदार्थ-रहस्य के उद्‌घाटन करने की क्षमता निहित है। इस दृष्टि से वे इन सबकी उपादेयता के महत्त्व को दृष्टि में रख कर वेदोक्त परिभाषाओं के परिष्कार में प्रवृत्त हुए। विकासवाद के अनुयायी यह मानते थे कि प्राचीन काल में विज्ञान का बाल्यकाल हो सकता है, विकास काल सम्भव नहीं है। इसके विपरीत इन्होंने अपने ग्रन्थों में यह सिद्ध कर दिया है कि वैदिक काल विज्ञान का पूर्ण मध्याह्न काल था। इनका यह दृढ़ विश्वास था कि जिस प्रकार प्रत्येक शास्त्र के मर्म को समझने के लिए उस

शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है उसी प्रकार वेदादि शास्त्र की विशेष परिभाषाओं के तत्त्व को समझना अनिवार्य है, जो कालवश विलुप्त हो गयीं । उन परिभाषाओं का स्पष्टीकरण इन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है। इन परिभाषाओं को हृदयंगम कर लेने से उपलभ्यमान वेद-भाष्य से ही सब ज्ञात हो जाता है; नये भाष्य की आवश्यकता नहीं है। इनके लिखे गये ग्रन्थ संख्या में दो सौ से अधिक हैं। इनमें से कुछ मुद्रित हो चुके हैं, बहुत से अभी अमुद्रित हैं जिनके प्रकाशन प्रबन्ध में उनके तनूज, हमारे सुहृद्वर विद्वत्प्रवर पण्डित प्रद्युम्नजी शर्म्मा ओझा सतत प्रयत्नशील हैं। इनके अनुग्रह से हमें मुद्रित समग्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अमुद्रित कुछ ग्रन्थों के भी अवलोकन का अवसर मिला है ।

दिवङ्गत गुरुवर्य के समय-समय पर दिये गये मौखिक उपदेश तथा मुद्रित ग्रन्थों के आधार पर यह निबन्ध मुख्य रूप से प्रस्तुत हो सका है ।

इन्हीं गुरुवर के उपदेश और ग्रन्थों के आधार पर इनके पट्टशिष्य, विद्वन्मूर्धन्य परम-श्रद्धाभाजन, ज्ञानवयोवृद्ध महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' नाम की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है । इसके अतिरिक्त विद्यावाचस्पतिजी के अनेक ग्रन्थों के भाष्य भी इन्होंने लिखे हैं । समान स्रोत होने से अनेक विषयों में इनके ग्रन्थों से यहाँ समानता होना स्वाभाविक है । इसके अति-रिक्त इनके ग्रन्थों से हमें सहायता भी मिली है एतदर्थ हम इन महानुभाव के कृतज्ञ हैं ।

विद्यावाचस्पतिजी के दूसरे शिष्य स्वर्गीय पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने भी बहुत से विशालकाय ग्रन्थ लिखकर उनके विचारों का प्रचार किया है । इनके भी दो ग्रन्थों से हमें साहाय्य मिला है । और भी जिन ग्रन्थों से सहायता मिली है उनके लेखकों के प्रति हमारे द्वारा आभार प्रदर्शन किया जाता है ।

यहां निबन्ध के विषय विवेचन के सम्बन्ध में भी दो शब्द कहना अनावश्यक न होगा । निबन्ध का शीर्षक यद्यपि 'वैदिक संस्कृति' है तथापि इसमें संस्कृति के विवरण के साथ ही उन पारिभाषिक तत्त्वों का विवेचन भी विशेष रूप से उचित समझा गया, जिनके यथार्थ ज्ञान से वैदिक संस्कृति का महत्त्व हृदयंगम हो सकता है । बिना पारिभाषिक ज्ञान के संस्कृति के रहस्यों का उद्घाटन सम्भव नहीं है ।

यहां एक शब्द उद्धरण के सम्बन्ध में भी कहना आवश्यक है । प्रमाणों के संकेत मात्र देने से अध्ययनशील छात्रों को मूल वचनों का संग्रह करने में अधिक असुविधा होती है, इस दृष्टि से अधिकांश उद्धरण टिप्पणी में तथा जहाँ-तहाँ मूल ग्रन्थ में दिये गये हैं ।

यदि इस निबन्ध के परिशीलन से भारतीय बन्धुवर्ग की वैदिक संस्कृति के लिए जिज्ञासा जाग्रत् हो जाय और उन्हें यह विश्वास हो जाय कि वैदिक संस्कृति, वैदिक धर्म का किसी अन्य सम्प्रदाय से कोई विरोध न था प्रत्युत उसकी प्रवृत्ति प्राकृतिक तत्त्वों के आधार पर विश्वकल्याण की कामना से हुई थी; यदि यह धारणा हो जाय कि सत्य-अहिंसा आदि सामान्य धर्म ही समस्त संसार के सुख साधन सम्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं, तो यह श्रम सार्थक समझा जायगा । आशा है यह निबन्ध भारतीय वैदिक संस्कृति के, उच्च कक्षाओं के छात्रों को उनके अन्वेषण कार्य में भी पथ प्रदर्शन कर सकेगा ।

आद्यादत्त ठाकुर

विषय-सूची

उपोद्घात

वेद ही भारतीय आर्यों का सर्वस्व है, स्वतः प्रमाण है तथा सूर्य के समान अपना प्रकाश करता हुआ समस्त अन्य पदार्थों का प्रकाश करनेवाला है । वह सत्यविद्या का निधान है तथा उसी के आधार पर अन्य समस्त विद्याओं का विकास हुआ है । यह विश्वास अनादि काल से चला आ रहा है । उसी को मूल प्रमाण मानकर भारतीय आर्यों के आचार विचार स्मृतियों में प्रतिपादित किये गये हैं । उसके विरुद्ध यदि कोई स्मृतिवाक्य मिलता है, तो वेद के प्रमाण के समक्ष विरुद्ध स्मृतिवाक्य अग्राह्य हो जाता है । मनुस्मृति में तो अनेक स्थल ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष वेद के अनुवाद स्वरूप हैं । मनु ने स्वयम् अपनी स्मृति में वेदों की सर्वोत्कृष्टता पद-पद पर घोषित की है। एक स्थल में (२।१६८) यहां तक कह दिया है कि जो द्विज वेद का अध्ययन न कर अन्यत्र श्रम करता है वह अपने अन्वय (पुत्र-पौत्रादि) सहित शीघ्र शूद्रत्व को प्राप्त होता है । आज भी भारतीय आर्यों में वेद के लिए परम श्रद्धा देखी जाती है । यह भी माना जाता है कि वेद वाक्य त्रिकालाबाधित सत्य हैं, उनमें कहीं व्यभिचार नहीं मिलता । सत्यस्वरूप, सत्य प्रतिपादक होने से वेद ईश्वरस्वरूप ही हैं, यह माना जाता है । यह तो हुई भारतीय आर्यों की मान्यता । वर्तमान कुछ वर्षों से वेदों की ओर पाश्चात्य मनीषियों का ध्यान भी आकृष्ट हुआ है और अनेक गण्य मान्य विद्वानों ने वेदों के अध्ययन में, अनुवाद में, समालोचना में घोर परिश्रम किया है, जो सर्वथा स्तुत्य है । परन्तु भारतीय परम्परा के ज्ञान के अभाव में उनका अध्ययन भाषा-विज्ञान, इतिहास आदि तक ही सीमित रहा । कुछ लोगों ने दार्शनिक विचारों का भी अध्ययन अवश्य किया है, किन्तु अनेक कारणों से उन्हें कृतकार्यता नहीं मिली । प्रथम तो उनका प्रयास यह रहा कि आर्यगण भारत के मूल निवासी नहीं थे, यह सिद्ध किया जाय । इसके लिए वेद में उन्हें सामग्री भी दिखाई देने लगी । वेद में दस्युओं के साथ आर्यों का युद्धवर्णन मिलता है, उसके आधार पर वे तुरन्त इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि आर्यों ने बाहर से आकर यहाँ के मूल निवासियों को युद्ध में परास्त करके—पद दलित करके—यहाँ आधिपत्य कर लिया । इस प्रकार आर्यों को आक्रामक सिद्ध कर देने से आर्यगण भी उसी प्रकार यहाँ विदेशी माने जा सकते हैं जिस प्रकार उनके बाद में यहाँ आनेवाले यवन आदि । अधिकांश नव्य शिक्षा दीक्षित भी इसी को मूल सिद्धान्त मानकर गवेषणा में प्रवृत्त होते हैं । कुछ सम्मान्य मनीषियों ने इस नवीन मत का सप्रमाण

प्रतिवाद भी किया है परन्तु वह धारणा इतनी बद्धमूल हो रही है कि उसका हिलना कठिन हो रहा है ।

इधर वेदों में संकेतित विषयों के प्राचीन प्रक्रियाद्योतक ग्रन्थ बौद्ध काल में तथा यवन राज्य-काल में नष्ट हो गये; बहुत से ग्रन्थ सुरक्षा के अभाव में नष्ट हो गये और वेदप्रतिपाद्य वैज्ञानिक विषयों का उच्छेद हो गया, तथापि वेद पर भारतीय श्रद्धा अभी तक बनी हुई है. यह आश्चर्य का विषय है । ईश्वरीय ग्रन्थ मानकर ही परम्परागत रूढ़ि के कारण यह श्रद्धा टिक रही है । पर विज्ञान के इस युग में यह अन्धविश्वास——उपयोगिता के अभाव में अधिक दिन तक रह सकेगा, यह संदिग्ध है ।

मध्यकालीन मान्य विद्वज्जनों ने अपनी दृष्टि से, वेद प्रामाण्य की रक्षा करने के उद्देश्य से, तथा बौद्धकालीन यज्ञ के खण्डन से जो यज्ञ प्रवृत्ति शिथिल हो गयी थी उसके दृढ़ीकरण के लिए यह सिद्ध करने का उद्योग किया कि वेद अपौरुषेय हैं, अनादि हैं । उनका विज्ञान या इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है । इतिहास आदि जो आपाततः दिखाई देते हैं उनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है । वे विधि भाग की स्तुति के लिए हैं; वे अर्थवाद हैं और उपेक्षणीय हैं । इसके विपरीत दूसरा पक्ष वेदों को पौरुषेय सिद्ध करने में प्रवृत्त हो गया और इस प्रकार वेदों के पौरुषेयापौरुषेयत्व का वितण्डावाद खड़ा हो गया; जिसका साधारण जन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है । साथ ही यह विवाद भी प्रारम्भ हो गया कि केवल मन्त्र भाग ही वेद हैं अथवा ब्राह्मण भाग भी । इस सब विवाद में केवल विद्वज्जनों की शक्ति का व्यय होता रहा । ठोस कार्य अवरुद्ध हो गया ।

अर्थवाद की कल्पना का दुष्परिणाम यह हुआ कि बहुत से श्रुतिवाक्य जो इतिहास या विज्ञान के प्रतिपादक थे उपेक्षणीय कोटि में आ गये और 'अर्थवाद' की रक्षा की दृष्टि से उनके प्रकृत स्वाभाविक अर्थ का ग्रहण करना कठिन हो गया । यद्यपि वेद ग्रन्थों में शतशः ऐसे वाक्य हैं जो स्पष्ट रूप से सामाजिक, ऐतिहासिक अथवा वैज्ञानिक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं और विधि की स्तुति के लिए प्रयुक्त नहीं हैं । यहाँ केवल दो उदाहरण दिये जाते हैं । ऋग्वेद (४।२४।१०) में वामदेव ऋषि का मन्त्र है——

"क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ।
यदा वृत्राणि जंघनद् अथैनं मे पुनर्ददत् ।।"

इसका स्पष्ट अक्षरों में यह अर्थ निकलता है कि वामदेव इन्द्र को बन्धक रख कर दस धेनु ऋण रूप में लेना चाहते हैं । 'धेनु' शब्द यहाँ विनिमय मुद्रा के अर्थ में सम्भव है । यहाँ 'दस धेनु देकर इस इन्द्र को कौन खरीदता है; और फिर हमें वापस दे दे' इसमें

इन्द्र का क्रय-विक्रय कैसे सम्भव है ? यहाँ इन्द्र का अर्थ देवप्रतिमा के रूप में भी सम्भव हो सकता है। इसका किसी विधिभाग की स्तुति से संबन्ध नहीं है। यह तत्कालीन बन्धक रखकर ऋणादान की सामाजिक प्रथा का ही द्योतक है। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण ऋग्वेद (१०।३।३४) का मन्त्र है, इसमे द्यूतक्रीडा की निन्दा की गयी है। इसका उद्धरण मूल निबन्ध में हुआ है। इसमें द्यूतकार की दुर्दशा का वर्णन स्पष्ट ही द्यूत के दोषों को बता कर जनसाधारण को उसके परिहार करने के उद्देश्य से किया गया है। द्यूत सामाजिक अभिशाप है; यह इसका आशय है। ऐसे ही अधिक संख्यक मन्त्र हैं जिनका शुद्ध अर्थवाद में ग्रहण करना सम्भव नहीं होता।

आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में इसी प्रकार विप्रतिपत्ति दृष्टिगोचर होती है। कहीं आत्मा को अखण्ड निर्लेप निरंजन विभु कहा गया है; कहीं उसे मनःप्राणवाङ्मय कहा गया है। कहीं ईश्वर को वृक्ष के समान निस्तब्ध कहा गया है; उसे अपाणि-पाद कहा गया है; कहीं 'सर्वतश्चक्षुः' ,'सर्वतस्पात्' कहा गया है।

स्वयं ऋग्वेदादि के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति मिलती है। कहीं उन्हें सर्वहुत् यज्ञ से उत्पन्न हुआ बताया गया है—जैसे पुरुषसूक्त में—'तस्माद् यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि। कहीं अग्नि, वायु और रवि से उनकी उत्पत्ति बतायी गयी है। कहीं यह कहा गया है कि मूर्ति सब ऋग्वेद से बनती हैं, सब प्रकार की गति याजुषी है इत्यादि। कहीं सूर्य के सम्बन्ध में मिलता है कि यह (सूर्य) वेदत्रयी है। इत्यादि परस्पर विरोधी वाक्य मिलते हैं।

इस प्रकार वेद के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध—व्याघातक वचनों का उपलब्ध होना श्रद्धालु पुरुष की श्रद्धा को शिथिल करने लगता है। जिस वेदमन्त्र के लिए यह कहा गया है कि मन्त्र स्वरतः या वर्णतः हीन होने से मिथ्या प्रयुक्त होकर यथार्थ अर्थ का प्रकाशन करने में समर्थ नहीं होता, वह वाग्रूपी वज्र बनकर यजमान की हिंसा कर देता है। उसमें परस्पर विरुद्ध वाक्य तो सर्वथा परिहार्य हैं।

वैदिक संस्कृति का ज्ञान और उसका विचार वेद-ग्रन्थों के अर्थ के साथ सम्बद्ध है। जब तक परस्पर विरोधी वचनों का समन्वय न होगा, जब तक उनकी एकवाक्यता न होगी, तब तक उसका मर्म हृदयंगम नहीं हो सकता। अतः इस निबन्ध में यथाशक्ति यह प्रयत्न किया गया है कि परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले श्रद्धाविघातक वाक्यों का यथार्थ अभिप्राय समझ कर विरोध परिहार हो। उस दृष्टि से प्रथम अध्याय में वेद स्वरूप निरूपण किया गया है। वैज्ञानिक वेद और शास्त्र वेद, इस प्रकार वेद के दो विभाग होने से जहाँ

विरोध प्रतीत होता है वहाँ कहीं विज्ञान वेद से अभिप्राय है और कहीं शास्त्र वेद से; यह ध्यान में आ जाने से विरोध दूर हो जाता है। यहीं प्रकरणप्राप्त पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व के समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। प्रसंगप्राप्त वेद संहिता और ब्राह्मण भाग के परस्पर सम्बन्ध का भी निरूपण हुआ है। इसी अध्याय के द्वितीय खण्ड में 'वेदों के वर्णन की शैली' पर भी विचार उपस्थित करना उचित समझा गया है। जब तक वर्णन शैली का उचित ज्ञान सम्पन्न न हो तब तक यथार्थ अर्थ हृदयग्राही नहीं हो सकता। तीसरे खण्ड में पुराण समीक्षा है। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस प्राचीन उक्ति के अनुसार वेदार्थ के उपबृंहण में पुराणों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान काल में पुराण नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें बहुत से प्रक्षिप्त अंशों का समावेश हो गया है; परस्पर विरोधी बातें भी प्रचुरता से प्राप्त होती हैं। इस दृष्टि से अनेक मान्य मनीषियों ने इन पुराणों की सर्वत्र उपेक्षा कर दी है परन्तु तुष को पृथक् करके सार भाग को ग्रहण करने पर पुराणों के द्वारा अब भी वेदार्थ प्रकाश में सहायता मिलती है, इससे उनके सम्बन्ध में भी विवेचना सर्वथा समीचीन समझी गयी।

द्वितीय अध्याय में यह निरूपित हुआ है कि किस प्रकार एक अद्वितीय निर्विशेष तत्त्व से सृष्टि संस्था का विकास हुआ। भारतीय आर्यों की दृष्टि में अद्वैत सिद्धान्त ही मुख्य है। उस अद्वैत तत्त्व से किस प्रकार उसी एक के दो स्वरूप हुए और फिर किस प्रकार संस्था का विकास हुआ यह विवेचित है। ब्रह्म अद्वितीय के प्रथम सहचर रूप से रस और बल (ये पारिभाषिक शब्द हैं) उद्भूत हुए और फिर रस के आधार पर बल के द्वारा क्रमशः सृष्टि का विकास हुआ। बल में स्वतः सत्ता नहीं है। सत्ताधायक एक मात्र रस है। रस की सत्ता से ही बल सत्तान्वित होता है। सत्ता एक ही है जो रस में मुख्य है और बल में संक्रान्त। सत्ता के द्वैत होने से ही द्वैत माना जाता है। अतः इधर सृष्टि प्रकरण में संक्रान्त सत्ता के कारण द्वैत भले ही मान लिया जाय—जैसा कि बाद में दार्शनिकों ने द्वैत-विशिष्टाद्वैत इत्यादि भेद माना है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से सत्ता एक मात्र रस के आधार पर है। अतः अद्वैत तत्त्व बाधित नहीं होता। आगे सृष्टि के विकास में रस और बल दोनों समन्वित रहते हैं। जहाँ रस की प्रधानता रहती है वहाँ आत्मसृष्टि का विकास होता है और बल की प्रधानता में भूत सृष्टि का। यहीं पर प्रसंगवश भूतों की सृष्टि का विवेचन किया गया है।

इसी अध्याय के दूसरे खण्ड में प्रजापति का निरूपण हुआ है। प्रजा के सम्बन्ध से ही प्रजापति शब्द चरितार्थ होता है। प्रजा और प्रजापति दोनों का परस्पर सम्बन्ध कराने वाली प्राणशक्ति को पाश कहा गया है। इस प्रकार आत्मा (प्रजापति), प्राण (पाश) और प्रजा (पशु) ये तीन भेद हो जाते हैं। इन्हीं तीनों को आत्मा, प्राण और

पशु भी कहा जाता है। इसी पशु के सम्बन्ध से आत्मा को पशुपति भी कहा जाता है। इसी प्रकरण में ईश्वर प्रजापति और जीव प्रजापति का निरूपण है। साथ ही ईश्वर और जीव का साधर्म्य और वैधर्म्य भी निरूपित है।

तीसरे खण्ड में ऋषि-पितृ-देवता आदि का निरूपण है। ऋषि शब्द के सम्बन्ध में श्रुतियों में अनेक लक्षण दृष्टिगत होते हैं। कहीं 'प्राणा वाव ऋषयः' कहकर उसे प्राण कहा गया है, उसे ही वहीं असत् भी कहा गया है। वेद मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार ऋषियों के लिए जो अनेक लक्षण मिलते हैं उनका निरूपण किया गया है। मनु ने लिखा है—'ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।' इसके अनुसार ऋषि से पितृ और पितृ से देव दानवों की सृष्टि मानी गयी है। अतः यहीं क्रमप्राप्त पितृ और देव का भी संक्षिप्त निरूपण किया गया है।

तृतीय अध्याय में भारतीय (आर्यों की) संस्कृति का उल्लेख है, उसी के अंगभूत वर्ण और आश्रम का विवेचन है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। प्रसंग प्राप्त इनका भी यहाँ निरूपण हुआ है। संस्कृत भाषा में धर्म शब्द अत्यन्त व्यापक माना गया है अतः इसका यहाँ पृथक् विवेचन हुआ है। वर्ण व्यवस्था संस्कार पर निर्भर है। बिना संस्कार के वर्ण की रक्षा सम्भव नहीं है अतः संस्कार भी आर्य संस्कृति के मुख्य अंग माने गये हैं। अतः संस्कार पर भी यहां कुछ विवेचन आवश्यक प्रतीत हुआ। संस्कृति का ही दूसरा आवश्यक अंग यज्ञ है। यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है। यज्ञ के द्वारा ही सर्वाभीष्ट सिद्धि विहित है, जैसा कि गीता में कहा गया है—'एष वोऽस्त्विष्ट-कामधुक्।' इसलिए यज्ञ विज्ञान पर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। यज्ञ मुख्य रूप से प्राकृतिक है। प्रकृति में यह यज्ञ निरन्तर होता रहता है और उसी यज्ञ से समस्त पदार्थों की सृष्टि और रक्षा होती रहती है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। सूर्य की अग्नि में सोम की आहुति अनवरत होती रहती है। इसी यज्ञ के द्वारा सूर्य के स्वरूप की रक्षा होती है और इसी यज्ञ के द्वारा सौर संस्था में समस्त पदार्थों का निर्माण होता रहता है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इसी दृष्टि से कहा गया है। महर्षियों ने अपनी आर्ष दृष्टि से इस प्राकृतिक यज्ञ प्रक्रिया का साक्षात्कार किया और तदनुरूप वैधानिक यज्ञ की कल्पना करके अपने समस्त अभीष्ट पदार्थों को प्राप्त करने में सामर्थ्य लाभ किया था। प्रकृति के विधान के अनुसार प्राणदेवताओं के द्वारा सकलार्थ सिद्धि का साधन वैधानिक यज्ञ ही था। वर्तमान काल में उसकी यथाविधि इतिकर्तव्यता के अभाव में यज्ञ की वह शक्ति दृष्टिगोचर नहीं होती यह भिन्न बात है। तत्रापि इस क्षीणशक्ति युग में भी यज्ञ के द्वारा अपेक्षाकृत इष्ट साधन होता ही है। अतः इस प्रकरण में यज्ञ

सम्बन्धी विवेचना भी आवश्यक समझी गयी। यज्ञ कर्म बिना दक्षिणा दान के अपूर्ण समझा जाता है अतः प्रसंगप्राप्त दक्षिणा दान का भी विवेचन हुआ है।

इसी अध्याय में शिक्षा के सम्बन्ध में भी विवेचन हुआ है क्योंकि पूर्णतया शिक्षा-प्राप्त पुरुष ही यज्ञ कर्म को यथाविधि सम्पन्न करने में समर्थ हो सकता है। यहीं प्रकरण-प्राप्त शिक्षा-कल्प आदि वेदांगों का निरूपण हुआ है। वेदांग के अन्तर्गत जो शिक्षा शब्द आया है वह संकुचित अर्थ में प्रयुक्त है। तैत्तिरीय उपनिषद् की प्रथम वल्ली शिक्षोप-निषद् कही गयी है। वहाँ प्रारम्भ में ही मिलता है—'अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलम्' इत्यादि। इसके अनुसार वेदांग में वर्ण, स्वर आदि का निरूपण करने वाला शास्त्र शिक्षा कहा गया है। ये वेदांग ब्राह्मण आदि भागों में उपवर्णित हैं अतः वेदांग माने जाते हैं। पाणिनीय शिक्षा, व्याकरण, कल्प सूत्र आदि जो ब्राह्मण भाग से उद्धृत करके पृथक् रूप से विवेचित हुए हैं वे ही आजकल वेदांग कहे जाते हैं, परन्तु वास्तव में व्याकरण, प्रातिशाख्य, कल्प आदि परवर्ती ग्रन्थों के लिए वेदांग का प्रयोग औपचारिक है। मुख्य रूप से वेदांग ब्राह्मण भाग ही है। परवर्ती मुनियों के द्वारा रचित ये ग्रन्थ स्मृति कोटि में आते हैं। इसी प्रकरण में आचार के सम्बन्ध में भी विवेचना हुई है। शिक्षा के अन्तर्गत ही लिपि ज्ञान भी आता है। आधुनिक समाज में यह धारणा बद्धमूल हो रही है कि वैदिक काल में भारतीय आर्यों को लिपि का ज्ञान न था। यह कल्पना श्रुति शब्द पर आधारित है। श्रुति के द्वारा मौखिक रूप से शिक्षा दी जाती थी, लिपि का ज्ञान न था। अतः इस सम्बन्ध में भी विवेचना आवश्यक प्रतीत हुई।

इसी अध्याय में विज्ञान और शिल्प का भी विवेचन आवश्यक प्रतीत हुआ। भारतीय आर्य केवल कृषि कर्म से अभिज्ञ थे। विज्ञान अथवा शिल्प में उनका ज्ञान कुण्ठित था। यह धारणा अनेक सम्मान्य वर्तमान भारतीय लेखकों के ग्रन्थों में भी दृष्टिगत होती है। परन्तु शिल्प और विज्ञान का कहीं संकेत रूप से और कहीं स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है जिस पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक आर्य शिल्प और विज्ञान में भी चरम उत्कर्ष प्राप्त कर चुके थे। यह अवश्य है कि इन शिल्पादि के निर्माण की प्रक्रिया कालप्रभाव से लुप्त हो गयी है। वेद ग्रन्थों में उनका सिद्धवत् उल्लेख है। उनके निर्माण के ग्रन्थ पृथक् थे जो अब कालगर्त में विलुप्त हो गये हैं। तो भी वेदों में जो संकेत मिलते हैं उनसे यह निश्चय होता है कि ये विज्ञान और शिल्प उन दिनों में सामान्य रूप से प्रचार प्राप्त कर चुके थे। संक्षेप में इन शिल्प और विज्ञानों का निर्देश करना क्रमप्राप्त समझा गया। इसी प्रसंग में कुछ पाश्चात्य विद्वज्जनों के मत का उल्लेख भी किया गया जिससे यह सिद्ध होता है कि विचारशील कुछ सूक्ष्मदर्शी आधुनिक विवेचकों के मत से वेदों

में विज्ञान होना माना गया है। वह केवल कपोलकल्पना नहीं है। वर्तमान कालीन वैज्ञानिक अनुसंधानों को देखकर उनके आधार पर वेदों में विज्ञान दिखाने का प्रयास हठात् किया जाता है; इस आक्षेप के निरास के लिए इन आधुनिक विद्वज्जनों के मत की उपादेयता है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम खण्ड में भौम त्रैलोक्य व्यवस्था और तदनुसार भूमण्डल में स्वर्ग स्थान का निरूपण है। ऋषियों ने जिस प्रकार प्राकृतिक यज्ञों के आधार पर यज्ञ प्रक्रिया (वैधानिक) का प्रचार किया उसी तरह पृथ्वीमण्डल में भी—प्राकृतिक विश्व के अनुसार—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की कल्पना की। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता स्वर्गस्थानीय सूर्य हैं और उनकी प्रजा स्वःस्थानीय प्राण देवता हैं उस प्रकार की कल्पना पृथ्वी में करके त्रैलोक्य की कल्पना हुई। सूर्य-प्राण इन्द्र कहा गया है—'यथाग्नि-गर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इसके अनुसार इन्द्र स्वर्लोकाधिष्ठाता है। सूर्य-पिण्ड शरीर है उसका आत्मा इन्द्र कहा गया है। इसी के अनुसार पृथ्वीमण्डल का उत्तरीय भाग स्वर्ग, उसके अधिष्ठाता इन्द्र और प्रजा रूप में देवगण माने गये। जिस प्रकार सूर्य-मण्डल से ऊपर परमेष्ठिमण्डल विष्णु और स्वयंभूमण्डल ब्रह्मा है उसी प्रकार भूस्वर्ग-स्थानीय इन्द्र के ऊपर विष्णु और ब्रह्मा प्रतिष्ठित हुए। इसके बाद दूसरे खण्ड में प्राचीन भारत की सीमा पर विचार किया गया है। इस बृहत्सीमा पर ध्यान न देने के कारण भाषाविज्ञान शास्त्रियों को अनक कष्ट-कल्पनाएँ करनी पड़ी हैं। पारस्थान की भाषा, आचार नीति से पूर्वीय वैदिक आर्यों की भाषा आदि का विलक्षण साम्य देख कर यह कल्पना की गयी कि भारत में बाहर से जब आर्य लोग आये तब उनकी दो शाखाएँ हो गयीं। एक भारत की तरफ आयी और दूसरी पारस्थान की ओर गयी। किसी ने तो यह भी माना है कि आर्य लोग पहले पारस्थान गये और फिर वहाँ से भारत में आये। इस प्रकरण में सप्रमाण यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि भारत की प्राचीन सीमा पूर्व समुद्र से लेकर भूमध्यसागर तक विस्तृत थी। भारत के अन्तर्गत ही पारस्थान था। आर्यों का निवास समान रूप से वहाँ तक था। बाद में विरोध के कारण सिंधु नद को मध्य मान कर पूर्वीय भारत ऐन्द्र भारत हो गया जो बाद में हिन्दुस्तान (सिन्धुस्थान) कहा जाने लगा और सिन्धु से पश्चिम भाग वारुण भारत पारस्थान कहलाने लगा। इसके आगे भारतीय आर्यों के मूल निवास के सम्बन्ध में विचार किया गया है और यह दिखाने का यत्न किया गया है कि जिन दस्यु-युद्धों को मूल आधार मान कर यह भ्रान्त कल्पना स्थिर की गयी है कि आर्यगण बाहर से आकर यहाँ के मूल निवासियों को युद्ध में परास्त करके यहाँ के निवासी हुए, वे युद्ध भारत की सीमा से बहिर्भूत थे। इसके अतिरिक्त इन युद्धों से पूर्व

ही भारत में आर्यों का निवास प्रमाणित होता है । इस प्रकरण के अन्त में राजशासन, युद्ध कला आदि का भी संक्षिप्त निर्देश कर दिया गया है ।

पाँचवें अध्याय में भक्ति, उपासना और अवतार का उल्लेख है । आर्य महर्षियों का ध्येय चतुर्वर्ग फल प्राप्ति थी । भारतीय आर्यों ने अध्यात्म की उन्नति की थी परन्तु भौतिक वैभव की सर्वथा उपेक्षा की थी, यह आक्षेप निस्सार है । परम पुरुषार्थ अवश्य ही मोक्ष था और उसी को लक्ष्य करके आर्यों के जीवन के प्रत्येक कार्य नियंत्रित होते थे । आत्मा का अज्ञानावरण हटाना ही परम पुरुषार्थ था । उसके लिए तीन मुख्य मार्ग थे—कर्म, भक्ति और ज्ञान । 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह वैदिक सिद्धान्त है । ज्ञान ही अज्ञान का प्रतिद्वन्द्वी है, वह प्रबल होकर अज्ञान का अपनोदन कर सकता है । उस ज्ञान-प्राबल्य की उपलब्धि के लिए उसे सच्चिदानन्दघन—स्वप्रभव ईश्वर के साथ योग करना आवश्यक होता है । उसी अक्षय भण्डार से इसे ज्ञान शक्ति मिल सकती है । ईश्वर के ज्ञान और कर्म ये दो रूप कहे गये हैं । इन्हीं दोनों के माध्यम से जीव का ईश्वर के साथ योग सम्भव है । परन्तु ये दोनों ही कठिन मार्ग हैं । ज्ञान की प्रशंसा करते हुए भी भगवान् गीता में कहते हैं कि अव्यक्त अक्षर (ईश्वर) में जिनका चित्त आसक्त है उन्हें अधिकतर क्लेश (कठिनता) है क्योंकि अव्यक्त गति देहियों को कठिनता से प्राप्त होती है । इसलिए सरलता की दृष्टि से उन्होंने दयापरवश होकर मध्यम मार्ग (भक्ति) का निर्देश किया है । यह मध्यम मार्ग कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय है । सामान्य ज्ञान के द्वारा श्रद्धेय में श्रद्धा उत्पन्न होती है और तब श्रद्धा के द्वारा भक्ति का उदय होता है । भक्ति की निष्ठा होने पर उसे ईश्वरानुग्रह प्राप्त होता है और अन्त में मोक्ष का प्रधान साधन ज्ञान स्वतः उद्भूत होकर सकल अज्ञान-राशि का नाश कर देता है । मोक्ष स्वतः सिद्ध है वह आगन्तुक नहीं है । अज्ञानांधकार के नाश होते ही वह स्व स्वरूप से प्रकाशित हो जाता है । गीता में भक्ति की की भूरि-भूरि प्रशंसा मिलती है । अर्जुन को भगवान् ने जो विश्वरूप दिखाया है वहाँ कहा है कि तुमने यह जो हमारा रूप देखा है वह वेद, तप, यज्ञ, दान आदि से नहीं देखा जा सकता, वह एक मात्र अनन्य भक्ति के द्वारा ही सम्भव है ।[1]

१. नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
—११।५२,५४ पूर्वार्धं ।

भक्ति के भेद-प्रभेदों के अनन्तर, माध्यम रूप अवतार का भी वर्णन हुआ है। उसमें सर्वप्रथम परात्पर की शक्तिरूपा महामाया का उल्लेख है। उसी से मित (सीमित) होने पर आत्मसृष्टि और विश्वसृष्टि का उपक्रम होता है। इसी प्रसंग में पूर्णावतार राम और कृष्ण का अवतार तत्त्व प्रतिपादित हुआ है। यह भी विचार उपस्थित किया गया है कि राम और कृष्ण दोनों के स्वभाव में जहाँ साम्य मिलता है वहीं वैषम्य भी देखा जाता है इसका प्रधान कारण क्या है। साधुओं के परित्राण और पापियों के विनाश के लिए विष्णु का ही अधिकतर अवतार क्यों होता है इसकी भी समीक्षा की गयी है।

प्रसंगवश दार्शनिक विचार भी अन्त में उपस्थित किया गया है। जिस प्रकार आधुनिक षड्दर्शन मिलते हैं उसी प्रकार वेद में (नासदीय सूक्त में) तत्कालीन दस वाद (मत) और अन्त में सिद्धान्तवाद मिलता है। दर्शनों में जो परस्पर विरोध प्रतीत होता है उसके समन्वय की चेष्टा भी की गयी है।

प्रथम अध्याय

वेदस्वरूप निरूपण

भारतीय समाज में तो वेदों का समादर है ही, अन्यान्य देशवासी विद्वान् लोग भी वेदों की महत्ता मानते हैं, यद्यपि उनका इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण भिन्न है । भारतीयों की दृष्टि में वेद विज्ञान और धर्म के मूल माने जाते हैं; उनका प्रामाण्य अकाट्य माना जाता है तथा उन्हें साक्षात् ईश्वर का स्वरूप अथवा उनका निःश्वास माना गया है । अन्य देशीय विद्वान् उनकी प्राचीनता के नाते भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उन्हें महत्त्व देते हैं । पाश्चात्य विचारकों में से कुछ विद्वानों ने वेद और वेदान्त के धार्मिक तथा आध्यात्मिक महत्त्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है इसमें सन्देह नहीं ।[१] परन्तु भारतीय शास्त्रकारों में, प्रायः सभी ने, वेद को स्वतः प्रमाण माना है तथा वैदिक प्रमाण के उपलब्ध रहते उससे विरुद्ध अन्य प्रमाण नगण्य माने गये हैं ।

वेद के प्रमाण को सर्वोपरि मानने का कारण है । प्रथम तो वे ईश्वर के ही स्वरूप माने जाते हैं । ईश्वर सर्वज्ञ है । ज्ञानमय है । उसी ईश्वरीय ज्ञान की उद्भूति ऋषियों के माध्यम से हुई है । अतः ईश्वरीय ज्ञान में किसी प्रकार के सन्देह अथवा भ्रम की आशंका नहीं हो सकती । जो लोग वेदों को ऋषिप्रणीत मानते हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि ऋषियों को वह ज्ञान उन्हें ईश्वर की प्रेरणा से हुआ है । ऋषिगण ज्ञान के उत्पन्न करने वाले नहीं हैं । ईश्वर की प्रेरणा से, अपने योगादि द्वारा परिपूत चित्त में जिस ज्ञान का उन्हें साक्षात्कार हुआ है उसे वे शब्द द्वारा प्रकाश में लाये हैं । इसी दृष्टि से वेदों को श्रुति भी कहा गया है । अर्वाचीन समालोचक श्रुति शब्द की व्याख्या में कहते हैं कि वैदिक काल में ऋषियों को लेखन कला का अभिज्ञान न था, क्योंकि वेदों में कहीं भी लेखन सामग्री—कलम, कागज, स्याही—का उल्लेख नहीं मिलता । गुरु-शिष्य-परम्परा में केवल मौखिक उपदेश द्वारा—श्रवण के द्वारा—ज्ञान कराया जाता था, इसलिए

१. Maxmular—India what can it teach us. Deusus. Schopenhaur.

वेदों को श्रुति शब्द से अभिहित किया गया। परन्तु यह धारणा भ्रामक है। वेदों में लेखनी-मसी आदि का उल्लेख नहीं है, इससे उस काल में लेखन कला का ज्ञान न था यह कल्पना विचारक्षम नहीं है। वेदों का प्रतिपाद्य विषय लेखन तो था नहीं, अतः यदि उसमें लेख का प्रसंग न आया तो इससे उसके ज्ञान का अभाव कैसे सिद्ध होता है। अनेक भारतीय विद्वानों ने अपने निबन्धों में सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि वैदिक काल में लेखन कला का परिचय था। यहाँ उसके विवेचन का स्थल नहीं है। केवल एक युक्ति उदाहरण के रूप में यहाँ उपस्थित की जाती है—ऋग्वेद का एक मन्त्र है[१] जिसका अर्थ यह है कि वाक् को कोई देखते हुए भी नहीं देखता; कोई उसे सुनते हुए भी नहीं सुनता। यहाँ वाक् का सुनना और देखना कहा गया है। वाक् का देखना तभी सम्भव हो सकता है, जब वह नेत्रों के समक्ष लेख के रूप में उपस्थित हो। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक काल में लेखक के परिज्ञान का अभाव न था, अतः वेदों के श्रुति कहलाने में श्रवण परम्परा हेतु नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त मौखिक उपदेश की परम्परा सूत्र काल में भी थी परन्तु केवल वेदों को ही श्रुति कहा गया है—श्रौत स्मार्त स्मृतियों को श्रुति संज्ञा नहीं मिली है।

श्रुति

वास्तव में वेदों के लिए श्रुति शब्द का प्रयोग विशेष दृष्टि से किया गया है। यथार्थ ज्ञान के साधन के लिए मुख्यतः तीन प्रमाण माने गये हैं —प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इन तीनों में भी मुख्य है प्रत्यक्ष प्रमाण। अनुमान और शब्द भी प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखते हैं। प्रत्यक्ष से साक्षात् विरोध होने पर ये दोनों ही अप्रमाण हो जाते हैं। यह बात सर्वलोक विदित है कि प्रत्यक्ष द्रष्टा के वचनों के प्रमाण के समक्ष परम्परा से सुनकर कहने वाले की बात नहीं मानी जाती है। वर्तमान न्यायालय के नियमों में भी प्रत्यक्ष द्रष्टा के वचनों को मुख्यता दी गयी है। ब्राह्मण में (ऐतरेय) मिलता है 'जहाँ दो व्यक्ति विवाद करते हुए पहुँचें उनमें से एक कहे कि हमने देखा है और दूसरा कहे कि हमने सुना है तो हम उसी की बात को मानेंगे जो कहता है कि हमने देखा है।"[२] इस तरह यह दृष्टि अपने प्रमाण के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखती; वह स्वतः प्रमाण है। जो

१. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
२. "विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्"—पूर्व मीमांसा सूत्र।

अपनी प्रामाणिकता के लिए दूसरे प्रमाण पर निर्भर होते हैं उन्हें परतः प्रमाण कहा जाता है। अनुमान आदि इसी कोटि में आते हैं। जहाँ इनके आधारभूत प्रत्यक्ष का साक्षात् प्रमाण नहीं मिलता वहाँ प्रत्यक्ष का अनुमान कर लिया जाता है, परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष से साक्षात् विरोध आ पड़ता है वहाँ अनुमान और शव्द दोनों ही अप्रमाण हो जाते हैं। मन्त्रों के सम्वन्ध में यास्क कहते हैं कि ऋषियों ने धर्मों का (पदार्थ धर्मों का) साक्षात्कार किया था। उन साक्षाद् द्रष्टा ऋषियों ने अपने से न्यून कक्षा वाले ऋषियों को, जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार नहीं किया था, उपदेश के द्वारा मन्त्र बतलाया। धर्म के साक्षात्कार करनेवाले महर्षियों ने जिस वैज्ञानिक सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया, उसे उपदेश के द्वारा अन्य ऋषियों को बताया। यहाँ प्रथम कक्षा वाले महर्षि प्रत्यक्ष द्रष्टा थे। उपदेश के द्वारा जिन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ, वे शिष्य श्रोता हुए। श्रोता की श्रवणेन्द्रिय के द्वारा जो विषय सुना गया वह श्रुति कहलाया। वह श्रुति यथार्थ में प्रत्यक्ष द्रष्टा का अनुभव है। इस तरह प्रत्यक्ष द्रष्टा का अनुभव ही श्रुति शव्द अभिप्रेत है। वह प्रत्यक्ष द्रष्टा का अनुभव है, अतः स्वतः प्रमाण है। उसे अन्य किसी प्रकार के प्रमाण पर निर्भर होने की आवश्यकता नहीं है।

अव उस श्रुति वाक्य को सुनने वाला शिष्य उसी विषय का उपदेश जव अपने शिष्य को प्रदान करता है तो उसके वाक्य श्रुति शव्द से नहीं कहे जा सकते। वह प्रत्यक्ष द्रष्टा नहीं है। उसने प्रत्यक्ष द्रष्टा ऋषि से जो कुछ सुना है उसे स्मरण करके वह उपदेश देता है, अतः उस दूसरे ऋषि के वाक्य 'स्मृति' कहलाये। उनमें स्वतः प्रमाणता नहीं है। परन्तु किसी प्रकार के श्रुति वाक्य से विरोध न होने पर यह अनुमान कर लिया जाता है कि उस स्मृति के मूल में श्रुति का प्रमाण अवश्य होगा। परन्तु यदि किसी श्रुति वाक्य से उस स्मृति वाक्य का प्रत्यक्ष विरोध मिलेगा, तो वह स्मृति अप्रामाणिक मानी जायगी। स्मृति वाक्य परतः प्रमाण माने जाते हैं। इसी आशय से मीमांसा सूत्र में स्पष्ट लिखा है 'विरोध होने पर (अर्थात् श्रुति से विरोध होने पर) वह स्मृति अनपेक्ष (अप्रामाणिक) होगी, यदि विरोध न होगा तो **अनुमान** के द्वारा श्रुति का मूल मान लिया जायगा। इसीलिए श्रुति को प्रत्यक्ष तथा स्मृति को अनुमान भी अनेक स्थलों में कहा गया है। उदाहरण के लिए वादरायण का सूत्र है—'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (३.२.२४)। इसके भाष्य में जगद्गुरु शंकराचार्य लिखते हैं—'प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः।' प्रत्यक्ष और अनुमान का अर्थ यहाँ पर श्रुति और स्मृति से है। इसी प्रकार की मान्यता अन्य आचार्यों की भी है। भर्तृहरि लिखते

हैं[१] —'जिनका चित्त पवित्र है, जिन्हें दिव्य प्रकाश आविर्भूत हो गया है ऐसे ऋषियों का अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) का ज्ञान प्रत्यक्ष से अतिरिक्त नहीं होता। इन्द्रियों की शक्ति से पर असंवेद्य (साधारण रूप से न जानने योग्य) भावों को जो आर्षेय दृष्टि से देखते हैं उनके वचन अनुमान के द्वारा बाधित नहीं होते।' महर्षि दयानन्द ने वात्स्यायन भाष्य का उल्लेख किया है—जिसका अर्थ यह है कि आप्त वह है जिसने धर्म का साक्षात्कार किया है।[२] इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि श्रुति शब्द दृष्टि का समानार्थक माना गया है और वह प्रत्यक्ष ज्ञान का द्योतक है और इसी कारण से वह स्वतः प्रमाण माना जाता है।

वेदों का विभाग

वेद शब्द की व्युत्पत्ति क्या है इस सम्बन्ध में अनेक माननीय विज्ञ जनों ने लिखा है–'विद् धातु से करण और अधिकरण कारक में व्याकरण (पाणिनि) के 'हलश्च' सूत्र से घञ् प्रत्यय करने से 'वेद' शब्द बनता है। धातुपाठ में विद् धातु चार अर्थों में मिलती है—ज्ञान अर्थ में, सत्ता अर्थ में, लाभ अर्थ में तथा विचारण के अर्थ में। अतः जिसके द्वारा अथवा जिस में सब मनुष्य समग्र सत्य विद्याओं को जानते हैं, प्राप्त करते हैं, विचार करते हैं और विद्वान् होते हैं वह वेद है।'[३] वास्तव में वेद ही विज्ञान है। ईश्वर के लिए भी आता है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० २।१); 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदा० ३।९।२८)। वेद विज्ञान है, अतः वह ब्रह्म है। यह मुख्य वेद वैज्ञानिक है।

१. भर्तृहरि— आविर्भूत प्रकाशानामनुपप्लुत चेतसाम्।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्नातिरिच्यते॥
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते॥

२. ऋग्वेदादि, भाष्य भूमिका—वि सं० १९९१-पृ० २३
'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा।'

३. ऋ० भा० भू० पृ० २५ 'विद्' ज्ञाने 'विद्' सत्तायाम्, 'विद्लृ' लाभे, 'विद्' विचारणे ऐतभ्यो हलश्चेति सूत्रेण करणाधिकरणयोर्धञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते। विदन्ति, जानन्ति विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति... विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः।

साक्षात् ईश्वर होने से वह अनादि और अपौरुषेय है। उस वैज्ञानिक वेद का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र भी वेद नाम से व्यवहृत होता है। प्रतिपाद्य और प्रतिपादक में अभेद मान कर ही इस प्रकार का व्यवहार प्रचलित है। इस तरह वेद के दो विभाग हो जाते हैं—वैज्ञानिक वेद और उसका प्रतिपादन करने वाला शास्त्र वेद अथवा ग्रन्थ।

विश्व ईश्वर का ही विवर्त है। विश्व का विज्ञान वेद है। विश्व को अग्नि और सोम इन दो मौलिक तत्त्वों के योग से बना हुआ माना गया है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्।' विश्व के आरम्भक तत्त्व अग्नि और सोम उस विषय के दिव्य विज्ञान का बोध करानेवाला शास्त्र ब्रह्म है। यह शास्त्र ब्रह्म परोक्षार्थ द्रष्टा महर्षियों में ईश्वर की प्रेरणा से स्वयं प्रादुर्भूत हुआ था। ब्रह्म अखण्ड, अद्वितीय, असीम, अनादि और अनन्त है। फलतः विज्ञान भी असीम और अखण्ड है। ऐसी दशा में वह यथार्थ में मन और वाक् की सीमा से परे है। उस ब्रह्म अथवा विज्ञान के लिए यह कहा गया है कि 'जिसे वेद भी नहीं जानते, जिसे विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं जानते। मन और वाणी दोनों ही जिसके पास तक नहीं पहुँच सकते। अतः वह कल्पनामात्र गम्य है। यह वैज्ञानिक सम्मत सिद्धान्त है कि जो तत्त्व अखण्ड (Absolute) है वह इंन्द्रिय का विषय नहीं हो सकता। परिच्छिन्न (Limited) होने पर ही वह मन अथवा इन्द्रियों का विषय हो सकता है। ध्वनि (Sound) अथवा प्रकाश (Light) तभी इन्द्रियों के विषय हो सकते हैं जब वे परिच्छिन्न होते हैं। इस तथ्य को अर्वाचीन वैज्ञानिक भी मानते हैं। ब्रह्म अद्वितीय तत्त्व है यह मान्यता है। साथ ही यह भी माना जाता है कि वह शक्तिहीन नहीं है। जिस प्रकार वह सर्वज्ञ है, उसी प्रकार वह सर्वशक्तिमान् है। जितनी भी शक्तियाँ हैं वे सब उसमें विद्यमान हैं। सम्पूर्ण शक्तियों का वह एकमात्र आधार है। जिस प्रकार वह ज्ञानशक्ति सम्पन्न है उसी तरह वह क्रियाशक्ति सम्पन्न है। ज्ञान और क्रिया दो होने पर भारतीय आर्षसिद्धान्त अद्वैत तत्त्व में बाधा नहीं हो सकती। सत्ता के दो होने पर ही द्वैत हो सकता है। क्रियाशक्ति की पृथक् सत्ता नहीं है। संसार में भी जहाँ हम क्रिया शक्ति की सत्ता का अनुभव करते हैं, वहाँ यह भी अनुभव करते हैं कि क्रिया में जो सत्ता है वह उसकी निज की नहीं है। सत्ता एक ही है और वह सत्-चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म से ही संक्रान्त हुई है। इस विषय को अधिक विस्तार न देकर यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म के ज्ञान और कर्म दो स्वरूप हैं। ज्ञान अखण्ड और अनन्त है। कर्म सखण्ड और असंख्य है। ज्ञान-समुद्र में ये प्रतिक्षण उद्भूत और विलीन होते रहते हैं। उनमें जो सत्ता का भान होता है वह दूसरे से प्राप्त होता है। एक दशा ऐसी होती है, जहाँ ज्ञान में कर्म सहचर (एक साथ संचारी) भाव से रहते हैं। वहाँ सृष्टि

का प्रसंग नहीं उठ सकता। परन्तु कर्म जो स्वतः सीमित हैं, अपने आधारभूत ज्ञान में घुल-मिल कर उसे भी सीमित-सा कर देते हैं, तभी उन दोनों की संसृष्टि (परस्पर मेल) से सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है। ज्ञान अखण्ड है तो भी सीमित कर्म के कारण सीमित सरीखा प्रतीत होने लगता है और तब सीमित दशा में प्राप्त वह ज्ञान वर्णन का विषय हो जाता है। इस दार्शनिक विषय के विस्तार का यहाँ प्रयोजन नहीं है। यहाँ केवल यह कहना है कि विश्वसृष्टि के सम्बन्ध से एक अखण्ड तत्त्व परिच्छिन्न-सा प्रतीत होने लगा है। इसी के कारण अपरिच्छिन्न वैज्ञानिक वेद के विभाग हो गये। ऊपर लिखा जा चुका है कि सम्पूर्ण विश्व अग्नीषोमात्मक है। इसी से वैज्ञानिक वेद भी दो भागों में बँट गया। अग्नि वेद और सोम वेद। ब्रह्माण्ड के विभाग के सम्बन्ध में आर्ष वैज्ञानिकों ने अग्नि के सम्बन्ध में त्रैलोक्य की व्यवस्था की है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौः। इन तीनों लोकों में भिन्न-भिन्न नाम से अग्नि का प्राधान्य माना गया है। पृथ्वी लोक की अग्नि को अग्नि ही कहा जाता है। अन्तरिक्ष की अग्नि को वायु नाम दिया गया है तथा द्युलोक की अग्नि को आदित्य। इन तीनों अग्नियों के कारण अग्निवेद तीन भागों में विभक्त हो गया। पृथ्वी की अग्नि के सम्बन्ध से ऋग्वेद, अन्तरिक्ष की अग्नि के सम्बन्ध से यजुर्वेद तथा द्युलोक की अग्नि के सम्बन्ध से सामवेद। इस त्रैलोक्य के बाहर आपोमय सोम लोक चतुर्थ लोक है उसके सम्बन्ध से एक लोक होने के कारण अथर्व वेद को एक माना गया है। इसी आशय से यह कहा गया है कि अग्नि वायु और रवि से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद उत्पन्न हुए। इसी दृष्टि से ऋग्वेद के प्रारम्भ का मन्त्र है—'अग्निमीडे पुरोहितम्।' यहाँ पुरो का अर्थ है सामने, समक्ष में; हित अर्थात् स्थित। अर्थात् जो अग्नि सम्मुख (पृथ्वी लोक में) स्थित है। यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र वायु से प्रारम्भ होता है। सामवेद का प्रथम मन्त्र है—'अग्न आयाहि वीतये'। यहाँ 'आयाहि' पद से स्पष्ट होता है कि दूरस्थित द्युलोक की अग्नि का आह्वान किया गया है। इसी वैज्ञानिक वेद के विभाग के अनुसार वेद ग्रन्थ भी चार भागों में विभक्त हुए हैं, यह प्रतीत होता है।

प्राचीन महर्षियों की यह मान्यता थी कि यावन्मात्र भौतिक पदार्थों का मूल उपादान (जिससे वे बने हैं वे मौलिक तत्त्व) क्रियाशक्ति थी। जिस प्रकार मिट्टी के घड़े का उपादान मिट्टी है; सोने की अंगूठी का उपादान सोना है उसी प्रकार प्रत्येक भौतिक पदार्थ का उपादान उनमें स्थित क्रियाशक्ति है। आध्यात्मिक में वही प्राणशक्ति है तथा भौतिक में उसे देव शब्द से कहा गया है। जो भी वस्तु उत्पन्न होती है वह इन्हीं देवताओं के परिणामस्वरूप है। इसीलिए कहा गया है कि 'जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह सब

इन सब देवताओं से उत्पन्न होता है ।' इन शक्ति रूप देवताओं के—अथवा इन देवताओं की शक्तियों के यथार्थ विज्ञान को जान लेने पर उस भौतिक पदार्थ की समस्त शक्तियों का ज्ञान हो जाता है तथा उस पदार्थ का इच्छानुरूप उपयोग किया जा सकता है । ऊपर जिन अग्नि और सोम का उल्लेख किया गया है वे मुख्य भेद हैं । परन्तु वास्तव में उनके अवान्तर भेद बहुत-से हो गये हैं । इसी दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण में मिलता है कि 'तीन देवता हैं, तैंतीस देवता है; असंख्य देवता हैं ।' मौलिक उपादान के ज्ञान को लक्ष्य में रख कर आधिदैविक विज्ञान का वर्णन मुख्य रूप से चारों वेदों का प्रतिपाद्य विषय है ।

आधिदैविक विज्ञान सम्पन्न हो जाने पर आधिभौतिक विज्ञान स्वतः सिद्ध हो जाता है, अतः महर्षि गण सर्वप्रथम उसमें ही प्रवृत्त हुए । बाद में शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त करने की दृष्टि से क्रमशः ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भागों का विवेचन हुआ । ये तीनों क्रमशः कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड कहे जाते हैं । आधिदैविक ज्ञान का उपयोग किस प्रकार किया जाय, यह कर्मकाण्ड का विषय है । कर्मकाण्ड यज्ञ का प्रकरण है । प्रकृति में जिस पर अग्नि और सोम इन दोनों मौलिक तत्त्वों के समन्वय के तारतम्य से यज्ञ हो रहा है उसी के अनुसार प्राकृतिक यज्ञ के अनुरूप—वैधिक यज्ञ का विधान करके प्राकृतिक तत्त्वों पर आधिपत्य करके यथेच्छ सुख भोग की सामग्री का सम्पादन करना उसका मुख्य लक्ष्य है । इस यज्ञ के लोकोपकारक होने के सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द सरस्वती ने बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है । यहाँ उसमें से थोड़ा-सा अंश उद्धृत किया जाता है—'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड हैं उसमें चार प्रकार के द्रव्यों का होम करना होता है । एक सुगन्ध गुण-युक्त जो कस्तूरी केशरादि हैं, दूसरा मिष्ठ गुणयुक्त, जो कि गुड़ और शहद आदि कहलाते हैं, तीसरा पुष्टिकारक गुणयुक्त जो घृत, दुग्ध और अन्न आदि हैं और चौथा रोगनाशक गुणयुक्त जो कि सोमलतादि ओषधि हैं । इन चारों का परस्पर शोधन, संस्कार और यथायोग्य मिला के अग्नि में युक्तिपूर्वक जो होम किया जाता है वह वायु और वृष्टिजल की शुद्धि करने वाला होता है । इससे सब जगत् को सुख होता है और जिसको भोजन, छादन, विमानादि यान, कलाकुशलता, यन्त्र और सामाजिक नियम होने के लिए करते हैं वह अधिकांश में कर्ता को ही सुख देनेवाला होता है ।'[१] इसी आशय से स्मृति कहती है कि—'अग्नि में जो अच्छे प्रकार से आहुति डाली जाती है वह आदित्य को प्राप्त होती

१. ऋ० भाष्यभूमिका—स्वामी दयानन्द महर्षि—पृ० ६१ ।

है। आदित्य से वृष्टि होती है; वृष्टि से अन्न और फिर उससे प्रजाएँ।'[१] इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में भी मिलता है—'अग्नि से धूम उत्पन्न होता है, धूम से मेघ बनते हैं और मेघ से वृष्टि। ये सब अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं।'[२]

अग्नि में आहुति देने से उसके परिणामस्वरूप वे ही तत्त्व ओषधि आदि के रूप में आहुति पदार्थ ही हम लोगों के भोजन बनते हैं। इस यज्ञ-प्रक्रिया के द्वारा घृत-मेवा आदि जो रूपान्तर में आकर ओषधि बन कर प्रयुक्त होने से इन रूपान्तरित पदार्थों से विशेष शक्ति प्राप्त होती है। इस सम्बन्ध में महामनीषी सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने ऐतरेयालोचन में जो युक्ति दी है वह भी द्रष्टव्य है।[३] इनका आशय यह है कि यज्ञ के द्वारा इस पार्थिव अग्नि में होम किये हुए बलकारक घृत, चरु आदि पहले बाष्प में ऊपर जाते हैं वही वृष्टि के द्वारा फिर इस भूमि में आकर ओषधि के रूप में परिणत होकर हम लोगों के शरीरादि में विशेष रूप से बल का सम्पादन करते हैं। यह ओषधि द्वारा मिला हुआ बल, मूल पदार्थ के बल की अपेक्षा भी प्रबल होता है। जिस प्रकार होमियोपैथिक ओषधियों की शक्ति सूक्ष्मता के अनुसार बढ़ती जाती है उसी प्रकार सूक्ष्मता में परिणत होने के तारतम्य से ये घृतादि पदार्थ भी अत्यधिक बलप्रदायक हो जाते हैं। इतना ही नहीं, इस प्रकार का विद्वान् होता (यज्ञ कर्ता) यज्ञ करता है तो वह यज्ञ जन-समूह के लिए हितकारक होता है। इस रूप में जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि बहुमूल्य पुष्टिकारक घृत आदि पदार्थों को अग्नि में भस्मसात् करके नष्ट कर दिया जाता है, उन्हें उचित उत्तर भी दे दिया गया और साथ ही यज्ञ को सर्वलोक कल्याणकारक भी बताया गया है। अवश्य यह वैध यज्ञ के ऐहिक अभ्युदय को सम्पादित करने का उदाहरण है, परन्तु ये वैध यज्ञ प्राकृतिक यज्ञ के प्रतिरूप में किये जाते हैं और उनका अदृष्ट फल आदि भी होता है। यह विषय **यज्ञ-प्रकरण** में पृथक् निरूपित किया गया है। इस वेद के प्रकरण में प्रसंगवश संक्षेप में इसका संकेत मात्रादि दिया गया है। वेद और यज्ञ परस्पर सम्बन्धित हैं और वेदों का ही सत्य रूप से सन्तनन यज्ञों के द्वारा होता है;

१. अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

२. 'अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते।' शत० कां० ५, अ० ३।

३. ऐतरेयालोचन—पृ० १६३–६४–'तदेवं यज्ञेषु पार्थिवेऽस्मिन्नेवाग्नौ आहूयमानं

यज्ञ का सम्पादन बिना वेदों के सम्भव नहीं है और न बिना यज्ञों के वेदों का स्वरूप ही लक्षित होता है। परन्तु ये वेद और यज्ञ मुख्यतः वैज्ञानिक—प्राकृतिक हैं, उन्हें तपोयोग से साक्षात् करने वाले महर्षियों ने लोक-कल्याण के लिए वैध यज्ञ का प्रचार किया।

वैज्ञानिक वेद

वैज्ञानिक वेद प्राकृतिक हैं और उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थरूप शास्त्र वेद हैं। शास्त्र वेद में सूक्ष्म विचार करने से दो भाग प्रतीत होते हैं—शब्द और अर्थ। शब्दों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह विज्ञान है, मुख्य प्रतिपाद्य है और शब्द उसके प्रतिपादक हैं। प्रतिपादक और प्रतिपाद्य में अभेद माना जाता है, अतः विज्ञान के प्रतिपाद शब्द भाग भी वेद कहे जाते हैं। जिस प्रकार व्याकरण प्रक्रिया के प्रतिपादन करने वाले व्याकरण ग्रन्थों को भी व्याकरण कहा जाता है उसी प्रकार वेद-ग्रन्थ और वेद-विज्ञान का सम्बन्ध है। जिस प्रकार से शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है उसी प्रकार वेद ग्रन्थ शरीर-रूप में और विज्ञान आत्मा रूप में समझा जा सकता है। जिस प्रकार शरीर अनित्य है, उत्पन्न हुआ है, उसमें रहने वाला आत्मा नित्य शाश्वत है उसी प्रकार ग्रन्थभाग ऋषि-प्रणीत होने से कृतक अनित्य कहे जा सकते हैं और इनका प्रतिपाद्य विज्ञान भाग आत्मा के समान नित्य है। वेद ग्रन्थों के सम्बन्ध में पौरुषेय और अपौरुषेय—नित्य या शाश्वत को लेकर अनेक मत पाये जाते हैं इनका अन्यत्र विवेचन होगा।

वैज्ञानिक वेदों के सम्बन्ध में विचार, वेद ग्रन्थों में ही पर्याप्त रूप से मिलता है। जब तक वैज्ञानिक अर्थ का आश्रय न लिया जाय तब तक वेद वाक्यों की संगति नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में यथास्थान प्रमाण उद्धृत होंगे। इस स्थल पर केवल एक दो उदाहरण यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होंगे कि वेद शब्द वैज्ञानिक अर्थ में ही घटित

बलकरमाज्यचरुसोमाशिरादि हव्यं सर्वमेव भस्मीभूय पूर्वं वाष्पाकारेण उपरि गच्छति, तदेव वृष्टं पुनरिहागत्य ओषध्यात्मना परिणत्य अस्मच्छरीरादीनां विशेषतो बलं सम्पादयति। तद्धि बलम् तत्तदाहारजन्यबलतोऽपि प्रबलम्। यथा होमियोप्याथिकौषधानां दशतमिकेभ्यः शततमिकानां तत्रापि त्रिशत् क्रमादिभ्योऽपि शतादिक्रमाणाम्।.... 'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते यत्र एवं विद्वान् होता भवति।' जनानां समूहो जनता तत्सुखायैव यज्ञो भवति, यस्मिन् यज्ञे अमुना प्रकारेण विद्वान् संस्कृतद्रव्याणां होमं करोति इति तदर्थः।

होता है। (१) एक वेद मन्त्र है जिसका अर्थ है कि ऋग्वेद से सब मूर्तियाँ बनती हैं; जितनी मात्र गति (गति अथवा आगति) है वह सब याजुष में है, यजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। सब प्रकार के तेज साम के रूप हैं[1]। यहाँ यह स्पष्ट है कि वेद ग्रन्थ के शब्द या वाक्यों के द्वारा मूर्ति का निर्माण गति या तेज सम्भव नहीं है अतः यहाँ ऋक्, यजुः और साम का वैज्ञानिक अर्थ ही संगत है। (२) सूर्य के सम्बन्ध में वर्णन है कि यह त्रयी विद्या तप रही है—मण्डल ऋक् है; अर्चिः साम है और मण्डल के भीतर जो पुरुष है वह यजुः है।[2] यहाँ भी शब्दरूप ऋक्, यजुः और साम का सूर्य में अवस्थान सम्भव नहीं है, अतः अवश्य ही यहाँ भी वैज्ञानिक अर्थ ही ऋषि को अभीष्ट है। (३) इसी प्रकार 'अग्निर्जागार' इत्यादि मन्त्र में यह कहा गया है कि 'अग्नि (याजुषाग्नि) की ऋक् कामना करते हैं। साम उसके पास पहुँचते हैं। सोम उससें कहता है कि मैं तुम्हारा सखा (साथ रहने वाला) हूँ, परन्तु तुमसे नीची श्रणी में हूँ।'[3] यहाँ भी वैज्ञानिक ऋक् साम ही अभिप्रेत हैं। ग्रन्थ-रूप ऋग्वेद और सामवेद का अग्नि के साहचर्य की कामना करने का कोई अर्थ नहीं होता। इस प्रकार का अर्थ सर्वथा अनर्गल माना जायगा। इसी प्रकार के और भी **अनेक वाक्य वैज्ञानिक वेदों के प्रतिपादक पाये जाते हैं।**

वैज्ञानिक वेदों में भी तीन संस्थाएँ हैं। प्रजापति, मन, प्राण और वाङ्मय है। वेद उसी की महिमा (विस्तार) हैं। इसका विवेचन शतपथ में इस प्रकार है कि 'आद्य प्रजापति ईश्वर ने कामना की कि मैं भूयान् (बहुत अधिक) हो जाऊँ।' उसने तप किया, श्रम किया। इस कामतपः श्रम के द्वारा सर्वप्रथम त्रयी विद्या (वेदत्रयी) का ही सर्जन किया। उन्हीं के अनुसार अन्य सब प्रजापति भी—प्रत्येक पदार्थ एक-एक प्रजापति हैं—'यद्वैकिंच प्राणि स प्रजापतिः'—काम, तप, श्रम के द्वारा अपने अपने-विग्रह में पृथक्-पृथक् रूप से

१. 'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं हि शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥' तैत्ति० ब्रा० ३।१२

२. सा या सा वाक्, असौ स आदित्य है। मण्डलमेव ऋचः, अर्चिः सामानि, पुरुषो यजूंषि।'—शतपथ–१०–५–१–५।

३. 'अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति।
अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥' ऋ० वे० ५।४५।१५

त्रयी विद्या का उद्भव करते हैं। यह नियम है कि कारण-धर्म कार्य-धर्मों का आरम्भ करते हैं। कारण रूप ईश्वर प्रजापति के अनुसार ही क्षुद्र प्रजापति भी सर्वप्रथम वेदत्रयी उत्पन्न करके अपना विस्तार करते हैं। यह त्रयी विद्या ही उन-उन आत्माओं की सर्वप्रथम सृष्टि है। यही त्रयी विद्या ही उस-उस आत्मा की प्रतिष्ठा होती है। ईश्वर हो अथवा अतिक्षुद्र कृमिकीट हो सभी प्रजापति हैं। सभी भूत इसी त्रयी विद्या में प्रतिष्ठित देखे जाते हैं। ऋग्, यजुः और साम ये त्रयी विद्या कहे जाते हैं। यह त्रयी विद्या चतुर्थ वेद आथर्वण का भी उपलक्षण है, क्योंकि यह समस्त विश्व अग्नीषोममय है। अग्नित्रय के सम्बन्ध से त्रयी विद्या और सोम के सम्बन्ध से चतुर्थ आथर्वण है। त्रयी विद्या से अव्यवहित ऊपर में सोम भक्ति रूप आथर्वण वेद नियत रूप से वर्तमान रहता है। सोम की इस अग्नि में आहुति होती रहती है इसी से अग्नि का स्वरूप स्थिर रहता है। सोम की आहुति के बिना अग्नि का अवस्थान असम्भव है। इसीलिए यहाँ वेदत्रयी कहने से अथर्ववेद का सन्निवेश भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। गोपथ ब्राह्मण में चारों का स्पष्ट उल्लेख है—ऋक् का देवता अग्नि है, यजुः का वायु, साम का आदित्य और अथर्व का चन्द्रमा। यह चन्द्रमा चतुर्थ लोकस्थ है, आदित्य लोक से ऊपर है। पृथ्वी की परिक्रमा करने वाला चन्द्रमा न समझा जाय। वेद ब्रह्म का ही वितान है, इससे वह भी ब्रह्म कहा जाता है। इस प्रकार अथर्व विद्या सहित वेदत्रयी रूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित यह प्रजापति ब्रह्म से अवच्छिन्न होने के कारण ब्रह्म कहा जाता है। आत्मरूपी ब्रह्म के द्वारा सृष्ट होने के कारण वेद ब्रह्म हैं। ब्रह्मवेद से सीमाबद्ध होकर ही आत्मा अपने स्वरूप की रक्षा करता है। अतः वेद और ब्रह्म ये दो पृथक्-पृथक् नहीं हैं किन्तु वेद सहित एक आत्मा है।

प्रजापति के ही सन्तनन (फैलाव) से उसके सन्तान भूत हैं। प्रजापति मनः प्राण वाङमय है, अतः ये वेद भी तीनों मन और प्राण जिसके उदर में सन्निविष्ट हैं ऐसे वाक् ही वेद हैं।

पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीन लोकों में तीन प्रकार की अग्नि है। इन तीनों की अग्नियों के विज्ञान का प्रतिपादन करने वाले अग्निवेद भी तीन हैं। जहाँ कहीं वेदत्रयी कहा जाता है वहाँ यही तीनों आग्नेय वेदों की विवक्षा होती है। चतुर्थ वेद सोमवेद-आथर्वण है। उसमें सोम के दो भेद भृगु और अंगिरा का विज्ञान है, परन्तु दोनों का लोक एक ही—चतुर्थ लोक है अतः आथर्वण वेद को एक ही माना गया है। जहाँ आग्नेय और सोम दोनों के प्रकट करने की विवक्षा होती है वहाँ चार वेद कहे जाते हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ प्रकरण में अग्नितत्त्व की ही प्रधानता रहती है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। इसी यज्ञ के द्वारा प्रजा की सृष्टि होती है। यद्यपि यज्ञ प्रक्रिया में सोम और अग्नि

दोनों की समान रूपता से उपयोगिता होती है, अतः सोम को भी यज्ञस्वरूप निष्पादन करने में हेतुत्व अवश्य है। तथापि अग्नि में जो सोम आहुत होता है वह अग्नि रूप में ही परिणत हो जाता है; उसकी पृथक् सत्ता नहीं रहती। अग्नि अत्ता (खाने वाला) है और सोम आद्य (खाया जाने वाला) है, अत्ता और आद्य में जब आद्य सोम अग्निरूप अत्ता के रूप में प्रविष्ट हो जाता है तब अत्ता ही रह जाता है—यह कहा गया है— **'आद्यात् समवाये अत्तैवाख्यायते'**। परन्तु यज्ञ के द्वारा जो सोम अग्नि में प्रविष्ट हुआ है उसके अतिरिक्त सोमधन चतुर्थ लोक में उसकी पृथक् सत्ता है और वहीं से आकर उसका कुछ भाग अग्नि में प्रविष्ट होकर यज्ञ रूप में परिणत होता है। वास्तव में अग्नि और सोम एक ही हैं भिन्न-भिन्न स्वभाव के कारण नाम भिन्न हैं। सोम जो चतुर्थ लोक में सर्वत्र व्याप्त है वह संकोचशील है उसका स्वभाव है कि अग्नि को लक्ष्य करके उसमें आहुत होने के लिए प्रवृत्त होता रहता है और अग्नि में आहुत होकर अग्नि रूप हो जाता है। इसी प्रकार अग्नि का स्वभाव विसरणशील है। फैलने वाला है; सोम सिकुड़ने वाला है। अग्नि विसरण होता हुआ अन्त में अपने स्वरूप से च्युत होकर सोम रूप में परिणत होता है। सोम बनने पर फिर वह स्वभावानुसार अग्नि की ओर प्रवृत्त होता है। केन्द्र से निकल कर परिधि में पहुँचकर अग्नि सोम हो जाता है; सोम परिधि से केन्द्र में पहुँचकर अग्नि बन जाता है। यह चक्र अनवरत चलता रहता है। इन्हीं दोनों पृथक्-पृथक् गुणों के कारण अग्नि और सोम के द्वारा सब पदार्थों की सृष्टि होती है। प्रत्येक पदार्थ में अग्नि और सोम दोनों की सत्ता आवश्यक है। यदि केवल अग्नि की सत्ता रहे सोम नियामक न हो तो अग्नि के विसरण स्वभाव के कारण वह पदार्थ फैलता हुआ इतना बिखर जायगा कि वह अपने स्वरूप से सर्वथा च्युत होकर अनन्त में विलीन हो जायगा। इसी प्रकार यदि अग्नि का अस्तित्व न रहे और केवल सोम की स्थिति रहे तो वह सिकुड़ते-सिकुड़ते इतना सूक्ष्म होता चला जायगा कि अन्तिम दशा में वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म दशा में आकर विलीन हो जायगा; वह भी अनन्त में विलीन हो जायगा। इसी दृष्टि से भूमा और अणिमा एक ही तत्त्व रह जाती हैं। इसलिए पदार्थ मात्र के निर्माण में अग्नि और सोम इन दोनों का परस्पर सहयोग अत्यन्त आवश्यक है। इसी दृष्टि से यह वैदिक सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण जगत् अग्नि और सोम से बना हुआ है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्।' इन्हीं दोनों तत्वों के तारतम्य से पदार्थ में घन, तरल और विरल भाव होते हैं। अग्नि और सोम ये दो ही तत्त्व जगत् के निर्माण के हेतु हैं। इन्हीं दोनों तत्त्वों का विज्ञान वेद है। अग्नि तत्त्व का विज्ञान अग्निवेद है और आग्नेय लोक तीन हैं, इसलिए आग्नेय वेद तीन भागों में विभक्त है, अतः इन्हें वेदत्रयी कहा जाता है। सोम तत्त्व के भी दो भाग हैं—भृगु और अंगिरा। परन्तु

ये दोनों तत्त्व एक ही आप् लोक में अवस्थित हैं, इसलिए इनको एक ही माना गया है। भृगु और अंगिरा का निरूपण अथर्ववेद विज्ञान है।

षोडशी पुरुष के प्रकरण में अमृत, त्रिसत्य, अव्यय, अक्षर और क्षर का उल्लेख होगा। प्राण, आप्, वाक् आदि क्षर के विकार प्रकृतिबद्ध कहे गये हैं। इनमें प्राण वाक् और अन्नाद ये तीन अग्नि के भेद हैं और इन तीनों अग्नियों में अग्नि अप् और अन्न (चन्द्र) की आहुति होने से यज्ञ रूप तेज, अप् और अन्न उत्पन्न होते हैं। ये तीनों भूत-गुण अणु रेणु स्कन्ध और सत्त्व के भेद से पाँच रूपों में विभक्त होकर **पुरंजन** कहे जाते हैं। इन पुरंजनों से पाँच प्रकार के पुर बनते हैं जो क्रमशः स्वयंभू, परमेष्ठी आदि कहे गये हैं। इन पुरों में क्षराक्षर और अव्यय पुरुष (षोडशी) संनिविष्ट हो जाते हैं। षोडशी पुरुष सहित ये पुर विश्वरूप होते हैं।

ईश्वर शरीर रूप अश्वत्थ की एक शाखा में स्वयंभू प्रथम है। स्वयंभू, परमेष्ठी सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी इन पाँच पुण्डीर वाली एक वल्शा (शाखा) ईश्वर का शरीर है। इस स्वयंभू को प्रथमज (प्रथम उत्पन्न होनेवाला) कहा गया है—

"प्रथमजं देवं हविषा विधेम स्वयंभूर्ब्रह्म परमं तपो यत्।
स एव पुत्रः स पिता स माता तपो ह यज्ञं प्रथमं संबभूव ॥"

इस स्वयंभू को सत्य लोक कहा गया है। यह मन और प्राण और वाक् तीनों का समूह है। इसे ही याजुष अग्नि भी कहा गया है। यजुः की व्युत्पत्ति यह की गयी है कि यत् (गमशील) और जूः (स्थितिशील) इन दो पदों से यज्जूः बनता है वही देवों की परोक्ष भाषा में यजुः कहा जाता है। यह विचार अनेक स्थानों में प्रचुरता से पाया जाता है। इनमें यत्—गमनशील—प्राण है। जूः से आकाश और वाक् ये दो अभीष्ट हैं। आकाश मनः स्थानीय है, आवपन है, इसी के आधार पर प्राण और वाक् की अवस्थिति है। इन तीनों तत्त्वों को ही कं, खं और रं कहा गया है। यही तीनों मनः, प्राण और वाक् हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह याजुषाग्नि दाह प्रकाशशील भौतिक अग्नि नहीं है। यह अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है और पारिभाषिक है। यहाँ पर यजुः शब्द ऋक् और साम का भी द्योतक है क्योंकि ये तीनों ही सदा एक साथ रहते हैं। 'अनेजदेकं. . .तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' इस मंत्र के द्वारा संकेतित मातरिश्वा वायु अप्, (आप् वायु और सोम) निहित करता है, आहुत करता है। यही यज्ञ है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। इसी यज्ञ के द्वारा यह याजुषाग्नि मनोमय प्राणगर्भित वाक् के शरीर वाला त्रयीविद्यामय प्रथम मूर्त पिण्ड बनता है जो स्वयंभू है क्योंकि आगे की सृष्टि में जिस प्रकार परमेष्ठी आदि की अपने से पूर्व पुरुष के द्वारा उत्पत्ति होती है उस प्रकार इस स्वयंभू की उत्पत्ति नहीं होती।

इसी से प्रथमज भी कहा जाता है। वह ईश्वर का स्वरूप ही है। ईश्वर ने ही अपने को स्वयंभू रूप में—वेदत्रयी के रूप में परिणत किया है। शतपथ (६।१०) में मिलता है, 'ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम्' यही त्रयी विद्या है, यही ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। इस स्वयंभू ने सब भूतों को अपने में और अपने आपको सब भूतों में हवन किया। जैसा कि शतपथ में कहा गया है।'[1] 'स्वयंभु ब्रह्म ने तप किया। उसने देखा कि तपस्या में अनन्तता नहीं है। अरे मैं भूतों में अपना हवन करूँ; भूतों को अपने में। तब सब भूतों में अपने को आहुत करके तथा अपने में भूतों को आहुत करके सब भूतों में श्रेष्ठता स्वराज्य आधिपत्य प्राप्त किया। अव्यय पुरुष की वाक् में अधिष्ठित प्राणमय मन (श्वोवसीयस) सबका आत्मा, होता है। श्रुति में मिलता है—'स वा एष आत्मा वाङमयः प्राणमयो मनोमयः। 'वाक् के भीतर प्राण और प्राण के भीतर मन होता है इसीलिए (मन, प्राण और वाक् के कारण) यह आत्मा सर्वदा मन से कामना करता हुआ प्राण से तप करता हुआ वाक् से श्रम करता है। इसीलिए कहा जाता है-'स ऐक्षत्, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्।' आत्मा के समान ही विश्व के समस्त भाव भी मनःप्राणवाङमय हैं। ये सब पदार्थ ज्ञान, क्रिया और अर्थ के भेद से तीन प्रकार के हैं। इनमें ज्ञान का मन, क्रिया का प्राण और वाक् अर्थ का कारण है। इसलिए सब पदार्थों में स्वयंभू के व्यापक होने के कारण मनःप्राणवाङमय वेद अनुवृत्त होता है। आत्मा और विश्व दोनों ही के संयोजक तत्त्व (मनः प्राण वाक्) एक समान हैं तब भेद व्यवहार का हेतु यह है कि आत्मभाव के क्रम में मन की प्रधानता मानी जाती है; वाक् गौण होता है। विश्वभाव क्रम में वाक् प्रधान रहता है। जैसा ऊपर कहा गया है—अव्यय वाक् में अधिष्ठित प्राणमय मन आत्मा है। मनोमय प्राणगर्भिता वाक् विश्व है। इस प्रकार विश्व के आत्मा और विश्वभावों के वेदसंज्ञक मनोमय प्राणगर्भिता वाक् रूप में होने के कारण स्वयंभू से अपौरुषेय वेदों की (मनः प्राणमय वाग्रूप) पृथ्वी पर्यन्त सब भूतों में आहुति होती है और सभी पदार्थ वेदमय माने जाते हैं।

इन स्वयंभू के अनन्तर परमेष्ठी प्रजापति का प्रादुर्भाव हुआ। 'प्रजापति पुरुष ने कामना की कि मैं बहुत (भूयान्) हो जाऊँ। उसने तप और श्रम के द्वारा प्रथम

१. "ब्रह्म वै स्वयंभु तपोऽतप्यत। तदैक्षत—न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहुवानि भूतानि चात्मनि इति। तत् सर्वेषु भूतेषु आत्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्यैत्।"—(शत० १३।४।३।१)

त्रयी विद्या ब्रह्म को उत्पन्न किया वही उसकी प्रतिष्ठा हुई। उस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर फिर तप किया। उसने वाग्लोक से ही अप् का सर्जन किया। उसकी वाक् ही सृष्ट हुई। उसने सब को व्याप्त कर लिया इसलिए आप् कहलाया। वह (प्रजापति) उस त्रयी विद्या सहित इस आप् में प्रविष्ट हुआ। वह अण्डरूप हुआ।[१] उसने देखा मैंने अपनी प्रतिमा संवत्सर का सर्जन किया है। वह आप् रूप में परिणत हुआ। यह सब आप् ही है। ये परम स्थान में स्थित है।[२] शतपथ में कहा गया है 'आप् ही यज्ञ है।' कौषतक श्रुति में है कि यज्ञ ही विष्णु है। इस तरह आपोमय यह परमेष्ठी विष्णु यज्ञ रूप हो जाते हैं। जिस प्रकार स्वयंभू के वेद ईश्वररूप अथवा ईश्वर निःश्वास रूप कहे जाते हैं उसी प्रकार ये परमेष्ठी विष्णु 'सर्वहुद्' यज्ञ हैं। स्वयंभू के समान ही इन में सब आहुत होते हैं और ये सब में आहुत होते हैं। इसी से **'सर्वहुद्'** यह नाम हुआ। यह आपोमय परमेष्ठिमण्डल है। यह ऋतु रूप वाक् है। यह द्वितीय संस्था है। यह सब स्थावर और जंगम की योनि है। जैसा कि गीता में कहा गया है कि महद्ब्रह्म मेरी योनि है उसमें मैं गर्भ का आधान करता हूँ जिससे सब भूतों की उत्पत्ति होती है—

'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।' इस सर्वहुद् यज्ञ से अन्य चार वेद प्रादुर्भूत हुए जिस प्रकार स्वयंभू में हुए थे। इसका उल्लेख पुरुषसूक्त में मिलता है—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥"

इससर्वहुद् यज्ञ के लिए अनेक माननीय मनीषियों ने लिखा है कि यह यज्ञ ईश्वर है और वह यजनीय है, इससे यज्ञ कहा गया है। ईश्वर ही यज्ञ है इसमें तो किसी को सन्देह नहीं हो सकता; समस्त सृष्टि ही ईश्वर से हुई है, यह निर्विवाद है। परन्तु

१. 'पुरुषः प्रजापतिरकामयत ..सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्... सोऽपोऽसृजत वाच एक लोकात्। वागेवास्य सासृज्यत'। सेदं सर्वमाप्रोत् 'तस्मादापः। सोऽनया विद्यया सह आपः प्राविशत्। । तत् आण्डं समवर्तत।'—(शतपथ ६।१।१।१०)

२. 'स ऐक्षत प्रजापतिः—इमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत् संवत्सरमिति। ... स आपोऽभवत्। आपो वा इदं सर्वम्। ता यत्परमे स्थाने तिष्ठन्ति—तस्मात् परमेष्ठी नाम।'—(शतपथ ११।६।१६)

ईश्वर की ही यह द्वितीय संस्था है। प्रथम संस्था स्वयंभू में प्रथमज निःश्वास रूप अपौरुषेय वेदों का प्रादुर्भाव हुआ था। इस द्वितीय संस्था में यज्ञ पुरुष से जो वेद प्रादुर्भूत हुए वे पौरुषेय कहे जा सकते हैं और उनका संस्थान सूर्य में बताया गया है। वायु समुद्र लक्षण आपोमय शरीर वाले हिरण्य गर्भ विष्णु के हृदय में अवस्थित भगवान् सूर्य में यह त्रयी विद्या तप रही है। 'त्रयी वा एष विद्या तपति' यह सूर्य के सम्बन्ध में कहा गया है। हिरण्यगर्भ ईश्वर ही है, अतः ईश्वर से ही इन वेदों का प्रादुर्भाव मानना भी सर्वथा सिद्ध ही है। और भी श्रुति स्पष्ट रूप से कहती है—'या सा वाक् असौ स आदित्यः मण्डलमेव ऋक् अर्चिः साम पुरुषो यजूंषि।' यह सूर्य तृतीय संस्था है। रूप का कारण सूर्य ही माना जाता है। इन्हीं सूर्यमण्डलस्थ वेदों की दृष्टि से श्रुति वाक्य है कि ऋक् से सब मूर्ति बनती है; सब तेज साम के रूप हैं इत्यादि।[1]

जैसा कि अन्यत्र कहा गया है प्रत्येक पदार्थ प्रजापतिस्वरूप है—पृथक्-पृथक् एक-एक क्षुद्र प्रजापति है। प्रत्येक में नभ्य आत्मा अनिरुक्त प्रजापति है। चित्य और चितेनिधेय दो प्रकार अग्नि शरीर रूप हैं। इस प्रकार प्रजा वित्त आदि महिमा है और इन सब का सम्मिलित रूप सर्वप्रजापति कहा जाता है। मुख्य प्रजापति (ईश्वर-प्रजापति) के सब धर्म इन क्षुद्र प्रजापतियों में भी स्वल्प मात्रा में अनुवृत्त होते हैं। प्रजापति के स्वरूप में सन्निविष्ट वेद भी अनुवृत्त होते हैं; वेदों के द्वारा यज्ञ प्रक्रिया भी सर्वत्र होती रहती है और इसी यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा प्रजापति के अनवरत विस्रस्त होने वाले अंशों की पूर्ति होती रहती है, जिससे प्रजापति के स्वरूप की रक्षा बनी रहती है और इसी यज्ञ के द्वारा प्रजा का प्रसव होता रहता है। वेदों से यज्ञ और यज्ञ से प्रजा प्रसव का कार्य होता है। इसी अभिप्राय से गीता में कहा गया है कि प्रजापति ने पूर्व काल में यज्ञ सहित प्रजा का सर्जन करके कहा कि इसके द्वारा (यज्ञ) तुम लोग प्रसव करोगे और यह (यज्ञ) तुम लोगों का अभीष्ट सिद्ध करेगा—

'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेक प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।'—गीता।

यज्ञों के सम्बन्ध का विवेचन पृथक् प्रकरण में होगा। यहां वेदों के सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि वेदों के द्वारा वस्तु का ज्ञान किस प्रकार सम्भव होता है।

१. 'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो रूपमाहुः'..... इत्यादि।

वेदों के द्वारा वस्तु का ज्ञान

प्रजापति मनःप्राण वाङमय है । उसके स्वरूप भूत वेद भी मन और प्राण से युक्त वाक् है । वेद ऋक्, साम और यजुः ये तीन कहे गये हैं । यह भी कहा गया है कि ये अग्नि-रूप हैं और ये चतुर्थ साम वेद को भी लक्षित करते हैं । इनमें मुख्य तत्त्व यजुः है जो यत् और जू—वायु और आकाश का सम्मिलित रूप है । यही याजुषाग्नि है; यजुर्वाक् है । प्राणमय होने के कारण इस वाक् का वितनन (तनाव-फैलाव) होता रहता है और इस वाक् का अत्यन्त सूक्ष्म रूप में चारों ओर केन्द्र से निकलता रहता है। इससे इस वाक् का कुछ अंश अवश्य कम होता रहता है और वह कमी सोमाहुति रूप यज्ञ के द्वारा पूरी होती रहती है । इसी सोमाहुति रूप यज्ञ के द्वारा विस्रस्त भाग की पूर्ति होती है और अवशिष्ट भाग से प्रजा की उत्पत्ति होती है । इसमें अग्नि अन्नाद (अन्न का भक्षण करने वाला) और सोम अन्न कहा गया है—इसी के लिए कहा गया है—'सोमो वै देवा-नामन्नम् ।' अन्न और अन्नाद क्षरपुरुष की कला हैं, यह कहा गया है । यह अन्न-अन्नाद यज्ञ जिस मुख्य यजुः के द्वारा होता है उसे रसवेद भी कहा गया है ।

दूसरा प्रकार है छन्दोवेद । छन्द का अर्थ है सीमावद्धता । जब कोई वस्तु छन्द से सीमाबद्ध हो जाती है तब वह छन्दित हो जाती है । परिच्छेद—सन्निवेश या मर्यादाबद्ध आकार ही छन्द है और जिस प्रकार छन्दोबद्ध भाषा साहित्य में पद्य कही जाती है उसी प्रकार वैदिक परिभाषा में ऋक् शब्द है । ऋक् सायतन है, मर्यादावद्ध वाक् है और यजुः सीमित नहीं है । ऋक् से ही मूर्ति (आकार) का निर्माण होता है । बिना ऋचा के साम रह नहीं सकता । ऋचाओं का वितान (फैलाव) ही सामवेद है । वह भी मर्यादाबद्ध ही है । इन्हीं तीनों को यजुः, ऋक् और साम को गद्य, पद्य और गेय कहा जा सकता है । ऋक् से मूर्ति बनती है; वितान से—साम से तेजः (रूप) बनता है और गति याजुषाग्नि (यत्-प्राण-वायु) से होती है इसी अभिप्राय से 'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः' इत्यादि मन्त्र में स्पष्ट किया गया है । कूटस्थमहोक्थ मूर्ति के प्रत्येक व्यास के दोनों छोर के दो बिन्दुओं को एक साथ **छन्द** कहा जाता है । इन्हीं दोनों बिन्दुओं से उसके आयतन का परिच्छेद होता है । कूटस्थ दोनों बिन्दुओं का तिरछे वितान के द्वारा रस योग के क्रम से जहाँ दोनों का मिलन होगा वहाँ तक का एक त्रिभुज बन जाता है । इसमें कूटस्थ की व्यास रेखा छोटा भुज है बाकी दो भुज समान रूप से बड़े रहते हैं । इस त्रिभुज क्षेत्र में उस कूटस्थ मूर्ति की महोक्थ मूर्तियाँ ह्रासोत्तर-रूप से सन्निविष्ट रहती हैं । इस प्रकार के त्रिभुज क्षेत्र असंख्य होते हैं । प्रत्येक त्रिभुज क्षेत्र की महोक्थ मूर्तियों को दृष्टि पर लाने से एक समुद्र के भीतर डूबे हुए रत्नों के समान

अनेक कोटि मूर्तियों के महाविशाल मण्डल के केन्द्र में वह कूटस्थ मूर्ति दिखेगी। उत्तरोत्तर ह्रस्व होती हुई ये मूर्तियाँ कूटस्थ मूर्ति की महिमा स्वरूप हैं। यही मूर्तियाँ हमारे नेत्र पटल पर प्राप्त होकर हमें उस वस्तु का ज्ञान कराती हैं, यह विवेचन आगे होगा। व्यास के दोनों छोर के दो बिन्दु त्रिभुज में जहाँ परस्पर मिलते हैं वहीं तक की मूर्ति दृष्टि में आती हैं; उससे बाहर दृष्टि रहने पर वह वस्तु दिखाई नहीं देती। अतः इन असंख्य अन्तिम बिन्दुओं का जो मण्डल बनता है वह अन्तिम साम कहलाता है। उस साम से बाहर उस मूर्ति का दृष्टिगोचर होना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि एक नियत सीमा के बाहर वह वस्तु नहीं दीख पड़ती। परन्तु यन्त्र आदि के साम-मण्डल की सीमा यदि विस्तृत हो जाती है, तो तदनुसार क्षेत्र बढ़ जाता है। इसीलिए यह साम-मण्डल ऋक् का अवसान है। ऋक् मूर्ति उत्तरोत्तर छोटी हुई इस अन्तिम साम पर समाप्त हो जाती है। परन्तु साम का यह मण्डल (अन्तिम) सबसे बड़ा है। वह मूर्ति की ओर के मण्डलों में क्रमशः छोटा होता हुआ अन्त में मूर्ति (कूटस्थ) में विलीन हो जाता है; वह उस साम का निधन कहलाता है। बीच के अवान्तर मण्डल भी साम कहलाते हैं। प्रत्येक साम-मण्डल में चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा हो, ऋक् की मूर्ति उस पूरे मण्डल में चारों ओर एक ही आकार की समान रूप से रहेगी। अतः ये सब मण्डल साम कहलाते हैं। मूर्ति से आगे बढ़ता हुआ प्रत्येक मण्डल क्रमशः बड़ा होता जाता है। उस मण्डल का वितान होता है, अतः साम वेद को वितान वेद भी कहते हैं। केन्द्र से लेकर अन्तिम साम तक जो रस व्याप्त रहता है, जो यजुस्तत्त्व है; वाक् है और जिसे याजुषाग्नि कहा गया है, वह मुख्य रस है। ऋक् और साम आयतन मात्र हैं; जो रस वितान को प्राप्त होता है वह याजुष है। प्रत्येक पिण्ड से यह तत्त्व मूर्ति के रूप में प्रतिक्षण निकलता रहता है। वही मूर्ति रूप में हमारी दृष्टि में आकर हमें उस वस्तु का ज्ञान कराता है। पिण्ड से मूर्ति का वितान फोटोग्राफी में प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। मनुष्य का प्रतिबिम्व सामान्य काष्ठ या प्रस्तर पर समान रूप से पड़ता रहता है, परन्तु प्रतिफलित न होकर वह दृष्टिपथ में नहीं आता। परन्तु उसी काष्ठ या प्रस्तर खण्ड को इतना घिस कर चिकना कर दिया जाय कि उसमें प्रतिफलन शक्ति उत्पन्न हो जाय तो प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष हो जायगा। यह प्रतिबिम्ब वहाँ नया नहीं उत्पन्न हुआ है, वह वहाँ पहले भी था परन्तु प्रतिफलन शक्ति के अभाव में वह दीखता न था।

ज्ञान होने की प्रक्रिया यह बतायी गयी है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच जो विषय हैं इनका इन-इन विषयों को ग्रहण करने की शक्ति से सम्पन्न इन्द्रियों से सम्बन्ध होने पर प्रज्ञा का सहयोग होने से ज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रियों के साथ प्रज्ञा

का सहयोग यदि न हो तो विषय और इन्द्रिय के सम्वन्ध के द्वारा भी ज्ञान उत्पन्न न होगा। यह बिलकुल प्रत्यक्ष है। मन का सहयोग नितान्त आवश्यक है। मन के संयोग न रहने के लिए ही अंग्रेजी में Absent minded का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इन्द्रिय और विषय का संयोग शरीर क्षेत्र में सम्भव है। शव्द श्रोत्रेन्द्रिय में पहुँच कर ही शब्द ज्ञान का कारण बनता है; इसी प्रकार स्पर्श, गन्ध आदि के विषय भी शरीर क्षेत्र में इन्द्रियों के स्थान में ही ज्ञान उत्पन्न करते हैं। इसीलिए विषय-भोग का अधिष्ठान शरीर को ही माना गया है। परन्तु रूप-ज्ञान के सम्वन्ध में विद्वानों में मतभेद हो गया है। एक मत यह है कि नेत्रेन्द्रिय से निकली हुई किरणें वस्तु प्रदेश में पहुँच कर वस्तु से सम्पर्क स्थापित करके ज्ञान का उत्पादन करती हैं। परन्तु वैदिक सिद्धान्त यह है कि नेत्र पटल पर भी वस्तु के आकार का सम्पर्क होता है और इन्द्रिय के साथ मन के सहयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है। कुछ वैज्ञानिकों का यह मत है कि वस्तु का कोई अंश नहीं फैलता, न उसका कोई अंश हमारी आँख तक आता है। सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, दीप आदि की किरणें उस वस्तु का स्पर्श कर उसी के आकार की बनकर हमारी आँख पर आती हैं और वे ही हमें उस वस्तु का आकार या रूप दिखा देती हैं। उन्हीं किरणों का पुंज छायाचित्र या फोटो है। वैदिक विज्ञान भी प्रकाश की सहकारिता स्वीकार करता है परन्तु साथ ही श्रुति सिद्धान्त यह है कि वस्तु का स्पर्श करके प्रतिफलित होकर जो किरणें नेत्र पटल पर आती हैं उनके साथ मिल कर उस वस्तु का अंश भी नेत्र पटल पर पहुँचता है और तब वस्तु के रूप का ज्ञान होता है। यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक वस्तु का अंश निरन्तर बाहर निकलता रहता है, विस्रस्त होता रहता है और यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा उसकी पूर्ति होती रहती है। जहाँ यज्ञ विच्छिन्न हो जाता है वहाँ उस वस्तु की सत्ता भी नष्ट हो जाती है। इसीलिए कहा गया है कि यज्ञ ही प्रजापति का जीवन है—'प्रजापतेर्जीवनमस्ति यज्ञः।' इस विषय को स्पष्ट करने वाला निम्नलिखित मन्त्र यहाँ द्रष्टव्य है—

"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरूप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया संमदेम॥" (ऋ० वे० १०-१२१)

इस पर सायन भाष्य का सारांश यह है कि प्रजापति विधाता ने मुझे इन गायों को सब देव और पितरों से ऐकमत्य को प्राप्त होकर प्रदान किया है। ये गौएँ कल्याणकारिणी होती हुई हमारे गोष्ठ (गोशाला) का उपकार करें और उन गायों की सन्तान हमें प्राप्त हों। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है श्रुतिवाक्य बह्वर्थगर्भित होते हैं यहाँ भी इस मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ यह किया गया है कि विश्वैर्देवैः अर्थात् सूर्य रसों से तथा पितृभिः

अर्थात् चन्द्र के रस से संविदान—संसृज्यमान (संसृष्ट होता हुआ) प्रजापति जो प्रत्येक पदार्थ का अभिमानी वस्तु प्राण है—शिवाः अर्थात् दृष्टि के अनुकूल होती हुई इन किरणों को हमारे गोष्ठ—दृक् पटल पर उपकृत करता है—पहुँचाता है। यदि वस्तु प्रदेश से प्रतिफलित होकर ये किरणें न आतीं तो किसी भी वस्तु को न देखने के कारण—दृष्टि को अन्न न मिलने के कारण—ये नष्ट हो जातीं। अतः इन किरणों के द्वारा दृष्टि का उपकार किया गया है। उन गायों की अर्थात् किरणों की प्रजा अर्थात् प्रतिफलित किरणों से उत्पन्न वस्तु के रूप से ज्ञानवर्धन करके हम लोग हृष्ट हों। गो शब्द का किरणों के अर्थ में प्रयोग प्रसिद्ध है। सूर्य की रश्मियों में देवों का तथा चन्द्र रश्मियों में पितरों का निवास प्रसिद्ध है, अतः यहाँ देव और पितृ शब्दों से सूर्य और चन्द्र का संकेत है। इसके अनुसार प्रकाश की किरणों के सहयोग से वस्तु प्राण का अंश भी नेत्र पटल पर आता है तब उस वस्तु का ज्ञान होता है। प्रजापति का प्राण वेद रूप में ही (वेद मनः प्राणमय वाक् हैं) बाहर निकलता है और वही वेद वास्तव में उस वस्तु का ज्ञान कराता है; स्पष्ट ही वेद में ही ज्ञानजनकता है।

इस प्रकार इस मन्त्र के द्वारा संक्षेप में यह संकेत कर दिया गया है कि प्रजापतिरूप वस्तु का प्राण ही नेत्र पटल पर आकर रूप में कारण बनता है। प्रजापति का वितान अन्तिम साम-मण्डल तक ही होता है, अतः उस सीमा के भीतर ही प्राण और दृष्टि का संयोग सम्भव हो सकता है। उस सीमा से बाहर यदि नेत्र-इन्द्रिय रहेगी तो वस्तु न दिखेगी। साम तक वितान होता है, अतः यह वितान वेद कहा जाता है।

पूर्व में कहा गया है कि मूर्ति का निर्माण ऋक् से होता है उसके व्यास के दोनों छोर के दो बिन्दु छन्द हैं जिनके द्वारा वह वस्तु सीमित होती है। प्रत्येक मूर्ति अग्निरूप है वह चित्याग्नि है; वाक् भी वही है। उसका केन्द्रबिन्दु अनिरुक्त प्रजापति का स्थान माना जाता है। उसी के आकर्षण में यह मूर्ति और इसका ग्राममण्डल बद्ध है। वही सबकी प्रतिष्ठा और परायण है। उसके नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण वस्तु का नाश हो जायगा। यद्यपि अग्नि में स्वभावतः गति है, अतः मूर्ति का प्रत्येक परमाणु अमृतप्राण के साथ बाहर की ओर चलता रहता है। किन्तु केन्द्रबिन्दु स्थिर है, वह नहीं चलता क्योंकि वही सब का आधार है। तब उसके दोनों पार्श्व के दो परमाणु तिरछे चल कर एक बिन्दु में जहाँ मिलेंगे वह आगे की मूर्ति के नभ्य बिन्दु (केन्द्र) बन जायगा। कूटस्थ मूर्ति के अन्यान्य परमाणु भी आकर यथास्थान सन्निविष्ट हो जायँगे। इस प्रकार कूटस्थ मूर्ति के व्यास के परमाणुओं की अपेक्षा इस दूसरे मण्डल की

मूर्ति के व्यास में दो परमाणु कम हो जाँयगे और उसी के अनुसार दूसरी मूर्ति छोटी हो जायगी। परन्तु उस सम्पूर्ण मण्डल में जितनी मूर्तियाँ होंगी वे सब एक समान होंगी। इसी प्रकार प्रत्येक आगामी मण्डलों में दो परमाणुओं की कमी होती रहेगी और मूर्तियां उत्तरोत्तर छोटी होती जायँगी। अन्ततः अन्तिम साम मण्डल में पहुँच कर जब अन्तिम दो विन्दु मिल कर इकट्ठा होंगे वहाँ आगे वढ़ने के लिए और कोई परमाणु न रहने के कारण गतिरोध हो जायगा। उस मण्डल से आगे दृष्टि रहने पर उस वस्तु का दिखाई देना सम्भव नहीं है। उस स्थान पर जहाँ ऋक् का अवसान होता है वहाँ वस्तु का रूप अत्यन्त सूक्ष्म होगा। इस प्रकार कूटस्थ मूर्ति से जितना अन्तर होता चला जायगा उसी अनुपात से वह मूर्ति छोटी दिखती जायगी। वड़ी से वड़ी वस्तु दूरता के कारण क्यों छोटी दिखाई पड़ती है उसका यह छन्दोवेद ही कारण है। इसी प्रकार व्यवधान होने से जब दृष्टिपटल पर ऋङ्मूर्ति न पहुँचेगी वहाँ न दीख पड़ेगी। सूक्ष्म वस्तु का मण्डल भी सूक्ष्म होगा, इसलिए उसी अनुपात से वह अपना साम-मण्डल बनाकर वहीं तक की दूरता में दीख सकेगी। अत्यन्त सूक्ष्म होने पर उसका साम इतना छोटा हो सकता है कि वह न दिखे।

इस प्रकार वितानवेद और छन्दोवेद से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु का हमारे नेत्र तक पहुँचना और उसका ज्ञान होना वेद से ही सम्भव है। इसलिए विद् धातु के ज्ञान और लाभ (प्राप्ति) इन दोनों अर्थों का समन्वय हो जाता है। वस्तु स्वयं तो अपने स्थान में स्थित है वह हमारे नेत्र पर नहीं आती और न हमारे नेत्र ही उस वस्तु तक पहुँचते हैं। वस्तु के प्राण के साथ उसका वाक् रूप ही नेत्र पटल पर पहुँच कर ज्ञान उत्पन्न करता है।

प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति और स्थिति भी वेद के आधार पर ही होती है। यही मुख्य यजुर्वेद है इसे ही रसवेद भी कहा जाता है। यह कहा जा चुका है कि जड़-चेतन प्रत्येक वस्तु में से कुछ अंश (प्राण और वाक्) निकलते रहते हैं और उनकी पूर्ति के लिए कुछ अंश बाहर से आते भी रहते हैं। ये आने और जाने वाले तत्त्व **अग्नि** नाम से कहे जाते हैं क्योंकि अग्नि शब्द इस परिभाषा में प्राण का वाचक है और प्राणतत्त्व का ही आना जाना होता है। वाक् का अंश तो प्राण के साथ ही आता-जाता है, वह स्वतन्त्र नहीं है। तथापि उस वाक् के अंश के द्वारा अग्नि के दो रूप हो जाते हैं—अग्नि और सोम। जाने वाला अंश अग्नि और आने वाला सोम कहा जाता है। वास्तव में दोनों हैं एक ही तत्त्व। यह कहा जा चुका है कि अग्नि तत्त्व विशकलित होता हुआ अन्त में सोम रूप हो जाता है

और फिर सोम तत्त्व केन्द्राभिमुख आता हुआ अन्त में अग्नि तत्त्व में परिणत होता है। तत्त्व एक ही है। बाहर जाने वाले--विसरण स्वभाव वाले को अग्नि और संकुचित होने वाले को सोम कहा जाता है। यह कहा जा चुका है कि इन दोनों तत्त्वों के तारतम्य से ही पदार्थ का निर्माण होता है। बिना इन दोनों के पदार्थ की स्थिति संभव नहीं है इसीलिए कहा गया है---'अग्नीषोमात्मकं जगत्।' वाक् के अंश की प्रधानता हो जाने पर सोम नाम पड़ता है और प्राण की प्रधानता में अग्नि पद का व्यवहार होता है। अग्नि और सोम के भेद से प्राण भी दो प्रकार के हो जाते हैं---आग्नेय और सौम्य। प्रत्येक पदार्थ में बाहर से सोम (सौम्य प्राण) ही आते हैं क्योंकि सोम सर्वत्र व्यापक है और वह अग्नि के द्वारा आकृष्ट होता रहता है। अग्नि अपनी अन्तिम अवधि में जाकर व्यापक सोम में विलीन हो जाता है और सोम निरन्तर अग्नि से आकृष्ट होकर केन्द्राभिमुख होता हुआ अन्त में अग्नि रूप में परिणत होता रहता है। इस प्रकार ये दोनों तत्त्व आपस में बदलते रहते हैं। इसी से स्पष्ट होता है कि मूलतः ये दोनों एक ही तत्त्व की अवस्था मात्र हैं। जिन पदार्थों में आर्द्रता या चिकनापन देखा जाय उनमें सोम की अधिकता रहती है। जिनमें रूक्षता या तीक्ष्णता देखी जाय उनमें अग्नि की प्रधानता होती है। वेदों के वर्णन की शैली के प्रकरण में कहा गया है कि श्रुतियों में स्तुति में विशेषण आदि के द्वारा अर्थ का प्रायः संकेत कर दिया जाता है। उसी स्थल में इसके अनेक उदाहरण भी दिये गये हैं। इसी प्रकार निम्नलिखित मन्त्र में सोम की स्तुति की गयी है और यह संकेत किया गया है कि सोम की स्थिति मुख्यतः किन स्थानों में रहती है :---

"त्वमिमा ओषधीः **सोम** विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः।
त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥" (ऋ० १।९१।२२)

इसका भावार्थ यह है कि सोम ! तुमने इन ओषधियों को उत्पन्न किया है; तुमने जल उत्पन्न किया है; तुमने गायों को उत्पन्न किया है। तुमने विस्तृत अन्तरिक्ष---आकाश प्रदेश को व्याप्त किया है तथा तुम प्रकाश के द्वारा अन्धकार का नाश करते हो। यहाँ सोम से ओषधि जल और गायों की उत्पत्ति बताकर यह संकेत किया गया है कि इनमें सोम का प्राचुर्य है। इनकी उत्पत्ति सोम से होती है और यह प्रसिद्ध नियम है कि कारण के गुण कार्य में संक्रान्त होते हैं---'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते।' ओषधि उन्हें कहा जाता है जो फल के परिपाक होने के बाद नष्ट हो जाती हैं---'ओषध्यः फलपाकान्ताः।' जौ, गेहूँ, चावल, तिल आदि इसी कोटि में आते हैं और इनमें सोम तत्त्व की अपेक्षाकृत अधिकता होती है। जल में सोम तत्त्व प्रसिद्ध है। जल का

मूल तत्त्व 'भृगु' प्राण के तीन भेदों में—'आपो वायुः सोमः' है। ये तीन एक ही तत्त्व के अवस्था विशेष हैं और प्रकृत जल के अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व हैं। इसी मन्त्र में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि समस्त आकाश में यह व्याप्त है। सब से मुख्य तत्त्व जो इस मन्त्र से सिद्ध होता है वह यह है कि सोम ही प्रकाश उत्पन्न करके अन्धकार का नाश करता है। सूर्य का स्वयं का वर्ण कृष्ण माना गया है जैसा कि 'आकृष्णेन रजसा' इत्यादि सूर्य के मन्त्र से स्पष्ट है। वर्तमान विज्ञान भी अब उस में काले धब्बे को प्रत्यक्ष करने लगा है। सूर्य में सोम की आहुति होने से ही प्रकाश का उद्भव होता है, अतः इस मन्त्र में प्रकाश उत्पन्न करने वाला सोम तत्त्व कहा गया है। वास्तव में प्रकाश दोनों (सोम और सूर्य) के योग से होता है इससे दोनों ही समान रूप से प्रकाश के कारण हो सकते हैं। सूर्य से प्रतिक्षण अत्यन्त अधिक मात्रा में प्रकाश और उष्णता निकलती रहती है और यदि उसे अपनी कमी को पूरा करने के लिए बाहर से अन्न न मिले तो थोड़े ही समय में ही उसकी सब शक्ति क्षीण हो जायगी और वह नष्ट हो जायगा, परन्तु वह करोड़ों वर्ष से इसी रूप में चला आ रहा है। उसकी रिक्त शक्ति की पूर्ति सोम की आहुति से होती रहती है। सोम के द्वारा ही उसे बल मिलता है इसी से श्रुति कहती है —'सोमेन आदित्या बलिनः।' प्रत्येक पदार्थ में यही क्रम लक्षित होता है। बाल्य काल में शक्ति का (अग्नि का) जो ह्रास होता है उसकी पूर्ति के लिए अन्न आदि सोम की अधिक मात्रा प्राप्त होने से रिक्त अंश की पूर्ति के अतिरिक्त शरीर की निरन्तर वृद्धि होती रहती है। युवावस्था में व्यय और आय प्रायः समान रहता है। वार्धक्य में शक्ति का व्यय अधिक होने लगता है और सोम की मात्रा कम मिलती है। अग्नि की क्षीणता के कारण प्राप्त हुए सोम के अंश को अग्नि रूप में परिणत करने की शक्ति नहीं रह जाती और अन्त में सोमाहुति रूप यज्ञ के उच्छिन्न हो जाने से मृत्यु हो जाती है।

शतपथ ब्राह्मण[1] में मिलता है कि (सूर्य का) यह जो मण्डल तप रहा है वह महान् उक्थ (महोक्थ) है, वे ही ऋचाएँ हैं, वह ऋचाओं का लोक है। यह जो अर्चि (प्रकाश) प्रदीप्त हो रही है वह महाव्रत है; वे साम हैं; यह साम का लोक है। और इस मण्डल में जो पुरुष है वह अग्नि है, यजुष् है, वह यजुष् का लोक है। यह त्रयी विद्या ही तप रही है,

१. 'यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम्, ताः ऋचः स ऋचां लोकः। अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन् महाव्रतम्, तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः तानि यजूंषि, स यजुषां लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति।' (शतपथ १०।५।२)

महोक्‌थ और महाव्रत का सम्बन्ध रसवेद से है। निकलने वाले तत्त्व को महोक्‌थ कहा गया है। उक्‌थ का अर्थ है उत्थ, उत्थान—बाहर जाना। महाव्रत शब्द अन्न के लिए प्रयुक्त है। आने वाले तत्त्व को महाव्रत कहा गया है। वैदिक भाषा में व्रत शब्द भोजन छोड़ने और ग्रहण करने दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ भोजन ग्रहण करना अर्थ अभिप्रेत है। साम-मण्डल से बाहर व्याप्त सोम आकृष्ट होकर अन्न बनता है, इसलिए अर्चिरूप साम-मण्डल को व्रत कहा गया है। यद्यपि यह प्रक्रिया प्रत्येक पदार्थ में होती हैं परन्तु सूर्य प्रजापति में यह सर्वाधिक मात्रा में परिलक्षित होती है। यह श्रुति सूर्य में उक्‌थ और व्रत का वर्णन करती है, अतः महा + उक्‌थ और महा + व्रत कहा गया है। इसी यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा वस्तु का स्वरूप बनता है और स्थिर रहता है। स्थिर रहने वाली वस्तु अग्नि ही है, इसलिए श्रुति में उसे अग्नि कहा गया है और उसे यजुः बताया गया है। सम्पूर्ण जगत् के मूल तत्त्व के ब्रह्म को रस कहा जाता है—'रसो वै सः।' परब्रह्म रसरूप ही है। उससे सम्बन्ध रखने के कारण इन्हें रस और सत्ता का साधन होने से वेद कहा गया है। इस प्रकार छन्दोवेद वितानवेद और रसवेद की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है; सत्ता, ज्ञान और उपलब्धि इन्हीं वेदों के द्वारा होती है। इसी आवागमन प्रक्रिया से प्रत्येक वस्तु पिण्ड बनता है। इसी के आधार पर स्थित रहता है। जैन दर्शन में भी सत्ता का वही लक्षण मिलता है—'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'। अर्थात् जिसमें उत्पाद होता रहे अर्थात् बाहर के तत्त्व आकर वस्तुस्वरूप का निर्माण करते रहें; व्यय भी हो—उसका अंश बाहर निकलता रहे तथा यह होते हुए भी ध्रुवत्व बना रहे वह सत् है। इस प्रकार पाणिनि ने विद् धातु के जिन अनेक अर्थों का निर्देश किया है वे सभी सुसंगत हो जाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि ऋक् और साम केवल मर्यादा बाँधने वाले हैं, इसीलिए वे दोनों ही छन्द कहे जा सकते हैं और इन्हें यजुष् का गहन कहा गया है। ये ऋक् और साम यजुः के वहन करने वाले अश्व भी कहे गये हैं। इस प्रकरण में हरि शब्द घोड़े के अर्थ में आया है। यह अत्यन्त सार्थक है। 'हृ-हरण करना–ले जाना–इस अर्थ को हरि शब्द स्पष्ट करता है।' ऋक् और साम आवागमन की प्रक्रिया मात्र है। आवागमन जिस तत्त्व का होता है वह वाक्‌रूप या अग्निरूप यजुः ही है। वह सर्वत्र ऋक् से अन्तिम साम-मण्डल तक फैला हुआ है। अतः कार्य को उत्पन्न करने वाला तत्त्व यह यजुः ही है। इसी से अन्यान्य तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। इसका स्पष्टीकरण शतपथ ब्राह्मण में किया गया है—'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते, एष हि यन्नेव इदं सर्वं जनयति, एतं प्रतियन्त-

मिदमनुप्रजायते । तस्माद् वायुरेव यजुः । अयमाकाशे जूः । यदिदमन्तरिक्षम् । एतं ह्याकाशमनुजवते । तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च । यच्च जूश्च । तस्माद्यजुरेष एव ह्येति । तदेतद्यजुः ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम् ऋक्सामे वहतः ।' (शतपथ १०।३।५) । वायु और आकाश का सम्मिलित रूप यजुः कहलाता है । 'समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेऽपि प्रवर्तन्ते' इस न्याय के अनुसार वायु और आकाश दोनों पृथक्-पृथक् भी यजुः कहे जा सकते हैं । यजुः में वायु रूप से गतिशीलता है और आकाश रूप से स्थिरता । अर्थात् यजुः में गति और स्थिति दोनों का सन्निवेश है । गतिशील होने के कारण क्रियाशील होकर सब को वह उत्पन्न करता है और आकाश की स्थिति शक्ति के कारण वह सब को प्रतिष्ठित रखता है । यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि यजू रूप ये आकाश और वायु अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व हैं । ये पंचभूतों के अन्तर्गत भौतिक आकाश और वायु न समझे जायँ । ये भौतिक आकाश और वायु बहुत पीछे उत्पन्न होते हैं । वेद प्राणरूप वाक् हैं और मौलिक तत्त्व हैं ।

पूर्व में कहा जा चुका है कि वैज्ञानिक वेदों में सर्वहुद् यज्ञ से जिस वेदत्रयी की उत्पत्ति हुई है उसका स्फुट प्रादुर्भाव आदित्य में दिखाया गया है । आदित्य की मुख्य शक्ति का नाम गायत्री है । वही शक्ति वेदों की जननी है इसीलिए गायत्री को वेदों की माता कहा गया है और ये सूर्य स्थित वेद गायत्रीमातृक कहे गये हैं । यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि गायत्री शब्द सूर्य की शक्ति का बोधक है—छन्दोरूप गायत्री का अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है ।

इस प्रकार यह तीन वैज्ञानिक वेदों का वर्णन हुआ । ऋक्, साम और यजुः ये तीनों अग्नि की अवस्था विशेष हैं, इसलिए ये तीनों आग्नेय वेद हैं । इन तीनों की यद्यपि सर्वत्र सत्ता है; तीनों एक साथ रहते हैं तथापि प्रधानता की दृष्टि से पृथ्वी लोक की अग्नि ऋक्, अन्तरिक्ष का वायु (यह भी अग्नि की ही अवस्था विशेष है), यजुः और आदित्य लोक की अग्नि साम कही जाती है । तीनों प्रकार की अग्नियों के तीन लोक हैं, इसलिए इस अग्नित्रयी को वेदत्रयी कहा जाता है । यह कहा जा चुका है कि यह वेदत्रयी चतुर्थवेद आथर्वण को लक्षित करता है । 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' इस श्रुत्यंश के अनुसार चतुर्थ आपो लोक है । वह सोम वेद का स्थान है । अप् तत्त्व परमेष्ठि-मण्डल में व्याप्त है और उसी मण्डल की व्याप्ति में सूर्य त्रिलोकी स्थित है । परमेष्ठी विष्णु का आदित्य हृदय माना जाता है । परमेष्ठि-मण्डल का सोम तत्त्व ही सूर्य का अन्न बनकर उसकी स्थिति की रक्षा करता है । परमेष्ठि-मण्डल के आप् के भी भृगु और अंगिरा दो भेद हैं और इनमें भी भृगु के तीन भेद आप्, वायु और सोम हैं तथा अंगिरा के अग्नि, यम और आदित्य । इनका विवेचन अथर्ववेद में है । इन सबका लोक एक ही है जिसे चतुर्थ आपो-

लोक कहा गया है, इसलिए यह एक ही वेद माना गया है । श्रुति कहती है—'आपो भृग्वंगिरो रूपमापो भृग्वंगिरोमयम् । अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनंगिरसः श्रिताः ।' सोम की व्याप्ति का वर्णन पूर्व में आ चुका है । भृगु तत्त्व की सूक्ष्मता स्थूलता के तारतम्य से एक ही तत्त्व के तीन प्रभेद हो जाते हैं । इसी प्रकार अंगिरः तत्त्व के तीन भेद हैं । भृगु तत्त्व में जो वायु है वह अप् तत्त्व का विकास है । अंगिरा के प्रभेद में जो यम कहा गया है वह भी वायु रूप है किन्तु वह आग्नेय है । यह अंगिरा तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है । इसी का निकास आगे चलकर अग्नि के रूप में होता है जैसा कि इस श्रुत्यंश में संकेतित है—'त्वमग्ने प्रथमोऽगिरा ऋषिः ।' इन्हीं तत्त्वों के द्वारा समस्त सृष्टि है, अतः वाग्रूप वेदों से ही सृष्टि होती है इसीलिए श्रुति में मिलता है—'अथो वागेवेदं सर्वम् ।' इसी आशय से कहा गया है—'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' । स्मृति भी कहती है 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' इत्यादि । यह सब वैज्ञानिक वेदों के सम्बन्ध में है । इन सब वेदों का निरूपण जिन ग्रन्थों में है वे ही ग्रन्थ रूप वेद हैं । इन वैज्ञानिक तथ्यों का ज्ञान कराने के साधन होने के कारण ही शास्त्र वेद आर्य जाति के सर्वस्व भूत सर्वमान्य माने जाते हैं । इनका स्वतः प्रामाण्य है और इन्हीं की प्रमाणता पर स्मृतियों का प्रमाण आधारित है ।

वेदों का अपौरुषेयत्व

यह कहा जा चुका है कि अग्नि में आहूयमान सोम यज्ञ है । इससे मूर्त अथवा अमूर्त ये सब विश्वरूप यज्ञ प्रजापति हैं । सोममय वेद ही इस प्रजापति ईश्वर का रूप है । यह वेद अवश्य ही अपौरुषेय है क्योंकि वह ईश्वर प्रजापति का ही रूप है । इस अपौरुषेय वेद का ज्ञान कराने वाला शब्दग्रन्थ है। वह भी शब्द और अर्थ के तादात्म्य के कारण वेद ही कहा जाता है जिस प्रकार व्याकरण आदि के प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ भी व्याकरण आदि नामों से कहे जाते हैं । यह शाब्द वेद पौरुषेय है । 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेद' यह स्मृति सिद्धान्त है । तत्रापि इस शब्द ग्रन्थ के द्वारा जिस विषय का ज्ञान होता है वह अर्थ भाग अपौरुषेय ही है । आग्नेय ऋग् यजुः साम का तथा सौम्य भृगु अंगिरा लक्षण अर्ववेद की स्वरूप रचना मनुष्य शक्ति से बाहर है । ईश्वर ही पुरुष है, उसकी यह कृति है, इस दृष्टि से वैज्ञानिक वेद भी पौरुषेय कहे जा सकते हैं । और यदि विज्ञानवेद को ईश्वर का शरीर माना जाय तो ये अपौरुषेय हैं ।

ये दोनों प्रकार के (वैज्ञानिक और शाब्द) वेद फिर दो प्रकार के हैं । ब्रह्म और ब्राह्मण । ऋग्, यजुः और साम भेद से तीन प्रकार के मन्त्र और आथर्वण मन्त्र ब्रह्म हैं ।

इन मन्त्रों का—ब्रह्म का—तात्पर्य, यज्ञों में विनियोग, सब यज्ञों की आवृत्ति स्वतन्त्र रूप से उपपन्न होते हैं वे ब्राह्मण भाग हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ के भी तीन पर्व हैं—विधिकाण्ड, आरण्यकाण्ड और उपनिषत्काण्ड। यज्ञविधि कर्मकाण्ड है, आरण्यक उपासनाकाण्ड और उपनिषद् ज्ञानकाण्ड।

विरुद्ध अविरुद्ध अनेक भेदभिन्न आश्चर्यमय विश्व को देखने वाले विचारकों के मन में विश्व के सम्बन्ध में स्वभावतः अनेक प्रकार की जिज्ञासा होती है। यह विश्व कहाँ से उत्पन्न हुआ, किस पर प्रतिष्ठित है और क्या है इत्यादि। इस सम्बन्ध में अत्यन्त प्राचीन काल में साध्य जाति के विद्वानों में दस प्रकार के मत प्रचलित हुए थे जिनका संकेत ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में मिलता है। इन मतों की विवेचना पृथक् होगी। भौम स्वर्ग में पुष्कर द्वीप में रहने वाले साध्य विशेष विद्वान् विश्वगुरु सर्वज्ञ ब्रह्मा नामक महापुरुष ने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ ब्रह्म का साक्षात् करने के कारण हिरण्यगर्भ नाम धारण करके विश्वकारण विज्ञान का उपपादन करने वाले ब्रह्म विद्या शास्त्र का लोक में प्रचार किया। उनके समय में जो दश वाद प्रचलित थे वे एक दूसरे के विरुद्ध तथा अपर्याप्त थे। उन सब पर पूर्ण विचार कर इन्होंने ब्रह्म को जगत् का कारण निर्धारित किया, इसका स्पष्ट उल्लेख मुण्डकोपनिषद् में मिलता है :—

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्वभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम्॥
शौनको ह महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसम्पन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति॥" इत्यादि।

भौम स्वर्गलोक में लोकपितामह ब्रह्मा के द्वारा यह विश्व विज्ञान शास्त्र प्रादुर्भूत हुआ था, इसलिए यह स्वर्गग्रन्थ माना जाता है। इस वेदशास्त्र में सपरिकर ब्रह्म की व्याख्या होती है। इस विश्व का प्रभव आत्मा यह ब्रह्मतत्त्व है। ब्रह्म के उपपादक होने के कारण इस वेदशास्त्र में भी ब्रह्म शब्द अनुवृत्त होता है। इस ब्रह्मविद्या के अधिक प्रचार के लिए उन भगवान् आदि ब्रह्म ने अत्रि महर्षि को परिषद् का ब्रह्मा नियुक्त किया। इसके प्रथम प्रचार में गुरु शिष्य परम्परा का क्रम इस प्रकार है :—

(१) ब्रह्मा जगद्गुरु वेदविद्यात्रयी के प्रथम प्रवर्तक।
(२) अथर्वा ब्रह्मपुत्र, अथर्ववेद प्रवर्तक, यज्ञवेद प्रवर्तक।
(३) अङ्गिरा आथर्वण।

(४) सत्यवाह भारद्वाज बृहस्पतिपुत्र आंगिरस ।
(५) अंगिरा द्वितीय—पर्षद् ब्रह्मा—अंगिरा के वंशज ।
(६) शौनक महाशाल आंगिरस ही थे पश्चात् भृगु वंश में हो गये ।
(७) अत्रि महर्षि पर्षद् ब्रह्मा ।

ये सब ब्रह्मर्षि वेद प्रवर्तक थे, वेदजनक नहीं थे । ईश्वर शरीरभूत वाक्प्राणमनोमय इस वेद को अपौरुषेय माना जाता है ।

यह पुष्कराभिजन साध्यविशेष ब्रह्मा के द्वारा दृष्टवेद का प्रचार क्रम है । बाद में समय-समय पर अजपृष्णि आदि तपस्वी अठासी हजार ऊर्ध्वरेतस् तपस्वी वालखिल्य, सप्तर्षि तथा अपान्तरतमा कृष्ण द्वैपायन आदि प्रचारक हुए यह, पुराण आदि के द्वारा ज्ञात होता है ।

आदि ब्रह्मा ने इतिहास, विज्ञान, यज्ञ, और शिल्प भेद से चार खण्डों में विभक्त चार लाख श्लोकों के वेदग्रन्थ की रचना की थी । ब्रह्म का साक्षात् करके ब्रह्मप्रतिपादक ब्रह्म रूप वेद का निर्माण करने के कारण उनका नाम ब्रह्मा हो गया । किन्तु काल-प्रभाव से ब्रह्मा के द्वारा रचा हुआ वेद लुप्त हो गया । इसके बाद ऋषियों के द्वारा प्रदृष्ट वेद प्रचलित हुए । पूर्व में ब्रह्मा के बनाये हुए वेद से प्राप्त अर्थों को अपनी-अपनी प्रतिभा के द्वारा प्रत्यक्ष करके बहुत-से मन्त्रों का उन्होंने निर्माण किया । जैसा कि शतपथ के निम्न उद्धरण से लक्षित होता है—

"ये समुद्रान्निरखनन् देवास्तीक्ष्णाभिरभ्रिभिः ।
सुदेवो अद्य तद् विद्याद् यत्र निर्वपणं दधुः ।।"

इसका व्याख्यान शतपथ में (७।५।२) किया गया है कि देव अर्थात् विद्वानों ने मन रूप समुद्र से वाग्रूप तीक्ष्ण कुदालों द्वारा खोद कर त्रयी विद्यारूप वेदों को निकाला । उन ऋषियों के त्रयीविद्या रूप को उन्होंने जिस ग्रन्थ में स्थापित किया उसको भी श्रेष्ठ विद्वान् ही जान सकता है क्योंकि यह विषय गम्भीर है ।

अनेक महर्षि कुलों के द्वारा जो बहुत-से प्रकीर्ण मन्त्र निर्मित हुए थे उनका संग्रह और सम्पादन करके याज्ञिक कर्म की दृष्टि से वेदव्यास ने जिन संहिताओं का ग्रथन किया व ही इस समय हम लोगों को उपलब्ध हैं । इनमें संगृहीत मन्त्र भी अत्यन्त प्राचीन हैं और वास्तव में ये ग्रन्थ ही—परम्परा रूप में भारत की निधि हैं । इन्हीं की व्याख्या अनुव्याख्या के रूप में भारतीय समस्त वाङमय का विस्तार हुआ है । भारतीय संस्कृति के ये सर्वस्व हैं । इनमें जो ज्ञान-भाण्डार है वह त्रिकालातीत सत्य है, अतः स्वतः

प्रमाण है। इन तत्त्वों को योगज दृष्टि से साक्षात् देख कर महर्षियों ने अभिव्यक्त किया था, प्रकट किया था।

वेद ग्रन्थ

यह शब्दप्रमाणरूप स्वतः प्रमाण **वेदग्रन्थ** सभी ज्ञान विज्ञानों का भाण्डार है, यह आर्य जाति का सुदृढ़ विश्वास है। यह ग्रन्थ रूप वेद मनुष्य जाति को किस प्रकार उपलब्ध हुआ इस पर अनेक मत हो गये हैं। शारीरिक विमर्श में सूक्ष्म अन्तर दिखा कर चालीस मत निर्दिष्ट हुए हैं। परन्तु आस्तिक शिष्ट सम्प्रदाय में मुख्यतः **तीन** भेद परिलक्षित होते हैं।

१. वेद किसी के बनाये हुए नहीं हैं, स्वतः आविर्भूत हैं। अतः अपौरुषेय हैं।

२. वेद ईश्वरकृत हैं। ईश्वर रूप ही है, यह सिद्धान्त भी इसी के अन्तर्गत है।

३. ईश्वर के अनुग्रह से जिन परोक्ष विषयों का ज्ञान प्राप्त कर महर्षियों ने अपने शब्दों में प्रकट किया वे ही वेद हैं।

चौथा नास्तिक मत है जो कहता है कि वेद के तीन वनाने वाले भण्ड, धूर्त और निशाचर थे। इस मत की निस्सारता स्पष्ट है, अतः यह उपेक्षणीय है।

ऊपर के तीन मतों में भी प्रथम और द्वितीय में विशेष अन्तर नहीं है। अतः मुख्यतः दो प्रकार के मत ही विवेचनीय हैं—(१) वेद अपौरुषेय हैं अथवा पौरुषेय। ईश्वर प्रोक्त होने पर भी उनमें पौरुषेयत्व नहीं आता। यद्यपि ईश्वर को भी पुरुष वेदों में कहा गया है परन्तु यहाँ विवशता यह है कि वेद महर्षि पुरुषों की कृति रूप में पौरुषेय हैं या नहीं।

पहला सिद्धान्त पूर्वमीमांसा के आचार्य जैमिनि का है। उनके अनुयायी भाष्यकार शबरस्वामी, वार्तिककार कुमारिल भट्ट आदि ने इस सिद्धान्त की अनेक युक्तियों से पुष्टि की है। संक्षेप में इनका मत है कि—(१) मनुष्य जिन स्वर्ग देवता अपूर्व आदि को प्रत्यक्ष नहीं देख सकता इन सब अप्रत्यक्ष स्वर्ग आदि का विवरण वेदों में प्राप्त होता है—जिसके लिए कहा गया है कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जो विषय ज्ञात नहीं होता उस वेद के द्वारा ज्ञात करते हैं यही वेद की वेदता है—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।' बिना ज्ञान के शब्द प्रयोग नहीं होता और यहाँ शब्द (वेद शब्द) के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है। यह तो अन्योन्याश्रय दोष है। अतः महर्षियों के ये शब्द नहीं हो सकते क्योंकि उन्हें तो ज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है। यदि यह कहा जाय कि तपोयोग आदि के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए उन्होंने प्रत्यत्न किया और ईश्वर के अनुग्रह से उन्हें जब ज्ञान मिल गया तब उसे उन्होंने अपने शब्दों में प्रकट किया। यहाँ भी अन्योन्याश्रय होता है क्योंकि तपोयोग आदि का

ज्ञान अथवा उनके द्वारा ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त होता है। यह ज्ञान भी महर्षियों को वेद शब्दों से ही प्राप्त होता है।

२. वेदों का कर्ता कोई पुरुष नहीं है इसके लिए दूसरी युक्ति यह कही जाती है कि जो वस्तु जिसकी बनायी होती है उसके साथ उसके कर्ता का स्मरण किसी न किसी रूप में होता ही है। किन्तु वेद के कर्ता का ज्ञान अभ्रान्त रूप से अब तक किसी को नहीं हुआ। ऋषियों को कर्ता नहीं कहा जा सकता, उनका स्मरण तो प्रवचन कर्ता के रूप में होता है, वेदों का उन्होंने प्रवचन किया है, वे निर्माता नहीं है।

३. कुछ विद्वान् तो यहाँ तक तर्क करते हैं कि मनुष्य की यह प्रकृति देखी जाती है कि उन्हें बिना सिखाये नयी बात स्वतः नहीं आती। अतः स्वर्ग के अपूर्व देवता आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान जिस प्रकार उन्हें वेदों से प्राप्त हुआ उसी प्रकार व्यावहारिक ज्ञान—मकान बनाना, खेती करना आदि की शिक्षा भी उन्हें वेदों से ही मिली है और अतः ये वेद उन मनुष्यों की कृति नहीं हो सकते।

४. वेद ग्रन्थों में जो ऐतिहासिक वर्णन मिलते हैं उन्हें भी मीमांसक भूतार्थ नहीं मानते क्योंकि उसके मानने से वेद ग्रन्थों की अनित्यता का प्रसंग आ जायगा। यह माना जायगा उन ऐतिहासिक पुरुषों के जन्म के बाद वेद के उस अंश का निर्माण हुआ। इससे बचने के लिए वे ऐतिहासिक प्रकरण को भी भिन्न प्रकार से ग्रहण करते हैं। उदाहरण के लिए वेद में 'बबरः प्रावाहणि' आया है वहाँ प्रवाहण का पुत्र बबर नामका कोई ऐतिहासिक पुरुष था, यह वे नहीं मानते। उनके मत से ये पद प्रवहणशील बब शब्द करने वाले वायु के द्योतक हैं। वायु नित्य पदार्थ है, अतः उसके उल्लेख से वेद में अनित्यता का आरोप नहीं होता।

विद्वन्मान्य आचार्य सायण ने ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में जैमिनीय मीमांसा के सूत्रों का उद्धरण देकर उनकी व्याख्या की है और यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि वेद ग्रन्थ अपौरुषेय हैं। यद्यपि अनेक स्थलों में—अधिकांश में—उन्होंने यास्क के निरुक्त का आधार लिया है परन्तु वेदों की अपौरुषेयता प्रतिपादन करने में उन्होंने यास्क के मत का उल्लेख नहीं किया है। मीमांसा सूत्रों के आधार पर ही ऐतिहासिक तथ्यों का भिन्न प्रकार का अर्थ करके इतिहास प्रकरण का उन्होंने वेदों में अस्तित्व होना स्वीकार नहीं किया है। परन्तु आगे वेद के भाष्य में अनेक स्थलों में उन्होंने अगतिक होकर इतिहासपरक अर्थ ही किया है। यह पूर्वापर विरोध है। ऋग्वेद के 'कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी' इत्यादि (ऋ० ९।११२।३) की व्याख्या में वे लिखते हैं—'ऋषिः प्रवृत्तसोमयागः सन् दशापवित्रात् सोमेअक्षरति प्रतिबन्धकपापापनुत्तये पुरश्चरितानु-

कीर्तनपुरस्सरमध्येषणां चकार । तावत् अहं कारुः—**स्तोमानां कर्तास्मि** ।' इसका भाव यह है कि सोमयाग में प्रवृत्त ऋषि ने देखा कि छनने में से छन कर सोम नहीं निकल रहा है तो उन्होंने प्रतिबन्ध करने वाले पाप को दूर करने के लिए सोम की प्रार्थना की—मैं कारु हूँ—अर्थात् स्तोमों का **कर्ता** हूँ । यहाँ इन्होंने ऋषि को मंत्रकर्त्ता मान लिया है । इसी प्रकार 'रमध्वं मे वचसे इत्यादि (ऋ० ३।३३।५) की व्याख्या में 'कुशिकस्य सूनुः' का अर्थ किया है 'कुशिकस्य राजर्षेः सूनुः विश्वामित्रोऽहम् ।' यह स्पष्ट ऐतिहासिक विश्वामित्र ऋषि को द्योतित करता है । इसी प्रकार 'आभोगयं प्रपदिच्छन्त' इत्यादि (ऋ० १।११०।२) की व्याख्या में (जिसमें कुत्स ऋषि हैं और ऋभुगण देवता हैं) वे लिखते हैं—'ऋभवो हि सुधन्वन आंगिरस्य पुत्राः तदुक्तं यास्केन—ऋभुर्विभ्वा वाज इति त्रयः पुत्राः सुधन्वन आंगिरसस्य बभूवुः इति । कुत्सोऽप्यांगिरसः । अतस्तेन मदीया ज्ञातय इत्युक्तम् ।' इसका भाव यह है कि कुत्स ऋषि ने मंत्र के देवताभूत ऋभुओं की स्तुति में उन्हें अपना ज्ञाति बताया है क्योंकि कुत्स भी आंगिरस वंश के थे और ऋभुत्रय भी आंगिरस गोत्र में उत्पन्न सुधन्वा के पुत्र थे । यहाँ तो अत्यन्त स्पष्ट अक्षरों में मंत्र के ऋषि देवता ऐतिहासिक मनुष्य रूप में स्वीकार किये गये हैं । इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं । इससे ज्ञात होता है कि सायणाचार्य ने ऋग्वेदभाष्य भूमिका में मीमांसक मत पर जो पक्षपात प्रदर्शन किया है वह परम्पराप्राप्त रूढ़ि का औपचारिक परिपालन था ।

मीमांसकों का यह भी मत है कि यह जगत् जैसा इस समय है ऐसा ही बराबर चला आ रहा है—'न कदाचिदनीदृशं जगत्' । इससे भिन्न अवस्था में कभी था इसे मानने में कोई प्रमाण नहीं है । उपनिषद् आदि के सृष्टि प्रलय-प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद मात्र हैं, वे विधियों की स्तुति मात्र करते हैं । स्वार्थ में उनका कोई तात्पर्य नहीं है । इसलिए जैसे सब जगत् अनादि काल से इसी रूप में चला आ रहा है उसी प्रकार वेद भी अनादि काल से चले आ रहे हैं, ऐसा मानना चाहिए । इस सिद्धान्त की पुष्टि श्रुति स्मृति पुराण आदि से भी होती है । बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है—'एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इति ।' इससे स्पष्ट होता है कि जैसे निःश्वास आदि में मनुष्य का स्वातन्त्र्य नहीं है वह इच्छापूर्वक श्वास प्रश्वास नहीं चलाता प्रत्युत प्रकृति के नियमानुसार श्वास प्रश्वासादि उससे प्रकट होते हैं, वैसे वेद भी नित्य हैं वे उस ईश्वर से प्रकट मात्र होते हैं । 'नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा' इस श्रुति का आशय भी यही है । 'यदि वै प्रजापतेः परमस्ति वागेवतद्' अर्थात् प्रजापति से भी पर कोई वस्तु है तो वह वाक् ही है । इत्यादि श्रुतियों में वेद रूप वाक् की अनादिता

और अपौरुषेयता उद्घोषित हुई है । मनुस्मृति के इस श्लोक में भी यही भाव है–'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । आदौ वेदमयी नित्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।'

इन सबसे सिद्ध होता है कि वेद अनादि और अपौरुषेय हैं ।

दूसरा सिद्धान्त न्यायवैशेषिक दर्शनों का है । न्याय दर्शन में भी प्राचीन और अर्वाचीन न्याय में सूक्ष्म भेद पाया जाता है । सांख्य दर्शन में भी इसी मत का उल्लेख है, पर वहाँ भी सूक्ष्म अन्तर है । सांख्य के अनुसार 'न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्व श्रुतेः ।' 'न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्य अभावात् ।' इन सूत्रों में यह आशय प्रकट किया गया है कि वृक्ष अंकुर आदि के समान, सूर्य चन्द्र आदि के समान वेद भी प्रकृति के नियमानुसार स्वयम् उत्पन्न हैं । उत्पन्न होने के कारण ही अनित्य हैं । किन्तु इनका कर्ता कोई पुरुष नहीं प्रतीत होता है, अतः ये अपौरुषेय हैं ।

प्राचीन न्याय का मत है कि वेद महर्षिकृत हैं, पौरुषेय हैं और प्रवाह नित्य हैं अर्थात् परम्परा से अविच्छिन्न रूप से चले आ रहे हैं ।

नव्य न्याय के मत में वेद ईश्वरकृत हैं, पौरुषेय और अपौरुषेय हैं और अनित्य हैं ।

वैशेषिक दर्शन का मत है कि वेद विद्वानों के (महर्षियों के) बनाये हुए हैं, पौरुषेय हैं और अनित्य हैं । 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' इस वैशेषिक सूत्र का अभिप्राय यह है कि वेद में बुद्धिपूर्वक वाक्य-रचना की गयी है । बुद्धिपूर्वक ज्ञानपूर्वक—अर्थ का साक्षात्कार करके तदनुसार वाक्य-रचना ऋषियों ने की है, अतः शब्दराशि रूप वेद पौरुषेय और अनित्य हैं । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी यह प्रश्न उठाया है—यह कहा गया है कि वेद (छन्दांसि) नित्य हैं, बनाये हुए नहीं है । यद्यपि अर्थ नित्य है किन्तु यह जो वर्णानुपूर्वी वाक्य रचना है वह अनित्य है—इत्यादि । इसकी टीका करते हुए कैयट लिखते हैं कि महाप्रलय आदि में वर्णानुपूर्वी वाक्य रचना के विनाश होने पर फिर उत्पन्न होकर ऋषिगण संस्कार के प्राबल्य से वेद के अर्थ का स्मरण करके शब्द रचना (वाक्य रचना) करते हैं यह अर्थ है । भाव यह है । वेद-शब्दों की दो प्रकार की विवक्षा है—शब्द रूप से और अर्थ रूप से । वेद शब्द के व्यवहार में वाक्य की प्रधानता की विवक्षा होने पर वेद-ग्रन्थ महर्षिकृत, पौरुषेय और अनित्य हैं । वाच्य अर्थ (तत्प्रतिपादित विद्या) की प्रधानता की विवक्षा में वेद अकृतक हैं, अपौरुषेय हैं, नित्य हैं । वास्तव में यही मत सर्वमान्य है । यह कहा जा चुका है कि प्रधानतः दो ही मत हैं—पौरुषेयवाद और अपौरुषेयवाद । इनमें भी जहाँ तक विज्ञान वेद का सम्बन्ध है वह सर्वथा अपौरुषेय ही है इसमें सबका ऐकमत्य है । विज्ञान ईश्वर का स्वरूप माना जाय—'सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'—तो विज्ञान अकृतक है । यदि ईश्वर का निःश्वासभूत माना जाय तब भी अकृतक है ।

ईश्वर रूप यज्ञ से जहाँ वेदों की उत्पत्ति कही गयी है वहाँ ईश्वर को पुरुष मान कर पौरुषेय और कृत भी कह सकते हैं। परन्तु यह सब विवक्षाधीन है। मतभेद नहीं है। मुख्य मतभेद वेद-ग्रन्थरूप शब्द राशि के सम्बन्ध में है। इन वेद के वाक्यों को महर्षिकृत माना जाय तो ये पौरुषेय हैं। यदि महर्षियों को कर्ता न माना जाय तो वे अपौरुषेय हैं। इनमें प्रथम मत मीमांसकों का है और वे वेद-ग्रन्थों को महर्षियों की कृति नहीं मानते। परन्तु इसके विरुद्ध बहुत बड़ा शिष्ट सम्प्रदाय वेद-ग्रन्थों को महर्षि की रचना मानता है। कुछ निदर्शन यहाँ किया जाता है।

(१) तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है—(२।७।७)

"यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणः अन्वैच्छन् देवास्तपसा श्रमेण।
तां दैवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥"

यहाँ ऋषियों को मन्त्रकृत् (मन्त्र के कर्ता) कहा गया है। उनका देवपद भी विशेषण है जो विद्वान् ब्राह्मण के लिए प्रयुक्त है।

'नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। (तै० ब्रा० ४।१।१)

अर्थात् मन्त्रों के कर्ता और मन्त्रों के स्वामी ऋषियों को प्रणाम है। यहाँ मन्त्रपति से प्रचारक अर्थ लिया जायगा। मन्त्रों को प्रकरणबद्ध कर के संहितादि रूप में परिणत कर के उपदेशक प्रचारक हैं।

(२) 'इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः' इत्यादि गोपथ श्रुति में वेदों का निर्माण कहा गया है और वेदों के साथ अंगों के भी नाम हैं। अंगों के निर्माता ऋषि हैं इसमें कोई मतभेद नहीं है। अतः वेदों का भी ऋषियों द्वारा निर्माण इससे सिद्ध होता है।

(३) निरुक्तकार यास्क ने भी प्रथमाध्याय के अन्त में लिखा है—

(i) 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नासिषुवदं च वेदाङ्गानि च।' यहाँ भी निघण्टु (इमं ग्रन्थ) वेद और वेदाङ्गों का एक साथ उल्लेख होने से ऋषि ही वेद और वेदांग के समाम्नाय करने वाले हैं।

(ii) एक स्थल में निरुक्तकार लिखते हैं—'यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतामार्थपत्य-मिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।' अर्थात् जिस कामना से जिस देवता के द्वारा उसका होना उपयुक्त समझ कर उसकी स्तुति करता है वही उस मन्त्र का देवता कहा जाता है। यहाँ अपनी कामना की पूर्ति के लिए ऋषि मन्त्र द्वारा देवता की स्तुति करता है इससे स्पष्ट है कि स्तुतिकर्ता (मन्त्र-कर्ता) ऋषि ही है।

इस प्रकार निरुक्तकार यास्क के मत से भी वेद-ग्रन्थों के निर्माणकर्ता महर्षि गण ही सिद्ध होते हैं।

इन सब का निष्कर्ष यह है कि जहाँ तक वेदप्रतिपाद्य अर्थ का सम्बन्ध है; वेद-ग्रन्थों में जो ज्ञान है उसके अपौरुषेय होने में सबका ऐकमत्य है। वेद-ज्ञान ईश्वर रूप ही है अथवा ईश्वरनिःश्वसित है अथवा ईश्वर कर्तृक है, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु वेद-ग्रन्थों की शव्दराशि के सम्बन्ध में मीमांसकों के मत में ये भी अपौरुषेय हैं। परन्तु ऊपर दिखाये हुए अनेक मनीषियों के मत में वेद-ग्रन्थ ऋषियों की कृति ही सिद्ध होते हैं। ऋषि-प्रोक्त मानने वालों की संख्या भी अधिक है। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वालों में इस सम्बन्ध में ऐकमत्य है तथा युक्ति भी इनके पक्ष में है। ग्रन्थों के पौरुषेयत्व का खण्डन करने वाला मत मीमांसा सूत्रकार जैमिनि से प्रवृत्त हुआ है। जैमिनि ने पूर्व पक्ष उठाया है कि वेदों में अनित्य पदार्थ दृष्टिगत होते हैं, अतः वे पौरुषेय हैं—'अनित्य दर्शनाच्च।' और अन्त में इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि अनित्य पदार्थ जो मिलते हैं वे वास्तव में नित्य पदार्थों के द्योतक हैं। केवल शब्द मात्र में साम्य है, अर्थ में नहीं है। इनका सूत्र यह है—'परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्'। इसका अर्थ शबरस्वामी प्रभृति मीमांसक इस प्रकार करते हैं कि यदि वेदों में मनुष्य चरित मान लिया जायगा तो यह सिद्ध होगा कि वेदों की रचना उन ऐतिहासिक मनुष्यों की उत्पत्ति के बाद हुई—और तब वेदों का अनादित्व और अपौरुषेयत्व खण्डित हो जायगा। इसलिए वेदों में मनुष्य चरित नहीं है। नाम मात्र में सादृश्य है जिससे मनुष्य के नाम की भ्रान्ति होती है। बबर प्रावाहणि का उन्होंने इसी दृष्टि से वायुपरक अर्थ किया है, यह कहा जा चुका है। यह मनुष्य चरित नहीं है। वायु आदि नित्य पदार्थों का ही वर्णन है और नित्य पदार्थ के उल्लेख से वेदों की अपौरुषेयता में बाधा नहीं पड़ती। इन लोगों के मत का निष्कर्ष यह है कि वेदों में मनुष्य का इतिहास सम्भव नहीं है। यह कहा जा चुका है श्री सायणाचार्य इसी मत के अनुयायी थे और अपनी ऋग्वेद-भाष्य की भूमिका में जैमिनि सूत्रों का उद्धरण देकर उनकी व्याख्या की है। तो भी मन्त्रों या ब्राह्मणों की व्याख्या के समय उन्हें अगतिक होकर अनेक स्थलों में ऐतिहासिक अर्थ स्वीकार करना पड़ा है। उपनिषदों में प्राप्त होने वाली आख्यायिकाओं की व्याख्या श्री शंकराचार्य प्रभृति महानुभावों ने भी मनुष्यपरक ही की है।

इन सब को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मीमांसकों का भी मुख्य ध्येय प्रतिपाद्य अर्थ की पौरुषेयता में बाधा न आने देने का था। उनका आग्रह अर्थ की अपौरुषेयता सिद्ध करने पर था। उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक अर्थ लेने पर वेदों की अना-

दिता और अपौरुषेयता भंग हो जायगी । वेद-ग्रन्थों के अपौरुषेयत्व सिद्ध करने का उनका अभिनिवेश न था और यदि सिद्ध हो जाय कि ऐतिहासिक अर्थ के मान लेने पर भी वेद प्रतिपाद्य अर्थ का अपौरुषेयत्व अक्षुण्ण बना रहेगा तो उनका यह विरोध भी दूर हो जाना चाहिए ।

मीमांसकों का मत है कि यह जगत् अनादि काल से इसी प्रकार प्रवाह रूप से चला आ रहा है । 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' यह श्रुत्यंश है । इसीसे मीमांसक कहते हैं—'न कदाचिदनीदृशं जगत् ।' जगत् जैसा अभी है वैसा ही चला आ रहा है इससे विपरीत कभी न था । इसी अनादि प्रवाह के कारण वायु आदि नित्य पदार्थों के उल्लेख होने पर भी उनके मत में अपौरुषेयता का खण्डन नहीं होता । तव जिस प्रकार प्रवाह-नित्यता पृथिवी आदि की अथवा देव ऋषि आदि की भी क्यों न मान ली जाय । यह भी क्यों न मान लिया जाय जिस राजा आदि मनुष्यों का ऐतिहासिक उल्लेख इन वेदों में है वे भी परम्परा प्राप्त हैं । पूर्व कल्प में इसी प्रकार के नाम वाले और इसी प्रकार के चरित वाले पुरुष हो गये हैं, यह भी माना जा सकता है । यह भी अभिप्राय मनुस्मृति के इस श्लोक का हो सकता है—'सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् । वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।' इससे भी मनुष्यों के नाम और कर्म (चरित) परम्परया वेद के आधार पर हैं । यह भी कहा गया है—'भूतं भवत् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्धचति ।' अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत् सब वेद से सिद्ध होते हैं । तव दिव्य ज्ञान सम्पन्न महामहिम महर्षियों ने दिव्य दृष्टि से भविष्य का साक्षात् कर के मनुष्य राजाओं ने भविष्य में होने वाले राजाओं का चरित्र चित्रण किया है । यह मान लेने से भी वेदार्थ की अपौरुषेयता यथावत् बनी रहती है । भविष्य का ज्ञान अवैज्ञानिक भी नहीं है । जिस प्रकार संस्कार रूप में स्थित भूत काल का दिव्य दृष्टि से ज्ञान हो सकता है उसी प्रकार भविष्य में होने वाले पदार्थ भी भाव रूप से पूर्व में स्थित रहते हैं जिन्हें योगिजन प्रत्यक्ष कर लेते हैं । इसका स्पष्ट उदाहरण भगवद्गीता में मिलता है जहाँ श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को भविष्य में होने वाले भीष्म, द्रोण, कर्ण, आदि के निधन का दर्शन कराया है । वहीं भगवान् ने स्पष्ट कर दिया है कि सामान्य मानुष दृष्टि से तुम इस दृश्य का साक्षात्कार नहीं कर सकते । इसलिए हम तुम्हें दिव्य दृष्टि प्रदान कर रहे हैं—

'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।" (गीता ११–८)

इस प्रकार वेदों में भविष्य काल में होने वाले राजवंश का चरित्र-चित्रण मानने पर भी अपौरुषेय अर्थों की यथास्थिति रहती है । जैमिनि ने जो लिखा है—'परं तु श्रुति-

सामान्यमात्रम्' इस सूत्र का भी यह अर्थ हो सकता है कि पूर्व कल्प में उत्पन्न और इस कल्प में उत्पन्न मनुष्यों का यह नामसादृश्य मात्र है। इसलिए पूर्व कल्प के चरित्र ही वेद-ग्रन्थों में वर्णित हैं। अथवा ईश्वर के ज्ञान में निष्ठ पदार्थों का उपलभ्यमान पदार्थों में नामसादृश्य मात्र है। यदि जैमिनि के सूत्र का यह अर्थ ले लिया जाय तो सबकी एक वाक्यता हो जाती है और मीमांसकों से मतभेद नहीं रह जाता। एकमत से यह सिद्ध हो जाता है कि वेदों की शब्दराशि पौरुषेय है और अर्थ अपौरुषेय।

वेदग्रन्थों की वर्णनशैली

यह अन्यत्र प्रतिपादित किया गया है कि तपःपूत महर्षियों ने समाधि द्वारा मौलिक प्राण तत्त्वों का साक्षात्कार किया और यह अनुभव किया कि जगत् के यावन्मात्र पदार्थ इन्हीं प्राणों के आधार पर अवलम्बित हैं। ये प्राण शक्ति रूप हैं। मौलिक प्राण ऋषि-संज्ञा से अभिहित हुए हैं और इन ऋषिप्राणों के योग से क्रमशः पितृप्राण, देवप्राण आदि विकसित हुए हैं। जगत् में तीन ही प्रकार के भाव दृष्टिगत होते हैं। प्रत्यक्ष दृश्य भूत हैं; स्थूल पदार्थ हैं। उनके अन्तर्गत उनके बनाने वाले शक्ति प्राण हैं जो एक भाग से भूतों के रूप में बद्ध होकर स्थूल हो जाते हैं और उनका अवशिष्ट भाग शक्ति रूप में उस पदार्थ पर नियंत्रण करता है। इस प्रकार दैव प्राण ही भूतों के उत्पादक हैं और उनके शक्तियों के यथार्थ ज्ञान हो जाने पर, उन शक्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेने पर भूतों पर अधिकार स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतः महर्षियों ने इसी दृष्टि से वेद-ग्रन्थों में मुख्यतः आधिदैविक विज्ञान का वर्णन किया है। उन्होंने यह प्रत्यक्ष कर लिया कि भौतिक तत्त्व मौलिक तत्त्व से अतिरिक्त नहीं है। इसी दृष्टि से भूलोक स्थित रथ, अश्व, शकुनि, वृक्ष आदि में भी देव शब्द का व्यवहार किया गया है क्योंकि ये सब पार्थिव हैं और भूस्थान का देवता अग्नि माना गया है। आधिभौतिक विज्ञान का कुछ अंश अथर्ववेद में संग्रहीत है। इस प्रकार मौलिक तत्त्व और भौतिक भावों का परस्पर भेद व्यावहारिक है; व्यवहार में काम आने वाला है। वास्तविक नहीं है। उन्होंने देखा कि जैसे वन की आत्मा वृक्ष हैं; वृक्ष की आत्मा उनमें समवेत रस आदि भाव हैं; रस आदि की आत्मा सोम आदि तत्त्व हैं तथा सोम आदि देवों की आत्मा ब्रह्म है। जिसके सत्त्व से वस्तु की सत्ता हो वह उस वस्तु की आत्मा है। ऐसी कोई अलौकिक शक्ति है जिसके अधीन रस आदि भाव सोम आदि देव एकत्र होकर वृक्ष की आत्मा बनते हैं, वही ब्रह्म शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार अन्त में सबकी आत्मा ब्रह्म ही है, इसलिए इन सब में पारमार्थिक भेद नहीं है। वह ब्रह्म विज्ञानशक्ति रूप है। इसलिए यह सब चराचर जगद् विज्ञाना-

त्मक है । इसलिए इन सब भावों का ऐकात्म्य है यह आध्यात्मिक विज्ञान है । इस प्रकार आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक तीन प्रकार की विद्याएँ सिद्ध होती हैं। इन्हीं तीन भावों से समस्त जगत् व्याप्त है । उसके अतिरिक्त कुछ नहीं ।

महर्षियों ने वेद मन्त्रों का गुम्फन इस प्रकार किया है कि वे बह्वर्थगर्भित हो गये हैं । किसी किसी मन्त्र के अर्थ अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव और अधियज्ञ को लक्षित करते हैं। कहीं-कहीं तीन या दो अर्थ स्पष्ट होते हैं । देवताओं की स्तुति में जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं उनके द्वारा भी बहुत-से वैज्ञानिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है । इस ग्रन्थ-रचना शैली का विधिवद् अध्ययन करके ही उन वेद-मन्त्रों का यथार्थ अर्थ हृदयंगम हो सकता है । वेद-मन्त्रों के अनेक अर्थों के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार दुग्ध भक्त और शर्करा सुमिश्रित होकर अमृत के समान देवभोग्य परमान्न पायस होता है उसी प्रकार श्रुति का अर्थ त्रैविध्य को प्राप्त होकर (आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक) सुखावह होकर ब्राह्मणों को परात्पर ब्रह्मानन्द प्राप्त कराता है ।[१]

वेद-मन्त्रों के अनेकार्थ होने के सम्बन्ध में निरुक्तकार यास्क ने पर्याप्त पथप्रदर्शन किया है । स्थान-स्थान पर उन्होंने —ऐतिहासिक, याज्ञिक तथा आधिदैविक तीनों का निदर्शन किया है । यह भी उनका मत प्रतीत होता है कि उन्होंने मौलिक तत्त्व आधिदैविक ही माना है और उसी में अन्य भावों का समावेश कर दिया है । आधिदैविक के अन्तर्गत ही अधिभूत, अध्यात्म और अधियज्ञ हैं । मौलिक तत्त्वों के ही ये विकास हैं । अरविन्द घोष यास्क के मत का निरूपण करते हुए लिखते हैं कि यास्क ने वेदमन्त्रों के अनेक अर्थों का उल्लेख किया है—अधियज्ञ, ऐतिहासिक, पौराणिक, वैयाकरणिक और तार्किक । यास्क कहते हैं कि ज्ञान के तीन विषय हैं और इसीलिए वेदों के अर्थ भी तीन प्रकार के हैं—यज्ञ-विज्ञान, देव-विज्ञान और अन्त में आत्म-विज्ञान । परन्तु अन्तिम आत्म-विज्ञान ही वास्तविक है वह शेष रह जाता है अन्य दो वाह्य और गौण हैं ।[२]

१. विज्ञानभाष्य—यथा दुग्धं च भक्तं च शर्करा च सुमिश्रितम् ।
कल्पितं देवभोगाय परमान्नं सुधोपमम् ।।
तथा त्रैविध्यमापन्नः श्रुतिभेदः सुखावहः ।
नयते ब्राह्मणान्नित्यं बह्वानन्दं परात्परम् ।।

२. Introduction to 'Hymns to the mystic Fire' --P. viii "Yaska speaks of several schools of interpretation of the Veda. There was a

इस प्रकार के दो-तीन अर्थों के प्रतिपादन करने वाले मन्त्रों की संख्या बहुत है। इस स्थान में निदर्शन के लिए कुछ उद्धरण देना अनुपपन्न है। इनमें हठात् अर्थ नहीं निकालना पड़ता; अन्य अर्थ भी स्पष्ट है।

१. "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयां वाचो मनुष्या वदन्ति ॥"

(i) यहाँ वाक् के चार पद कहे गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। एक-एक नादात्मक वाक् मूलाधार से उत्थित होती हुई परा कही जाती है। नाद के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसका स्वरूप-निरूपण नहीं हो सकता। वह त्रैलोक्यव्यापिनी है। पुरुष में भी वह नित्य है। उसी के लिए 'नित्या वागुत्सृष्टा' कहा गया है। यह सर्वथा **अपौरुषेयी** है। इसके नित्य होने के कारण इसमें पुरुष का प्रयत्न अपेक्षित नहीं है। यह प्रथम पद है और इसी के आधार पर अन्य तीन पदों की अवस्थिति है। वही द्वितीय पद में हृदय निकाय में आकर **पश्यन्ती** कही जाती है। इसमें शब्द और अर्थ दोनों सम्मिलित रूप में रहते हैं। शब्द और अर्थ का प्रविभाग नहीं होता। योगिजन योगज दृष्टि के द्वारा उसे देख सकते हैं, इससे उसे पश्यन्ती कहा गया है। वही जब बुद्धिक्षेत्र में आकर विवक्षा रूप में होती है तब उसे मध्यमा कहा जाता है। यहाँ शब्द और अर्थ का विभाग हो जाता है। इसका ज्ञान साधारण योग-शक्तिसम्पन्न पुरुष भी कर सकते हैं। मध्यमा तृतीय पद है। वही मुख में आकर कण्ठ, तालु आदि के व्यापार से बाहर निकलकर तब **वैखरी** कही जाती है। इनमें तीन पद शरीर के भीतर हैं इनके लिए मन्त्र में कहा गया है कि तीन गुहा में निहित हैं तथा चौथी जो बाहर आती है उसके लिए कहा गया है कि चौथी वह है जिसका मनुष्य उच्चारण करते हैं। इस प्रकार परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार पद शरीर के अनुसार माने गये हैं।

(ii) इस मन्त्र में प्रयुक्त वाक् के चार पदों का और भी अनेक प्रकार से अर्थ किया गया है। सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के संग्रह रूप—भूः भुवः और स्वः ये तीन व्याहृतियाँ तीन

sacrificial or ritualistic interpretation, the historical or rather mythological explanation, an explanation by the grammarians and etymologists, by the logicians, a spiritual interpretation. Yaska himself declares that there is a triple knowledge and therefore a triple meaning of the vedic hymns, a sacrificial or ritualistic knowledge but the last is the true sense and when one gets it, the others drop or are cut away. It is the spiritual sense that saves and the rest is outward and subordinate."

पद हैं और प्रणव (ओम्) चतुर्थ पद है। यह एकमत है। याज्ञिकों के मत में—मन्त्र, कल्प और ब्राह्मण ये तीन पद हैं और व्यावहारिक प्रक्रिया चतुर्थ पद है। निरुक्तकारों के मत में ऋक्, यजुः, साम ये तीन पद हैं चतुर्थ व्यावहारिक है। इस प्रकार एक ही मन्त्र के अनेक अर्थ हुए हैं।

२. यजुः संहिता (यजुः सं० अ० १७–६७) का यह मन्त्र है—

"पृथिव्या अहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥"

इसका यज्ञपरक अर्थ शतपथ ब्रा० के ९।२ में दिया गया है कि विधेय यज्ञ में पृथ्वी स्थानीय गार्हपत्य से मध्य आग्नीध्र में पहुँच कर तब स्वर्गस्थानीय आहवनीय में पहुँचता है।

आधिभौतिक अर्थ यह है कि पूर्व काल में भौम त्रिलोकी में पृथ्वी में स्थिति भारतीय विद्वान् अन्तरिक्षस्थ हिमशैल में पहुँच कर वहाँ से पाग्मेरु से भी उत्तर में स्थित नाक लोक में जाकर इन्द्रपुरी अमरावती में पहुँचते थे।

आधिदैविक अर्थ में आत्मा शरीर से उत्क्रमण करके देवयान से अग्नि से वायु म आदित्य में प्राप्त होकर ब्रह्मपथ में जाता है।

३. ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है—

"अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्॥" (ऋ० १–१–१)

यहाँ पर सम्मुख में अवस्थितत अग्नि की स्तुति की जाती है और यह अग्नि चार प्रकार के अर्थों का संकेत करती है—(१) यज्ञ के अर्थ में वेदी पर प्रज्वलित भौतिक अग्नि सम्मुख में अवस्थित है, (२) अधिदैवत पक्ष में पुरः अर्थात् पूर्व दिशा में निहित अग्नि सूर्य का द्योतक है, (३) अध्यात्म पक्ष में सब के सम्मुख स्थित परमात्मा या, (४) जीव का संकेत होता है।[1]

यहाँ अग्नि के जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं वे पृथक् अनेक वैज्ञानिक तत्त्वों का संकेत करते हैं, यह अनुपद में ही विवेचित होगा।

४. ऋग्वेद (१–१५४–६) का एक मन्त्र है—

"ता वां वास्तूनि उश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥"

१. सत्यव्रत सामश्रमी—ऐतरेयालोचन, पृ० १८५।

इसका अक्षरार्थ यह है कि तुम दोनों के गमन के लिए उस स्थान की (हम लोग) इच्छा करते हैं जहाँ पर बहुशृंग गौएँ संचरण करती हैं। इन्हीं स्थानों में महायशस्वी विष्णु का वह परम धाम बहुत प्रकाशित होता है।

यज्ञकर्ता यजमान और उसकी पत्नी के लिए ऋत्विग् गण यज्ञ फलस्वरूप विष्णु के परम पद की प्राप्ति हो यह कामना करते हैं। यह यज्ञ सम्बन्धी अर्थ स्पष्ट है।

दूसरा अर्थ जो इस मन्त्र के द्वारा ध्वनित होता है वह यह है—विष्णु के अवतार भगवान् वासुदेव कृष्ण का गोकुल गोवर्धन आदि स्थानों में व्रज में रास और गोपालन का लीला-कार्य सुप्रसिद्ध है। इस व्रजवासित्व और गोपालन का संकेत यह स्पष्ट है। 'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्' इस यजुः श्रुति के अनुसार गोबहुल प्रदेश में व्रज शब्द रूढ़ है। पारमेष्ठ्य गौओं की उत्पत्ति का स्थान कहा गया है। सामवेद में उसे गोसव यज्ञ का आयतन कहा गया है—'अथैष गोसवः स्वाराज्यो यज्ञः। प्रजापतिर्हि स्वाराज्यम्। परमेष्ठी स्वाराज्यम्।' सुब्रह्मण्या आप् सहस्रधा परिच्छिन्न होकर गो शब्द से व्यवहृत होती है। इस तरह गो का उत्पत्ति-स्थान पारमेष्ठ्य मंडल गोष्ठ (व्रज) सिद्ध होता है। यहाँ इन गौओं से परिवृत भगवान् यज्ञात्मा विष्णु प्रतिष्ठित हैं।[१]

सत्यव्रत सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन में इस मन्त्र में वास्तु-विज्ञान (गृह निर्माण) का भी संकेत मानते हैं। वास्तूनि का अर्थ है वसने योग्य गृह। विष्णुपद आकाश को कहा जाता है। अतः गृह ऐसा होना चाहिए कि उसमें आकाश (अवकाश, Space) भूरि हो, अधिक हो। जिस अवकाश में सूर्य-रश्मियों का संचार वायु से प्रेरित होकर प्रचुर मात्रा में हो। तात्पर्य यह कि विद्वानों को ऐसा ही गृह वास के लिए लेना चाहिए जिसमें वायु, आकाश, आतप और प्रकाश पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हों।

१. यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि वेदों में यह शैली भी प्रधान रूप से देखी जाती है कि महर्षियों ने एक ही शब्द को अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया है, वहाँ उनका अभिप्राय यही है कि वे शब्द भिन्नार्थक प्रतीत होते हुए भी एक ही तत्त्व के अवस्था भेद हैं। यहाँ परमेष्ठि-मण्डल गोसव (गो प्रसव स्थान) कहा गया है। यहाँ गो तत्त्व समस्त वस्तुओं के उपादान कारण के रूप में प्रयुक्त है। गो शब्द किरणों के लिए भी आता है। परमेष्ठि-मण्डल से गो नामक तत्त्व निकल कर फैलता है। ईश्वर के तीन तत्त्वों में (ज्योतिर्, आयु और गौ) गौ शब्द है। पृथ्वी के तत्त्वों में (वाग्, गौः और द्यौः) भी तत्त्व गौरूप है। पशुरूप धेनु में भी इस तत्त्व की प्रधानता है इससे वह भी गौ है।

५. यहाँ बह्वर्थगर्भित एक और मन्त्र द्रष्टव्य है (ऋ० वे० १।१६४।१५)

"साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद् यमा ऋषयो देवजा इति ।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ।।"

इसका अक्षरार्थ यह है कि साथ ही उत्पन्न होने वाले (ऋषि) प्राणों में सातवाँ एकाकी है; शेष छः प्राण युग्म रूप से अर्थात् दो-दो मिलकर रहते हैं। इन प्राणों की उत्पत्ति देवों से हुई है अथवा ये देवों को उत्पन्न करते हैं। इन प्राणों का स्वरूप संघटन सब भोक्ता प्राणियों का इष्ट (अभिमत) है। ये प्राण अपने-अपने स्थानों में प्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक प्राण के भिन्न-भिन्न कार्य होने से इनके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं और ये सदा क्रियाशील रहते हैं।

१. सायणाचार्य के वेद-भाष्य में इस मन्त्र का व्याख्यान **ऋतु**परक किया गया है। काल रूप से एक साथ उत्पन्न ऋतुओं में छः ऋतु (वसन्त, ग्रीष्म) गमनशील हैं, देवों से (आदित्य आदि) उत्पन्न हैं। ये छः ऋतु यम-युग्म हैं। दो-दो महीने का एक ऋतु होता है। सातवाँ अधिमास जो स्वयं पृथक् ऋतुरूप है, वह एकाकी है; एक ही उत्पन्न होता है। यहाँ ऋतु पितृरूप माने गये हैं। ऋतवः पितरः यह शतपथ ब्राह्मण में (२।६।१।४२) मिलता है। पितृप्राण ऋषिप्राण से उत्पन्न होते हैं। ऋषि ही पितृ रूप में परिणत होते हैं और इसलिए यहाँ ऋतुओं के लिए ऋषि शब्द प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि ऋषिप्राण से पितृप्राण और फिर पितृप्राण से देवप्राणों की उत्पत्ति अन्यत्र कही गयी है और यहाँ पितृरूप अथवा ऋषिरूप ऋतुओं को देवों से उत्पन्न कहा गया है यह अनुपपन्न-सा दिखता है। परन्तु वैज्ञानिक प्रक्रिया में इस जन्यजनक भाव का परिवर्तन दोषयुक्त नहीं होता। तन्तुओं से पट का निर्माण होता है, अतः तन्तु जनक और पट जन्य होता है। परन्तु पट के तन्तु जब पृथक् किये जायें तो पट से तन्तु की उत्पत्ति मानी जायगी। मिट्टी जनक है उससे बनायी गयी दीवाल जन्य है। परन्तु दीवाल से जब मिट्टी निकाली जायगी तब मिट्टी जन्य होगी और दीवाल जनक। इसी प्रकार ऋषिप्राण से परम्परया उत्पन्न देवप्राणों से भी उनके मौलिक प्राण के पृथक् होने पर देवों से पितृ या ऋषिप्राण उत्पन्न होंगे। सृष्टि विस्तार काल में मौलिक ऋषिप्राण से क्रमशः पितृ, देव आदि उत्पन्न होंगे और प्रतिसृष्टि की दशा में क्रमशः मौलिक प्राण में इनका परिवर्तन होगा। इस प्रकार यह ऋतुपरक व्याख्यान उचित है।

२. दूसरा अर्थ शारीरक **प्राण**परक है। 'सप्त शीर्षण्याः प्राणाः' यह श्रुति है। मनुष्य शरीर में चार गुहाएँ (निगूढ़ स्थान) माने गये हैं— शिरोगुहा, उरोगुहा, उदर-गुहा और बस्ति-गुहा। इनमें प्रत्येक में सात-सात प्राण—शक्तिप्रद के रूप में हैं। इनमें

शिरोगुहा में जो सात प्राण हैं—दो श्रोत्र, दो नेत्र, दो नासिका रन्ध्र—ये तीन युग्म रूप हैं। सातवाँ वागिन्द्रिय रूप मुखबिल एक है। इसी प्रकार के अन्य तीन गुहाओं में भी प्राणों की अवस्थिति है। शिरोगुहा के ये प्राण देवजन्य हैं—यह श्रुति में कहा गया है कि आदित्य से चक्षु, दिक्सोम से श्रोत्र, अश्विनी कुमारों से घ्राण तथा अग्नि से वागिन्द्रिय उत्पन्न होते हैं। इनके स्वरूप सबके इष्ट हैं—इनके बिना व्यवहार सम्भव नहीं हैं। ये पृथक्-पृथक् स्थान में स्थित हैं। ये विविध कार्य के सम्पादक हैं। ये सदा क्रियाशील रहते हैं। ये प्राण ऋषिरूप हैं। यह शतपथ ब्रा० में स्पष्ट किया गया है (८।१।१) "प्राणो वै वशिष्ठ ऋषिः।" "मनो वै भरद्वाज ऋषिः।" "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः।" "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः"—इत्यादि)।

३. आकाश स्थित सप्तर्षिगण तारा रूप में प्रसिद्ध हैं। इन सात ताराओं में चार चौकोर क्षेत्र के कोणों में हैं। उनके अतिरिक्त अन्य तीन क्रमशः पूर्व भाग में निविष्ट हैं। इन तीनों में सबसे अन्त में पूर्व में जो तारा है वह मरीचि कहा जाता है। उससे पश्चिम दूसरा तारा वशिष्ठ है और अरुन्धती तारा भी उसी के साथ है; उससे पश्चिम कोणस्थ तारा के समीप अंगिरा है। उसके समीप का कोणस्थ तारा अवि है। इसके समीप पुलस्त्य, पुलह और क्रतु हैं। ज्योतिष की बृहत्संहिता (अध्याय १३) में इनका उल्लेख इस प्रकार है—

"पूर्वे भागे भगवान् मरीचिरपरे स्थितो वशिष्ठोऽस्मात्।
तस्याङ्गिरास्ततोऽत्रिस्तस्यासन्नः पुलस्त्यश्च॥
पुलहः क्रतुरिति भगवानासन्नानुक्रमेण पूर्वाद्याः॥
अत्र वशिष्ठं मुनिवरमुपाश्रितारुन्धती साध्वी॥"

इनमें भी पूर्वस्थ मरीचि को एकाकी और अन्य दो-दो के युग्म होते हैं। ये भी प्राण-रूप ऋषि हैं। इसका विवेचन ऋषि प्रकरण में द्रष्टव्य है। इन प्रत्येक ताराओं में उन-उन ऋषिप्राणों की प्रचुरता है, इसलिए इनके नाम ऋषियों से सम्बद्ध हुए हैं। यह तीसरा अर्थ भी उपयुक्त है।

४. निरुक्तकार के मत से अधिदैवत में छः ऋषियों में आदित्य सप्तम है। अध्यात्म में सहजात छः इन्द्रियों में आत्मा सप्तम है। यहाँ आत्म पद से जीवात्मा विवक्षित है।

इस प्रकार इस एक मन्त्र के भिन्न-भिन्न अनेक अर्थ सब समंजस हैं। मूल अर्थ एक ही है उसीका यह निस्तार है। संक्षेप में अनेक अर्थों का निदर्शन करना महर्षियों के वर्णन की विशेषता है।

यह निदर्शन मात्र है । ऐसे और भी बहुत-से मन्त्र हैं जिनके तीन या अधिक अर्थ अभिप्रेत हैं । दो या तीन अर्थ वाले मन्त्र तो बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं । यास्क ने प्राय: सभी मन्त्रों का आधिदैविक अर्थ किया है क्योंकि देवताओं का विज्ञान ही अधिदैवत है । उसी के अन्तर्गत आध्यात्मिक और आधिभौतिक तत्त्व सन्निविष्ट हैं । परापर शरीरात्मक आत्माओं का देवत्व स्वीकार करने पर अध्यात्म पद से प्रसिद्ध तत्त्व भी देव-विज्ञान के अन्तर्गत आ जाते हैं ? भूतों की उत्पत्ति तो श्रुति में देवप्राणों से ही बतायी गयी है, इसलिए देवतत्त्व के विज्ञान से भूत गुणों का विज्ञान होना सर्वथा स्वाभाविक है। यज्ञ भी देवप्राणों से ही सम्पन्न होता है, अतः अधियज्ञ में भी देव विज्ञान अपेक्षित है । इस प्रकार अधिदैवत मन्त्रों से आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त, पार्थिव, अपार्थिव सभी पदार्थों के गुण उपयोगिता आदि का विज्ञान हो जाता है, इसलिए अधिदैवत व्याख्यान ही सब पदार्थों के विज्ञान का मूल है, प्रधान है । इसी दृष्टि से निरुक्तकार ने प्राय: सभी मन्त्रों के व्याख्यान में अधिदैवत का आश्रय लिया है । अनेक स्थलों में यज्ञ के अनुरोध से यास्क ने जहाँ मन्त्र की यज्ञ की दृष्टि से व्याख्या की है वहाँ उसके बाद अपने मनस्तोष के लिए अधिदैवत अर्थ का भी उल्लेख कर दिया है । इसी प्रकार एक ही मन्त्र का पहले अधिदैवत व्याख्यान करके तब बाद में अध्यात्म व्याख्यान भी दिया है । यास्क की यह व्याख्यान शैली ब्राह्मण ग्रन्थों के व्याख्यान पर आधारित है । यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र है—'इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे ।' इसकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण में 'छिनद्मि' (तोड़ता हूँ) इस पद का अध्याहार के यज्ञपरक व्याख्यान किया है परन्तु साथ ही वहाँ पर वायु-विज्ञान का भी निर्देश किया है । वायु में गति सूर्य की प्रेरणा से होती है इसे बताने के लिए वहाँ (शतपथ में) लिखा है—'सवितृप्रसूत एष पवते' अर्थात् यह वायु सूर्य से प्रेरित होकर ही बहता है ।

इन सबसे यह सिद्ध होता है कि अधिदैवत विज्ञान ही मुख्यत: वेद का प्रतिपाद्य विषय था और उसी के आधार पर यज्ञादि विज्ञान सिद्ध होता था । वेदों की शैली संक्षेप में अर्थद्योतन करने की थी । ब्राह्मण ग्रन्थ व्याख्यान होते हुए भी संक्षिप्त रूप में ही संकेत करते थे । वेदसंहिता की ही शैली उनमें दृष्टिगत होती है । यास्क ने संहिता और ब्राह्मणों के आधार पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की परन्तु इन्हें भी वही शैली अपनानी पड़ी जो परम्परा से चली आ रही थी । फलत: यास्क के व्याख्यान के संकेतों को हृदयंगम करने में परवर्ती आचार्यों को सुविधा न हुई और काल शेष से तथा अनेक अन्य कारणों से वैज्ञानिक अर्थनिरूपण की प्रक्रिया क्रमश: शिथिल होने लगी और विज्ञान भाग की उपेक्षा करके वैध यज्ञ पर विशेष महत्त्व दिया जाने लगा । वैध यज्ञ में पशुहिंसा का जो

विधान था उसकी अधिकता इतनी बढ़ गयी कि प्रतिक्रिया के रूप में भगवान् बुद्ध ने उस हिंसात्मक यज्ञ का मूलोच्छेद करना ही उचित समझा, बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व ही विज्ञान अंश लुप्तप्राय हो गया। यज्ञात्मक अंश का उच्छेद बुद्ध के प्रभाव से हुआ। परिणाम यह हुआ कि यज्ञ और विज्ञान दोनों ही विस्मृत होन लगा। यास्क ही अन्तिम आचार्य प्रतीत होते हैं जिन्होंने वेदों के वैज्ञानिक अर्थ की महत्ता को जागृत रखा। भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके अनुयायियों में भी अनेक अवान्तर भेद हो गये; उनमें भी अनेक दोषों ने स्थान कर लिया और अन्त में ब्राह्मण सम्प्रदाय को अपने वैदिक महत्त्व को फिर से उद्धार करने का अवसर मिला। परन्तु वैज्ञानिक परम्परा तो उच्छिन्नप्राय हो चुकी थी। बौद्धों का आक्रमण मुख्यत: यज्ञकाण्ड पर था, अत: प्रतिक्रिया रूप से ब्राह्मण आचार्यों ने यज्ञविधि की पुनः प्रतिष्ठा को ही परम पुरुषार्थ माना। यही क्रम अर्वाचीन समय तक चला आ रहा है। सायणाचार्य प्रभृति वेद-व्याख्याकारों में विज्ञान की चर्चा लुप्त-प्राय थी। यास्क ने जिन वैज्ञानिक तथ्यों का संकेत दिया था उसके भी प्रत्यक्ष अनुभव के लिए कोई साधन उपलब्ध न था, जिसका परिणाम प्रत्यक्ष है।

इधर पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने जो नवीन आविष्कार किये उन पर जब भारतीय विद्वानों की दृष्टि गयी तब इन्हें भी यह स्फूर्ति हुई कि श्रुतिग्रन्थों में बहुत-से वैज्ञानिक तथ्य निकलते हैं। यास्क और ब्राह्मण-ग्रन्थों ने भी इस गवेषणा में सहायता दी। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों में से अनेक वैज्ञानिक तत्त्वों को सिद्ध किया। सत्यव्रत साम-श्रमी ने भी इस पर अच्छी गवेषणा की और अन्त में पूज्य गुरुवर्य स्व० पण्डित मधुसूदन ओझा जी ने पूर्वापर समन्वय करके वेदों के वैज्ञानिक अर्थों के स्पष्टीकरण के लिए बहुत-से ग्रन्थों की रचना की। इनमें से कुछ तो प्रकाशित हो चुके हैं जिसे देख कर विद्वद्-गण उनके अगाध पाण्डित्य और सर्वतोमुखी प्रतिभा का अनुमान कर सकते हैं।

प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि वर्तमान काल में पाश्चात्य विज्ञानों की गवेषणा से आविष्कृत वैज्ञानिक तथ्यों को देख कर कतिपय भारतीय वैदिक विद्वानों ने कष्ट-कल्पना करके वेदों में विज्ञान होने का प्रयास किया है। इससे पूर्व जब तक पाश्चात्य वैदिक विज्ञान प्रकाश में नहीं आया था तब तक इसकी किसी को गन्ध भी न थी। यह केवल नकल है और इसमें कोई तथ्य नहीं है। इसके उत्तर में भारतीय विद्वानों का कथन है कि अवश्य ही विविध प्रकार का वैदिक विज्ञान काल-दोष से तमसाच्छन्न हो रहा था और इस कारण यास्क के बाद यह अनाविष्कृत रूप में था। पाश्चात्य वैदिक विज्ञान के प्रकाश में इसका आविष्कार मात्र किया गया है। यह श्रेय अवश्य पाश्चात्य विज्ञान को प्राप्त है। परन्तु पाश्चात्य विज्ञान वैदिक विज्ञान का उत्पादक नहीं है, प्रकाशक मात्र है।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विज्ञान अभी तक जिन तथ्यों तक नहीं पहुँच सका है वे भी श्रुतियों में स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। यह भी विशेषता है कि पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मत समय-समय पर नवीन मत के आविष्कार पर बदलते रहते हैं परन्तु वैदिक विज्ञान त्रिकालबाधित नित्य सत्य है। इस पर अन्यत्र विचार किया गया है। वेदों के विज्ञान के सम्बन्ध में भी पृथक् विवरण है। यहाँ अभी वैदिक अर्थशैली का विचार ही प्रकरण-प्राप्त है।

इस शैली की तीसरी विशेषता यह है कि श्रुतियों में अनेक शब्द भिन्न-भिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। गो शब्द भिन्न-भिन्न स्थानों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है इसका दिग्दर्शन ऊपर टिप्पणी में किया गया है। ऋषि और देवता शब्द भिन्न-भिन्न प्रकरण में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं इनका विवेचन पृथक् 'ऋषि देवता' प्रकरण में द्रष्टव्य है। यहाँ दो चार उदाहरण और देना उचित प्रतीत होता है।

ब्रह्म शब्द—मुख्य रूप से मूल तत्त्व के लिए प्रयुक्त हुआ है।

वेदों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग बहुधा मिलता है। प्राण, आप् आदि क्षर तत्त्वों को भी प्रकृति ब्रह्म कहा गया है। स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र आदि भी ब्रह्म शब्द से कहे गये हैं। वेद-ग्रन्थों में प्रयुक्त स्तुति वाक्य भी ब्रह्म कहे गये हैं। ब्रह्मवीर्य ब्राह्मण वर्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है। विज्ञानशालाओं के अध्यक्ष अत्रि, वशिष्ठ आदि ऋषि भी ब्रह्मा कहे गये हैं। इत्यादि।

आत्मा शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त है। कारण आत्मा सत्य आत्मा भी कहे गये हैं। भूतात्मा, क्षेत्रज्ञ, महान् आदि का उल्लेख अन्यत्र हुआ है। मुख्य प्राण को भी व्यावहारिक आत्मा माना गया है। औपचारिक रूप से भी आत्मा का प्रयोग पाया जाता है; जैसे यह देवदत्त मेरा आत्मा ही है—'ममात्मायं देवदत्तः।' पुत्र के लिए भी आत्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है—'आत्मा वै पुत्रनामासि' इत्यादि।

अग्नि शब्द याजुषाग्नि के लिए प्रयुक्त हुआ है। अक्षर पुरुष की कलाओं में अग्नि शब्द आता है। क्षर पुरुष की कलाओं में अन्नाद अग्नि है। स्वयंभू आदि पाँच मण्डलों में तीन मण्डल—स्वयंभू, सूर्य और पृथ्वी अग्नि माने गये हैं। शुक्र तत्त्व में भी अग्नि आता है। चित्याग्नि और चितेनिधेयाग्नि का उल्लेख अन्यत्र हुआ है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौः में अग्नि शब्द आये हैं। भौतिक अग्नि जो प्रत्यक्ष है वह प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार अग्नि शब्द का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है और इसके समुचित प्रयोग के समझने के लिए विवेक अपेक्षित है।

इसी प्रकार इन्द्र शब्द का क्षेत्र भी बहुत व्यापक है। नभ्य प्रजापति के लिए इन्द्र

शब्द प्रयुक्त हुआ है; देवपति, प्राणपति भी इन्द्र हैं। अक्षर पुरुष की पाँच कलाओं में तथा आत्मक्षर की कलाओं में इन्द्र शब्द आता है। इन्द्र को वाक् भी कहा गया है। सूर्य प्राणों में भी इन्द्र माना गया है—'यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।' अन्तरिक्षस्थ वायु प्राण को भी इन्द्र कहा गया है जो वास्तव में विद्युत् तत्त्व है। इसका उल्लेख विज्ञान प्रकरण में द्रष्टव्य है। 'ब्रह्मसमन्वय' में इन्द्र के चौदह भेद दिखाये गये हैं—

"सत्यं श्वा विद्युदुत्साहः प्रज्ञा प्राणो द्युतिर्बलम्
वागात्मायुर्व्योम रूपं गतिरिन्द्राश्चतुर्दश ॥"

सत्य, श्वा, विद्युत्, उत्साह, प्रज्ञा, प्राण, द्युति, बल, वाक्, आत्मा, आयु, आकाश, रूप और गति ये चौदह इन्द्र हैं। इन सब अर्थों में श्रुतियों में इन्द्र शब्द प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में ये सब अक्षर पुरुष के कलारूप एक ही इन्द्र के विस्तार हैं। परन्तु इन्द्र शब्द की व्याख्या में इन पारिभाषिक भेदों पर ध्यान रखना आवश्यक है।

इसी प्रकार विष्णु शब्द अक्षर पुरुष और आत्मक्षर की कलाओं में परिगणित है। परमेष्ठी, सूर्य, हिरण्यगर्भ, विराट्, यज्ञ, शिपिविष्ट आदि के लिए भी विष्णु शब्द प्रयुक्त हुआ है।

यह दिग्दर्शन मात्र है। इसी प्रकार और बहुत-से शब्द हैं जो भिन्न-भिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न स्थानों में श्रुतियों में प्रयुक्त हुए हैं। एक ही शब्द का भिन्न अर्थों में प्रयोग करने में ऋषियों का यह संकेत था कि वास्तव में भिन्न-भिन्न अर्थ एक ही मुख्य तत्त्व के अवस्था-भेद थे। जैसा कि ऊपर में कहा गया है कि एक ही इन्द्र तत्त्व की वे चौदह अवस्थाएँ थीं। अग्नि शब्द के अनेक अर्थों में जो प्रयोग हुए हैं वे सब यही द्योतित करते हैं कि एक ही मौलिक तत्त्व अग्नि के वे सब अवस्था-विशेष हैं।

इन पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान ऋषिगण परम्परा द्वारा योग्य शिष्यों के द्वारा फैलाते थे। सच्छात्र की प्रवेश-परीक्षा बहुत कठिन थी। योग्य सिद्ध होने पर ही छात्र उपदेश का अधिकारी माना जाता था। इसके अनेक उदाहरण उपनिषदों में भरे पड़े हैं। महर्षियों की दृष्टि इस परीक्षा में यही थी कि योग्य छात्र ही विज्ञान विद्या का सदुपयोग कर सकता है। अयोग्य छात्र उसका दुरुपयोग करके जगत् का अहित ही सम्पादन करेगा, इसीलिए श्रुति तक में यह निर्दिष्ट है कि योग्य अधिकारी छात्र को ही विद्या प्रदान की जाय इससे विद्या वीर्यवती बनी रहेगी। असूयक (दोष दृष्टि वाले) कुटिल व्यक्ति को उसका सम्प्रदान नहीं करना चाहिए।

'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवे' इसीलिए महर्षिगण योग्य छात्र देख कर, अधिकारिता की अच्छी तरह परीक्षा करके

ही विज्ञान-रहस्य सिखाते थे । इससे उनमें संकोच वृद्धि का आक्षेप करना उचित नहीं । वर्तमान काल में भी केवल विस्तृत ग्रन्थ मात्र पढ़ लेने से वैज्ञानिक प्रयोगों में पारगामिता प्राप्त नहीं होती । प्रथम उसकी योग्यता प्राप्त करनी पड़ती है तत्पश्चात् प्रयोगशाला में प्रविष्ट होकर व्यावहारिक प्रक्रिया का ज्ञान गुरु के द्वारा प्राप्त करना पड़ता है । फिर बाद में अपने शरीर की आहुति करके तपस्या के द्वारा दत्तचित्त होकर परिश्रम करने पर ही वैज्ञानिक तत्त्वों का आविष्कार होता है । 'आइन्स्टीन' प्रभृति महापुरुष इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं ।

इस सम्बन्ध में अरविन्द महोदय ने जो विचार प्रकट किये हैं वे वास्तविक स्थिति का सजीव चित्रण करते हैं । वे लिखते हैं—भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही यह परम्परा थी कि ऋषिगण, वेद के मंत्रद्रष्टा कवि इस प्रकार के थे; वे आध्यात्मिक और आधिदैविक विज्ञान की बहुत अधिक शक्ति से सम्पन्न थे; जो ज्ञान साधारण मनुष्यों को सुलभ न था । वे अपने पुत्र पौत्रादि तथा चुने हुए शिष्यों को गुप्त दीक्षा के द्वारा अपनी शक्ति और ज्ञान का प्रदान करते थे ।

यह सत्य है कि भाषा के अत्यन्त प्राचीन होने और अप्रचलित शब्दों के प्रयोग करने के कारण तथा कठिन और असामयिक शैली के द्वारा भी वेद-मन्त्रों के दुरधिगम होने को साहाय्य मिला था । यास्क ने चार सौ से अधिक शब्द गिनाये हैं जिनके अर्थ उन्हें यथावत् ज्ञात न थे । प्रतीकों का अर्थ लुप्त हो गया जिन शब्दों की सूची (पारिभाषिक शब्दों के अर्थ) उन्हीं (महर्षियों) के पास थी । इससे भावी विद्वानों के लिए उनका अर्थ दुरधिगम हो गया । उपनिषत् काल तक में उस समय के सत्य के अन्वेषकों को दीक्षा और मनन (योग) का सहारा लेकर ही ज्ञान प्राप्त होता था । उसके बाद के आचार्यों को वह साधन प्राप्त न होने के कारण कल्पना का आश्रय लेना पड़ा या मानसिक अर्थ का, अथवा पुराणाख्यान या ब्राह्मण ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ा । स्वयं वे प्रतीकों का ज्ञान प्राप्त न कर सके । हमें यास्क के बताये संकेतों का दृढ़ता से सहारा लेना चाहिए और यह स्वीकार करना चाहिए कि वेद के मन्त्र ऋषियों के ज्ञान, ऋषियों के शब्द थे और इस प्राचीन ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जहाँ जो चाभी मिले उसे ढूँढ़ना चाहिए । नहीं तो परिणाम यह होगा कि वेद सदा के लिए गुप्त ग्रन्थ (Sealed book) हो जायँगे । व्याकरण-शास्त्री, शब्दशास्त्री अथवा पाण्डित्यपूर्ण कल्पनारसिकों के द्वारा उस बन्द (मुद्रित-sealed) कक्ष का खुलना सम्भव न होगा ।[१] वेदों के शब्दों का यथार्थ अभिप्राय वही

"It has been the tradition in India from the earliest times that

जान सकता है जो स्वयं द्रष्टा या योगी हो। दूसरों से वेद के मंत्र अपने गुप्त अर्थ को छिपाये रखते हैं। यह भाव यास्क का है जो कहते हैं कि जो स्वयं ऋषि या तपस्वी नहीं है वह वेदों के यथार्थ अर्थ को प्राप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों में उनके पाण्डित्य और प्रतिभा के प्रकर्ष के कारण अनेक प्रकार के मत-मतान्तर उत्पन्न हो गये। यही कारण है कि वेदों में जो विज्ञानराशि भरी पड़ी है उसका व्यावहारिक प्रयोग विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया और वे काव्य के रूप में रह गये। तथापि इन वेदों का इतना माहात्म्य है कि इस युग में भी भारतीय जनता उसे अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती

the Rishis, the poet-seers of the Veda, were men of this type, men with a great spiritual and occult knowledge, not shared by ordinary human beings, men who handed down this knowledge and their powers by a secret initiation to their descendant and chosen disciples.

It is true that an antique language, obsolete words–Yaska counts more than four hundred of which he did not know the meaning—and often a difficult and out of date diction helped to obscure their meaning, the loss of the sense of their symbols, the glossary of which they kept to themselves, made them unintilligible to later generations; even in the times of the Upanishads, the spiritual seekers of the age had to resort to initiation and meditation to penetrate into their secret knowledge, while the scholars afterwards were at sea and had to resort to conjecture and to concentrate on a mental interpretation or to explain by myths, by the legends of the Brahmans, themselves often symbolic and obscure. × × × We must take the hint of Yaska, accept the Rishis discription of the Vedas contents as "Seer wisdoms, seer words" and look for whatever clue we can find to this ancient wisdom. Otherwise the Veda must remain for ever a sealed book; grammarians, etymologists, scholastic conjectures will not open to us the sealed chamber." × × ×

"The words of the Veda could only be known in their true meaning by one who was himself a seer or mystic; from others the verses withheld their hidden knowledge."

Arabindo : Introduction to 'Hymns to the mystic Fire.' P. Viii.

चली आ रही है। परन्तु निराधार श्रद्धा कब तक चल सकेगी। बौद्ध सम्प्रदाय के द्वारा यद्यपि यज्ञ-प्रक्रिया का—पशु-वध का आमूल चूड़ खण्डन किया गया है तथापि वेदों के वैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक विचारों का विरोध दृष्टिगत नहीं होता। पाश्चात्य विद्वानों ने भी वेद के अध्ययन के लिए कठोर श्रम किया है। परन्तु भारतीय परम्परा का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण उनकी गवेषणा भाषाशास्त्र पर सीमित रही। भारतीय विद्वान् अब इस ओर अग्रसर हो रहे हैं और वह समय ईश्वरानुग्रह से आ सकता है जब वैदिक विज्ञान की वैजयन्ती फिर से फहराने लगेगी। वेदों को सत्यविद्या कहा गया है। वह इस समय भले ही आवरण में है परन्तु अन्त में सत्यविद्या का प्रकाश अवश्यंभावी है।

वेदों के अर्थ प्रतिपादन की एक और शैली द्रष्टव्य है। यह कहा जा चुका है कि वेदों में आधिदैविक अर्थ की प्रधानता है। यज्ञों में भी मन्त्रों का विनियोग है। आध्यात्मिक अर्थ भी प्राप्त होते ही हैं। ऐतिहासिक तत्त्व भी तिरोहित नहीं है। देवताओं की स्तुति तो सर्वत्र भरी पड़ी है। इनमें देवताओं की स्तुति में उनके जो विशेषण प्राप्त होते हैं उनके द्वारा उन देवताओं के गुण, कर्म पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। प्रत्येक विशेषण सार्थक है और विशेषण के द्वारा देवता का यथार्थ स्वरूप भासित हो जाता है। अतः यह शैली भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहाँ दो एक मन्त्रों का उदाहरण देना अनुपपन्न न होगा।

ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही लिया जाय —

'अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।

इस मन्त्र में वर्णित अग्नि का अनेक अर्थ सामश्रमी के अनुसार ऊपर आ चुका है। अब इसके (अग्नि) विशेषणों पर ध्यान देना है।

इस मन्त्र में अग्नि देवता की स्तुति की गयी है। यहाँ उसके पाँच विशेषण हैं। १. प्रथम विशेषण है—'पुरोहितम्'। इसका अर्थ है 'पुरः' अर्थात् सम्मुख में 'हित' अर्थात् रखा हुआ। अर्थात् जो हमारे सम्मुख स्थित है। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि अग्नि शब्द वेदों में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इस मन्त्र में कौन-सी अग्नि अभिप्रेत है। यज्ञ प्रकरण में तो सम्मुख में स्थित भौतिक अग्नि जिसमें आहुति होती है, प्रत्यक्ष है। परन्तु आधिदैविक अर्थ में अग्नि शब्द पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्ष की और सूर्य की अग्नि के लिए भी सम्भव हो सकता है। अतः पुरोहित विशेषण के द्वारा इस अग्नि को आन्तरीक्ष्य और सौर अग्नि को व्यावृत्त करके पार्थिव अग्नि के अर्थ में नियत कर दिया गया है। यह मन्त्र ऋग्वेद का है। ऋग्वेद इस पार्थिव अग्नि को मुख्य आधार मान कर प्रवृत्त हुआ है और इस पार्थिव अग्नि के सम्बन्ध से सब देवताओं का विज्ञान प्रकट करता है। यजुर्वेद मध्यम अग्नि वायु या विद्युत् को आधार मानकर प्रवृत्त होता

है, अतः उसका प्रथम मन्त्र है–' इषे त्वोर्जे त्वा वायवः स्थ' इत्यादि । यहाँ वायु रूप में विद्युदग्नि का संकेत कर दिया गया है । इसी प्रकार सामवेद का प्रथम मन्त्र है—'अग्न आयाहि वीतये' इत्यादि । यहाँ अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है—हे अग्ने ! 'आयाहि' आप आइये । आगमन दूर स्थान से होता है: अतः यह दूरस्थित द्युलोक की सौराग्नि का द्योतक है। ऋग्वेद पार्थिव अग्नि के आधार पर, यजुर्वेद आन्तरिक्ष्य विद्युदग्नि के आधार पर तथा सामवेद सौर अग्नि के आधार पर अवस्थित है । ऋग्वेद प्रारम्भ में ही कहता है कि उस अग्नि की स्तुति की जाती है वह पुरोहित है जो हमारे आगे विद्यमान है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि एक अग्नि हमारे पास है और एक ऊपर से द्युलोक से आती है । इन दोनों में भी परस्पर जन्य-जनक भाव है । एक दूसरे से उत्पन्न होता है अतः मूल में दोनों एक ही हैं । पार्थिव अग्नि को आधार मानने के कारण उसी अग्नि का मुख्यतः प्रतिपादन करने के कारण ऋग्वेद और पार्थिव अग्नि का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है । यदि पार्थिव अग्नि न होता तो ऋग्वेद की प्रवृत्ति न होती । अतः ऋग्वेद का प्रवर्तक पार्थिव अग्नि है और इसी मनुस्मृति में तथा ब्राह्मणों में यह कहा गया है कि ऋग्वेद अग्नि से निकाला गया । इसी तरह वायु का यजुर्वेद से और सामवेद का सूर्य से सम्बन्ध सिद्ध होता है । इसी का उल्लेख मनु ने किया है ।

'अग्निवायुरविभ्यश्च त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञ सिद्धयर्थं ऋग्यजुः सामलक्षणम् ॥'

पुरोहित का यह भी अर्थ होता है कि जो कुछ हमारे सामने है—हमारे दृष्टि-पथ में जो पदार्थ हैं वे सब अग्नि ही हैं । इसी दृष्टि से यास्क ने कहा है कि जो कुछ भी दृष्टि का विषय है वह अग्नि ही का कार्य है—'यत्किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकमग्निकर्मैव तत् (निरुक्त अ० ७) जितने पदार्थ हैं सब में अग्नि व्यापक है । यह पूर्व में कहा जा चुका है कि सब पदार्थ अग्नि सोममय हैं । अतः सब पदार्थ अग्नि कहे जाते हैं । सोम तत्त्व अग्नि का ही पोषक है और अग्नि में आहुत होकर अग्नि रूप ही हो जाता है, यह अन्यत्र कहा गया है। यही भौतिक तत्त्व रूप अग्नि है । उष्णता या दाह इसी की एक अवस्था विशेष है । वही अग्निप्राण जब एक विशेष गति धारण करता है तब उष्णता प्रकट हो जाती है और जिसमें वह प्रकट होता है वह सम्पूर्ण वस्तु मौलिक अग्नि के रूप में चली जाती है । इस प्रकार यह पुरोहित शब्द अग्नि तत्त्व की व्यापकता का विज्ञान स्पष्ट रूप से द्योतित करता है । यही भाव यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में अग्नि की व्यापकता का स्पष्ट प्रतिपादन करता है —

"गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसि ।।" (यजुर्वेद, १२।३७)

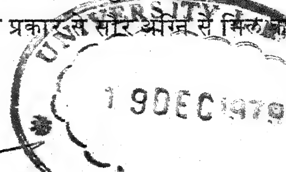
इस मन्त्र में अग्नि देव की स्तुति की गयी है । हे अग्ने ! तुम औषधियों के गर्भ में हो, वनस्पतियों के गर्भ में हो, सब भूतों के गर्भ में हो तथा जल के गर्भ में हो । इसी अर्थ को ऋग्वेद का एक मन्त्र और भी स्पष्ट करता है —

"गर्भो अपां गर्भो वनानां गर्भश्च स्थातां गर्भश्चरथाम् ।
अद्रौ चिदस्मा अन्तर्दुरोणे विशां न विश्वो अमृतः स्वाधीः ।।"

भावार्थ स्पष्ट है । इस प्रकार एक विशेषण पुरोहित के द्वारा अग्नि तत्त्व की सर्वव्यापकता अत्यन्त संक्षिप्त रूप में सिद्ध हो जाती है ।

'अग्निमीडे' इत्यादि मन्त्र में अग्नि का दूसरा विशेषण है—'यज्ञस्य देवम्'—यज्ञ का अधिष्ठाता अथवा प्रकाशक । वैध यज्ञ में भौतिक अग्नि पर ही यज्ञ निर्भर है, अतः वहाँ तो वह यज्ञ का देव निर्विवाद है । प्राकृतिक यज्ञ में भी अग्नि यज्ञ का देव है । समस्त पदार्थ जात जो दिखाई देते हैं कभी भी एकरूप नहीं रहते उनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है । किन्तु प्रतिक्षण बदलते हुए भी अपनी सत्ता को बनाये रखते हैं । एकदम उच्छिन्न नहीं होते । यह भी यज्ञ का ही परिणाम है । अपने भावों को अन्यत्र अर्पण करना और दूसरे से कुछ लेना—आदान और प्रदान ही यज्ञ है । इसका स्पष्टीकरण यज्ञ प्रकरण में हुआ है । जैसे दीपक अपना प्रकाश सर्वत्र फैलाता है—प्रदान करता है और क्षीण होता रहता है तथा साथ ही तैल का अंश निरन्तर लेता रहता है और अपनी सत्ता बनाये रखता है। जिस क्षण में यह यज्ञ—आदान-प्रदान कार्य—उच्छिन्न हो जायगा उसी समय दीपक की सत्ता नष्ट हो जायगी । इस प्रकार यह आदान-प्रदान रूप—अन्न और अन्नादभाव—ही प्राकृत यज्ञ है । इसी यज्ञ के द्वारा पदार्थों की उत्पत्ति और स्थिति होती है । अग्नि में सोम की आहुति के द्वारा ही यज्ञ का सम्पादन होता है । प्राणियों के अंगों की पुष्टि, वृक्षों के पर्ण, पुष्प आदि का प्रसव इत्यादि सब यज्ञ के ही परिणाम हैं । यज्ञ में अग्नि की प्रधानता है, अतः यज्ञ का देव—अधिष्ठाता अग्नि यहाँ कहा गया है और यह संकेत कर दिया गया कि पदार्थों की सत्ता का कारण यज्ञ रूप अग्नि ही है ।

अग्नि का तीसरा विशेषण उक्त मंत्र में—'ऋत्विजम्' है । 'ऋत्विजम्' का अर्थ है—ऋतुभिर्यजति अर्थात् ऋतुओं के साथ सम्मिलित होता है अथवा 'ऋतून् ददाति'—ऋतुओं को देता है; उत्पन्न करता है । प्रथम विग्रह में ऋत सौराग्नि (संवत्सर) के अवयव ऋतु हैं। द्वितीय विग्रह में यह है कि उन-उन ऋतुओं में फल, पुष्प आदि को उत्पन्न करना प्रसिद्ध है वह काल ऋतु शब्द का अर्थ है । दोनों ही प्रकार से सौर अग्नि से मिलकर



यह पार्थिव अग्नि इन ऋतुओं को उत्पन्न करता है। ऋत सौर अग्नि ही प्रधानतया ऋतुओं का कारण है उसी ऋत से ऋतु शब्द बना है। परन्तु ऋत अग्नि एक रूप है उसमें सोम के संयोग से तारतम्य होता है, अतः ऋतु के लिए सोम का सहयोग अपेक्षित है। इसलिए सोममय चन्द्र को भी ऋतुओं का कारण माना गया है जैसा कि निम्न निर्दिष्ट मन्त्र से स्पष्ट होता है — (ऋ० वे० १०।८५।१०)

"पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्टे ऋतूंरन्यो विदधज्जायते पुनः ॥"

इस मन्त्र में सूर्य और चन्द्र प्रस्तुत हैं। ये दोनों शिशु के रूप में कहे गये हैं। इनमें एक अर्थात् सूर्य भुवनों को प्रकाशित करता है। दूसरा चन्द्र ऋतुओं का विधान करता हुआ बार-बार उत्पन्न होता है। यहाँ ऋतु के सम्बन्ध में चन्द्र की अपेक्षाकृत प्रधानता कही गयी है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्र ऋतुओं के उत्पादक यहाँ कहे गये हैं। किन्तु उन-उन भिन्न ऋतुओं में फल, पुष्प, अन्नादि की समृद्धि का हेतु पार्थिव अग्नि ही है। पार्थिव अग्नि के सम्बन्ध के बिना पृथ्वी में कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता। सूर्य और चन्द्र का प्रभाव पार्थिव अग्नि पर पड़ता है और उन दोनों से मिल कर पार्थिव अग्नि उन फल पुष्पादि का उत्पादक होता है। ऋतुओं के नाम भी इसी अग्नि के तारतम्य के कारण ही कल्पित हैं। अग्नि का प्रथम वास वसन्त ऋतु है। जब अग्नि पुष्ट होकर सब अर्थों को ग्रहण करने में समर्थ होता है तब ग्रीष्म होता है। ग्रीष्म शब्द ग्रह धातु से निष्पन्न है। जब अग्नि अत्यन्त प्रवृद्ध हो जाता है तब वर्षा होती है। वर्षा शब्द भी वृध् धातु से बनता है। इस प्रकार इन तीन ऋतुओं में अग्नि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है और सोम अपेक्षाकृत क्षीण होता जाता है। जब पूर्ण वृद्धि को प्राप्त होकर अग्नि क्षीण होने लगता है और सोम का बल क्रमशः बढ़ने लगता है तब शरद् ऋतु आती है। शरद् में अग्नि शीर्ण होने लगता है। अग्नि के और अधिक हीन होने पर हेमन्त और अत्यन्त शीर्ण होने पर शिशिर होता है। इस प्रकार एक संवत्सर में अग्नि और सोम के तारतम्य से छः ऋतु हो जाते हैं। श्रुति में कहीं-कहीं पाँच ऋतु माने गये हैं वहाँ हेमन्त और शिशिर को मिला दिया गया है। शिशिर में अग्नि का ह्रास और सोम का बढ़ना परम काष्ठा में पहुँच जाता है। अब दूसरे संवत्सर में फिर सोम का क्षीण होना और अग्नि का बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इस प्रकार 'अग्निमीडे' इत्यादि मन्त्र में अग्नि को ऋतुजनक बताया गया है।

इस मन्त्र में अग्नि का चौथा विशेषण है—'होतारम्'। यह शब्द आह्वान करने के अर्थ

में ह्वेञ् धातु से निष्पन्न हुआ है। अग्नि देवों का आह्वान करता है। अग्नि के द्वारा ही हम लोगों का सौर मण्डल में स्थित देवों से सम्बन्ध होता है।

पाँचवाँ विशेषण है—'रत्नधातमम्'। इसका अर्थ है रत्नों का धारण या पोषण करने वाला अथवा देने वाला। जितने सुवर्ण मणि आदि पदार्थ पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं उनका मूल कारण पार्थिव अग्नि है। यह अर्थ इस विशेषण में स्पष्ट है। इसी विज्ञान के आधार पर न्यायशास्त्र भी सुवर्ण मणि आदि पदार्थों को तैजस कहता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सुवर्ण की उत्पत्ति के वैज्ञानिक प्रकार का लौकिक भाषा में स्पष्टीकरण किया गया है :—

'आपो वरुणस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निमभ्यध्यायन्। ताः समभवन् तस्य रेतः परापतत्, तद्धिरण्यमभवत्। (तै० ब्रा० १।१।३)

रस भाग में अग्नि के वीर्य का सम्बन्ध होने से सुवर्ण की उत्पत्ति होती है यह इसका भाव है। इसी से संस्कृत में अग्नि को 'हिरण्यरेताः' कहा जाता है।

इस प्रकार इस एक मन्त्र में ही विशेषणों के द्वारा अनेक वैज्ञानिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। यह वेदों की विशेषता है। इसी प्रकार प्रायः सर्वत्र इस शैली को ध्यान में रखने से अनेक वैज्ञानिक तत्त्वों का ज्ञान सरलता से हो जाता है।

इस सम्बन्ध में एक और मन्त्र द्रष्टव्य है। इसे अस्यवामीय भी कहा गया है।

"अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्त पुत्रम्॥"
(ऋ० वे० १।२२।८)

भाष्यकार सायणाचार्य ने इसके अधिदैवत और अध्यात्म दो अर्थ किये हैं। अधिदैवत अर्थ का भाव यह है कि सब के सेवा करने योग्य या सब को प्रकाश देने वाले सम्पूर्ण लोक के पालक, स्तुति के द्वारा यज्ञादि में आह्वान करने योग्य सुप्रसिद्ध इन प्रत्यक्ष सूर्य देव का मध्यम भ्राता अन्तरिक्षस्थ वायु अथवा विद्युद् रूप अग्नि सर्वव्यापक है। इन्हीं सूर्य देव का तीसरा भाई घृत को अपने पृष्ठ पर धारण करने वाला घृत से प्रदीप्त होने वाला अग्नि है। इन तीनों में सर्वत्र फैलने वाले सात किरण रूप पुत्रों के साथ सूर्यदेव को ही सब का स्वामी और सब का पालन करने वाला मैं जानता हूँ।

इस अर्थ से सिद्ध होता है कि अग्नि, वायु और सूर्य ये तीनों तीन लोकों के देवता हैं। इन तीनों में परस्पर सम्बन्ध है और इनमें सूर्य मुख्य है।

आध्यात्मिक अर्थ यह है—यह परमात्मा सब जगत् को उद्गिरण करने वाला—अपने शरीर में स्थित जगत् के बाहर प्रकाशित करने वाला सब का पालक अथवा सब से

प्राचीन, सब को फिर अपने में लीन करने वाला है। इसका भाग हरण करने वाला अर्थात् अंशरूप व्यापनशील, सब के मध्य में रहने वाला सूत्रात्मा है। और इसी परमात्मा का तीसरा भ्राता विराट् है। घृत शब्द जल का भी वाचक है और उससे उस जल का कार्य स्थूल शरीर लक्षित होता है, उस शरीर का स्पर्श करने वाला—स्थूल—शरीर का अभिमानी विराट् है। इन सबमें सब प्रजाओं के स्वामी, सातों लोक जिसके पुत्र हैं ऐसे परमात्मा को जानता हूँ।

अब यहाँ विशेषण शब्दों पर ध्यान दिया जाय।

वामस्य—निरुक्तकार इस शब्द की सिद्धि वन् धातु से मानते हैं जिसका अर्थ है संविभाग—बाँटना। इस से सिद्ध होता है कि सूर्य सब को अपना प्रकाश और वृष्टि जल आदि बाँटते रहते हैं। इतर सब सूर्य के अधीन रहते हैं। पलितस्य—निरुक्तकार इसका पालन करते हैं। पलित शब्द श्वेत केश का भी वाचक है। इससे वृद्धत्व-प्राचीनता भी सिद्ध होती है।

होतुः—यह शब्द 'हु' धातु और 'ह्वा' धातु दोनों से बनाया जाता है। हु धातु का अर्थ है—दान, अदन और प्रीणन। ह्वा धातु का अर्थ है—स्पर्धा, आह्वान और शब्द। अतः 'होतुः', इस विशेषण में इन सभी अर्थों का द्योतन हो जाता है। सूर्य हमें वृष्टि जल का दान करते हैं, पृथ्वी में से रस का हरण (अदन) करते हैं और सब का प्रीणन करते हैं, सब को प्रसन्न करते हैं। सब ग्रह उपग्रहों के नाभिरूप केन्द्र स्थान में स्थित रहकर मानों उनसे स्पर्धा कर रहे हैं। सब ग्रह उपग्रहों का आह्वान—आकर्षण करते रहते हैं और ताप के द्वारा वायु में गति उत्पन्न करके उसके द्वारा शब्द भी कराते हैं। विश्वपतिम्—प्रजाओं के उत्पन्न करने वाले और उनका पालन करने वाले 'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः' 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि श्रुतियों में सूर्य से ही सब उत्पन्न होते हैं, यह स्पष्ट रूप में कहा गया है।

सप्तपुत्रम्—यहाँ पुत्र शब्द से रश्मियों का अर्थ ही अभिप्रेत है। सप्त का अर्थ सात संख्या भी है और शब्दार्थ सरण करने वाला भी है। इसका तात्पर्य यह है कि रश्मियाँ बड़े वेग से चलने वाली हैं और उनमें सात भाग हुआ करते हैं। सूर्य अदिति के सप्तम पुत्र हैं, यह ऐतिहासिक पक्ष का अर्थ भी ध्वनित हो जाता है।

भ्राता—निरुक्तकार इसका अर्थ करते हैं—भरण करने योग्य अथवा हरण करने वाला। भृ धातु से निष्पन्न होने पर भरण करने योग्य (भरणीय) अर्थ होगा और हृ धातु से भाषा विज्ञान के अनुसार हकार भ में परिणत होकर भ्रातृ शब्द माना जायगा तो हरण करने वाला अर्थ भी होगा। लौकिक भाषा में भी दाय भाग का हरण करने वाले

अर्थ में भ्रातृ शब्द प्रयुक्त होता है। प्रकृत में इसका तात्पर्य यह है कि अपनी रश्मियों के द्वारा आकृष्ट रस सूर्य वायु में समर्पित करते हैं; वायु को गति आदि भी अपनी किरणों द्वारा देते हैं, इस प्रकार उसका भरण करते हैं। अन्तरिक्ष मध्यम लोक है इसके देवता इन्द्र या वायु कहे गये हैं। इन्द्र यहाँ विद्युत् है उसकी उत्पत्ति भी सूर्य से होती है आकृष्ट रस से उसका अस्तित्व स्थित रहता है। इसका विचार वैज्ञानिक प्रकरण में द्रष्टव्य है। हरण करने के अर्थ में यह अभिप्राय है कि वायु सूर्य के अन्तरिक्षस्थ को हरण कर लेता है। मानो तीनों लोकों के स्वामी सूर्य ही थे उनसे अन्तरिक्ष स्थान वायु हरण कर लेता है।

अश्नः––का अर्थ है व्यापक। इससे विद्युत् और वायु की व्यापकता सिद्ध होती है। इनके बिना कोई स्थान नहीं है। वायु और विद्युत् सर्वत्र हैं।

तृतीय भ्राता––पार्थिव अग्नि के लिए आया है। यह भी सूर्य से उत्पन्न है उससे पोषित है और इसने भी तृतीय स्थान का सूर्य से हरण कर लिया है।

घृतपृष्ठ––घृत से अग्नि की वृद्धि होती है यह प्रसिद्ध ही है। घृत शब्द सोम का भी उपलक्षण है। अग्नि सदा सोम के पृष्ठ पर रहता है; बिना सोम के अग्नि रह नहीं सकता और बिना अग्नि के सोम नहीं मिलता। अग्नि और सोम से ही जागतिक सब पदार्थ बने हैं।

इस प्रकार इस मन्त्र में विशेषणों के उपयुक्त प्रयोग के द्वारा अनेक वैज्ञानिक तत्त्वों का प्रकाश किया गया है। इस प्रकार और भी अनेक स्थल हैं।

आपोनप्त्रीय सूक्त कवष ऐलूश के आख्यान में वृष्टि-विज्ञान वर्णित है। नासदीय सूक्त में प्राक्कालीन दार्शनिक विचारों का संग्रह है। पुरुष सूक्त में सृष्टि प्रकरण का उल्लेख है। अघमर्षण सूक्त में ऋत, सत्य तथा अहः, रात्रि, समुद्र आदि पर प्रकाश डाला गया है। यह सोचनीय है कि विज्ञानों का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से मिलता है परन्तु उनके सिद्ध करने की प्रक्रिया, उसके रहस्य, प्रयोग आदि काल के गर्भ में विलीन हो गये। यह एक शुभ लक्षण है कि वर्तमान काल में पाश्चात्य वैज्ञानिक अपने अथक परिश्रम के द्वारा नये-नये तत्त्वों के आविष्कार में सफल हो रहे हैं। वैदिक विज्ञान को समझ कर आधुनिक विज्ञान से उनकी तुलना करने पर जितने अंश में भेद है वह भी स्पष्ट हो सकता है। वैदिक विज्ञान को आधार मान कर यदि आधुनिक विज्ञान अन्वेषण में प्रवृत्त होगा तो अपेक्षाकृत उसका मार्ग सरल हो सकेगा। वैदिक विज्ञान को केवल कपोल-कल्पित मानने से वैज्ञानिक जगत् की हानि ही है क्योंकि अभी जो नवीन सिद्धान्त बहुधा स्थिर नहीं हो पाये हैं उन्हें स्थिर करने में वैदिक विज्ञान से संवाद हो जाने

पर जो सहायता मिलती उससे नवीन विज्ञान वञ्चित हो जायगा और उसका परिश्रम बढ़ जायगा।

वेदों की विशेषता

अन्य शास्त्रों या काव्यादि के शब्दों से वेद के शब्दों में यह विशेषता है कि अन्य शास्त्रों या काव्यादि शब्दों के प्रतिपाद्य अर्थों का ज्ञान वक्ता को लौकिक प्रमाणों से होता है। दूसरे प्रमाणों से अर्थ का साक्षात्कार करके वे स्वतन्त्र रूप से शब्द प्रयोग करते हैं इसलिए वे ग्रन्थकर्ता कहे जाते हैं। किन्तु वेद शब्दों के वाच्य अर्थ—स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि का स्पष्ट ज्ञान दूसरे प्रमाणों से संभव नहीं होता। यहाँ वह ज्ञान तप:, योग, समाधि आदि द्वारा प्रसन्न किये गये ईश्वर के द्वारा ही प्रदत्त है और उस ज्ञान का मूल दूसरा कोई शब्द भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वेद से प्राचीन और कोई ग्रन्थ नहीं माना गया है। अन्य ग्रन्थों का ज्ञान वेद से अर्वाचीन होने के कारण वेदमूलक कहा जा सकता है किन्तु वेद का ज्ञान ईश्वर प्रदत्त के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए अर्थ की दृष्टि से ऋषि-महर्षि द्रष्टा कहे जाते हैं और शब्दों की दृष्टि से प्रयोक्ता या आनुपूर्वी निर्माता। इस प्रकार ऋषियों का द्रष्टा होना और कर्ता होना दोनों व्यवहारसिद्ध होता है। ऋषियों को वेदार्थ-ज्ञान ईश्वर से ही हुआ, यह श्रुति वाक्य से ही सिद्ध होता है:—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥"

लौकिक प्रमाणों से, प्रत्यक्ष अनुमान आदि से जो ज्ञान सम्भव नहीं है उसे बताना ही वेद की वेदता है, विशेषता है जैसा कि कहा गया है :—

"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥"

वेदों की दूसरी विशेषता यह है कि इनके द्वारा प्रतिपाद्य ज्ञान त्रिकालबाधित हैं यह काल-भेद से परिवर्तित नहीं होता। मनुष्य के ज्ञान में भ्रम, प्रमाद आदि सम्भव हैं, अत: वह बदलता रहता है। इसीलिए तर्क को भी अप्रतिष्ठित कहा गया है। एक का तर्क दूसरे के प्रबल तर्क से काट दिया जाता है। एक ही व्यक्ति पहले एक निश्चय पर पहुँचता है और बाद में भूल प्रतीत होने पर उसे बदल देता है। यह प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध है। यही कारण है कि बड़े से बड़े विज्ञानवेत्ता पहले एक आविष्कार करके उसे स्थिर मान लेते हैं और बाद में उसे सदोष देखकर बदलते रहते हैं। दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे —

१. वेद का अनादि काल से सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण जगत् का मूल तत्त्व एक है। 'सदेव

सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' । पाश्चात्य विज्ञान ने पहले हाइड्रोजन, आक्सिजन आदि को मौलिक तत्त्व माना । क्रमशः इन मौलिक तत्त्वों की संख्या भी बढ़ती गयी । किन्तु अब ये वैज्ञानिक दो तत्त्व ही मानने लगे हैं—इलेक्ट्रान (electron) और (proton) प्रोटोन । यह भी वे अनुभव करने लगे हैं कि दोनों का एक ही मूल से विकास है ।

२. इसी प्रकार से इस वर्तमान सृष्टि की आयु के सम्बन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मतों में क्रमशः परिवर्तन होता गया है । वेदोक्त युग प्रक्रिया के अनुसार—जिसका विशद वर्णन वेदानुयायी पुराणों में स्पष्ट है—सृष्टि कुछ कम दो अरब वर्ष पुरानी मानी जाती है । पाश्चात्य धर्म ग्रन्थों के अनुसार यह पाँच हजार वर्ष पुरानी मानी जाती थी । धीरे-धीरे भूगर्भशास्त्र के आधार पर यह दृष्टिकोण बदलता रहा और अब लगभग दो अरब का काल माना जाने लगा है ।

३. वैदिक विज्ञान शब्द को आकाश का गुण मानता आया है । वेद वाक् को इन्द्र की पत्नी कहता है । इन्द्र अन्तरिक्ष का देवता सब अन्तरिक्ष में व्यापक है । पाश्चात्य विज्ञान शब्द को वायु का गुण मानता था और यह सिद्ध करता था कि वायु के द्वारा शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है । परन्तु अब रेडियो के आविष्कार से यह सिद्धान्त बदल गया । आज यह माना जाने लगा है कि शब्द अब एक सेकण्ड में जितनी दूर पहुँच जाता है उतनी गति वायु में नहीं है । इससे शब्द ईथर या स्पेस का ही गुण है । ईथर इन्द्र शब्द का ही अपभ्रंश है । ईथर और स्पेस दोनों ही आकाश तत्त्व के अन्तर्गत हैं ।

४. वृक्ष लता आदि को अर्वाचीन वैज्ञानिक पहले चेतन नहीं मानते थे । वेद आदि शास्त्र सदा से उन्हें चेतन मानते थे । वेदानुसार मनुस्मृति में स्पष्ट ही उन्हें अन्तःसंज्ञ कहा गया है—'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः' । इसी को आधार मान कर वैज्ञानिक मूर्धन्य जगदीशचन्द्र बोस ने अपने प्रयोगों से यह सिद्ध कर दिया कि उनमें भी चेतना है; सुख-दुःख का उन्हें भी अनुभव होता है । अब सभी वैज्ञानिक इसे स्वीकार करने लगे हैं ।

५. वैदिक विज्ञान के आधार पर चलने वाली तिथि मास आदि की प्रक्रिया कभी बदलनी पड़ी हो ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता । सौर वर्ष से सावन वर्ष में जो अन्तर पड़ता है उसे ठीक करने के लिए प्रति तीन वर्ष में अधिक मास की कल्पना की गयी है । इसका मूल भी ऋक्संहिता में है :—

'वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः । वेदा य उपजायते ।'

यह वरुण देवता का मन्त्र है । भाव यह है कि वरुण देव बारह महीनों को जानते हैं और जो नया महीना बढ़ जाता है उसे भी जानते हैं । वैदिक विज्ञान के अनुसार यह पृथ्वी सूर्य के वश में है; उसकी परिक्रमा करती है; उसी के आकर्षण से अपनी कक्षा में स्थित है । चन्द्रमा इस पृथ्वी की परिक्रमा करता है । उसी प्रकार सूर्य वरुण की परिक्रमा करता रहता है । वरुण की स्तुति में ऋक्संहिता का मन्त्र है —

"उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ ।
अपदे पादा प्रतिधातवे करतापवक्ता हृदयाविधश्चित् ।।

इसका भाव यह है कि वरुण राजा सूर्य को चलने के लिए बहुत बड़ा मार्ग देता है । बिना पैर वाले सूर्य को पैर भी वही देता है । इससे स्पष्ट है कि वरुण के ही आकर्षण से बद्ध सूर्यमण्डल उसकी परिक्रमा करता रहता है । इन्हीं चन्द्र, पृथ्वी, सूर्य आदि की गति के कारण तिथि, मास, वर्ष आदि की व्यवस्था चलती है । इसी व्यवस्था को सुसंगत चलाने के लिए अधिक मास की कल्पना की गयी है । इस व्यवस्था से अति प्राचीन काल से बराबर चलते रहने पर भी हमारी व्यवस्था में ऋतु-परिवर्तन में कोई भेद नहीं पड़ता । अन्य देशीय व्यवस्था में तारीख आदि की असमंजसता को दूर करने के लिए समय-समय पर परिवर्तन करना पड़ता है और आगे भी करना पड़ेगा ।

यहाँ के ऋतु, मास, तिथि आदि सभी प्राकृतिक आधार पर अवस्थित हैं । उनके नाम भी गुणों के अनुसार हैं । अन्यत्र इन मास आदि के नाम कल्पित हैं । इसी प्रकार यहाँ के वार (रविवार, सोमवार आदि) भी ग्रहों की पृथ्वी से दूरता के क्रम से रखे गये हैं जो सर्वथा वैज्ञानिक हैं । यहाँ उसे विस्तार से लिखना सम्भव नहीं है । अन्यत्र जो नामकरण हैं उनमें कोई संगत व्यवस्था नहीं है । इतना निदर्शन पर्याप्त है; अधिक विवेचन द्वारा ग्रन्थ के कलेवर की वृद्धि उचित नहीं है ।

वेदसंहिता और ब्राह्मण

संहिता भाग को सभी ने वेद माना है और उसके स्वतःप्रामाण्य में किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं है । सभी आस्तिक सम्प्रदाय यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते हैं कि वेद-मन्त्र महर्षियों के तपोयोग द्वारा ईश्वरीय अनुग्रह से उनके अन्तःकरण में उद्भासित हुए थे । वेद के वैज्ञानिक भाग में तो सभी का ऐकमत्य है परन्तु वेद-ग्रन्थों के पौरुषेयत्व अथवा अपौरुषेयत्व में मतभेद है, इसका उल्लेख अन्य प्रकरण में किया गया है । पर वेद-ग्रन्थों के संहिता भाग के स्वतः प्रामाण्य में किसी का विरोध नहीं है । ब्राह्मण ग्रन्थों के सम्बन्ध में प्रायः तीन मुख्य मत हैं । प्रथम है कि ब्राह्मण भाग स्मृति पक्ष में आते हैं । इनका

तर्क यह है कि जिनमें स्वतः प्रामाण्य है वे वेद हैं और जो परतः प्रमाण हैं वे स्मृति हैं। (यह भी श्रुति प्रकरण में सन्निविष्ट है)। ब्राह्मणों में प्रायः संहिता के मन्त्रों की व्याख्या है और प्रमाण के रूप में मन्त्रों का उद्धरण दिया गया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्राह्मण भाग के कर्ता स्वयं अपने कथन के प्रमाण के लिए जब मन्त्रों का आश्रय लेते थे तब वे परतःप्रमाण—अर्थात् वेद के प्रमाण द्वारा ही—अपने व्याख्यान की पुष्टि करते हैं और इस कारण वे स्मृति ही कहे जा सकते हैं। दूसरा मत यह है कि ब्राह्मण भागों में ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहाँ स्वतन्त्र विचार प्रमाण के रूप में प्रकट किये गये हैं और अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी दूसरे प्रमाण का आश्रय नहीं लिया है। ऐसी स्थिति में ब्राह्मण भाग वेद और स्मृति दोनों में ही माने जाते हैं। परन्तु तीसरा मुख्य पक्ष यह है कि ब्राह्मण भाग (विधि, उपासना और ज्ञान) वेदसंहिताओं के समान ही वेद हैं; स्वतः प्रमाण हैं; ऋषियों के तपःपूत अन्तःकरण में उनको अर्थ का साक्षात्कार हुआ है। जहाँ उन्होंने प्रमाण के रूप में वेद-मन्त्रों का उद्धरण किया है वहाँ अपने मत का दौर्बल्य उन्होंने प्रकट नहीं किया है प्रत्युत अपने विचारों में तथा मन्त्रों में सामञ्जस्य है यही दिखाया है। अतः प्रथम और द्वितीय दोनों मतों का महत्व नहीं रह जाता। ब्राह्मण भाग को वेद मानने के पक्षपाती यह तर्क भी उपस्थित करते हैं कि ये भाग वेद के उपकारक अंग हैं और अंग अंगी पृथक् नहीं माने जाते इस कारण भी इनमें वेदत्व प्राप्त है। वेद के छः अंग प्रसिद्ध हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, गणित, निरुक्त और छंद। इन छहों अंगों के प्रतिपादक ब्राह्मण भाग हैं इनका विशेष उल्लेख पृथक् होगा। एक माननीय महानुभाव इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि[1] सुश्रुत का (आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्य) कथन है कि 'शरीर यह संज्ञा प्राप्त होती है; उसके छः अंग हैं—चार शाखाएँ, पंचम मध्य भाग और छठा सिर।' शरीर इन छः अंगों का समुदाय रूप है; उसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसी प्रकार वेद पुरुष के स्वरूप सिद्ध करने वाले ये छः अंग हैं। श्रुति में वर्णसमाम्नाय रूप वेद पुरुष को 'छन्दः पुरुष' कहा गया है।[2] इन अंगों पर पृथक् प्रकरण है।

१ 'शरीरमिति संज्ञां लभते, तच्च षडङ्गम्– शाखाश्चतस्रः, मध्यं पञ्चमम्: षष्ठं शिरः।'

२ 'छन्दःपुरुष इति यमवोचाम, वर्णसमाम्नाय एषः'

ऋ० प्रा० Vol. २, P. १३—अत आचार्यो भगवाञ्छौनको वेदार्थवित् सुहृद् भूत्वा ब्राह्मणेभ्योऽर्थवादानुत्सृज्य विधिं समाहृत्य पुरुषहितार्थमृग्वेदस्य शिक्षाशास्त्रं कृतवानिति।

ब्राह्मण ग्रन्थों का महत्त्व

ब्राह्मण ग्रन्थ आपाततः देखने से यज्ञ की विधि को विस्तार से वर्णन करते हुए प्रतीत होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यज्ञ की इतिकर्तव्यता बताने में इनका मुख्य भाग है तथा इन्हीं के आधार पर परवर्ती आचार्यों ने श्रौत सूत्र की रचना की है। परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदमन्त्रों के उपयुक्त अर्थ करने में जो सहायता इन ग्रन्थों से मिलती है वह आश्चर्यजनक है। मन्त्रों के यथाविधि ज्ञान के लिए परवर्ती आचार्यों ने शिक्षा, कल्प आदि भिन्न-भिन्न छः वेदांगों की पृथक् रचना की है जिनके द्वारा ही मन्त्रों के यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। इन परवर्ती शिक्षा, कला आदि ग्रन्थों के मूल आधार ये ब्राह्मण ग्रन्थ ही हैं और इन्हीं में प्रसंगवश छहों विषयों का दर्शन मिलता है और इस कारण ये ही यथार्थ में वेदांग हैं और इसीलिए वे वेदांग होने से ही वेद कोटि में माने गये हैं जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। ऋक्प्रातिशाख्य के प्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य उवट स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हैं कि इसीलिए भगवान् शौनक जो वेदार्थ के ज्ञाता थे सुहृद् होकर (अर्थात् परवर्ती अनृषि लोगों के उपकार करने में प्रवृत्त होकर) ब्राह्मण ग्रन्थों में से अर्थवादों को छोड़कर विधि को एकत्र करके पुरुष हित की दृष्टि से ऋग्वेद के शिक्षा शास्त्र का प्रणयन किया। यह उद्धरण केवल शिक्षा के सम्बन्ध में होने पर भी यह स्पष्ट घोषित करता है कि अन्य अंगों के लिए भी यही आधार हैं। छन्दःकल्प आदि षडङ्ग का वर्णन पृथक् प्रकरण में होगा। परन्तु सबसे बड़ी विशेषता ब्राह्मण ग्रन्थों की यह है कि इनमें जहाँ वैध यज्ञ (मनुष्यों के द्वारा किये जाने वाले प्रचलित अर्थ में यज्ञ) का विधान करते हुए स्थान-स्थान पर यह स्पष्ट करते गये हैं कि इन यज्ञों में अमुक विधि की वैज्ञानिक उपपत्ति क्या है। अर्थात् यह विधि क्यों दी जाती है इसका वैज्ञानिक संकेत दिया गया है। वास्तव में प्रकृति के साम्राज्य में जो प्राकृतिक यज्ञ हो रहे हैं उन्हीं के आधार पर उन्हीं की प्रकृति रूप में इन वैधानिक यज्ञों का विधान है और प्राकृतिक यज्ञों के द्वारा जो परिणाम प्राप्त होते हैं उन्हें अंशतः प्राप्त करना ही इन यज्ञों का लक्ष्य है। यज्ञ प्रकरण पृथक् अध्याय में लिखा गया है वहाँ इसका विशद विवेचन मिलेगा। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि इन ब्राह्मण ग्रन्थों में वैज्ञानिक उपपत्ति होने के कारण इन यज्ञों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। यह साधारण मानवीय प्रकृति है कि किसी कार्य में केवल श्रद्धावश उतनी प्रवृत्ति नहीं जितनी उस कार्य के सब परिणामों के यथावत् ज्ञान प्राप्त करने से होती है। यह वैज्ञानिक विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थों की विशेष महत्ता है। परन्तु दुर्भाग्यवश इधर से लोगों का ध्यान हट गया था जिसके अनेक कारण थे।

ब्राह्मणों में वैज्ञानिक विवेचन यत्र तत्र भरे पड़े हैं। 'वेदों में विज्ञान' शीर्षक में इस विषय पर विशेष रूप से प्रकाश डाला जा चुका है । यहाँ केवल दो एक स्थल उदाहरण के रूप में उपस्थित किये जाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में आकर्षण विद्या के प्रकरण में प्रश्न उठाया गया है कि जिन विष्णु को आकर्षण माना गया है उनमें वह बल कहाँ से प्राप्त होता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि विष्णु को वात (वायु) से बल प्राप्त होता है और इनकी दीप्ति अर्थात् तेज अक्षर पुरुष से आता है ।[१] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विष्णु शब्द यहाँ सूर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है । सूर्य के बारह नामों में विष्णु शब्द भी मिलता है । इस आकर्षण विद्या का विवेचन अन्यत्र मिलेगा। यहाँ जिस अक्षर प्राण से दीप्ति (प्रकाश) प्राप्त होती है पाँच अक्षरों में से इन्द्र अक्षर है जिसका निरूपण अव्यय अक्षर आदि के प्रकरण में मिलेगा । वेद शब्द केवल वेद-ग्रन्थों के लिए ही प्रयुक्त नहीं होता प्रत्युत मुख्य रूप से वह वैज्ञानिक वेदों के लिए प्रयुक्त होता है (इसका विवेचन भी वेद प्रकरण में मिलेगा) यह दिखाने के लिए शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि यह जो मण्डल (सूर्य का) तप रहा है वह महदुक्थ है--ये ऋचाएँ हैं, वह ऋचाओं का लोक है । अब यह जो अर्चि (तेजःपुञ्ज) दीप्त हो रही है वह महाव्रत है वे साम हैं, वह सामों का लोक है । अब यह जो इस मण्डल में पुरुष है वह अग्नि है, वे यजु हैं वह यजुषों का लोक है । (१) यह त्रयी विद्या ही (वेद-त्रयी) तप रही है ।[२] यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ऋचाओं का मूर्ति से, प्रकाश का साम से और यजुःपुरुष का (उसके मूल तत्त्व का) अग्नि से सम्बन्ध है । यह अग्नि भौतिक अग्नि नहीं है प्रत्युत उसकी अत्यन्त सूक्ष्म दशा है । यही बात मन्त्र में स्पष्ट रूप से मिलती है—ऋक् से ही सब मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यावन्मात्र गति यजुष् से होती है और सब तेजः (प्रकाश साम रूप हैं—'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत् । सर्वं तेजः साम रूपं हि शश्वत् सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ।' (तैत्ति० ब्रा०

१. प्रश्नः—किं तद् विष्णोर्बलमाहुः, का दीप्तिः किं परायणम् । एको यद्धारयद् देवः रेजता सेदती उभे । उत्तरम्—वाताद् विष्णोर्बलमाहुरक्षराद्दीप्तिरुच्यते । त्रिपदाद् धारयद् देवः यद्विष्णोरेकमुत्तमम् । यथासुग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।
—शतपथ ।

२. यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम् ता ऋचः स ऋचां लोकः । अथ यदेतदर्चि-र्दीप्यते तन्महाव्रतम् तानि सामानि स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः सोऽग्निः स यजुषां लोकः । सैषा त्रयी एव तपति । —शतपथ ।

२।१२) । यजुर्वेद का स्वरूपवर्णन शतपथ (१०।३।५) में इस प्रकार मिलता है । यह जो वह रहा है यह यजु है । यह चलता हुआ ही यह सब उत्पन्न करता है । इसके प्रतियान से ही यह सब कुछ उत्पन्न होता है । अतः वायु ही यजु है । यह आकाश जू है । यह जो अन्तरिक्ष है । 'अयं वाव यजुर्योऽयं पवते, एष हि यन्नेव इदं सर्वं जनयति, एतं प्रयन्तमिदमनुप्रजायते । तस्माद् वायुरेव यजुः । अयमेवाकाशो जूः । यदिदमन्तरिक्षम् ।' आकाश को जूः और तत्रस्थित वायु को यत् कहा गया है ये दोनों मिल कर 'यज्जूः' बनते हैं और यज्जूः शब्द यजुः हो गया है । वास्तव में यजुः शब्द वायु और आकाश का सम्मिलित रूप है और यह दोनों के लिए ही समान रूप से व्यवहृत होता है ।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में—जो शतपथ ब्राह्मण का ही अंश है, यज्ञों की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के बताने के लिए स्वैदायन और उद्दालक के प्रश्नोत्तर रूप में आख्यायिका का उल्लेख है । इसका विचार भी यज्ञ प्रकरण में प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार ब्राह्मणों में वैज्ञानिक विवेचन पर्याप्त मात्रा में मिलता है । परन्तु काल-प्रभाव से तथा अनेक अन्य कारणों से वैज्ञानिक विचार तिरोहित होते गये और इनके स्थान में शुष्क विधि भाग प्रतिष्ठित हो गया । यास्क के समय तक वैज्ञानिक विचार-परम्परा चलती आयी जैसा कि उनके विवेचन से प्रत्यक्ष है। परन्तु उनके समय तक भी अनेक पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान कालकवलित हो चुका था । उनके बौद्ध काल में यज्ञों पर जो आक्रमण हुए उनके कारण यह दृष्टिगत होने लगा कि वैज्ञानिक अंश तो लुप्तप्राय ही है विधि अंश भी सर्वथा उच्छिन्न हो जायगा । यद्यपि बौद्ध मत का वेद के संहिता भाग से उतना विरोध नहीं था परन्तु यज्ञों के विधि भाग के वे कट्टर विरोधी थे। इसका मुख्य कारण यही था कि सामान्य रूप से यज्ञों का वैज्ञानिक अध्ययन लुप्त हो रहा था और यज्ञों में पशु की हिंसा ही उनका प्रधान उद्देश्य हो चला था। बुद्ध भगवान् ने पशुहिंसा के विरोध में अपनी विलक्षण शक्ति का उपयोग किया जिसके फलस्वरूप यज्ञों की तरफ से ही लोक-दृष्टि हटने लगी और फिर विज्ञान तो पहले ही से दूर हो गया था । तब ब्राह्मणों को यह चिन्ता हुई कि 'सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः' के अनुसार विज्ञान भाग की अत्यन्त उपेक्षा करके विधिभाग की रक्षा के लिए ही वे बद्धपरिकर हुए । इसीलिए सायणाचार्य से पूर्व जो वेदभाष्यकार हुए (जिनका पृथक् प्रकरण में उल्लेख होगा) उन्होंने वेदों के वैज्ञानिक पक्ष को उपेक्षित करके वेदों का यज्ञपरक (विधि यज्ञ) अर्थ ही किया । जहाँ कहीं विज्ञान का प्रकरण आया भी तो उसको अर्थवाद कह कर उपेक्षा कर दी गयी। यही स्थिति—परम्परा के अनुसार—सायण के भाष्य की है। इन्होंने अनेक स्थलों में निरुक्त का उद्धरण किया है; कहीं-कहीं वैज्ञानिक अर्थ भी स्वीकार किया

है। परन्तु यह भी उसी दशा में उन्हें करना पड़ा है जब अन्य गति न थी और यज्ञ अथवा अर्थवाद में मन्त्र की संगति न हो सकती थी। इसमें इनका दोष नहीं था। वैज्ञानिक विचार की परम्परा लुप्तप्राय हो गयी थी तथा मध्यकालीन आचार्यों की परम्परा यज्ञ-परक अर्थ करने के पक्ष में ही चली आ रही थी। 'निदान', 'रहस्य' आदि वेद के मुख्य अङ्ग जिन से वैज्ञानिक अर्थज्ञान में सुविधा होती थी वे नष्ट हो चुके थे। तत्कालीन भारतीय समाज की बौद्धों के संघर्ष के कारण वेदों से श्रद्धा हटती जा रही थी। आजकल जब पाश्चात्य विज्ञान (Science) के उत्तरोत्तर विकास हो रहे हैं, विज्ञान पक्ष की ओर भारतीय जनता का ध्यान आकृष्ट होने लगा है। परन्तु सायण अथवा उनसे पूर्व के भाष्यकारों के समय विज्ञान की दृष्टि के अभाव में उसकी उपेक्षा होना सर्वथा स्वाभाविक था। इतने पर भी सायण के भाष्य के द्वारा वेदों के अर्थज्ञान में जो सहायता मिलती है उसका महत्त्व अत्यन्त अधिक है। यह भाष्य न होता तो वेदों की दुरूह भाषा के अर्थज्ञान में इतनी कठिनता होती कि कदाचित् वेद-ग्रन्थ केवल मौखिक आदर की दृष्टि में ही रह जाते और उनका जो महत्त्व आज समझ में आ रहा है वह सिद्ध न हो सकता।

गोपथ ब्राह्मण में अथर्ववेद की वैज्ञानिक उपपत्ति मिलती है। प्रारम्भ में यह ब्रह्म ही था। स्वयं एक ही। उसने देखा यह आश्चर्य है कि मैं एक ही हूँ। अरे! मैं अपने ही द्वारा एक द्वितीय देव का निर्माण करूँ। उसने श्रम किया, तप किया। श्रान्त और तप्त उस ब्रह्म से स्नेह रूप द्रव (पसीने के रूप में) उत्पन्न हुआ। (ऐक्षत् से अभिप्राय यहाँ इच्छा करने से है। सर्वत्र जहाँ कहीं सृष्टि का प्रकरण आता है वहाँ आत्मा की तीन शक्तियों की मन, प्राण और वाक्-वृत्तियों के द्वारा इच्छा, तप और श्रम के द्वारा आत्मा से सृष्टि होती है। इसका पृथक् विवेचन किया गया है।) वह आनन्दित हुआ और उससे कहा यह आश्चर्य है कि सुवेद प्राप्त हो गया। इसी सुवेद को परोक्षप्रिय देवों की भाषा में **स्वेद** कहते हैं।[१] यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि गोपथ ब्राह्मण ने वैज्ञानिक वेद की उपपत्ति का

१. गोपथ ब्रा०, पूर्वभाग, प्रपाठक १, ब्रा० १—२

ब्रह्मवा इदमग्र आसीत्। स्वयं तु एकमेव। तदैक्षत, महद्वैयक्षम्, तदेकमेवास्मि। हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्मम इति। तदभ्यश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य स्नेहो...मजायत तेनानन्दत्। तमब्रवीत्। महद्वैयक्षम् सुवेदमविदामह इति तद्यदब्रवीत् महद्वैयक्षं सुवेद मविदामह इति तस्मात् सुवेदोऽभवत्। तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इति आचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः।

वर्णन किया है । ग्रन्थरूप अथर्ववेद की संगति मिलाना यहाँ संभव नहीं है । इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है कि ब्रह्म पहले अकेला था । उसने श्रेयोरूप क्षत्र का सृजन किया—जो कि ये देवों में क्षत्र हैं—इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान । उसने विश् (वैश्य) का सृजन किया जो देवसमूह गण के रूप में कहे जाते हैं—वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत । इस प्रकरण में भी आधिदैविक ब्रह्म, क्षत्र, विश् आदि का उल्लेख है । इसी सिद्धान्त के अनुसार बाद में मनुष्य समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चातुर्वर्ण्य की कल्पना की गयी, जिस पर अन्यत्र विस्तार से विवेचन किया गया है । इसी प्रकार सृष्टि प्रकरण में तैत्तिरीय उपनिषद् में मिलता है कि आत्मा से ही आकाश आदि की सृष्टि हुई—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः आकाशाद्वायुः इत्यादि ।' इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वैज्ञानिक विषयों के प्रतिपादन में ब्राह्मणों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था । इसी प्रकार विधि का वर्णन करते हुए स्थल-स्थल पर यह भी निर्देश हुआ है कि कौन सी विधि क्यों की जाय; उसकी क्या उपपत्ति है, उसका वैज्ञानिक आधार क्या है । अनेक स्थलों में आख्यान आदि के द्वारा भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । तो भी ब्राह्मणों की भाषा भी अपेक्षाकृत जटिल ही थी और उनकी परम्परा के शनैः-शनैः लुप्त होने के कारण उनके यथार्थ मर्म को समझने में कठिनाई होने लगी । वास्तव में 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस आधार पर वेदों के यथार्थ ज्ञान के लिए पुराण और इतिहास की सहायता अत्यन्त अपेक्षित है । पुराणों में अनेक स्थलों में वेद के वाक्यों का यथार्थ अनुवाद मिलता है । परन्तु पुराणों की शैली विभिन्न थी तथा उनमें अनेक स्थलों में परस्पर विरोध भी दृष्टि गोचर होता था इस कारण अनेक मनीषियों ने उन्हें सर्वथा उपेक्षणीय मान लिया और इस प्रकार वेद व्याख्यान का एक बहुत बड़ा अंश अप्रामाणिक हो गया । उचित यह था कि उन पुराणों की उचित समीक्षा करके जिस प्रकार तुष् को पृथक् करके धान में से चावल ग्रहण कर लिया जाता है उनसे भी सार अर्थ लेना चाहिए था । इसको पौराणिक विवेचन में विस्तार से लिखा गया है ।

मीमांसा का मत—जैमिनि (पूर्वमीमांसा सूत्रकार) ने यह प्रश्न उठाया है कि ज्ञान का उपयोग क्रिया में है। किसी बात को जान कर यदि हम उस ज्ञान के अनुकूल कोई कार्य न करें तो वह ज्ञान निरर्थक हो जाता है । 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत' यह आदेश मिलता है । वेदों में भी मिलता है–'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।' अर्थात् आत्मदर्शन आवश्यक है उस दर्शन के लिए गुरुमुख से श्रवण करके मनन करना चाहिए और तदनुसार आचरण करना चाहिए । क्रिया का विधान विधि वाक्य ही करते हैं । फिर वे यह प्रश्न उठाते हैं कि जब विधि का उद्देश्य क्रिया सम्पादन के लिए ही है तो

फिर उनसे सम्बन्ध रखने वाली स्तुति उपपत्ति आदि बतलाने का प्रयत्न श्रुतियों में क्यों हुआ ? इन स्तुति आदि के द्वारा किसी क्रिया का सम्पादन नहीं होता। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' इसके अनुसार यहाँ क्रिया से अभिप्राय यज्ञ-विधान से है। स्तुति या उपपत्ति प्रदर्शन करने वाले मन्त्रों का यज्ञ में विनियोग है। ऐसी निरर्थक बातों से वेदों के प्रामाण्य पर शंका होने लगेगी। इस प्रश्न का उत्थान करके वे स्वयम यह उत्तर देते हैं कि वेदों में जो स्तुति आदि हैं, वे स्वतन्त्र नहीं है। विधि-वाक्यों से ही वे सम्बन्धित हैं। उन्हीं क्रियाओं की स्तुति करने या उनकी उपपत्ति बताने में उनका उपयोग है। विधिवाक्य प्रधान हैं और उनसे सम्बन्ध रखने वाले उपपत्ति स्तुति आदि के वाक्य उन विधियों के पोषक मात्र हैं। इस प्रकार के स्तुति आदि वाक्य मुख्य विधि के अर्थ का पोषण करने में स्वतन्त्र न होने के कारण गौण कोटि में आते हैं। इन स्तुति आदि वाक्यों को उन्होंने अर्थवाद बताया है। मीमांसा शास्त्र का विचार करने वाले कर्म को ही प्रधानता देते हैं ऐसी स्थिति में कर्म प्रधानवादी मीमांसा शास्त्र में कर्मविधायक वाक्यों को प्रधान मानना और उनकी स्तुति अथवा उपपत्ति आदि वाले वाक्यों को गौण मानना स्वाभाविक है। परन्तु इन अर्थवाद वाक्यों की भी कर्म की प्रशंसा करके उन कर्मों में प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहन होता है इस दृष्टि से उनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु उनके अनुयायी आगे के ग्रन्थकारों ने उन उपपत्ति बताने वाले वाक्यों को सर्वथा निरर्थक ही मान लिया और यह कहने लगे कि उनका अपने प्रतिपाद्य अर्थ में तात्पर्य ही नहीं है। उन पर विचार करना सर्वथा निरर्थक है। वे उपेक्षणीय हैं। ये अर्थवाद वाक्य वेद में प्रतिपाद्य विधियों के गुण किस प्रकार बतलाते हैं इसका विवरण इन ग्रन्थकारों ने नहीं दिया। परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन भारत की जनता उपपत्ति समझने की शक्ति से वंचित हो गयी और बौद्धों के संघर्ष के कारण उसने उनकी बात उसी रूप में मान ली। इस प्रकार प्राकृतिक यज्ञ का विज्ञान बिलकुल विलुप्तप्राय हो गया। उत्तरमीमांसा के सूत्रकार व्यास तथा उनके भाष्यकार श्री शंकराचार्य आदि आचार्यों ने ज्ञान को स्वतन्त्र पुरुषार्थ का साधन मान कर पूर्व मीमांसा के उक्त सिद्धान्त का खण्डन किया। परन्तु इनके द्वारा प्राकृतिक विज्ञान का पुनरुद्धार नहीं हुआ। इन ज्ञान प्रधानवाद वाले आचार्यों के सिद्धान्त उपनिषत् के वाक्यों में समन्वय करने में ही सफल हुए।

१. पूर्व मीमांसासूत्र—मन्त्र का लक्षण—'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (२।१।३२) ब्राह्मण लक्षण—'शेषे ब्राह्मण शब्दः' (२।१।३३।)

२. कात्यायन—मन्त्र ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।

३. 'आम्नायः पुनर्मन्त्राश्च ब्राह्मणानिच'। अथर्ववेदीय कौशिक सूत्र; १।३।

४. मन्त्रब्राह्मणमित्याहुः—बौधायन, २।६।२
५. मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्—आपस्तम्ब, २४।१।४१
६. मन्त्रब्राह्मणयोराहुर्वेदशब्दं महर्षयः—सर्वानुक्रमणिकावृत्ति की भूमिका में षड्गुरुशिष्य ।
७. मन्त्रब्राह्मणात्मकत्वं तावद् वेदस्य अदुष्टं लक्षणम् । सायण—ऋ० भाष्य उपोद्‌घात ।
८. महाभाष्य—'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म नियमो यथा लौकिक-वैदिकेषु' इस वार्तिक के व्याख्यान के अवसर पर वेद के नाम पर ब्राह्मणों का ही उद्धरण पतंजलि करते हैं—'पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः'; 'बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्;' 'अग्नौ कपालानि अधिश्रित्य अभिमन्त्रयते'—इस प्रकार ब्राह्मण-विधियों का ही वेद नाम से पतंजलि ने उदाहरण दिया है । इसी प्रकार 'तत्तुल्यं वेद शब्देन' इस वार्तिक के विवरण में वे लिखते हैं—'वेद शब्दा अपि एकमभिवदन्ति'—(अर्थात् वेद शब्द भी इसी प्रकार कहते हैं) और इसके उदाहरण में ब्राह्मण को ही उद्धृत किया है—'योऽग्निष्टोमेन यजते य उचैनमेवं वेद ।' इसी प्रकार और भी अनेक स्थल महाभाष्य में मिलते हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पतञ्जलि के मत में ब्राह्मण भागों में भी वेदत्व है ।
९. मनु—'उदितेऽनुदिते जुहुयात समयाध्युषिते तथा ।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ।।'
इस श्लोक में प्रत्यक्ष ही ब्राह्मण भाग से उद्धरण देकर उसे 'वैदिकी श्रुतिः' श्रुति शब्द मात्र वेद के लिए आता है, यह अन्यत्र प्रतिपादित किया गया है । अतः यहाँ केवल 'श्रुति' कहने से भी वेद का बोध हो सकता था तथापि उसे दृढ़ करने के लिए, कदाचित् श्रुति शब्द से किसी को लौकिक श्रुति की शंका न हो जाय उसका परिहार करने की दृष्टि से 'वैदिकी श्रुति' कह कर अपने आशय को उन्होंने स्पष्ट कर दिया है । और अनेक स्थल में मनुस्मृति का यह मत पाया जाता है ।
१०. न्याय सूत्रों के भाष्य कर्ता वात्स्यायन मुनि ने भी वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उदाहरण रूप में ब्राह्मणों में से उद्धृत किया है ।
११. इसी प्रकार वैशेषिक सूत्र 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' इस सूत्र के भाष्य में 'स्वर्ग कामो यजेत' इत्यादि ब्राह्मण ही उद्धृत किया गया है ।

१२. पूर्व मीमांसाकार जैमिनि ने 'विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात्' सूत्र में विधि और मन्त्र का एकार्थ्य कहा है। विधि भाग ब्राह्मण के लिए ही प्रयुक्त है। इस प्रकार इनका मत भी स्पष्ट हो जाता है।

१३. पूर्व मीमांसा के भाष्यकार शबरस्वामी ने तो स्पष्ट शब्दों में ही उल्लेख किया है कि मन्त्र और ब्राह्मण वेद हैं। मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः। तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्।

इस प्रकार ऊपर लिखे हुए अनेक मनीषि गणों के मत में ब्राह्मण भाग सर्वथा वेद कोटि में परिगणित है और यह परम्परा बराबर चली आ रही है तथा यही बहुसम्मत सिद्धान्त है।

कुछ समालोचक यह प्रश्न भी उठा देते हैं कि वेद तो अनादि और अपौरुषेय हैं परन्तु ब्राह्मणों में ऐतिहासिक अंश भी यत्र तत्र उपलब्ध होता है इससे इनमें वेदत्व प्राप्त नहीं होता। परन्तु यह तर्क भी क्षोदक्षम नहीं है। क्योंकि ऐतिहासिक अंश तो मुख्य वेदों में भरे पड़े हैं वहाँ जब उसके कारण उनकी वेदता में बाधा नहीं पड़ती तब उन्हीं के आधार-भूत ब्राह्मण में ऐतिहासिक अंश किस प्रकार वेदत्व का बाधक हो सकता है। जो समाधान संहिताओं के ऐतिहासिक अंशों के लिए होगा वही अविकल रूप से ब्राह्मणों में लागू होगा। इसका विशेष विवरण पृथक् किया गया है।

ऊपर लिखे प्रमाण समूह के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि ब्राह्मण भाग (विधि, उपासना और ज्ञान) सर्वथा वेद माने गये हैं। वेद के मन्त्र और ब्राह्मण दो भाग हैं और दोनों भागों में वेद शब्द उपयुक्त है। एक ही वस्तु के दो भागों में से एक को प्रमाण मानना और दूसरे भाग की उपेक्षा करना उचित नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार अंगों और अंगी की एकता की दृष्टि से भी दोनों ही स्वतःप्रमाण कोटि में आते हैं। अन्यत्र जहाँ कहीं वेद या श्रुति का प्रयोग प्रमाण रूप में इस निबन्ध में उद्धृत होगा वह इसी आधार पर संहिता, विधिभाग, आरण्यक और उपनिषद् इन सबके लिए समझा जाना चाहिए।

पुराण समीक्षा

इन सभी देशों में सब ही मनुष्य तीन प्रकार के देखे जाते हैं—१. सारग्राही, २. भार-वाही और ३. जानने की, ज्ञान प्राप्त करने की, इच्छा वाले। सारग्राही विद्वान् शास्त्रों से अथवा लोक से उन-उन शास्त्रों का तात्पर्य ग्रहण करके कृतकृत्य होते हैं तथा करुणार्द्र

चित्त होकर दूसरे दीन जनों के उद्धार के लिए––मितभाषी होकर––सूत्र रूप में उपदेश प्रदान करते हैं। ये दो प्रकार के हैं––महर्षिगण जो मन्त्र, सूक्त आदि के द्रष्टा हैं तथा मुनि लोग जो दर्शन शास्त्र आदि के प्रवक्ता हैं। भारवाही भी वे हैं जो अपने को स्वयं पण्डित मानने लगते हैं। ये अपनी अभिनिविष्ट बुद्धि के अनुसार उन-उन प्राचीन महर्षियों के द्वारा उक्त अर्थ की खींचातानी करके, सार और असार दोनों का संकर करके अनेक मतवाद का आडम्बर रचते हैं और कण्टक उत्पन्न करके संसार के मार्ग को व्याकुल करते हैं। तीसरा प्रभेद है––जिज्ञासमान––ये फिर दो प्रकार के हैं। प्रथम तो ज्ञान-लवदुर्विदग्ध हैं जिनके लिए कहा गया है कि 'ब्रह्मा भी इन्हें नहीं समझा सकते।' जो कुछ थोड़ा-सा ज्ञान का अंश मिल गया है उसी को सब कुछ मानते हुए दूसरे की सारपूर्ण बात को भी सुनने के लिए तैयार नहीं होते और जिन बातों को नहीं समझते उन पर भी अपना पाण्डित्य दिखाते हुए दूसरों का उपहास करने में प्रवृत्त रहते हैं। इन लोगों के लिए शास्त्र या गुरु का उपदेश निरर्थक है। परन्तु इन्हीं में वास्तविक जिज्ञासमान वे हैं जो अपनी त्रुटि को समझते हैं; वे यह अनुभव करते हैं कि वे अज्ञानी हैं और जहाँ कहीं से भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए सर्वदा उत्सुक रहते हैं। वे विनम्र होते हैं और युक्तियुक्त बात में विश्वास रखते हैं। वास्तव में इन पुराणादि की प्रवृत्ति ऐसे ही व्यक्तियों को लक्ष्य करके हुई है। गम्भीर वैज्ञानिक अर्थ को साक्षात् रूप से हृदयंगम करने की इनमें योग्यता नहीं रहती परन्तु वही विज्ञान लौकिक भाषा में कथा, उपाख्यान आदि के द्वारा जब उन्हें बताया जाता है तो वे वैज्ञानिक मर्म समझने में समर्थ हो जाते हैं। वर्तमान समय में भी सुकुमारमति बालकों को विज्ञान की शिक्षा देने के लिए यह सरल मार्ग सर्वत्र दृष्टिगत हो रहा है। सुकुमारमति राजपुत्रों को राजनीति में निष्णात करने के लिए जिस प्रकार हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि की रचना हुई, जिस प्रकार पाली के जातक कथानकों के द्वारा अनेक ज्ञातव्य विषयों का ज्ञान कराया गया अथवा पाश्चात्य देशों में ईसप् कहानियों के द्वारा तथा आधुनिक काल में वैज्ञानिक तत्त्वों के परिज्ञान के लिए छोटे-छोटे कथानक प्रारम्भिक छात्रों के लिए लिखे गये उसी प्रकार पौराणिक कथाओं को भी समझना चाहिए। जहाँ कथानक में परस्पर भेद प्रतीत होता है वहाँ मूल सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं रहता। वक्तृभेद के कारण कथाभाग में अन्तर हो जाता है इसका एक अच्छा उदाहरण मिलता है। एक आचार्य अपने शिष्य को उपदेश दिया करते थे कि सब प्राणिमात्र अथवा पदार्थ मात्र ब्रह्म स्वरूप है। ब्रह्म स्वरूप के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है। ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। एक बार आचार्य महोदय अपने छात्र के साथ ग्रामान्तर जा रहे थे और मार्ग में एक सघन वन पार करते हुए सामने कुछ दूर एक व्याघ्र

दिखाई पड़ा। आचार्य जी शीघ्रता से एक वृक्ष पर चढ़ गये और शिष्य को भी चढ़ा लिया। व्याघ्र का भय दूर हो जाने पर जब दोनों गुरु शिष्य वृक्ष से नीचे उतरे तो शिष्य, जो परिपक्वमति न था, बोला कि गुरु जी ! आप तो कहा करते थे कि सब ब्रह्म हैं, जब आप भी ब्रह्म हैं और व्याघ्र भी ब्रह्म था तो आपको उससे भय क्यों हुआ और आप भयभीत होकर वृक्ष पर क्यों चढ़ गये । इस पर गुरुजी ने उत्तर दिया कि अभी तुम पूरे मर्म तक नहीं पहुँच सके हो । तुम पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों का मिश्रण कर रहे हो । व्यावहारिक दृष्टि से वह नरभक्षी व्याघ्र था और अवश्य ही हम लोगों का भक्षण कर लेता अतः व्यावहारिक दृष्टि से भागना ही उस समय प्राप्त था । परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जिस प्रकार वह व्याघ्र मिथ्या था उसी प्रकार हम और तुम भी मिथ्यादि और हम लोगों का भागना ही मिथ्या था । जब ब्रह्म के अतिरिक्त परमार्थ में कुछ है ही नहीं तब भागना, वृक्ष पर चढ़ना या उतरना भी सब ब्रह्म रूप से ही मानना चाहिए । 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस पारमार्थिक सत्य के उपदेश के लिए इस कथानक का आश्रय लिया गया। इसी प्रकार कोई दूसरे आचार्य व्याघ्र के स्थान में मतवाले हाथी को दृष्टान्त मानते हैं और वन के स्थान में बाजार की सड़क बताते हैं और गुरु और शिष्य दोनों मदोन्मत्त हाथी के भय से एक दूकान के अन्दर छिपते हैं। अब व्याघ्र और हाथी में अथवा वन और बाजार में परस्पर विरोध प्रत्यक्ष है परन्तु मुख्य वैज्ञानिक तत्त्व पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्य के परस्पर भेद को दिखाने का जहाँ तक तात्पर्य है उसमें कोई भेद नहीं है ।

ऐतिहासिक कथानकों के द्वारा विज्ञान की शिक्षा का प्रदान करना इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जैसे किसी छोटे बालक ने कभी अश्व, गज आदि नहीं देखे हैं; प्रत्यक्ष गज, अश्व आदि दिखाने का जहाँ साधन नहीं है वहाँ मिट्टी अथवा पत्थर की बनी हुई अश्व या गज की प्रतिकृति दिखा कर समझाया जाता है कि यह अश्व है, यह गज है । उसी के द्वारा वह बालक प्रत्यक्ष गज, अश्व को प्रत्यक्ष देख कर उसे यथार्थ रूप में जान लेता है । इसका अति सुन्दर उदाहरण भवभूति ने उत्तर रामचरित में दिखाया है । वाल्मीकि के आश्रम में जहाँ कुश लव रहते थे छात्रों को कभी घोड़ा प्रत्यक्ष देखने का अवसर न मिला था । चन्द्रकेतु की अध्यक्षता में श्रीरामचन्द्र जी का अश्वमेध यज्ञ सम्बन्धी घोड़ा जब आश्रम के समीप दिखाई दिया तब उस विचित्र प्राणी को देख कर लव के सहाध्यायी बड़े कौतुक के साथ लव के पास आये और अश्व का वर्णन करते हुए लव से आग्रह करने लगे। वह दौड़ कर शीघ्र उस विचित्र जीव को देखे जिसके पश्चाद् भाग में एक बड़ी पूँछ है जिसे वह निरन्तर हिला रहा है, उसकी ग्रीवा बड़ी है उसके चार खुर हैं,

वह घास खाता है तथा आम के फल के परिमाण के शकृत्पिण्ड (पुरीष) गिरा रहा है ।[१] लव ने शास्त्र द्वारा अश्व का वर्णन पढ़ा था उसका चित्र भी देखा था जिससे वह तुरन्त समझ गया कि अश्व शास्त्र में जिस प्राणी के सम्बन्ध में पढ़ा था वही यह है । परन्तु मन्दबुद्धि अन्य छात्रों के स्मृतिपटल पर वह बात नहीं आयी । इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल में कालिदास ने चित्र के द्वारा वास्तविक ज्ञान होने का उल्लेख किया है । चतुर्थ अंक में शकुन्तला के पतिगृह गमन काल में महर्षि कण्व के प्रभाव से वृक्षों के द्वारा, वस्त्र, लाक्षा-रस तथा अनेक प्रकार के आभूषण शकुन्तला के लिए दिये गये हैं । शकुन्तला की दोनों सखी——अनुसूया और प्रियंवदा उन आभूषणों से अपरिचित थीं और किस अंग में किस प्रकार का उनका विनियोग हो इस सम्बन्ध में एक क्षण के लिए हतप्रभ होती हैं परन्तु तुरन्त ही उन्हें यह स्मरण हो आता है कि चित्रों में इन्होंने उन आभूषणों का विनिवेश देखा था और तदनुसार ही उनका यथास्थान उपयोग करने में वे सफल हो सकीं । ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं ।

इसी प्रकार प्रारम्भ में जब बालक किसी विषय को यथाविधि गद्य द्वारा समझने की योग्यता नहीं रखते उस समय उन विषयों के अर्थ वाले पद पद्य-रचना में सन्निवेश करके उन्हें सिखा दिये जाते हैं और बाद में उनके अनुसार उनके अर्थ समझने में भी वे समर्थ हो जाते हैं । इन सब उपायों के द्वारा किसी भी प्रकार से कठिन विषय को हृदयंगम कराना ही करुण हृदय आचार्य का उद्देश्य होता है । प्रारम्भ में इतिहास कथानक पद्य आदि के द्वारा जब छात्रों की मनोवृत्ति का झुकाव हो जाता है; उन विषयों के सामान्य ज्ञान से जब उनकी विज्ञान जिज्ञासा जागृत हो जाती है तब वे यदि अध्यवसायशील होकर मनोनिवेश द्वारा साक्षात् रूप से विज्ञान विषयों का अध्ययन करें तो वे कृतकार्य हो सकते हैं । उत्तम अधिकारी तो स्वयं प्रतिभावान् होने के कारण कठिन वैज्ञानिक विषयों को हृदयंगम कर सकते हैं । परन्तु जो मध्यम कोटि के अधिकारियों में अन्वेषण करने के इच्छुक हैं उन्हें सरल उपायों के द्वारा योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता था । परन्तु इनमें भी जो आगे बढ़ने में विशेषविज्ञान की दीक्षा में प्रवेश करने में अपने को असमर्थ पाते थे उन्हें भी इस सामान्य ज्ञान से कुछ लाभ तो होता ही था; हानि तो

१ 'पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रं
दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव ।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान् ।' (उत्तररामचरितम्)

किसी प्रकार संभव ही न थी। यह शैली लोक-कल्याण की दृष्टि से उद्भूत की गयी थी और ब्राह्मण ग्रन्थों में ही—श्रुति में ही—इस शैली का सूत्रपात स्पष्ट दृष्टिगत होता है। इसी आधार पर इसी शैली को पल्लवित करके वर्तमान पुराणों में आख्यान, उपाख्यान आदि के द्वारा उपदेश देने की प्रथा का अवलम्बन किया गया है। इस तथ्य को दृष्टि में रख कर वर्तमान पुराणों का अध्ययन किया जाय तो अवश्य ही इनके द्वारा अनेक कठिन, दुरूह, लुप्तप्राय वैदिक विज्ञान के तत्त्वों की ग्रन्थि खुल जाती है।

इस प्रकार पुराण प्रकरण के उल्लेख के बिना आर्यप्रमाण परम्परा पूर्ण नहीं कही जा सकती। भारतीय सभी प्राचीन ग्रन्थकारों ने पुराणों से प्रमाण रूप में उद्धरण दिये हैं तथा उन्हें धर्मशास्त्र स्मृतियों के समान ही परतः प्रमाण माना है। अर्थात् जहाँ पर पुराण वाक्य की पुष्टि में वैदिक प्रमाण उपलब्ध होता है वहाँ तो पुराण का प्रमाण निस्सं-दिग्ध होता ही है परन्तु जहाँ उस पुराण से विरुद्ध वैदिक वाक्य उपलब्ध नहीं होता वहाँ भी वह प्रमाण मान जाता है। वैदिक वाक्य से साक्षात् विरोध होने पर ही पुराण वाक्य अप्रमाण माना जाता है। इस प्रकार उसकी स्थिति भी स्मृतियों के समकक्ष ही है। इतना ही नहीं, पुराणों को भी प्राचीन ग्रन्थकारों ने 'स्मृति' कह कर उद्धृत किया है। महाभारत भी इसी श्रेणी में आता है। उपपुराण भी इसी प्रकार स्मृति रूप में उद्धृत हुए हैं। 'इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदों के अर्थ का विवरण करना चाहिए। जो अल्पश्रुत है—अर्थात् जिसका विशाल अध्ययन नहीं है उससे वेद डरता रहता है कि यह हम पर प्रहार कर बैठेगा—अर्थ का अनर्थ कर डालेगा।'[१] इसी के आधार पर प्राचीन धारणा यह थी कि इतिहास और पुराणों के द्वारा वेदार्थ का स्पष्टीकरण किया गया है।

विश्व सृष्टि के इतिहास को पुराण कहा गया है। अत्यन्त प्राचीन होने के कारण ही 'पुराण' यह उनकी अर्थानुरूप संज्ञा है। इस पुराण साहित्य के सम्बन्ध में चार क्रम पाये जाते हैं—(१) प्रथम वह है जिसकी स्थिति वेद ब्राह्मणों के आविर्भाव से पूर्व है अथवा उनके समकालिक है। यह ब्रह्माण्डपुराण नाम का सृष्टि प्रलय का निरूपण करने वाला वेद विशेष था। 'यह सब (सृष्टि) पहले कुछ नहीं था' इत्यादि से इसका प्रारम्भ होता है ऐसा ज्ञात होता है। इसी दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण, छांदोग्य उपनिषद् आदि में पुराण और इतिहास का उल्लेख मिलता है तथा उसे पंचम वेद कहा गया है।[२] प्राचीन

१. 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति॥'

२. 'इतिहासपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते।'

वृत्त की परम्परा का उसमें वर्णन है तथा ब्रह्माण्डसृष्टि का उसमें विचार किया गया है इसलिए उसे ब्रह्माण्ड पुराण संज्ञा दी गयी है।[१] इसका उल्लेख मत्स्यपुराण में इस प्रकार है—

सब शास्त्रों से पूर्व ब्रह्मा के द्वारा पुराण का निर्माण हुआ। उसके बाद उनके मुखों से वेद (चारों) निकले। हे अनघ (पापरहित)! उस कल्पान्तर में पुराण एक ही था। वह पवित्र था; त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का साधन था तथा बहुत विस्तृत (शतकोटि) था। हे नृप! फिर कालदोष के कारण उसका धारण करना सम्भव न होने से उस पुराण के अट्ठारह प्रकरण करके इस भूलोक में प्रकाशित किया जाता है। ब्रह्मा के द्वारा सर्वप्रथम पुराण का निर्माण किया गया था इसका उल्लेख अन्य पुराणों में भी मिलता है इसी ब्रह्मनिर्मित पुराण के आधार पर ब्राह्मण भाग में जहाँ तहाँ आख्यान मिलते हैं। ये ब्राह्मण ग्रन्थ यद्यपि महर्षियों के द्वारा निर्मित थे तथापि आख्यान उनके कल्पनाप्रसूत न थे। कहीं-कहीं तो स्पष्ट शब्दों में उनकी प्राचीनता निर्दिष्ट है। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण में सौपर्ण आख्यान के अन्त में स्पष्ट यह लिखा है 'कि ऐसा आख्यान के जानने वाले कहते हैं।' यह सर्वप्रथम क्रम है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने केवल इसी पुराण को मान्यता दी है, वर्तमान पुराणों का खण्डन किया है। ब्राह्मण भाग में निर्दिष्ट पुराण भाग मन्त्रों के द्वारा स्मरण कराये गये प्रयोगों से संयुक्त अर्थ का उपपादन करते हैं इससे ज्ञात होता है कि मन्त्र-रचना से पूर्व अथवा रचना-काल में इनका अस्तित्व सिद्ध था।

(२) इसके बाद दूसरा क्रम है—बादरायण संहिता। बादरायण ने वेद ग्रन्थ का संकलन किया था इसी से वे वेदव्यास भी कहलाते थे। वेदों के समान ही पंचम वेद रूप ब्रह्मा के द्वारा निर्मित पुराण के आधार पर वेद-वाक्यों से संग्रह करके मृदुबुद्धि अधिकारियों के हित की दृष्टि से प्रकरणबद्ध करके एक पुराण संहिता बनायी। कठिन वैज्ञानिक विषयों को हृदयंगम कराने के लिए आख्यान आदि के द्वारा उसे सरल किया। 'आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्पशुद्धियों के द्वारा भगवान् बादरायण ने पुराण संहिता बनायी।' यह वाक्य मिलता है।[२] यह इनकी संहिता की विशेषता है। अपने देखे हुए समसामयिक वृत्तांतों का उल्लेख आख्यान है। स्वयं न देखा हुआ, परम्परा से सुना हुआ परन्तु जो

१. पुराणनिर्माणाधिकरण—मधुसूदन ओझा, पृ० १।
२. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः ॥

अधिक प्राचीन न हो उसका वर्णन उपाख्यान है । जो वृत्त अत्यन्त प्राचीन है जिसका यथार्थ स्रोत अज्ञात है, केवल परम्परा द्वारा सुनने में आया है उसे गाथा कहा जाता है । पौराणिक, ऐतिहासिक भाग में उपनिबद्ध धर्मशास्त्र आदि के कर्तव्याकर्तव्य ज्ञातव्य आदि विषयक उल्लेख कल्प शुद्धि हैं । वेदशास्त्र तथा पुराणशास्त्र का अवतरण आदि विषय भी इसी में आ जाते हैं । बादरायण ने ही अपनी इस पुराण संहिता को अठारह प्रकरणों में विभक्त कर दिया था ।

(३) तीसरा क्रम है लोमहर्षण का । बादरायण के पुराण विद्या-प्रचारक मुख्य शिष्य थे सूतजातीय लोमहर्षण । इन्होंने बादरायण संहिता का गुरुमुख से अध्ययन किया और नैमिषारण्य में आकर शौनक आदि मुनियों में उसका प्रचार किया । परन्तु कथा-प्रसंग में प्रश्न जो बीच-बीच में हो जाते थे उनके समाधान करने में बादरायण संहिता का क्रम उनमें नहीं रहा । पुराणों की संख्या अठारह हो गयी । परन्तु सम्पूर्ण अठारह पुराणों को वे समाप्त नहीं कर पाये । दश पुराण पूरे और आग्नेय का आधा वे सुना पाये थे इसी समय बलराम के द्वारा उनका वध कर दिया गया । यह तीसरा क्रम है ।

(४) चौथा क्रम है उग्रश्रवा का । ये लोमहर्षण के पुत्र थे । पिता के वध के बाद बलराम की अनुमति से लोमहर्षण का कार्य इन्होंने पूर्ण किया ।[1] इस प्रकार लोमहर्षण और उग्रश्रवा के द्वारा वर्णित अठारह पुराण हुए जो इस समय उपलब्ध हैं । अठारह की संख्या में भी मतभेद है । कोई वायुपुराण को मानते हैं कोई उसके बदले शिवपुराण को । ये भेद इन्हीं पुराणों के द्वारा ही दिखाई देते हैं । इनका समाधान भी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है ।

इस प्रकार ये अठारह पुराण लोमहर्षण और उग्रश्रवा की कृतियाँ हैं । क्रम सन्निवेश इनका है; वाक्य इनके हैं । परन्तु विषय-विवेचन बादरायणसंहिता का है, इसीलिए इन्हें वेदव्यास कृत भी कहा जाता है । वास्तविक बादरायण संहिता जो इनका आधार थी अब उपलब्ध नहीं है । इसी प्रकार बादरायण संहिता जिस आधार पर बनी थी वह भी उपलब्ध नहीं है ।

मूल बादरायण संहिता के आख्यान आदि चार लक्षण थे । लोमहर्षण के पुराणों में

१. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड--

अस्य पुत्रो महाज्ञानी भविष्यति वरान्मम ।
भवतामीप्सितं सर्वं शास्त्रं वै कथयिष्यति ।।

पाँच भिन्न लक्षण बताये गये हैं——सर्ग, प्रतिसर्ग (प्रलय), वंश (ऋषिवंश, राजवश), मन्वन्तर और वंशानुचरित ।[१] भागवत में दश लक्षणों का भी उल्लेख है ।[२]

इस प्रकार इन वर्तमान पुराणों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है । ववता के भेद से यत्र तत्र कुछ अन्तर अवश्य आ गया है तथापि उनका विषय-विवेचन स्वकपोल-कल्पित नहीं है । पुराण भी वेदों के समान ही अनादि ईश्वरीय ज्ञान ही हैं । एक ही मूल पुराण अधिकारिभेद से शाखा भेद के रूप में विस्तृत हुआ है । व्यास ने पुराणों की नवीन रचना नहीं की । अवश्य ही उन्होंने सृष्टि के आरम्भ से चली आती हुई पुराण परम्परा को, जो बीच में अस्तव्यस्त हो गयी थी, व्यवस्थित किया । अपनी वाणी में उसे सजाया । ये ही पुराण उनके शिष्य लोमहर्षण तथा इनके पुत्र उग्रश्रवा के द्वारा वर्तमान रूप में आये । यही कारण है कि इनको प्रमाण कोटि में मानने की परम्परा चली आ रही है । द्वापर के अन्त में भगवान् व्यास ने देखा कि अनादि वेदार्थ ऋषियों की वाणी में बहुत विस्तृत और अव्यवस्थित हो गया है । उन्होंने उस सम्पूर्ण ज्ञान का संकलन किया और उसे अठारह पुराणों तथा महाभारत के रूप में लिखा । वेदों में समस्त ज्ञान सूत्र रूप से है और परोक्ष पद्धति से वर्णित है । पुराणों ने उसी ज्ञान को स्पष्ट एवं विस्तृत किया है । पुराणों में जो इतिहास, भूगोल तथा प्राणियों के वर्णन हैं वे पुराणों को आधुनिक या किसी काल विशेष की रचना नहीं बतलाते । भगवान् व्यास अपने ज्ञात इतिहास, भूगोल को लिखने नहीं बैठे थे । उन्होंने स्वयम् लिखा है 'स्त्री शूद्र तथा आचारच्युत द्विजातियों को भी वेदश्रवण का अधिकार नहीं है । कर्म जगत् में वे कल्याण किसमें हैं यह जानने में मूढ़ (अज्ञ) हो रहे हैं । अतएव इससे (महाभारत तथा पुराणों से) उनका कल्याण होगा ।'[३] इस प्रकार महाभारत और पुराणों में वेद के अनधिकारियों के लिए वही अनादि अपौरुषेय ज्ञान जो लुप्त तथा बिखरा हुआ था, एकत्र करने में वे प्रवृत्त हुए थे ।

१. विष्णुपुराण——पराशर उवाच——आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैः. . . .
   सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
   वंशानुचरितं चेति पुराणं पंचलक्षणम् ।।
२. दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः
   केचित् पंचविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया ।। भागवत——१२–७–९
३. भागवत——स्त्रीशूद्रद्विज बन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा
   कर्मश्रेयसि मूढानां श्रेय एवं भवेदिह ।।

इसी से पुराणों के सम्बन्ध में उन्होंने बताया है कि—'पुराण व्याख्या त्रिधा—आधिभौतिकी, आधिदैविकी आध्यात्मिकी च ।' पुराणों की तीन प्रकार की व्याख्या होती है अर्थात् पुराणों में एक साथ तीन वर्णन चलते हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक । ये तीनों सत्य हैं । यह प्रक्रिया भी वेदों के अनुसार ही है—वेद प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया है, वस्तुतः तो आध्यात्मिक नित्य जगत् के अनुसार ही आधिदैविक भाव जगत् है और उसी से आधिभौतिक स्थूल जगत् व्यक्त हुआ है । तीनों जगत् परस्पर सर्वथा अनुरूप हैं । अतएव कोई एक व्याख्या सत्य होने पर तीनों ही सत्य होंगी । जो लोग यह कहते हैं कि रामायण एवं महाभारत हृदय में होने वाले दैव एवं आसुरभावों के संघर्ष के रूपक हैं वे भौतिक जगत् की घटनाएँ नहीं हैं वे यह नहीं समझते कि अन्तर्जगत् ही स्थूल जगत् में व्यक्त होता है । अतएव जो अन्तर्जगत् का सच्चा रूपक है, उसकी घटनाएँ ठीक ऐतिहासिक ही होंगी । जो स्थूल जगत् की घटनाओं को छोड़ कर रूपक बनाने चलेगा, वह अन्तर्जगत् का ठीक वर्णन नहीं कर सकता । क्योंकि अन्तर्जगत् स्थूल जगत् से कहीं वैसादृश्य—असमानता नहीं रखता ।

पुराणों के इतिहास को देखते समय हमें इतिहास सम्बन्धी भारतीय परिभाषा को भी ध्यान में रखना ही चाहिए । × × × भारतीय इतिहास की निश्चित परिभाषा है—'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपदेश सहित तथा प्राचीन चरितों से युक्त ग्रन्थ को इतिहास कहा जाता है।'[1] इस परिभाषा को दृष्टि में रखते हुए यह स्मरण रखना चाहिए कि पुराणों का इतिहास देवलोक एवं मर्त्यलोक का सम्मिलित इतिहास है ।

"पुराणों में अनेक ऋषियों या प्रधान पुरुषों की चरित सम्बन्धी त्रुटियों के वर्णन हैं । ऐसी त्रुटियों के करने का कहीं आदेश तो नहीं है, लेकिन सत्य को छिपाया भी नहीं गया है । इस सम्बन्ध में साधारण दृष्टि और महापुरुषों की दृष्टि में ही अन्तर होता है । महापुरुषों का दृष्टिकोण होता है कि उनकी त्रुटियाँ प्रकट हो जाने से समाज सावधान रहेगा । लोग समझ लेंगे कि इतनी उच्च स्थिति में भी ऐसे विकार आ सकते हैं; वे प्रमाद नहीं करेंगे । पुराणों में इसी दृष्टिकोण से त्रुटियों को छिपाया नहीं गया है ।"[2]

उपर्युक्त विवेचन से पुराणों की महत्ता, अनादिता तथा प्रामाणिकता का अच्छा

१. धर्मार्थ काममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ।। (महाभारत)

२. 'कल्याण'—हिन्दू संस्कृति अंक, 'हिन्दू संस्कृति और पुराण ।'

प्रतिपादन हो जाता है । परन्तु वर्तमान में जो पुराण उपलब्ध हैं उनमें अनेक त्रुटियाँ आ गयी हैं इससे उन पर ही निर्भर होकर यथार्थ तत्त्व को ढूँढ़ निकालना दुष्कर कार्य है । अनेक पुराणों के बहुत कुछ अंश लुप्त हो गये हैं । प्रक्षिप्त अंशों की भरमार है । अतिशयोक्ति भी अधिकांश में प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है । लेखकों के प्रमाद से भी बहुत-सी अशुद्धियाँ आ गयी हैं । परस्पर विरोधी बातें भी अनेकशः दृष्टिपथ में आती हैं । इन सब का वर्तमान समीक्षकों पर यह प्रभाव पड़ा कि इतनी अमूल्य ऐतिहासिक सामग्री की सर्वथा उपेक्षा हो गयी और अर्वाचीन विद्वत्समाज में पौराणिक इतिवृत्त को अग्राह्य कोटि में मान लिया गया । परन्तु जो विवेकशील विद्वान् हैं उनका यह मत है कि पुराणों का प्रमाण सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है उनमें अमूल्य तथ्य भरा पड़ा है। उनकी उपेक्षा से आर्य वाङ्मय की बहुत बड़ी हानि है । तुष मिला हुआ रहता है इस कारण कोई धान को फेंक नहीं देता । विवेकी पुरुष धान से तुष को पृथक् करके ग्राह्य अंश का उपयोग करता है, निरर्थक अंश का त्याग करता है ।

परन्तु साधारण जन इसमें असमर्थ हैं । विद्वन्मंडल का यह कर्तव्य है कि वे पुराणों के शुद्ध प्रामाणिक संस्करण तैयार करें जिससे संस्कृत साहित्य का इतना बड़ा अंश निरर्थक न हो । अब अनेक विद्वान् पुराणों की महत्ता मानने लगे हैं यह शुभ लक्षण है । वर्तमान शैली के अनुरूप एक लेख इस सम्बन्ध में श्रीयुत पुसालकर ने लिखा है उसमें से कुछ अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है ।[१]

'वेदों के पक्ष में दो बातें अवश्य ही प्रबल हैं; वेद एक तो पूर्वकालीन हैं और दूसरे वेदों के पाठ ज्यों के त्यों सुरक्षित हैं । फिर भी पुराणों में बहुत-सी अविश्वसनीय बातों के होते हुए भी, ऐतिहासिक दृष्टि से पुराणों को अप्रमाण कह कर त्याग नहीं दिया जा सकता । यह समझना बहुत बड़ी भूल है कि पुराणों के कथा भाग ने सत्य को निर्वासित कर दिया है ।

'पर हम जब देखते हैं कि पुराणगत वर्णन वैदिक वर्णन से मिलता है तब यह उचित ही है कि जिस विषय में ऋग्वेद मौन है उस विषय में पुराणों का कथन सत्य माना जाय । परम्परागत इतिहास लिखने की ठीक पद्धति यही होगी कि वेदों और पुराणों—दोनों का संयुक्त प्रमाण माना जाय, जहाँ दोनों के वर्णन मिलते हैं; और जहाँ दोनों के परस्पर विरोधी वचन मिलें वहाँ सामंजस्य स्थापित करने का यत्न किया जाय ।

१. हिन्दू संस्कृति अंक—'कल्याण'—लेखक, श्रीयुत अ० द० पुसालकर—'हमारे पुराण—एक समीक्षा ।'

'पुराणों के वर्तमान रूप हैं तो बहुत पीछे के, पर इनमें वंशपरम्परा का जो इतिहास आता है वह प्राचीनतम है और इसकी बहुत-सी सामग्री पुरातन और मूल्यवान् है । अतः पुराणों का प्रमाण सर्वथा त्याज्य समझने का कोई कारण नहीं । × × × कैप्टेनस्पेक ने नूबिया (कुशद्वीप) जाकर नील नदी के उद्‌गम स्थान का पता लगाया और उससे पुराणों के वर्णन का समर्थन हुआ । तब पुराणों पर आस्था जमने लगी ।

'स्मिथ ने यह प्रमाणित किया है कि मत्स्यपुराण में आंध्रों का जो वर्णन है वह प्रायः सही है । इतिहास के विद्वानों ने अब यह जाना है कि मौर्यों के विषय में विष्णुपुराण का और गुप्तों के विषय में वायुपुराण का वर्णन विश्वसनीय है । पुराणों की ओर अब तक जो कुछ ध्यान दिया जाता था, उससे कहीं अधिक ध्यान देने के पात्र वे अब समझे जाते हैं । पुराण अब भारत के परम्परागत इतिहासवृत्त के एक बहुत बड़े प्रमाण माने जाने लगे हैं ।

'भारतीय संस्कृति और सभ्यता के व्यापक इतिहास के लिए पुराणों का बड़ा महत्व है । क्योंकि इनमें अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, शासनसंस्थाएँ, धर्म, तत्त्वज्ञान, कानून और उसकी संस्थाएँ, ललित कलाएँ, शिल्पशास्त्र आदि विविध विषयों के विस्तृत प्रकरण हैं । आधुनिक इतिहासकार को विविध आख्यानों और उपाख्यानों से विशुद्ध ऐतिहासिक और सांस्कृतिक तथ्य अलग करके निकाल लेना होगा ।

'पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से ऐसे लोग पहले निकले जो पुरातन तथा परम्परागत प्रत्येक वस्तु की हँसी उड़ाना ही जानते थे । उनकी दृष्टि में पुराणों का मूल्य कूड़े करकट से अधिक नहीं था । यह महान् शुभ चिह्न है कि पुराणों के सम्बन्ध में अब आधुनिकों की दृष्टि बदल रही है ।'

ऊपर निर्देश किये हुए दोनों लेख भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से लिखे गये हैं परन्तु दोनों का निष्कर्ष एक ही है । पुराणों की प्रामाणिकता तथा ऐतिहासिक उपयोगिता दोनों में समान रूप से प्रतिपादित है । विचार शैली मात्र में भेद है । संस्कृत के सभी निबन्धकारों ने पुराणों की प्रामाणिकता मानी है, उनको स्मृति माना है । जहाँ पर पुराणों में परस्पर भेद प्रतीत हुआ है उसके समन्वय की चेष्टा की है तथा विषयभेद, अधिकार भेद अथवा कल्प भेद का आश्रय लेकर एकवाक्यता का प्रतिपादन किया है । भारतीय शैली की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि किसी भी आर्ष ग्रन्थ को—आपाततः विरोध प्रतीत होने के कारण—उपेक्षणीय नहीं माना गया है और न यही किया गया है कि उसे उन्मत्तप्रलाप कह कर उसका सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाय ।

समन्वय का दिग्दर्शन

अनेक स्थलों में यह भी देखा जाता है कि जहाँ वेदों के आधिदैविक विज्ञान को सर्व-सुलभ करने की दृष्टि से मनुष्य चरित्र के आख्यान द्वारा उसे हृदयंगम कराया गया है वहीं किसी-किसी ने आधिदैविक और आधिभौतिक दोनों का सम्मिश्रण कर दिया है जिससे परस्पर विरोध प्रतीत होने लगता है परन्तु वहीं यदि दोनों आख्यानों को अपने-अपने अधिकार के अनुसार समन्वय कर लिया जाय तो विरोध दूर हो जाता है। इसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पुराणों में एक स्थल में मिलता है कि चन्द्रमा अत्रि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न हुए थे। दूसरे स्थल में मिलता है कि अत्रि की भार्या अनसूया के गर्भ से चन्द्र का जन्म हुआ था। प्रत्यक्ष ही इन दोनों कथानकों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है परन्तु वैज्ञानिक और आधिभौतिक प्रकरणों को पृथक्-पृथक् करके सूक्ष्म विचार किया जाय तो वह विरोध दूर हो जाता है। ब्रह्माण्डपुराण में अत्रिनेत्र से चन्द्रमा के प्रादुर्भाव का वर्णन है;[१] हरिवंश में भी यही मिलता है। इसके विपरीत ब्रह्माण्डोपोद्घात के आठवें अध्याय में तथा ब्रह्मपुराण में उल्लेख है कि चन्द्र अत्रि के औरस पुत्र थे।[२] इन दोनों कथा-

१. ब्रह्माण्ड पुराण तथा हरिवंश के अनुसार अत्रि के नेत्र से चन्द्र का प्रादुर्भावः—

पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवान् ऋषिः।
काष्ठकुडयशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ।।
सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं महत्पुरा।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति हि नः श्रुतम् ।।
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य ह।
सोमत्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ।।
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मनः।
नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयत् दिशः।
तं गर्भं विधिना हृष्टा दश देव्यो दधुस्तदा
समेत्य धारयामासुर्न च ताः समशक्नुवन् ।।
ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः।
बीजौषधीनां विप्राणामपां च द्विजसत्तमाः।

२. ब्रह्माण्डोपोद्घात—अत्रेर्वंशं प्रवक्ष्यामि तृतीयस्य प्रजापतेः।
तस्य पत्न्यस्तु सुन्दर्यो दशैवासन् पतिव्रताः ।।

× × ×

नकों में परस्पर विरोध प्रत्यक्ष है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि नर रूप अत्रि के नेत्र प्रस्रवण से नर रूप सोम की उत्पत्ति हुई। यह अर्थ श्रुति स्मृति के तात्पर्य के विरुद्ध होगा। नर रूप अत्रि से उनकी धर्मपत्नी के गर्भ से नर रूप सोम की उत्पत्ति ही सर्वथा सम्भव है। परन्तु ऋषि प्राण रूप आधिदैविक अत्रि से उनके अश्रु के जल से आधिदैविक सोम की उत्पत्ति हुई यह मानना युक्तिसंगत है।

यह कहा जा चुका है कि वैदिक इतिहास प्रायः तीन अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं—आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक। इनका भाषान्तर करने वाले पुराणों ने भी प्रायः आधिदैविक अर्थ का प्रतिपादन करते हुए अध्यात्म और अधिभूत अर्थ का भी द्योतन किया है। अध्यात्म में ये चरित्रनायक ऋषि पितृदेव असुर आदि शरीर के आरम्भक माने जाते हैं। अधिदैवत में ब्रह्माण्ड व्यापी मौलिक या यौगिक प्राण हैं। इनका विशेष विवरण ऋषिदेवता प्रकरण में द्रष्टव्य है। अधिभूत में ये सब प्राणिरूप नर हैं। इन तीनों लक्ष्यों का जिन अर्थों में समानता रहती है वे ही अर्थ इतिहास की मर्यादा में उपनिबद्ध होते हैं। जहाँ पूर्वापरसाम्य अधिकता से रहता है और कुछ अंश में वैषम्य आ जाता है वहाँ यह समझना चाहिए कि सर्वांश में तीनों का सामंजस्य संभव न होने के कारण पौराणिक इतिहास लेखक की स्वेच्छा के अनुरोध से इन तीनों प्रकरणों में से किसी एक ही पक्ष को लेकर संदर्भ योजना की जाती है। यह प्रायः पौराणिकों की शैली है। इसी के अनुसार प्रकृत में भी एक प्रकरण अधिदैवत पक्ष का है और दूसरा नररूप अत्रि और सोम का आधिभौतिक पक्ष है। इस दृष्टि से दोनों पक्षों के परस्पर विरोध का परिहार हो जाता है। यह समन्वय केवल कल्पनाप्रसूत नहीं है, श्रुति और स्मृति का स्वारस्य इसी में है। आपाततः देखने से—सूक्ष्म विचार न करने से विरोध प्रतीत होता

तत्र यो वंशकृच्चासौ तस्य नाम प्रभाकरः
भद्रायां जनयामास सोमं पुत्रं यशस्विनम् ॥

ब्राह्म—गौतमीमाहात्म्य—

अत्रिराराधयामास ब्रह्मविष्णु महेश्वरान्।
तेषु तुष्टेषु स प्राह पुत्रा यूयं भविष्यथ ॥
ततः पुत्रत्वमापुस्ते ब्रह्मविष्णु महेश्वराः।
कन्यां च जनयामास शुभात्रेयीति नामतः ॥
दत्तः सोमोऽथ दुर्वासाः पुत्रास्तस्य महात्मनः ॥

है। इसी प्रकार पुराणों में ही जहाँ कहीं परस्पर विरोध दिखाई देता है वहाँ यह प्रश्न उठा दिया गया है कि यहाँ तो पूर्वापर विरोध है, इसका समाधान क्या होगा कौन-सा अर्थ प्रामाणिक माना जायगा। वहीं पर प्रवचन कर्ता द्वारा उसका समाधान भी किया गया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि पुराणों की शैली समन्वय का प्रतिपादन करती है। इसका भी एक उदाहरण पर्याप्त होगा। बृहद्देवता में शौनक ने लिखा है कि प्रजा की कामना वाले प्रजापति ने साध्य और विश्वेदेवों से सहित होकर तीन संवत्सर तक होने वाले सत्र का आरम्भ किया। वहाँ अशरीरिणी वाग्देवी भी उपस्थित हुई। दक्ष प्रजापति और वरुण के वीर्य से वहाँ अग्नि से भृगु, अंगिरा और अत्रि का प्रादुर्भाव हुआ।[१] इससे स्पष्ट होता है कि दक्ष प्रजापति का प्रादुर्भाव अत्रि से पहले हो चुका था। इधर विष्णुपुराण के प्रथमांश के पन्द्रहवें अध्याय में ब्रह्मपुराण के प्रथम अध्याय में तथा महाभारत शान्तिपर्व में यह उल्लेख है कि अत्रिवंश में उत्पन्न ब्रह्मयोनि भगवान् प्राचीन बर्हि से दस प्रचेतस् हुए और उन दसों से एक पुत्र दक्ष नाम के प्रजापति हुए जिन्हें 'दक्ष' और 'क' भी कहा जाता है।[२] बृहद्देवता के अनुसार दक्ष से अत्रि की उत्पत्ति बतायी जाती है तथा विष्णुपुराण आदि के द्वारा अत्रि वंश में बहुत समय पश्चात् उत्पन्न हुए प्रचेतो गण से दक्ष की उत्पत्ति का वर्णन है। महाभारत शान्ति पर्व में भी अत्रि समकालीन मरीचि से भी पूर्व ब्रह्मा के अंगुष्ठ भाग से दक्ष की उत्पत्ति कही गयी है :—

'अंगुष्ठात् ससृजे ब्रह्मा मरीचेरपि पूर्वजम्।
सोऽभवद् भरतश्रेष्ठ दक्षो नाम प्रजापतिः॥'

१. बृहद्देवता—त्रिसांवत्सरिकं सत्रं प्रजाकामः प्रजापतिः।
आहरत् सहितः साध्यैर्विश्वैर्देवैः सहेति च॥
तत्र वाग्दीक्षणीयायामाजगामाशरीरिणी।
तां दृष्ट्वा युगपत्तत्र कस्याथ वरुणस्य च।
शुक्रं चस्कन्द तद्वायुरग्नौ प्रास्यद् यदृच्छया।
ततोऽर्चिभ्यो भृगुर्जज्ञे अंगारेभ्योऽगिंरा ऋषिः॥
× × ×
ऋषिरत्रिस्ततो जज्ञे सूर्यानलसमद्युतिः॥

२. वि० पु०—अत्रिवंशे समुत्पन्नो ब्रह्मयोनिः सनातनः।
प्राचीनबर्हिर्भगवांस्तस्मात् प्रचेतसो दश॥
दशानां तनयस्त्वेको दक्षो नाम प्रजापतिः।
तस्य द्वे नामनी लोके दक्षः क इति चोच्यते॥

इस प्रकार दो दक्ष सिद्ध होते हैं। स्वायंभुव मन्वन्तर में उत्पन्न ब्रह्मा के पुत्र प्रथम हैं इनसे अत्रि की उत्पत्ति हुई। फिर अत्रि के वंश में दूसरे दक्ष हुए। ब्राह्म पुराण के प्रथमाध्याय में यह वर्णन किया गया है कि मारिषा नाम की भार्या से प्रचेतो गण के द्वारा सोम के अंश से युक्त महातेजा दक्ष प्रजापति उत्पन्न हुए—'दशभ्यस्तु प्रचेतेभ्यो मारिषायां प्रजापतिः। दक्षो जज्ञे महातेजाः सोमस्यांशेन भो द्विजाः ॥' इस वर्णन को सुन कर मुनियों ने प्रश्न कर दिया कि हम लोगों ने सुन रखा है कि दक्ष ब्रह्मा के अंगुष्ठ से उत्पन्न हुए। वही फिर प्रचेतो गण के पुत्र कैसे हो गये।

"संभवस्तु श्रुतोऽस्माभिर्दक्षस्य च महात्मनः।
अंगुष्ठाद् ब्रह्मणो जज्ञे दक्षः किल शुभव्रतः ॥
कथं प्राचेतसत्वं स पुनर्लेभे महातपाः।
दौहित्रश्चैव सोमस्य कथं श्वसुरतां गतः ॥"

इस प्रकरण में दक्ष सोम के दौहित्र कहे गये हैं। परन्तु प्रायः सभी पुराणों में मिलता है कि दक्ष की साठ कन्याएँ थीं उनमें सत्ताइस सोम को दी गयी थीं।

"दक्षस्तु षष्ठिकन्यास्तु सप्तविंशतिमिन्दवे। ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश" ॥

इस प्रकार पूर्व में दक्ष सोम के श्वसुर थे और यहाँ दक्ष सोम की पुत्री मारिषा से उत्पन्न होने के कारण सोम के दौहित्र कहे जाते हैं। इसका क्या समाधान है। इसके उत्तर में पुराण प्रवचन कर्ता जो समाधान करते हैं वह भी द्रष्टव्य है :—

'उत्पत्तिश्च निरोधश्च नित्यं भूतेषु भो द्विजाः।
ऋषयोऽत्र न मुह्यन्ति विद्यावन्तश्च ये जनाः ॥
युगे युगे भवन्त्येते पुनर्दक्षादयो नृपाः।
पुनश्चैव निरुध्यन्ते विद्वाँस्तत्र न मुह्यति।
ज्यैष्ठ्यं कानिष्ठ्यमप्येषां पूर्वं नासीद् द्विजोत्तमाः।
तप एव गरीयोऽभूत् प्रभावश्चैव कारणम् ॥

अर्थात् भूतों में उत्पत्ति और नाश नित्य होता रहता है; ऋषि गण तथा ज्ञानी जन इससे भ्रम में नहीं पड़ते। ये दक्ष आदि प्रत्येक युग में (यहाँ कल्प से अभिप्राय है) होते हैं और फिर नष्ट होते हैं इस सम्बन्ध में विद्वान् को मोह (भ्रम) नहीं होता। पूर्व में इनका ज्येष्ठ और कनिष्ठ का भाव नहीं था। तप का ही महत्त्व था और तपःप्रभाव ज्येष्ठत्व, कनिष्ठत्व का कारण था। ऊपरी दृष्टि से यह समाधान भिन्न-भिन्न कल्प के अनुसार किया गया है। परन्तु वैज्ञानिक वास्तविक समाधान यह है कि इन चरित्रनायकों का सृष्टि कल्प तीन प्रकार की विवक्षा से हुआ है। तत्त्व और अध्यात्म की दृष्टि से (आधि-

दैविक और आध्यात्मिक कल्प में) पदार्थ-विज्ञान में यह भ्रम उत्पन्न नहीं होता। पदार्थों में कहीं पुत्र-पौत्र आदि से भी पिता-पितामह आदि की उत्पत्ति देखी जाती है। श्रुति कहती है कि 'इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ; आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आप् और अप् से पृथ्वी।' इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार अग्नि तत्त्व से जल की उत्पत्ति बतायी गयी है। 'कंस्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आप:' (अर्थात् आप् ने प्रथम गर्भ में किसे धारण किया) इस प्रश्न को श्रुति में अग्नि को अप् के गर्भ से उत्पन्न हुआ कहा गया है। अग्नि से आप् और अप् से पृथ्वी इस तैत्तिरीय श्रुति के अनुसार पृथ्वी अग्नि की पौत्री सिद्ध होती है। वाजसनेय श्रुति में मिलता है—'यदपां शर आसीत् तत् समहन्यतसा पृथिवी अभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तेजो रसो निरवर्तत अग्नि:।' अर्थात् अप् का शर (सारभूत भाग) संहृत हुआ वह संघात रूप पृथ्वी हुई। उसमें श्रम और तप के द्वारा तेजो रस अग्नि के रूप में परिणत हुआ। इसके अनुसार अप् से पृथ्वी उससे अग्नि इस प्रकार अग्नि पृथ्वी का पुत्र होता है। "अग्ने नक्षत्रमजरमासूर्यं रोहयो दिवि। दधन्ज्योतिर्जनभ्य:" इस मन्त्रश्रुति में सूर्य अग्नि से उत्पन्न हुआ कहा गया है। "अयं ते योनि: ऋत्वियो यतो जातो अरोचथा:। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम्।" इस मन्त्रश्रुति के अनुसार अग्नि का जन्म सूर्य से होता है। इसी प्रकार और भी अनेक स्थलों में पाया जाता है। जिस प्रकार तन्तु (सूत्र) से पट बनता है वहाँ तन्तु जनक और पट जन्य है उसी प्रकार पट के विश्लेषण से तन्तु निकलता है वहाँ पट जनक तन्तु जन्य हो जाता है। अग्नि से दग्ध अंगार उत्पन्न होता है; दग्धांगार से अग्नि पैदा होती है। इस प्रकार लोक में भी जन्य जनक भाव का व्यत्यास दृष्टिगोचर होता है। इसी आशय से वाजसनेय श्रुति में कहा गया है—"स एष पिता पुत्र:। यदेषोऽग्निमसृजत, तेनैषोऽग्ने: पिता। यदेतमग्नि: समदधात् तेनैतस्य अग्नि: पिता। यदेष देवानसृजत तेनैष देवानां पिता। यदेतं देवा: समदधु: तेनैतस्य देवा: पितर:। उभयं हैतद् भवति पिता च पुत्रश्च। प्रजापतिश्चाग्निश्च अग्निश्च प्रजापतिश्च। प्रजापतिश्च देवाश्च देवाश्च प्रजापतिश्च।"—(शतपथ ६।१।२)। इसका भाव यह है कि यह पिता भी है पुत्र भी है। इसने अग्नि को उत्पन्न किया इससे यह अग्नि का पिता हुआ। अग्नि ने इसका संधान किया अपने गर्भ में रखा इससे अग्नि इसका पिता हुआ। इसी प्रकार इसने देवों को उत्पन्न किया इससे यह देवों का पिता हुआ। देवों ने इसे धारण किया इससे देव इसके पिता हुए। यह दोनों होता है पिता भी पुत्र भी, प्रजापति और अग्नि तथा अग्नि और प्रजापति। इस प्रकार वाक्, दक्ष, वरुण, वायु और अग्नि इन पाँचों के योग से पांचजन्य यह अत्रिप्राण हुआ पश्चात् अत्रि वंश में प्राचीनबर्हि से प्रसूत दस प्रचेतसों के

योग से दूसरे दक्ष उत्पन्न हुए। अध्यात्म में क्रतु और दक्ष प्राण के सम्बन्ध में वाजिश्रुति में लिखा है—'क्रतूदक्षौ वा अस्य मित्रावरुणौ। एतन्नु अध्यात्मम्। स यदेव मनसा कामयते—इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुः। अथ यदस्मै तत् समृध्यते स दक्षः। मित्र एव क्रतुः वरुणो दक्षः।' अर्थात् क्रतु और दक्ष मित्रावरुण हैं। यह अध्यात्म है। वह मनसा कामना करता है, संकल्प करता है कि यह मुझे प्राप्त हो जाय, मैं यह कार्य करूँ। यह अध्यवसाय क्रतु है। उसकी यह कामना सिद्ध हो जाती है वह दक्ष है। मित्र ही क्रतु है, वरुण दक्ष है।

प्राण रूप इस अत्रिप्राण की विशेषता यह है कि जिस वस्तु में यह प्राण आरम्भक होकर उपादान रूप में रहता है वह वस्तु पारदर्शक नहीं रहती। सूर्य की रश्मि उससे प्रत्याघात करके उस वस्तु का रूप उत्पन्न करती है वही रूपवाली द्रव्य चक्षु से दिखाई देता है। जैसे तैजस जलीय या पार्थिव। काच आदि पार्थिव पदार्थ में यह प्राण अत्यन्त अल्प मात्रा में रहता है, इसलिए सूर्य आदि की तेजोरश्मि थोड़ी मात्रा में ही प्रत्याहत होकर लौटती है। अधिक मात्रा रश्मि की बाहर निकल जाती है वही काच अधिक अत्रि वाले पार्थिव आदि पदार्थ से पृष्ठ भाग में संयुक्त कर दिया जाय तो उस काच से प्रतिफलित होकर सूर्य रश्मि के द्वारा रूप का निर्माण हो जाता है। वायु आदि रूप-रहित पदार्थों में अत्रिप्राण आरम्भक द्रव्य के रूप में नहीं रहता, इसलिए सूर्य की रश्मि के प्रत्याघात से उन में रूप नहीं दिखाई देता। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि जितने घन द्रव्य हैं उन सबमें यह अत्रि-प्राण अधिक मात्रा में सन्निविष्ट रहता है।

इस अत्रिप्राण से आधिदैविक चन्द्र की उत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है—प्रति संवत्सरकाल में यह पृथ्वी सहस्रांशु सूर्य की परिक्रमा करती है। सूर्य-किरणों के परिताप से पृथ्वी-पिण्ड से प्रतिक्षण निकलता हुआ यह अत्रिप्राण पृथ्वी के चारों ओर फैलता है। उससे फिर यह सूर्य की किरणों से सन्तप्त होता रहता है। संवत्सर की तीन आवृत्ति में तीन बार सूर्य की किरणों के सन्ताप के योग से यह अत्रिप्राण सोम रूप में परिणत होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सोम संकोचक द्रव्य है वस्तु में घनता इसी के द्वारा होती है। अग्नि विशकलन कर्ता है। इन्हीं दोनों की मात्रा के तारतम्य से सब पदार्थों का स्वरूप बनता है, इसीलिए कहा गया है कि यह जगत् अग्नीषोमात्मक है। घनता उत्पन्न करने वाले अत्रिप्राण में सोम का प्राचुर्य है। सूर्य के सन्ताप से वह विरल होकर अत्रिप्राण से उसके नेत्र से निकलता है। नेत्र शब्द रश्मि के लिए श्रुतियों में अनेक स्थलों में मिलता है। अत्रिप्राण का सूक्ष्म भाग (सोम) जितना नेत्र से परिस्रुत होता है वह ऊर्ध्वरेता होकर इस अत्रिप्राण से पृथक् होकर सब दिशाओं में व्याप्त होकर फिर पृथ्वी

की ओर गिरता है। जिस प्रकार जलराशि दिन में सूर्य की किरणों से सन्तप्त होकर पृथ्वी से निकल कर ऊपर चली जाती है और दिशाओं में फैल जाती है फिर वही शीतल होकर रात्रि में फिर ओस के रूप में पृथ्वी में गिरने लगती है। इसी प्रकार यह सोम भी फिर पृथ्वी में गिरने का उपक्रम करता है। किन्तु पृथ्वी में गिरते हुए इस सोमराशि को हिरण्यगर्भ ब्रह्मा वायु रूप से चन्द्रकक्षा धरातल में रोक कर इक्कीस बार परिक्रमा के बाद क्रमशः वायु के द्वारा इसका संचय करके सहस्र किरणमय सोम पिण्ड का सम्पादन करते हैं। वही चन्द्रपिण्ड पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ आकाश में दिखाई देता है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ के द्वारा उद्भावित वायुचक्रमय चन्द्रकक्षा से उपलक्षित आकाश प्रदेश में अवरुद्ध होकर नीचे पृथ्वी में नहीं उतरता। वहीं एकत्र होता हुआ इक्कीस चक्कर काटने के बाद पिण्डरूप में परिणत हुआ उसी वायु की प्रेरणा से पृथ्वी के चारों ओर अब भी घूमता रहता है। जिस प्रकार आकाश में फैले हुए केतु की रश्मियों से पिण्ड रूप में सूर्य परिणत होता है उसी प्रकार सोम की किरणें एकत्र होकर चन्द्रपिण्ड के रूप में परिणत हुई हैं। इस प्रकार चन्द्र-मण्डल की उत्पत्ति का रहस्य ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में वर्णित है। महाभारत के अनुशासन पर्व में यह मिलता है कि अत्रि ने ही चन्द्र बन कर अन्धकार का निवारण किया। ब्रह्माण्ड आदि पुराणों में इसी वैज्ञानिक चन्द्र का वर्णन किया गया है वहाँ नर रूप अत्रि तथा चन्द्र का अर्थ करना युक्तियुक्त नहीं है।

इस वैज्ञानिक चन्द्र का जितना सोमभाग पृथ्वी में ओषधि, वनस्पति प्राणिसमूह में संक्रमित होकर कम होता रहता है उतना ही फिर इस अत्रिप्राण से निकल कर चन्द्रमण्डल में प्रवेश करके क्षतिपूर्ति करता रहता है। यह क्रम बराबर चला आ रहा है। इस वैज्ञानिक चन्द्र का रथ वायुमय चन्द्रकक्षा के रूप में विशेष मार्ग है और वह सहस्र किरणों का प्रचय है इस रथ का स्वरूप भी पुराणों में वर्णित है। लिङ्गपुराण के छप्पनवें अध्याय में इस प्रकार है—

वीर्याश्रयाणि चरति नक्षत्राणि निशाकरः। त्रिचक्रोभयतोश्वश्च विज्ञेयस्तस्य वै रथः।
शतारैश्च त्रिभिश्चक्रैर्युक्तः शुक्लैर्हयोत्तमैः। दशभिस्त्वकृशैर्दिव्यै रसंगैस्तैर्मनोजवैः॥
रथेनानेन देवैश्च पितृभिश्चैव गच्छति। सोमो ह्यम्बुमयैर्गोभिः शुक्लैः शुक्लगभस्तिमान्।
इत्यादि

भाव यह है कि यह निशाकर चन्द्र देव और पितरों के साथ रथ के द्वारा नक्षत्र मार्ग में विचरण करता है। इस रथ में तीन चक्र हैं सौ अरे हैं। उसमें श्वेतवर्ण के मन के समान वेग वाले पुष्ट दस घोड़े जुते हुए हैं। तीन चक्रों का अभिप्राय कुछ लोगों के मत से यह है कि ये नक्षत्र जो चन्द्रकक्षा के अवलम्ब भूत हैं वे आदिनाडी, मध्यनाडी और अन्तनाडी के

रूप में तीन भाग में विभक्त हैं, ये ही तीन मार्ग तीन चक्र हैं । (आदि नाडी आदि ज्यौतिष का विषय है; वर-कन्या की कुण्डलियों के मिलान करने में इनका विशेष रूप से उपयोग होता है) कुछ लोगों का मत है कि चन्द्र आकाश में कभी अत्युच्च मार्ग से कभी मध्यम मार्ग से और कभी निम्न मार्ग से परिभ्रमण करता है । ये ही तीनों मार्ग तीन चक्र हैं । सोम रस का पान करने के लिए सोमपायी तैंतीस देवता चन्द्रकक्षा में संक्रमण करते हैं । तीन मार्गों में तैंतीस देवता प्रत्येक में विद्यमान रहते हैं इससे यह संख्या निन्यानवे हो जाती है ये ही सौ अरे हैं । अहोरात्र वृत्त अश्व कहलाते हैं । नाड़ी वृत्त से पाँच दक्षिण में और पाँच उत्तर में अहोरात्र वृत्त रहते हैं ये ही दस अश्व हैं । इस प्रकार स्पष्ट ही यह विवेचन आकाशचारी चन्द्र का है । यह दिग्दर्शन मात्र है । इसी प्रकार अन्यान्य स्थलों में पुराणों के अर्थ में परस्पर समन्वय करके विरोध का परिहार किया जा सकता है और वेदानुकूल अर्थ ग्रहण होने से अनेक दुरूह वैदिक तत्त्वों के समझने में पुराणों से पर्याप्त सहायता मिल सकती है—और पुराणों को वेदों का उपबृंहण करने वाला कहा गया है वह यथार्थ हो सकता है । पुराणोंकी सर्वथा उपेक्षा करने से भारतीय साहित्य का एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण अंश निकल जाता है । विद्वानों का यह कर्तव्य है कि जहाँ कहीं से सारवस्तु का ग्रहण करना चाहिए । जिस भारतीय नीति में बालादपि सुभाषितम्' लेने का महत्त्व माना गया है वहाँ विदितवेदितव्य तपोरत महामुनियों के उपदेश से वंचित रहना दुर्भाग्य ही होगा ।

याज्ञवल्क्य स्मृति में जहाँ चौदह विद्याएँ गिनायी गयी हैं उनमें पुराण भी विद्या के रूप में उल्लिखित हैं । इसके आगे राजाओं के नित्य स्वाध्याय के साहित्य में भी पुराण निर्दिष्ट है । निश्चय ही यह पुराण साहित्य सूत, लोमहर्षण और उनके पुत्र उग्रश्रवा द्वारा रचित पुराणों का ही संकेत करते हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि याज्ञवल्क्य स्मृति के समय में पुराणों का स्वरूप व्यवस्थित तथा प्रामाणिक माना जाता था । कुछ विशिष्ट विद्वानों का मत है कि पुराणों की रचना गुप्त काल में हुई थी । परन्तु गुप्त काल में इनकी नवीन रचना न होकर इनका संस्करण हुआ होगा । जिस प्रकार स्वर, पद-पाठ आदि के द्वारा वेदों का स्वरूप अविकृत रखा जा सका उस प्रकार का कोई साधन पुराणों के सम्बन्ध में प्रयुक्त नहीं हुआ । इसलिए वेदों में जहाँ एक मात्रा का भी परिवर्तन करने का अवसर न था वहाँ पुराणों में लेखक के स्वेच्छानुसार अनेक प्रक्षिप्त अंश सन्निविष्ट हो गये तथा अनेक महत्त्वपूर्ण अंश विलुप्त हो गये । पुराणों की रचना के बाद गुप्त समय तक काल दोष से उनमें अनभिप्रेत जो अंश प्रक्षिप्त हुए थे उनका संशोधन करके गुप्तकालीन विद्वन्मण्डल ने उनका परिष्कृत संस्करण किया है, यह सर्वथा संभव है । गुप्त काल के बाद, ज्ञात होता है, इनके परिष्कार का प्रयत्न नहीं किया गया है, अतः इतने समय में इनके

स्वरूप में अवश्य ही अन्तर आ सकता है। अतः इस समय यह आवश्यक है कि जिस प्रकार महाभारत के शुद्ध संस्करण का प्रयास पूना में हुआ है उसी प्रकार का प्रयत्न पुराणों में भी अपेक्षित है तथा आशा है कि विद्वन्मण्डल इस महत्त्वपूर्ण विषय की उपेक्षा न करेगा।

पुराणों की संख्या पर विचार

कुछ मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों के आविर्भाव काल से भी पूर्व अथवा उसी काल में एक **ब्रह्माण्ड** पुराण नाम का वेद विशेष था जिसमें सृष्टि और प्रतिसृष्टि का निरूपण था जैसा कि 'इदं वा अग्रे नैव किंचिदासीत्' अर्थात् यह सब पहले कुछ नहीं था इत्यादि से ज्ञात होता है। शतपथ ब्राह्मण छान्दोग्योपनिषद् आदि में पुराण का जो उल्लेख मिलता है वही इस पुराण को लक्ष्य करता है ऐसा प्रतीत होता है। पुराकालिकवृत्त परम्परा का आख्यान होने से तथा उसमें ब्रह्माण्ड सृष्टि का विचार होने के कारण उसकी ब्रह्माण्ड पुराण संज्ञा उचित ही दिखती है। मत्स्यपुराण में इसी आशय की भगवान् मत्स्य की उक्ति पायी जाती है—'सम्पूर्ण शास्त्रों से प्रथम ब्रह्मा ने पुराण का निर्माण किया उसके अनन्तर उनके मुख से वेद निकले। उस कल्पान्तर में पुराण एक ही था, वह त्रिवर्ग का साधन था तथा वह शतकोटि विस्तृत था। काल के कारण उस का ग्रहण करना सम्भव न देख कर फिर उसे अठारह प्रकार से विभक्त करके प्रकाशित किया जाता है। पद्म पुराण में भी मिलता है कि जो पुरानी परम्परा को बतलाता है, वह पुराण कहा जाता है। बृहन्नारदीय पुराण में भी मिलता है कि 'चतुर्लक्ष श्लोकों का ब्रह्माण्ड पुराण पढ़ा जाता है वही यहाँ पृथक् अठारह प्रकार का कहा गया है।' उसी आदिम ब्रह्माण्ड पुराण ग्रन्थ से मन्त्रार्थ के उपयुक्त उन-उन आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक उपाख्यान सहित पुराण समूह का अच्छी तरह निश्चय करके महर्षिगणों ने उन-उन ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ जैसा उपयोग दिखा उसके अनुसार आख्यानों का उल्लेख है। इसी अभिप्राय से ऐतरेय ब्राह्मणादि ग्रन्थों में सिद्ध रूप आख्यानों का उल्लेख है। सौपर्णाख्यान देकर अन्त में लिखा है कि आख्यान-वित् '(अर्थात् ग्रन्थकर्ता से प्राचीन आख्यान वेत्ता) इसे सौपर्ण आख्यान कहते हैं। स्इसपसेष्टहोता है कि इन ब्राह्मण ग्रन्थों के निर्माण से पूर्व ही इन आख्यानों का अस्तित्व था। यद्यपि इन ब्राह्मण ग्रन्थकर्ता महर्षियों ने ही इन आख्यानों को अपने शब्दों में कहा है तथापि ये उनकी कल्पना प्रसूत न थे, ये पूर्वपरम्परा से प्राप्त थे। क्योंकि मन्त्रों के द्वारा जिन प्रयोगों का स्मरण कराया गया है उस अर्थ से समवेत अर्थ का उपपादन करने वाले इन आख्यानों का अस्तित्व मन्त्र रचना से उत्तर काल का नहीं हो सकता। समकालिक

हो अथवा और भी प्राचीन । इसी अभिप्राय से पद्मपुराण में मिलता है कि प्राचीन काल में ब्रह्मा ने ब्राह्मणों में सविस्तार जो कहा था उसी के अनुसार सूत ने अनुक्रम से पुराण प्रकाशित किया है ।

इन ब्राह्मण ग्रन्थों में सूत्रपात के रूप में प्राय: सब प्रकार की विद्याओं का उल्लेख होने पर भी क्रमपूर्वक पृथक्-पृथक् एक-एक विषय का उल्लेख न होने के कारण जो स्पष्ट प्रतीति नहीं होती इस क्लेश का अनुभव करके शिष्यों के अनुग्रह के लिए पश्चात् काल में विशिष्ट बुद्धि महर्षियों ने उन ब्राह्मण ग्रन्थों से अपनी प्रतिभा के उत्कर्ष से उन-उन विद्याओं को पृथक् करके युक्ति-प्रयुक्ति साधनों के द्वारा विशद रूप में स्पष्ट करके ग्रन्थों की रचना की । यथा—कपिल पतंजलि आदि ने सांख्य-योग प्रवचन, वात्स्यायन आदि ने काम सूत्र, मनु आदि ने धर्मसूत्र, धन्वन्तरि, चरक आदि ने आयुर्वेद, शाकपूणि, यास्क आदि ने निरुक्त, इन्द्र, पाणिनि आदि ने व्याकरण शास्त्रों का प्रवर्तन इन्हीं के आधार पर किया । इसी प्रकार वशिष्ठ के प्रपौत्र शक्ति के पौत्र तथा पराशर के पुत्र सत्यवती गर्भजात भगवान् कृष्ण द्वैपायन ने लोकोपकार के लिए सब ब्राह्मण ग्रन्थों से सब उपाख्यानों का संकलन करके इन सब को लौकिक आख्यान से स्पष्ट करके पृथक् ग्रन्थ के रूप में सुसंगत किया । तथा पूर्व निर्दिष्ट ब्रह्माण्ड पुराणों में उक्त जगत् के सर्ग तथा प्रतिसर्ग के प्रतिपादक पदार्थों को आख्यान, उपाख्यान, गाथा और कल्प-शुद्धिभेद से चार विषयों में ग्रथित करके अठारह परिच्छेदों (Chapters) में उन्होंने एक पुराण संहिता का निर्माण किया ।

वेदव्यास के द्वारा प्रोक्त मूल संहिता एक थी—परिच्छेद अठारह थे । लोमहर्षण की मूल संहिता भी एक थी । परन्तु नैमिषारण्य में कथोपकथन के प्रसंग में ये अठारह परिच्छेद अठारह पृथक्-पृथक् पुराणों के रूप में परिणत हो गये । अठारह पुराणों की गणना में भी मतभेद पाया जाता है परन्तु पुराणों की संख्या में अन्तर नहीं है—सर्वत्र अठारह ही है । अत: मतभेद से दो में से किसी एक को ग्रहण कर लेने से अठारह की संख्या में व्याघात नहीं होता । यह अठारह की संख्या एक विशेषता रखती है । जैसा अन्यत्र वर्णन हुआ है मुख्य आत्मा तो निर्विशेष अखण्ड और अनिर्वचनीय है परन्तु महामाया, योगमाया के प्रभाव से अवान्तर भेद अठारह हो जाते हैं । इन आत्म-निकायों के अठारह संस्थानों के स्मारक के रूप में वेदव्यास ने अठारह परिच्छेद किये और लोमहर्षण और उनके पुत्र उग्रस्रवस् ने अठारह पुराणों का निर्माण किया । इसी दृष्टि से महाभारत के अठारह पर्व हुए और भगवद्गीता के अठारह अध्याय हुए । उपपुराण भी अठारह हुए । याज्ञ-वल्क्य ने चतुर्दश विद्याओं का उल्लेख किया है इनमें आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद इन चार विद्याओं को मिलाकर विद्याओं के भेद भी अठारह हो गये जिनके सम्बन्ध में श्री हर्ष ने

नैषधीयचरित में उल्लेख किया है कि नल ने अठारह द्वीपों को जीत कर जो विजयश्री अठारह की संख्या में प्राप्त की थी उन श्रियों से स्पर्धा करने के लिए मानो उनकी विद्या भी अठारह प्रकार की हो गयी थी । कालिदास ने भी अठारह द्वीपों का उल्लेख किया है।

इन अठारह पुराणों के चार मुख्य विभाग हैं । इनमें प्रथम भाग में छै पुराण हैं और सृष्टि के प्रकरण के अनुसार क्रम से निर्दिष्ट हैं । अन्यत्र लिखा गया है कि महेश्वर की अश्वत्थवृक्ष से तुलना की गयी है वह समस्त संसार को अवष्टब्ध करके वृक्ष के समान सर्वत्र व्याप्त कर स्थित है । वह हजारों वल्शा· (शाखा) वाला है । उसकी प्रत्येक वल्शा पाँच पुण्डीरों में (काण्डों में) विभक्त है और इन पाँचों की समष्टि रूप वल्शा का अधीश्वर एक-एक ईश्वर है । ये पाँच पुण्डीर क्रमशः स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी माने गये हैं । इन पुराणों का क्रम सबसे अन्तिम पृथ्वी से ऊपर की ओर चलता है । पृथ्वी पिण्ड का निर्माण करने वाला अग्नि (अग्नि ब्रह्मा) दो प्रकार का है । पिण्ड निर्माण करने वाला शरीर रूप अग्नि चित्य कहा गया है। यह स्थूल रूप है, पिण्ड शरीर है। इसके अभ्यन्तर में रहने वाला—इस पिण्ड का निर्माण करके इसमें प्रविष्ट—प्राण रूप अग्नि (चितेनिधेय अर्थात् चित जो पिण्ड में है उसमें रहने वाला और उसका नियंत्रण करने वाला) मुख्य सृष्टि कर्ता ब्रह्मा है । 'तत्सृष्ट्या तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार वह प्राण से पिण्ड में अन्तःप्रविष्ट है । मुण्डकोपनिषत् के आधार पर यह कहा जाता है कि ब्रह्मा का सबसे प्रथम प्रादुर्भाव हुआ —

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।।" (मुण्डकः)

इन ब्रह्मा के द्वारा चार प्रकार की सृष्टि का सर्जन हुआ—वेदसृष्टि, लोकसृष्टि, प्रजा-सृष्टि और धर्मसृष्टि । सर्वप्रथम सृष्टि वेद है; इसे ब्रह्म भी कहा जाता है जैसा कि शतपथ-ब्राह्मण में निर्दिष्ट है —

"सोऽयं पुरषः प्रजापतिरकामयत भूयान् स्यां प्रजायेय इति स श्रान्तस्तेपानः ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत् । तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा ।' (शतपथ–६।१।१।८)

"ततो ब्रह्मव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या तस्माराहुः ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथममिति ।"
(शतपथ–६।१।१।१०)

त्रयी विद्या (वेदत्रयी) यह ब्रह्म है वह प्रतिष्ठा है । इसी प्रतिष्ठा के द्वारा सब लोक प्रतिष्ठा रूप हुए । इस वेदरूपी प्रतिष्ठा का विशेष विवरण पृथक् हुआ है ।

इन लोकों में सब प्रजाएँ प्रतिष्ठित हुईं । फिर प्रजाओं के धर्म, चातुर्वर्ण्य आदि वर्णभेदों का सर्जन हुआ । ऋग्, यजुः, साम और अथर्व चार वेद हैं । पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और आप् चार लोक हैं। अग्नि, वायु, आदित्य और चन्द्रमा चार प्रजाएँ हैं तथा ब्रह्म, क्षत्र, विट्, शूद्र ये चार वर्ण धर्म हैं । इन चारों की सृष्टि तथा इनके अनुगत कुछ धर्मों का जिसमें निरूपण हुआ है वह ब्रह्म पुराण है । सभी पुराणों के मत से ब्रह्म पुराण सर्वप्रथम माना गया है । इसमें पृथ्वी के प्राण रूप ब्रह्मा का निरूपण है । पृथ्वी इनका अधिष्ठान है; पृथ्वी पर ये अधिष्ठित हैं । पृथ्वी को पद्म कहा गया है इसलिए ये पद्मभूः पद्मासन आदि कहे गये हैं । ये ही सर्जन करने वाले हैं इससे स्रष्टा, प्रजापति, वेधाः कहलाते हैं ।

अब यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि जिस भू-पिण्डरूपी पद्म के आश्रय से ये पद्मभूः, पद्मासन, ब्रह्मा आविर्भूत हुए वह पद्म किस प्रकार का है तथा पद्म से ब्रह्मा की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इत्यादि अर्थों का निरूपण करने वाला द्वितीय पद्म पुराण है ।

फिर यह पद्म कहाँ से प्रादुर्भूत हुआ यह शंका होने पर तृतीय विष्णु पुराण की अवतारणा होती है । इस प्रसंग के विष्णुरूप सूर्य के प्रतिपादक अनेक अर्थों का निरूपण करने वाला विष्णु पुराण है । सूर्य के बारह नामों में से एक विष्णु भी है, सूर्य से पृथ्वी का आविर्भाव है तथा सूर्य के आकर्षण के द्वारा ही पृथ्वी अवस्थित है यह विज्ञान प्रकरण में निरूपण हुआ है ।

ये विष्णु कहाँ प्रतिष्ठित हैं इसका निरूपण करने के लिए वायु पुराण की प्रवृत्ति हुई । वायु आकाश का भी उपलक्षण है । इन दोनों का अविनाभाव है अर्थात् दोनों सर्वथा साथ पाये जाते हैं, एक के बिना दूसरा नहीं रहता । आकाश और वायु दोनों सहित होकर यज्जूः कहलाते हैं, यही यजुः कहलाता है । वायु यत् है और जूः आकाश है । दोनों का सम्मिलित रूप यजुः, अतः एक के कहने से दोनों का बोध होता है । इन दोनों के साहचर्य के कारण वायु शब्द से दोनों का व्यवहार होता है । यह वायु भी आकाश के समान अनन्त है । सबके विनष्ट हो जाने पर भी यह अवशिष्ट रहता है इसलिए यह अनन्त और शेष भी कहा जाता है। इस अनन्त शेष में ये विष्णु स्थित हैं । इसका निरूपण वायु पुराण में है ।

अब यह वायु किस आधार पर है इस जिज्ञासा के समाधान के लिए पंचम भागवत पुराण प्रवृत्त हुआ है। आपोमय परमेष्ठी के आप्, वायु और सोम ये भेद हैं। इस परमेष्ठी आपोमय भगवान् विष्णु का निरूपण इस पंचम पुराण का लक्ष्य है ।

आपोमय परमेष्ठी वाग्लोक से वाक् के अप् रूप में परिणत होने से निष्पन्न हुआ है।

मन: प्राणवाङ्मय स्वयंभू की वाग् ही आप् रूप में हो गयी है आप् को नार भी कहा गया है जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है––

'आपो नार इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः
ता यदस्यायनं. . . .

नर शब्द ऋषि-प्राणों से उत्पन्न मरुद्गण की संज्ञा है । यह ऋषि-प्राण नित्य ही इस प्राण से उत्पन्न सरस्वान् नाम का संमुद्र अप् का संघात परमेष्ठी कहलाता है। ये आप् परम स्थान में स्थित हैं । यह सब आप् हैं । जहाँ कहीं भी खनन किया जाय अप् ही प्राप्त होगा । इसी परम स्थान अप् को लेकर वर्षा होती है इससे यह परमेष्ठी है––

आपो वा इदं सर्वम् । ता यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति । यो हीहाभिखनेत् अप एवाभिविन्देत् । परमाद्वा एतत्स्थानाद् वर्षति यद्दिवः तस्मात् परमेष्ठी नाम ।'––(शतपथ ११।१।६)

इन आपोरूप **नार** का देने वाला ऋषिप्राण नारद है। इस नारद ऋषिप्राण का निरूपण नारद पुराण में है । ऋषिप्राणों का निरूपण अन्यत्र हुआ है ।

वाग्लोकस्थ ऋषिप्राण नारद पुराण का वर्णनीय विषय है; वाक् ही आप् रूप में परिणत हुई है ।[1] प्रथम उत्पन्न होने वाले इस अप् तत्त्व का संघात सरस्वान् समुद्र परमेष्ठी है यह भागवतपुराण का वर्ण्य है। इसी के अन्तर्गत वाय्वाकाश लक्षण शेष नाग अनन्त में सोमाहुति लक्षण यज्ञ विष्णु नाम से अवस्थित है । शेष अनन्त शेष का वर्णनीय विषय वायुपुराण है। इसके बाद यज्ञ विष्णु का प्रकरण विष्णुपुराण में आता है। इस यज्ञ में मृत्युमय चित्य अग्नि से उत्पन्न पिण्ड रूप पुष्करपर्ण लक्षण पद्म प्रादुर्भूत होता है। पद्म रूप इस पिण्ड पृथ्वी का विषय पद्मपुराण है । इस पद्म में अमृतप्राण अग्निमय (चितेनिधेय) प्रतिष्ठा लक्षण ब्रह्मा स्थित हैं । इन्हीं से सब विश्व उत्पन्न हुआ है । इनका वर्णन सर्वप्रथम ब्रह्म पुराण में किया गया है । इस प्रकार वेदव्यास कृत **छः पुराणों** की संहिता सृष्टिविषयक प्रथम सन्दर्भ है ।

इस प्रकार प्रथम सन्दर्भ में छः पुराण परिच्छेदों के द्वारा वेदव्यास ने आधिदैविक सृष्टिप्रकरण का आख्यान किया । इसके बाद द्वितीय खण्ड चार परिच्छेदों का है ।

१. "पुरुषः प्रजापतिरकामयत, भूयान् स्यां प्रजायेयेति । सोऽश्राम्यत् सतपोऽतप्यत्, स श्रान्तस्तेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम् । सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत् । तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत् । सोऽपोऽसृजत । वाच एव लोकात् । वागेवास्य सा सृज्यत् । सेदं सर्वमाप्नोत् तस्मादापः ।"––(शतपथ ब्रा० ६।१।१।१०)

इस खण्ड में आध्यात्मिक आत्मचतुष्टय का मूलभूत सृष्टि प्रकरण का आख्यान हुआ है। वेदव्यास के समय में सृष्टि सम्बन्ध में चार प्रकार के मत प्रचलित थे और ये परस्पर एक-दूसरे से भिन्न थे। इन चारों का वर्णन क्रमशः इस प्रकार किया गया है। प्रथम है—प्रकृतिकारणतावाद। इस मत के अनुसार तीन गुणों की समष्टि रूप प्रकृति ही समस्त सृष्टि का कारण है। इस मत का प्रतिपादक मार्कण्डेय पुराण है। दूसरा मत है अग्निकारणतावाद। इसके अनुसार अग्नि ही समस्त सृष्टि का कारण है। श्रुति में मिलता है कि यह जगत् अग्नि सोमात्मक है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्।' अग्नि और सोम में अग्नि की प्रधानता से सृष्टि होती है। यह अग्निपुराण का विषय है। तीसरा मत है सूर्य का कारणतावाद। इसके अनुसार सूर्य ही सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है। शौनक ने बृहद्देवता में लिखा है कि कुछ लोग इस विश्व का प्रभव और प्रलय सूर्य को ही मानते हैं। सूर्याग्नि के द्वारा ही मध्यम लोक अन्तरिक्ष की और पृथ्वी लोक की अग्नि का प्रादुर्भाव होता है।[1] इस मत का प्रतिपादन भविष्य पुराण का लक्ष्य है। चौथा मत है—विवर्त कारणतावाद। छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है कि यह सब विकार (सृष्टि) वाक् के द्वारा आरम्भ नामधेय मात्र है वास्तव में कुछ नहीं है—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्"। इसके अनुसार यह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म निर्विकार है, असंग है, अतः यह सृष्टि सम्भव नहीं है। यह सृष्टि भ्रान्ति कल्पित है। अतः इस सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त मानना सिद्ध होता है। विवर्त का अर्थ है जो वस्तु यथार्थ में नहीं है उसमें उस वस्तु की कल्पना—अध्यास। यह चतुर्थ मत ब्रह्म वैवर्त पुराण का प्रकरण है। इस प्रकार इन चार मतों का प्रतिपादन इस द्वितीय सन्दर्भ में विशेष रूप से किया गया है।

तृतीय सन्दर्भ में छः पुराण परिच्छेदों के द्वारा अवतार सृष्टि का प्रतिपादन है। भगवान् प्रजापति सृष्टि के कारण ह। उनकी अवान्तर कारणता का विचार करने पर छः अवान्तर कारण देखे जाते हैं। इनमें लिङ्गावतार का वर्णन ग्यारहवें लिङ्गपुराण में किया गया है। लिङ्ग शब्द के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणा बद्धमूल हो रही हैं। उसका प्रधान वास्तविक अर्थ है कि जिस प्रभव से कोई पदार्थ प्रादुर्भूत होता है प्रतिसंचर दशा में वह पदार्थ उसी अपने प्रभव (Source) में लीन हो जाता है। उदाहरण के लिए पृथ्वी का प्रभव जल तत्त्व माना जाता है। जब पृथ्वी का विशकलन होगा—

१. "अस्यैके सूर्यमेवैकं प्रभवं प्रलयं विदुः। सूर्याग्नितः प्रजायेते अग्नी मध्यम पार्थिवौ॥"—बृहद्देवता।

जब वह नष्ट होगी तो वह अपने प्रभव जल रूप में परिणत होगी। पृथ्वी से उत्पन्न हुए वृक्ष आदि यावन्मात्र पदार्थ––मनुष्य, पशु आदि के शरीर में पार्थिव भाग हैं वे सब अन्त में नाश होने पर पृथ्वी रूप में परिणत हो जाते हैं। सबका मूल कारण परिणत होने वाले भूतभावन क्षर जिसका आधा शरीर है उस अक्षर पुरुष में सब उत्पन्न पदार्थ लीन हो जाते हैं। प्रथम वे क्षर रूप में––अपने उपादान में और फिर निमित्त कारण अक्षर में लीन होते हैं। इसीलिए उस अक्षर पुरुष के लिए लिङ्ग शब्द प्रयुक्त होता है क्योंकि सृष्टि उसी से उत्पन्न होती है और उसी में लीन होती है। श्रुति कहती है ––

"यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सौम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥"

अर्थात् जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से समान स्वरूप वाले हजारों विस्फुलिंग (अग्नि कण) उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष से विविध प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। भाव यह है कि ये सब भूत क्षर पुरुष हैं और कूटस्थ, सबके ऊपर स्थित होनेवाला अक्षर पुरुष भूतपति है। गीता में भी कहा है कि लोक में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष हैं। सब भूत क्षर हैं और जो कूटस्थ है वह अक्षर कहा जाता है ––

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरःसर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥"––गीता

क्षर और अक्षर की एकात्मता है, इसलिए उपादान जनित भूत अपने उपादान क्षर में और अन्त में अक्षर में लीन हो जाते हैं। अक्षर अनेक प्रकार के हैं और उनसे अनेक प्रकार की सृष्टि-धाराएँ प्रवृत्त होती हैं, उन सबका विशदतया निरूपण लिङ्गपुराण का प्रयोजन है।

फिर अक्षर (लिङ्ग) से उत्पन्न सृष्टि प्रभेद में अनेक क्षर (नाशशील) पिण्ड उत्पन्न होते हैं। ये सब क्षर पिण्ड पृथ्वी शब्द से कहे जाते हैं। ये सब पृथ्वी-पिण्ड चारों ओर व्याप्त पिण्डस्वरूप निर्माण करने वाले स्तम्भन करने वाले एक विशेष प्रकार के वायु के द्वारा वेष्टित होकर अनेक रूप धारण करते हैं। यदि स्तम्भन करने वाला इस वायु का घेरा उस पिण्ड की रक्षा न करे तो वह पदार्थ पिण्ड रूप में रह नहीं सकता; छिन्न-भिन्न हो जायगा। इसीलिए यह वायु पिण्ड का स्वरूप निर्माण करने वाला कहा जाता है। इस तथ्य को अर्वाचीन वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं। हमारी यह पृथ्वी चारों ओर से एक प्रकार के वायु के स्तरों से वेष्टित है जिसे अंग्रेजी में (Stratosphere) कहते हैं। ये वायु स्तर सूर्य के आतप में रुकावट डालते हैं इसलिए सूर्य के आतप की प्रखरता बहुत कम हो जाती है। मुख्य अंश गर्मी का वे अपने ऊपर झेलते हैं। पृथ्वी-पिण्ड पर उतनी ही उष्णता आ पाती है जिससे उसके पिण्ड का नाश नहीं होने पाता और उससे

पृथ्वी स्थित पदार्थ सहसा नष्ट नहीं होते । यदि यह वायु स्तर रोकने वाला न होता तो यह सम्पूर्ण पृथ्वी सूर्य की प्रचण्ड उष्णता से क्षण भर में परमाणु रूप में परिणत हो जाती । भारतीय शास्त्रों में इस वायु को **वराह** कहा गया है। पिण्ड मात्र में यह वराह कार्य कर रहा है और पिण्ड के स्वरूप की रक्षा करता है । स्वयं भूपिण्ड को वेष्टन करने वाला **आदि-वराह** कहा गया है । इसी प्रकार परमेष्ठि पिण्ड में **यज्ञ वराह** सूर्य पिण्ड में **श्वत वराह** है । इस पृथ्वी को वेष्टन करने वाला **एमूष वराह** कहा गया है । चन्द्रपिण्ड में **ब्रह्म वराह** कहा गया है । इस भारतीय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पिण्ड मात्र के चारों ओर वराह वायु वेष्टन कर रहा है । अर्वाचीन अभी भी इसकी गवेषणा कर रहा है । ऊपर में कहे गये अश्वत्थवृक्ष (आधिदैविक) रूपी पुरुष की पाँच वल्शा––स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी और चन्द्र ये पुण्डीर रूप पिण्ड हैं, इसलिए प्रजापति के अवतार रूप ये पाँच प्रकार के वराह माने गये हैं । इनके द्वारा ही सृष्टि होती है अर्थात् यदि वेष्टन रूप ये प्रजापति के अवतार स्वरूप वराह न हों तो न तो पिण्ड का निर्माण होगा और न सृष्टि सम्भव होगी । इन वराहों का विशदतया निरूपण बारहवें **वराह** पुराण का विषय है ।

इन पृथ्वी-पिण्डों में पृथ्वी के शरीर का आरम्भ करने वाले अग्नि के दो भेद हैं–– मर्त्य और अमर्त्य जिन्हें चित्य और चितेनिधेय अर्थात् भूत और प्राण । इस अग्नि रूप प्रजापति के पाँच स्वरूप––अवतार––हो जाते हैं––संवत्सराग्नि, वैश्वानराग्नि, कुमाराग्नि, चित्याग्नि और पाशुकाग्नि । इनमें मध्यम कुमार अग्नि की प्रधान रूप से कल्पना करके समस्त पृथ्वी शरीरों का यथाविधि उपवर्णन स्कन्द-पुराण का विषय है । कुमार को ही स्कन्द कहा जाता है ।

अब ये पृथ्वी-शरीर भिन्न-भिन्न द्यौ का आश्रय लेकर प्रवृत्त होते हैं । इन दोनों द्यौ और पृथ्वी का सम्मिलित रूप––द्यावापृथिवी––जगत् की प्रतिष्ठा होती है । इस प्रकार की द्यावापृथिवी अनन्त हैं, इनमें तीन प्रधान हैं––रोदसी, क्रन्दसी और संयती । प्रत्येक द्यावापृथिवी में द्यौः प्रधान है और पृथ्वी अनुचर है––द्यौः के पश्चात् संचरण करने वाली है । इस पृथ्वी को गौः भी कहा जाता है । यह एक सहस्र गो तत्त्व का समुच्चय रूप है और इस गोतत्त्व की व्याप्ति तैंतीस अहर्गण तक है जिसे **वषट्कार** कहते हैं । वाग्रूपी गोतत्त्व का वितान वहाँ तक है । तैंतीस अहर्गण के छः स्तोम माने गये । प्रथम स्तोम तीन अहर्गण का पृथ्वी-पिण्ड है । फिर पृथ्वी के गोरूप नौ अहर्गण तक पृथ्वी, नौ से पन्द्रह तक अन्तरिक्ष और पन्द्रह से इक्कीस तक द्यौः माना गया है यहाँ तक पार्थिव अग्नि की व्याप्ति है । इससे आगे सत्ताईस और तैंतीस सोम के क्षेत्र हैं। मध्य का सत्रहवाँ स्तोम पृथक् माना गया है । यज्ञरूपी विष्णु सोम रूप अन्न का आहरण करने के लिए तीन विक्रम

करते हैं। पृथ्वी से नवम स्तोम तक प्रथम विक्रमण है। नौ से पन्द्रह स्तोम तक दूसरा विक्रमण है। तथा इक्कीसवें स्तोम तक तीसरा विक्रमण है। यहीं सूर्य की अवस्थिति मानी जाती है। यहीं तक अन्नाहरण के लिए इन विष्णु का विक्रमण होता है इससे उन्हें वामन विष्णु कहा जाता है यह वामन अवतार और इनका निरूपण वामनपुराण में हुआ है। यह वामन पुराण अवतार प्रकरण में चौथा तथा पुराणों में चौदहवाँ है।

'कश्यपात् सकलं जगत्' यह श्रुति है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् कश्यप प्रजापति से उत्पन्न हुआ है। कश्यप ही कूर्म कहलाता है। कूर्म की व्युत्पत्ति ब्राह्मण ग्रन्थ में यह बतायी गयी है उसने किया (सृष्टि) अतः वह कूर्म है। 'यदकरोत् कूर्मः'। यह प्रजापति कश्यप रूप के द्वारा प्राणि सृष्टि करता है। इसका अधर (नीचे का) कपाल पृथ्वी लोक है उत्तर कपाल द्यौः है। मध्य भाग अन्तरिक्ष है। ये तीनों लोक यह कश्यप कूर्म है। दधि, घृत और मधु ये तीन जल के रस हैं। दधि शब्द घन (निबिड़, ठोस) पदार्थ का द्योतक है पृथ्वी लोक से सम्बद्ध है। घृत तरल का द्योतक है और अन्तरिक्ष की वस्तु है। मधु विरल तत्त्व माना जाता है यह द्यौः का रस है। इस प्रकार इन तीनों लोकों के ये तीन रस हैं। कूर्म का आत्मा प्राण है। प्राण ही इन दधि, घृत और मधु के द्वारा समस्त प्रजा का उत्पादन करता है। इस प्रकार पृथ्वी के किसी एक बिन्दु पर आदित्यरूप इस कश्यप प्राण दधि घृत और मधु निषिक्त होते हैं जो प्राणियों के शरीरों के उत्पादक होते हैं। इसीलिए कहा गया है कि सब प्रजाएँ कश्यप से उत्पन्न हैं। इस अर्थ का निरूपण कूर्म पुराण का विषय है। यह पन्द्रहवाँ पुराण परिच्छेद है।

मनुस्मृति में मिलता है कि ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए, पितरों से देव, दानव हुए और इनसे क्रमशः चर और स्थिर सब जगत् उत्पन्न हुआ।

"ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देव दानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः।।"

ये ऋषि आदि प्राण रूप हैं। इनका निरूपण ऋषिदेवप्रकरण में पृथक् हुआ है। यह सृष्टि तीन प्रकार की है—पार्थिव, आन्तरीक्ष्य और दिव्य। भृगु, अंगिरा और अत्रि ये ऋषिप्राण पार्थिव हैं; कश्यप, दक्ष और क्रतु आन्तरीक्ष्य हैं। तथा वशिष्ठ, अगस्त्य और मत्स्य ये दिव्य माने जाते हैं। दिव्य प्राणों में वशिष्ठ का अधिकार उत्तर में और अगस्त्य का दक्षिण में है। मध्यवर्ती प्राण मत्स्य है उसकी व्याप्ति दक्षिण ध्रुव से उत्तर ध्रुव पर्यन्त है। मत्स्य प्राण विशेष से सब प्रकार की पार्थिव सृष्टि मत्स्य प्राण से होती है। यह मत्स्य पुराण का विषय है। अवतार प्रकरण में यह छठा और पुराण परिच्छेद में सोलहवाँ है।

अवतार प्रकरण का पृथक् उल्लेख है। वहाँ यह प्रतिपादन हुआ है कि मूल तत्त्व ब्रह्म से क्रमश: प्रजापति की अवतार परम्परा चलती है और अन्त में यावन्मात्र पदार्थ प्रजापति हैं; प्रजापति के अवतार हैं। इसीलिए कहा गया है कि जो कोई भी प्राणी है वह सब प्रजापति है—'यत्किंचित् प्राणि सर्वं प्रजापतिः'। पुरुष सूक्त में भी मिलता है कि जो भूत भव्य हैं सब पुरुष रूप हैं—'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्'। परन्तु इस प्रकरण में पुराणों में जो प्रजापति के अवतार बताये गये हैं वे प्रजापति के अवतार में सृष्टि निर्माण से सम्बन्ध रखते हैं। अन्य सब मुख्य अवतार दुष्ट-दमन तथा धर्म रक्षा को लक्ष्य में रखते हैं जैसा कि गीता में भगवान् ने कहा है—

'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।'

इस प्रकार तीन काण्डों के द्वारा सृष्टि प्रकरण का विशदतया निरूपण किया गया है। इसके आगे प्रतिसृष्टि का निरूपण होता है। सृष्टि से विपरीत क्रम प्रतिसृष्टि है। यह अनेक प्रकार से होती है। जो प्रचलित सृष्टि क्रम है उससे विपरीत क्रम से सृष्टि होना एक प्रकार है। दूसरा प्रकार यह है जिसमें संचर क्रम के विपरीत प्रतिसंचर क्रम होता है। उदाहरण के लिए आकाशादि क्रम से—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी तत्त्वों की उत्पत्ति मानी गयी है। प्रतिसंचर क्रम में पृथ्वी तत्त्व जल तत्त्व में लीन होगा; जल तेज में, तेज वायु में और वायु आकाश में। तीसरा प्रकार है जिसमें सृष्टि धारा में आत्मा की अनेक संस्थाओं की—अठारह संस्थाओं का विवेचन पृथक् हुआ है—उनका क्रमश: अपने-अपने प्रभव में विलीन होना है और अन्त में आत्मकैवल्य रह जाता है। एकमात्र आत्मा में ही सबका पर्यवसान होता है। जिस प्रकार सृष्टि में एकमात्र ब्रह्म से सृष्टि की आत्मधारा प्रवृत्त हुई थी उसके विपरीत क्रम से सब आत्माओं का एकमात्र मूल ब्रह्मरूप आत्मा में लय होता है। इस तरह अनेक प्रकार की प्रतिसृष्टियों का निरूपण गरुड़ पुराण में हुआ है। इस पुराण का नाम गरुड़ पुराण क्यों हुआ इसका रहस्य यह है—गरुड़ शब्द पक्षी के लिए प्रयुक्त है। यह वेद-शास्त्र में अधिकतर सुपर्ण शब्द से व्यपदिष्ट है। सुपर्ण यह एक प्रकार का विशेष प्राण है। यह क्रमश: सप्तलोक से उतरता हुआ पृथ्वी में प्राप्त होता है और फिर आरोह क्रम से सप्तलोक सम्बन्धी नाना लोकों में यहाँ-वहाँ संचार करता है। वह पृथ्वी में अनेक योनियों में जन्म ग्रहण करता है। फिर उठकर ऊपर दूसरे लोकों में उत्पतन करता है। यही **कर्मात्मा** है। कर्मात्मा का निरूपण पृथक् हुआ है। इस सुपर्ण के सम्बन्ध में श्रुति वाक्य में यह मिलता है—

"एकः सुपर्णः समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितः तं माता रेढि स उ रेढि मातरम्" ।।

मातृ शब्द वेद में पृथ्वी के लिए प्रयुक्त होता है । 'स उ रेढि मातरम्' से अभिप्राय पृथ्वी से है । अथवा मातृ शब्द से वाक् का भी ग्रहण होता है । यह वाक् वषट् कार पर्यन्त वितत है; त्रैलोक्य रूप है । जैसा कि वाक् के सम्बन्ध में श्रुति कहती है––

'वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ।।'

ऐतरेय श्रुति में भी मिलता है कि यह सब वाक् ही है––'वागेवेदं सर्वम्' । इस सप्त-लोकात्मक वाक् को यह प्राण चाटता है अर्थात् उससे संसृष्ट होता है और यह वाक् इस प्राण को चाटती है इससे संसृष्ट होती है । इस प्रकार यह प्राणात्मा सर्वत्र भिन्न-भिन्न लोकों में यथायोग्य कर्म के वश में होकर संचरण करता है । इस कर्मात्मा जीव-प्राण का निरूपण––उसकी गति आदि का विधान गरुड़ पुराण का विषय है । यह सत्रहवाँ परिच्छेद है ।

अब अन्तिम परिच्छेद में आयतन बताया जाता है । ये सब सृष्टियाँ और प्रतिसृष्टियाँ जिसमें सम्भव होती हैं, वह आयतन है, वही ब्रह्माण्ड है । इसका निरूपण ब्रह्माण्ड पुराण में किया गया है । यह अन्तिम अठारहवाँ परिच्छेद है ।

इस प्रकार प्रथम खण्ड में छः परिच्छेदों में सृष्टि का, द्वितीय खण्ड में चार परिच्छेदों में सृष्टि सम्बन्धी विभिन्न चार मतों का तथा तृतीय खण्ड में छः परिच्छेदों के द्वारा प्रजापति के अवान्तर अवतारों का निरूपण है । अन्त के दो परिच्छेदों का एक खण्ड मानने से चार विभाग होते हैं । यदि भिन्न-भिन्न विषय होने के कारण दोनों को पृथक् खण्ड माना जाय तो पाँच खण्ड हो जाते हैं ।

इस प्रकार चार या पाँच खण्ड और अठारह परिच्छेद वाली वेदव्यासकार की मूल संहिता एक ही थी । उनसे पुराण विद्या का अध्ययन करके सूत, रोमहर्षण ने जो रचना की वह संहिता भी एक ही थी । परन्तु नैमिषारण्य क्षेत्र में रोमहर्षण और उनके पुत्र उग्रश्रवा को सूत-शौनकसंवाद रूप में जो कथा सुनायी गयी वह प्रश्नोत्तर के प्रसंग के कारण कुछ भिन्न प्रकार की हो गयी और परिच्छेदों के स्थान में पृथक् पुराण हो गये । इस समय जो पुराण उपलब्ध हैं वे सब रोमहर्षण और उग्रश्रवा की कृतियाँ हैं । परन्तु इन सबका मूल आधार व्यास की संहिता है इसलिए इन पुराणों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए सत्यवती-सुत व्यास को अठारह पुराणों का कर्ता माना गया है :––'अष्टादश पुराणानां कर्ता

सत्यवतीसुतः ।' परन्तु पुराणों के पर्यालोचन से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये पुराण सूत—पितापुत्र की रचनाएँ हैं ।

पुराण-शास्त्र के प्रथम निर्माता ब्रह्मा थे यह कहा जा चुका है; उन्हें वह विष्णु के द्वारा प्राप्त हुआ था । यह परम्परा वेदव्यास तक किस प्रकार आयी इसका उल्लेख रोमहर्षण के पद्मपुराण में इस प्रकार है—

देवदेवो हरिर्यद्वै ब्रह्मणे प्रोक्तवान् पुरा ।
ब्रह्मा तन्नारदायाह नारदोऽस्मद्गुरोः पुरः ।।१।।
व्यासः सर्वपुराणानि सेतिहासानि संहिताः ।
अध्यापयामास मुहुर्मामतिप्रियमात्मनः ।।२।।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि पुराणमति दुर्लभम् ।

अर्थात् जिस प्रकार हरि ने ब्रह्मा से कहा था, ब्रह्मा ने वह नारद से कहा, नारद ने हमारे गुरु के समक्ष प्रकाशित किया । व्यास ने सब पुराण संहिता इतिहास-सहित मुझ अपने प्रिय (शिष्य) को पढ़ाया वह अति दुर्लभ पुराण हम तुमसे कहेंगे । यहाँ ब्रह्मा ने नारद को और नारद ने व्यास को पुराण का ज्ञान कराया । इसी प्रकार यह भी मिलता है कि ब्रह्मा ने पुलस्त्य से भी पुराण वर्णन किया था । पुलस्त्य ने गंगा द्वार में भीष्म को वही उपदेश दिया था । पहले ब्राह्मण ग्रन्थों गें ब्रह्मा के द्वारा प्रोक्त जो सविस्तार पुराण था वही यहाँ सूत के द्वारा अनुक्रम से प्रकाशित किया गया है—

ब्रह्मणा यत्पुरा प्रोक्तं पुलस्त्याय महात्मने ।
पुलस्त्येनाथ भीष्माय गंगाद्वारे प्रभाषितम् ।।१।।
सूतेनानुक्रमेणेदं पुराणं संप्रकाशितम् ।
ब्राह्मणेषु पुरा यच्च ब्रह्मणोक्तं सविस्तरम् ।।२।।

इस प्रकार परम्पराप्राप्त पुराण के भिन्न-भिन्न वक्ता और श्रोता हुए हैं तो भी पुराणों का निर्माणकर्तृत्व ब्रह्मा में ही माना गया है, उसी प्रकार व्यास शिष्य परम्परा में उन्हें ही पुराणकर्ता कहा गया है और उन्हीं की पुराण संहिता को आधार मान कर इन वर्तमान पुराणों की रचना हुई है और वेदव्यास के प्रामाण्य के आधार पर ही इन पुराणों का प्रामाण्य माना गया है । वेदव्यास को ईश्वर का अवतार माना गया है, इसलिए भी उपपुराण रचने वाले अन्य ऋषियों की अपेक्षा वेदव्यास के लिए अतिशय श्रद्धा का प्रदर्शन होना सर्वथा प्राप्त है ।

उपपुराण

उत्तर काल में भी समय-समय पर उन्हीं पुराण-कल्पों का अवलम्बन करके अन्य मुनियों के द्वारा पुराण निवन्धों का संकलन हुआ है। सृष्टिकल्प के अनुरोध से जिस प्रकार वेदव्यास संहिता के परिच्छेदों के अनुसार अठारह पुराणों की संख्या नियत हुई थी वही संख्या यहाँ भी रखी गयी और वेदव्यास के पुराणों से भेद बताने के लिए इन्हें उपपुराणों की संज्ञा दी गयी। देवी भावगत में सनत्कुमार, नारसिंह, नारद आदि अठारह उपपुराणों का निर्देश किया गया है। इसी प्रकार मत्स्यपुराण में भी उपपुराणों का उल्लेख है। वहाँ यह भी कहा गया है कि पद्मपुराण में नरसिंह अवतार का जो उपवर्णन है उसके आधार पर अठारह हजार श्लोक संख्या वाला नारसिंह उपपुराण है--

"उपभेदात् प्रवक्ष्यामि लोके ये सम्प्रतिष्ठिता: ।
पाद्मे पुराणे यत्रोक्तं नारसिंहोपवर्णनम् ।।
तच्चाष्टादश साहस्रं नारसिंहमिहोच्यते ।।" इत्यादि ।

इससे यह स्पष्ट होता है कि सूतकृत इन अष्टादश पुराणों के समय में ही अथवा उनसे पूर्व उपपुराणों का निर्माण हो चुका था। ये उपपुराण भी महामहिम मुनियों की रचना हैं, अत: इनका भी प्रामाण्य आर्य-जगत् में माना जाता है। ये भी स्मृति की कोटि में आते हैं। यह विवेचन हो चुका है कि प्रत्यक्ष द्रष्टा ऋषिगणों के वाक्यों को श्रुति कहा गया है और वे स्वत: प्रमाण हैं। उनके लिए अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं है। परन्तु स्मृति वाक्य तभी प्रमाण माने जाते हैं जब उनका अर्थ श्रुति विरुद्ध न हो। जहाँ पर प्रत्यक्ष श्रुतिवाद का प्रमाण उपस्थित हो जाता है वहाँ तो स्मृति वाक्य सर्वथा प्रमाणरूप ही होते हैं। जहाँ श्रुति वाक्य न तो समर्थन करन वाले मिलते हैं और न विरोध करने वाले ही वहाँ यह अनुमान कर लिया जाता है कि इन स्मृतियों के समर्थन के लिए कोई श्रुतिवाक्य अवश्य रहा होगा जो इस समय उपलब्ध नहीं है। परन्तु जहाँ श्रुतिवाक्य से प्रत्यक्ष विरोध मिलता है वहाँ स्मृति वाक्य की उपेक्षा होती है वह अमान्य हो जाता है जैसा कि मीमांसा सूत्र में कहा गया है--'विरोधे त्वनपेक्षं स्यात् असति (विरोधे) ह्यनुमानम्'। स्मृति में माने जाने के कारण इन उपपुराणों का भी प्रमाणों में वही स्थान है। जहाँ श्रुति से प्रत्यक्ष विरोध होगा वहाँ इनका प्रमाण न माना जायगा। इनके सम्बन्ध में एक विशेषता यह है कि यदि ये उपपुराण वाक्य प्रत्यक्ष मुख्य पुराणों के विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करते हैं वहाँ मुख्य पुराण की अपेक्षा इनका प्रमाण दुर्बल होगा। इसका कारण यह है कि ये उपपुराण भी विदित वेदितव्य मुनियों के द्वारा अपने तपोवल के दृष्ट अर्थों के प्रतिपादक माने

गये हैं तो भी भगवान् वेदव्यास के पुराणों की अपेक्षा इनका महत्त्व न्यून होता है। प्रथम तो वेदव्यास की परम्परा के पुराण ब्रह्मा के द्वारा निर्मित तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में संकलित पुराण के आधार पर रचित हैं इससे इनकी प्रामाणिकता प्रबल होती है। दूसरे पाराशर्य वेदव्यास को ईश्वर का अवतार माना गया है, अतः इनमें ईश्वरांश का अतिशय होने के कारण श्रद्धालु जन इनके द्वारा रचित पुराणों को मुख्य स्थान देते हैं। एक ही ऋषि के द्वारा जहाँ दो पुराण उपलब्ध होते हैं उनमें भी जो पुराण व्यास पुराणों की परम्परा में प्रविष्ट हो गया है वह मुख्य पुराण समझा जाता है और दूसरा उपपुराण। उदाहरण के लिए नारदप्रोक्त 'नारदीय पुराण' और बृहन्नारदीय पुराण हैं। इनमें एक मुख्य पुराणों में परिगणित है तथा दूसरा उपपुराणों में।

द्वितीय अध्याय

रस और बल

यह अन्यत्र अनेक बार उल्लिखित हो चुका है कि अखण्ड निर्विशेष रस रूप एक और अद्वितीय तत्त्व है। रस शब्द के द्वारा व्यावहारिक बुद्धि में लाने के लिए उसे अभिहित किया गया है परन्तु वास्तव में वह मन और वाणी की परिधि से सर्वथा बहिर्भूत है, अतः उसकी यथार्थता को द्योतित करने की सामर्थ्य किसी शब्द में नहीं है। तब यह अवश्य है कि वह रस निर्बल नहीं है। बल (क्रिया) सर्वथा सर्वदा उसका सहचर है, उसी का रूप है। निर्विशेष रस की अवस्था में वह रस रहता अवश्य है परन्तु उद्भूत नहीं रहता, सुप्त-प्राय रहता है। परन्तु वह बल जब उद्भूत होता है तब उसी निर्विशेष की दूसरी संस्था हो जाती है जिसमें रस और बल समान रूप से सहचर रहते हैं। इसे परात्पर की संज्ञा दी गयी है। निर्विशेष स्वतः कार्य कारण से अतीत है। असंग, निर्लेप स्वतन्त्र होने के कारण सर्वव्यापक होने के कारण, बल के प्रसुप्त रहने के कारण उसमें क्रियाशीलता का अभाव है इससे उसके द्वारा सृष्टिक्रम नहीं चलता। उसे अनिर्वचनीय माना गया है। परन्तु परात्पर में अखंड रस व्यापक रूप में सखण्ड बल उद्भूत है और यह भी व्यापक है। रस संख्या में एक है। बल संख्या में अनन्त हैं। परन्तु रस में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ कोई न कोई बल न हो। परन्तु इन बलों के कारण अद्वैत तत्त्व में कोई बाधा नहीं होती क्योंकि सत्ता का आश्रय रस मात्र है। रस की सत्ता से ही बल सत्तान्वित होता है। इसीलिए बल को असत् भी कहा गया है। सत्ता के द्वैत के आधार पर ही द्वैत की कल्पना होती है। सत्ता एक ही है इससे अद्वैत तत्त्व ही माना जाता है। परात्पर संस्था में भी बल उद्भूत अवश्य हैं परन्तु वे सहचर मात्र हैं, उनके द्वारा बन्धन नहीं होता, अतः इस संस्था में भी सृष्टि सम्भव नहीं है। परन्तु यहीं जब महामाया के प्रभाव से अनेक प्रकार के बल एकत्र होकर रस के आश्रय में अपने को सीमित रूप में ले जाते हैं उस समय उन बलों से अवच्छिन्न रस भी सीमित-सा प्रतीत होने लगता है। इसके दृष्टान्त में घटा-काश या मठाकाश बताये गये हैं। आकाश व्यापक तत्त्व है। घट के भीतर भी है बाहर भी है तथा घट का कपाल रूप जो आवरण है उसमें भी आकाश व्याप्त है। परन्तु जिस प्रकार व्यवहार में घटाकाश कहने से उतने ही आकाश का बोध होता है जितना घट

के भीतर में है । जब घट एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाया जाता है तब ऊपरी दृष्टि से यह प्रतीति होती है कि घट के भीतर का आकाश भी घट के साथ-साथ चल रहा है। परन्तु वास्तव में आकाश सर्वव्यापक होने के कारण उसमें गति होना सर्वथा असम्भव है । जहाँ-जहाँ वह घट जाता है उसके अभ्यन्तर सर्वत्र व्यापक आकाश समान रूप से रहता है। इसी प्रकार महामाया के द्वारा रस परिच्छिन्न-सा प्रतीत होता है परन्तु यथार्थ में वह परिच्छिन्न नहीं रहता, अतः अपने स्वस्वरूप में वह परात्पर से अभिन्न ही माना गया है । इस महामाया से परिच्छिन्न रस को अव्यय शब्द से, श्वोवसीयस मन शब्द से कहा गया है। वास्तविक सृष्टि का उपक्रम यहीं से होता है । परन्तु यह अव्यय भी जो सीमित दशा में माने जाने के कारण पुरुष पद से भी व्यवहृत होता है और जिसे गीता में उत्तम पुरुष कहा गया है वह भी स्वस्वरूप से उपादान कारण या निमित्त कारण नहीं है । उसी तत्त्व में योगमाया के प्रभाव से उसकी पाँच कलाएँ हो जाती हैं जिन्हें आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् कहा गया है । विद्या और अविद्या ये दो रूप उसके योगमाया के प्रभाव से होते हैं । मन मध्य में है ।

मध्यस्थ मन ही मुख्य है । यहाँ यह स्मरण रखना है कि इन्द्रिय मन जिसके द्वारा सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है अथवा सर्वेन्द्रिय मन जो प्रज्ञा के रूप में इन्द्रियजन्य ज्ञान में कारण होता है उनसे यह अव्यय रूप सर्वथा भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व है । इसी अव्यय मन के विकास से विज्ञान का स्वरूप बनता है और फिर उसके भी विकास होने पर फल-स्वरूप आनन्द तत्त्व होता है ये तीनों मन, विज्ञान और आनन्द अव्यय पुरुष की विद्या-रूपी कलाएँ हैं । यही मध्यस्थ मन अपनी इच्छाशक्ति के द्वारा जब सृष्टि के लिए उन्मुख होता है तब अपेक्षाकृत स्थूलता होने पर वह प्राण रूप में आता है और फिर प्राणतत्त्व के परिणाम रूप में स्थूलता में आकर वही वाक् रूप में परिणत होता है । उस दशा में ये तीनों मन, प्राण और वाक् अविद्या रूप माने जाते हैं और ये ही तीनों सृष्टि के कारण बनते हैं । मन एक प्रकार से आकाश रूप है इसके आश्रय पर प्राण क्रिया रूप—कुर्वद्रूप है । वही प्राण स्थूलता में आकर बद्ध होकर वाग् (अर्थ) में परिणत होता है । मन विद्या और अविद्या दोनों में समान है । प्रवृत्तिपरक होने पर इन्हीं मन, प्राण और वाक् से सृष्टि होती है और उसकी आनन्द और विज्ञान की कलाएँ सहचर रूप में रहती हैं क्योंकि अव्यय पुरुष जहाँ होगा वहाँ उसकी सभी कलाएँ अवश्य ही साथ रहती हैं । निवृत्तिपरक होने पर स्थूल वाक् कला प्राण में और प्राण का मन में विलयन होता है । इस प्रकार सृष्टि रूपी बन्धन का और मोक्ष का कारण मन ही है । इसीलिए कहा गया है कि 'न देहो न च जीवात्मा नेन्द्रियाणि परंतप । मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।' अर्थात् देह जीवात्मा

अथवा इन्द्रियगण बन्ध-मोक्ष के कारण नहीं हैं। बन्ध-मोक्ष का कारण मन ही है। इसी अव्यय पुरुष की प्राण कला के आधार पर अक्षर पुरुष का और वाक् कला के आधार पर क्षर पुरुष का विकास होता है। सृष्टिक्रम में अव्यय पुरुष का मन भाग आकाश के समान आधारभूत रहता है। वास्तव में न वह कारण है और न कार्य है वह आश्रय मात्र है परन्तु यथार्थ में वही मुख्य है। आधार न रहने पर आधेय की अवस्थिति असम्भव है। उसी आधार पर प्राण रूप अक्षर, वाक् रूप क्षर में विकार उत्पन्न करता है। इस प्रकार अक्षर निमित्त कारण है और क्षर उपादान कारण है। इसी के लिए गीता में कहा गया है—"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते। उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।" यह अव्यय पुरुष यथार्थ में परात्पर स्वरूप है जो परमेश्वर कहा जाता है, जो भूमा है, अनन्त है, कार्य करण से अतीत है, उसके लिए श्रुति कहती है —

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।"

वहीं महेश्वर रूप से अश्वत्थ वृक्ष के समान शाखा प्रशाखोपेत बन कर सबको व्याप्त करके स्थित है। उसके लिए श्रुति का वचन है —

'तस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् तस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।।'

इसी के आधार पर अश्वत्थ रूप वृक्ष को प्रतीक मान कर अश्वत्थ वृक्ष की उपासना ईश्वर के रूप में की जाती है। अश्वत्थ का नामोल्लेख भी कठोपनिषद् में हुआ है :—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिन् लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।।"—कठोपनिषद्।

इसी अश्वत्थ का प्रकरण भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में है —

"ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।"—गीता, १५–१

ब्रह्म के दो भाग माने गये हैं—ब्रह्म और कर्म। इसी के अनुसार अश्वत्थ को भी ब्रह्माश्वत्थ और कर्माश्वत्थ के रूप में माना गया है। पूर्वोक्त कठोपनिषद् ब्रह्माश्वत्थ और कर्माश्वत्थ दोनों के लिए उपयुक्त है। गीता का वाक्य ब्रह्माश्वत्थ का अध्याहार

करता है और कर्माश्वत्थ का असंग रूप दृढ़ शस्त्र के द्वारा छेदन कर परम पद (ब्रह्माश्वत्थ) के परिमार्गण का आदेश देता है —

'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा ।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।।'

इस अश्वत्थ वृक्ष को सहस्र शाखा वाला कहा गया है और सहस्र शब्द यहाँ असंख्य का द्योतक है । इन अनन्त शाखाओं में से पाँच काण्ड वाली एक शाखा है जिसमें हमारी यह पृथ्वी है । स्वयंभू आदि इन काण्डों का वर्णन पृथक् हुआ है । इन पाँचों पुण्डीर वाली शाखा का अध्यक्ष ईश्वर कहा गया है । अनन्त शाखाएँ हैं, अतः ईश्वर भी अनेक हो सकते हैं उन सब की समष्टि को महेश्वर शब्द से व्यवहृत किया गया है । जिस प्रकार ईश्वर के अंश भूत असंख्य जीव हैं उसी प्रकार महेश्वर और ईश्वर के विषय में समझा जा सकता है । हम लोगों का प्रधान सम्बन्ध अपनी शाखा वाले ईश्वर से है और उन्हीं के द्वारा महेश्वर अथवा परमेश्वर से हमारा सम्बन्ध होना सम्भव हो सकता है; साक्षात् रूप से कथमपि सम्भव नहीं है । ईश्वर ही अक्षर पुरुष है, उसका साक्षात् सम्बन्ध अव्यय परात्पर परमेश्वर है । वह पर है; जीव अवर है । जीव जो अवर है उसका पर से सम्बन्ध कराने वाला अक्षर रूप ईश्वर **परावर** कहा गया है । इसे ही सेतु भी कहा गया है । जिस प्रकार सेतु दोनों पर और अवर को परस्पर सम्बद्ध करता है उसी प्रकार दोनों पर और अवर––परमेश्वर और जीव को मिलाने वाले के लिए उपनिषदों में सेतु शब्द भी व्यवहृत हुआ है । यह सम्बन्ध परम्परा स्वाभाविक है । जैसा ऊपर कहा जा चुका है एक ही अखण्ड तत्त्व––एक मेवाद्वितीयम्––है उसीका विकसित रूप यह सम्पूर्ण जगत् तथा जीव समुदाय है । उससे बाहर कुछ नहीं है उसके अतिरिक्त भी कुछ नहीं है जहाँ जो कुछ भी है वह सब वही है । श्रुति वाक्य स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जो कुछ भी है,––भूत या भव्य–– वह सब पुरुष है––'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् ।' और भी अनेक स्थलों में इसी आशय के द्योतक वाक्य मिलते हैं । वही परम आत्मा के रूप में अवस्थित है वही अपनी माया शक्ति के द्वारा विश्व में परिणत होता है और वही प्रतिसंचर के अनुसार विकसित रूप को संकुचित करता हुआ शुद्ध ब्रह्म रूप में आ जाता है । यह संचर और प्रति-संचर, सृष्टि और प्रतिसृष्टि प्रवाह रूप से निरन्तर अप्रतिहत रूप से अनादि काल से चली आ रही है । इसके कारण के अन्वेषण करने में अब तक कोई सिद्धान्त प्रतीत नहीं होता । भगवान् बादरायण ने इसे लीला कहा है 'तत्तु लीला कैवल्यम् ।' कोई स्वभाव कहते हैं और यह कहते हैं कि यह स्वभाव क्यों है इसका प्रश्न नहीं होता । परन्तु यह सभी मानते हैं कि यह क्रम अनादि काल से चला आ रहा है और चलता रहेगा । परन्तु यह संचर और

प्रतिसंचर क्रम एक सुव्यवस्थित नियम के अनुसार चलता है और उसमें अनवधानता अथवा विश्रृंखलता नहीं है। अन्तर्यामी या नियति के रूप में वही सब संस्थाओं का संचालन करता रहता है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् होने के कारण उसकी व्यवस्था में किसी प्रकार की त्रुटि की संभावना नहीं रहती।

अखण्ड निर्विशेष ही बलों के उद्भूत होने पर परात्पर रूप में फिर महामाया से परिच्छिन्न होने पर अव्यय रूप में तथा योगमाया के रूप में अक्षर और क्षर के रूप में वही तत्त्व परिणत होता है, यह कहा जा चुका है। ऊपर कठोपनिषद् के वाक्य में उसके अश्वत्थ रूप के वर्णन उल्लिखित हैं, कि वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही शुक्र है। परात्पर अव्यय अक्षर और क्षर ये चार तत्त्व अमृत रूप में माने गये हैं। इन्हें अमृत इसलिए कहा गया है कि ये मौलिक तत्त्व हैं, इनमें विकार नहीं होता। ये सर्वदा अविकृत रूप से सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। इन्हें गूढात्मा भी कहा गया है। ये चारों भाव एक साथ सर्वत्र गूढ़ रूप से अप्रत्यक्ष रहते हैं।

इनमें चतुर्थ जो क्षर है वह विकारशील है। उसका एक भाग जो अविकृत रूप से रहता है वह सर्वदा एक-सा गूढात्मा की श्रेणी में बना रहता है, परन्तु क्षर होने के कारण अक्षर की प्रेरणा से जब उसमें विकार प्रारम्भ होता है तब उसके भी अक्षरों के पंचविध होने के कारण पाँच भेद हो जाते हैं। अक्षरों के पाँच भेद हैं—ब्रह्म, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। क्षर रूप में जो अक्षरों के साथ सर्वदा सम्बद्ध रहते हैं उनके भी ये ही नाम हैं। परन्तु अक्षरों की प्रेरणा से जो विकारी रूप होते हैं उन्हें प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद कहा गया है। इन्हें ही प्रकृति—ब्रह्म भी कहा गया है तथा यह ही सम्पूर्ण सृष्टि का उपादान माना गया है। अव्यय पुरुष के आधार पर अक्षर पुरुष (निमित्त कारण) के द्वारा इन प्रकृति रूप क्षरों के उपादान होने से सृष्टि क्रम प्रारम्भ होता है। यह प्रकृति रूप द्वितीय संस्था है जिसे ब्रह्म कहा गया है। इसके लिए श्रुति है —"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ।।" जिसके नाम और रूप हैं उसे अन्न कहा गया है। वही पदार्थ है। यावन्मात्र वस्तु नाम और रूप से ही परिच्छिन्न होती है। जो कुछ दृष्टि में आता है वह अन्न कहलाता है। यह वाक् का ही विकार है। इस अन्न शब्द का संकुचित अर्थ में भोज्य पदार्थ के लिए प्रयोग नहीं है। अन्न शब्द पृथ्वी के लिए भी आता है। स्थूल पदार्थ मात्र के लिए भी आता है। इन्द्रिय के विषय होने के कारण भोग्य मान कर अन्न शब्द का स्वाभाविक अर्थ भी घटित हो सकता है यह भी सम्भव है। प्रकृति रूप ब्रह्म ही प्राणादि रूप से पाँच प्रकार का हो गया है। प्रकृति पुरुष की भोग्या है इस दृष्टि से भी इसे अन्न कहा जा सकता है। ये पाँचों

भी दो भागों में विभक्त हैं—ऋत और सत्य । प्राण, वाग् और अन्नाद ये तीन अग्नि रूप हैं, ये सत्य हैं । आप् और अन्न ये दो सोम के रूप हैं, ये दोनों ऋत हैं । इनमें भी सत्य को ब्रह्म और ऋत को सुब्रह्मण्य भी कहा गया है । कामना करते हुए अक्षर पुरुष के अत्यन्त प्रवृद्ध तप से ये ऋत और सत्य उद्भूत हुए हैं जैसा कि श्रुति कहती है —'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।' अग्नि सत्य है सोम ऋत है यह कहा गया है । जिसका शरीर और हृदय हो वह सत्य है । जिसका हृदय और शरीर न हो वह ऋत है । प्रतिष्ठा के लिए सत्य शब्द का प्रयोग होता है । अपनी प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित सत्य रहता है । जो अन्य की प्रतिष्ठा के आधार पर रहता है जिसकी अपनी प्रतिष्ठा नहीं है वह ऋत है । परन्तु इन दोनों का अविनाभाव है, एक के बिना दूसरा नहीं रहता । श्रुति कहती है—'ऋतं सत्येऽधायि, सत्यमृतेऽधायि' अर्थात् ऋत सत्य पर और सत्य ऋत पर रहता है । इन दोनों में भी ऋत प्रधान है क्योंकि सत्य की उत्पत्ति ऋत से है; सत्य ऋत के गर्भ में है और ऋत ही उसका परायण है । उदाहरण के लिए घट सत्य रूप में मृत्तिका रूपी ऋत से जनित है मृत्तिका से ही उत्पन्न होता है उसी में रहता है और अन्त में उसी में लीन होता है । श्रुति कहती है—'ऋतमेव परमेष्ठि ऋतं नात्येति किंचन । ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता' अर्थात् ऋत ही परमेष्ठि है, कुछ भी उससे बाहर नहीं है । ऋत में ही समुद्र आहित है ऋत के आश्रित ही यह पृथ्वी है । इस प्रकार इन पाँचों में आप् और अन्न सोम हैं, ऋत हैं, अन्य तीन अग्नि होने से सत्य हैं । अग्नि रूप इस सत्यत्रयी के विज्ञान के लिए त्रयी शब्द, ब्रह्म शब्द, वेद शब्द और विद्या शब्द प्रयुक्त हुए हैं। सोम के विज्ञान के लिए अथर्व शब्द, सुब्रह्म शब्द और सुवेद शब्द मिलते हैं । तीन वेद और चार वेदों का रहस्य यही है । जहाँ तीन अग्निवेदों की विवक्षा है वहाँ वेदत्रयी का व्यवहार है जहाँ सोमवेद की विवक्षा है वहाँ अथर्ववेद को सम्मिलित कर चार वेद माने गये हैं । परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है वेदत्रयी और अथर्ववेद सदा साथ रहते हैं क्योंकि ऋत और सत्य भाव सर्वदा एक साथ रहते हैं । इसलिए जहाँ वेदत्रयी का उल्लेख मिलता है वहाँ अथर्ववेद का भी अध्याहार माना जाता है । ये सब एक साथ रहते हैं, यह वैज्ञानिक वेदों के सम्बन्ध में कहा जाता है जिसका विवरण अन्यत्र हुआ है ।

इस प्रकार अग्नि और सोम ये दोनों ब्रह्म (वेद) हैं । अग्नि में आहुत हुआ सोम जिस रूप को प्राप्त होता है वह **यज्ञ** कहलाता है । सत्य और ऋत रूप अग्नि और सोम का ऐक्यभाव (एक रूपता) यज्ञ है। अग्नि अत्ता—खाने वाला है—सोम आद्य है—जो खाया जाता है । सोम अग्नि में आहुत होकर अग्नि के रूप में परिणत हो जाता है । जो कुछ कहीं भी दिखाई देता है वह सब यज्ञ रूप है क्योंकि सब पदार्थ अग्नि-सोममय हैं—

'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह श्रुति है। अग्नि और सोम का ऐकभाव्य ही यज्ञ है। यज्ञ के विषय में पृथक् विशेष विवेचन हुआ है। यह सत्याग्नि तीन प्रकार का है—प्राण, वायु और अन्नाद। ये तीनों ही तीन प्रकार से कहे जाते हैं—प्राणाग्नि, वागग्नि और अन्नादाग्नि अथवा याजुषाग्नि, आंगिरसाग्नि और पाशव्याग्नि अथवा ब्रह्माग्नि, देवाग्नि, भूताग्नि। प्राणाग्नि, याजुषाग्नि और ब्रह्माग्नि एक ही हैं। वागग्नि, आंगिरसाग्नि तथा देवाग्नि एक हैं। अन्नादाग्नि, पशव्याग्नि तथा भूताग्नि एक हैं। श्रुतियों में इनका विवक्षा के अनुसार प्रयोग हुआ है। आप् और अन्न आद्य हैं, अतः इनका अग्नि में समावेश हो जाता है। ऐतरेय श्रुति में मिलता है कि जहाँ अत्ता और आद्य का संयोग होता है वहाँ अत्ता का ही आख्यान होता है।

इस प्रकार क्षर पुरुष से अव्यय की वाग् कला के आधार पर अक्षर पुरुष की प्रेरणा से प्रकृति ब्रह्म का विकास होता है। उसकी प्राण, आप् आदि पाँच कलाएँ कही गयी हैं। इस प्रकार गूढात्मा की चार संस्थाएँ (परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर) और प्रकृति ब्रह्म की पाँच कलाएँ मिलकर कुल नौ प्रकार की आत्म-संस्थाएँ हो जाती हैं। इसके अनन्तर यज्ञ प्रक्रिया प्रारम्भ होती है जिसके द्वारा अक्षर पुरुष की प्रेरणा से प्रकृति ब्रह्म की पाँच कलाओं का पंचीकरण होता है। पंचीकरण में प्रत्येक कला में आधा भाग निज का अंश रहता है और आधा भाग चार खण्डों में विभक्त होकर अन्य कलाओं में सम्मिलित हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक कला में आधा अपना निजी भाग और आधा चार अन्य कलाओं का अंश रहता है। सब कलाओं में सबका अंश व्याप्त हो जाता है परन्तु प्रधानता आधे भाग की रहती है इससे 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार उनका नाम वही प्राण वाक् आदि बना रहता है। इस सम्मिलित पंचीकृत रूप को सर्वहुत् यज्ञ कहा गया है। इसका अर्थ स्पष्ट है। सब कलाओं में सबकी आहुति हुई है। इस सर्वहुत् के द्वारा शुक्र तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यज्ञ का विशेष विवरण पृथक् हुआ है।

अमृत और ब्रह्म के बाद शुक्र तत्त्व आता है। जिसके लिए पूर्व में कठोपनिषद् का वाक्य उद्धृत हो चुका है। यजुः संहिता में भी शुक्र शब्द का उल्लेख हुआ है :—

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव **शुक्रं** तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥'—यजुःसंहिता।

यज्ञ प्रकरण को छोड़ कर प्रसंग प्राप्त शुक्र का विचार यहाँ प्रस्तुत है। क्षर पुरुष की मूलभूत जो पाँच कलाएँ हैं उनमें प्रथम कला—"प्राण" है। यह ऊपर कहा जा चुका है कि ये कलाएँ अव्यय पुरुष की अन्तिम वाक् कला के आधार पर विकसित हुई हैं इससे ये प्राण आदि पाँचों कलाएँ वाक् तत्त्व के ही विकसित रूप हैं, इसलिए यह प्राण तत्त्व भी

वाक् ही है । इस प्राण तत्त्व के द्वारा (वाक् के द्वारा) ऋक्, यजुः और साम नाम के तीन वैज्ञानिक वेदों का प्रादुर्भाव होता है । इन वेदों के परस्पर संघर्ष से एक नयी वस्तु उत्पन्न हो जाती है जिसे 'सुवेद' अथवा 'स्वेद' कहा जाता है । नयी वस्तु होने के कारण और वेदों से ही प्रादुर्भूत होने के कारण इन्हें 'सु' विशेषण लगा कर वेद रूप में ज्ञापित करने के लिए इनको सुवेद कहा गया है । यही चतुर्थ वेद 'अथर्व' वेद है । अथर्व वेद के गोपथ ब्राह्मण में इस प्रक्रिया का विशेष विवरण उपलब्ध है--

पहले केवल ब्रह्म (वेद) था । उसने विचार किया कि मैं एक ही हूँ; अकेला हूँ । अपने अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्व का निर्माण करूँ । उसने तप किया; श्रम किया । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्रुतियों में जहाँ कहीं कोई नवीन सृष्टि का प्रकरण आता है वहाँ काम तपः और श्रम के बाद ही सृष्टि होती है । कामना करना, इच्छा करना इसके लिए कहीं 'ऐक्षत्' कहीं 'अकामयत्' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है । विचार उठने के बाद तदनुकूल प्राणक्रिया--यत्न-के लिए तपः शब्द प्रयुक्त हुआ है और फिर वाग्विकार के लिए श्रम शब्द का प्रयोग हुआ है । इच्छा, तप और श्रम क्रमशः मन, प्राण और वाक् के आधार पर होते हैं, अतः मन, प्राण और वाक् के द्वारा ही कोई नवीन सृष्टि होती है यह द्योतित होता है । तथा आत्मा मनःप्राण वाङ्मय है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा ही मन, प्राण और वाक् के द्वारा इच्छा, तप और श्रम करके नवीन सृष्टि करता है । श्रान्त और संतप्त होने के कारण स्नेह रूप (द्रव) उत्पन्न हुआ । वह प्रसन्न हुआ । उसने कहा हमने सुवेद पा लिया । इससे वह सुवेद कहलाया । इसी को देवों की परोक्ष भाषा में स्वेद कहा गया है । यही प्राण से आप् की उत्पत्ति का प्रकार है ।[1]

१. ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत् । स्वयं तु एकमेव । तदैक्षत, महद्वै यक्षम् तदेकमेवास्मि । हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्मम इति । तदभ्यश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य स्नेहो ... अजायत तेनानन्दत् । तमब्रवीत् महद्वैयक्षं सुवेदमविदामह इति । तद्यदब्रवीत् महद्वैयक्षं सुवेदमविदामह इति तस्मात् सुवेदोऽभवत् । तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया हि देवाः भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः ।

स भूयोऽश्राम्यत् भूयोऽतप्यत् भूय आत्मानं समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य संतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दत । ता निरनन्दत् । तदब्रवीत् आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किंच । तस्माद्धारा अभवंस्तद्धाराणां धारात्वम् यच्चासु

अथर्व वेद का दूसरा नाम भृग्वङ्गिरो वेद या अथर्वाङ्गिरस वेद भी मिलता है। इस स्वेद रूप चतुर्थ वेद में भृगु और अङ्गिरा नाम के दो ऋषि प्राण हैं। प्राण मूलतः ऋषि रूप ही होता है। आगे इन ऋषिप्राणों के द्वारा पितर् देव आदि प्राणों का प्रादुर्भाव होता है। इसका विशेष विवेचन 'ऋषि प्राण' प्रकरण में पृथक् हुआ है। भृगु और अङ्गिरा मूलभूत ऋषि प्राण हैं जो अप् तत्त्व में व्याप्त रहते हैं। एक मूल प्राण से उत्पन्न होने पर भी इनमें कुछ विलक्षणता होती है। भृगु संश्लेष (मेल) या माधुर्य की प्रधानता रखता है और अंगिरा क्षार-रस या रुक्षता की। संश्लेष या माधुर्य का विकास ही आगे सोम तत्त्व में होता है और क्षार या रुक्षता का विकास अग्नि तत्त्व में। वास्तव में ये भृगु और अंगिरा प्राण सोम और अग्नि की पूर्वावस्था में हैं। श्रुति ने इसे स्पष्ट किया है—

'अर्चिषि भृगुः संबभूव अङ्गारेष्वङ्गिराः।

अर्थात् लकड़ी को जलाने पर अग्नि की जो ज्वाला निकलती है उसमें भृगु है और ज्वाला के शान्त हो जाने पर जो अंगार बच जाते हैं उनमें अंगिरा है। ज्वाला का उद्भव सोम तत्त्व के द्वारा ही होता है। राल, कपूर आदि जिनमें सोम तत्त्व प्रधान रहता है उनके प्रक्षेप से अग्नि में तुरन्त ज्वाला का प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः इस ज्वाला से सोम तत्त्व का सम्बन्ध सिद्ध होता है। अंगार क्षारता प्रधान रुक्ष है उनमें अंगिरा की स्थिति कही गयी है। इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि भृगु सोम अंगिरा अग्नि है। इनमें भृगु की स्थूलता के क्रम से तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं। प्रथम सबसे सूक्ष्म सोम, फिर किंचित् स्थूल दूसरी अवस्था वायु और तीसरी घन अवस्था अप् या जल (भौतिक जल नहीं)। इनमें मध्यवर्ती वायु तत्त्व क्रियाशील है वह सबको प्रेरित करता है। उस वायु की प्रेरणा से अंगिरा रूप अग्नि में भृगु रूप सोम की पूर्ण आहुति हो जाती है। इसी से शुक्र की उत्पत्ति होती है। इसका संकेत यजुःसंहिता के अन्तिम अध्याय रूप 'ईशावास्योपनिषद्' में किया गया है—

'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत् तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥'

ध्रियते। तस्माज्जातया अभवँस्तज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते। यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्। तस्मादापो अभवँस्तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते इति।—(गोपथ ब्रा० पूर्वभाग, प्रपाठक १, ब्रा० १।२)

इस मन्त्र के पूर्वार्ध में याजुषाग्नि का संकेत है इसका वर्णन अन्यत्र हुआ है । गति और स्थिति तत्त्व, वाक् और प्राण—आकाश और वायु इनका सम्मिलित रूप यज्जू:—याजुष् से इसे अग्नि स्वरूप—ब्रह्माग्नि कहा गया है । यही यजु: यहाँ अंगिरा रूप में परिणत हुआ है । वाक् ही अप् रूप में परिणत हुई है, अत: इस अप् में दो तत्त्व भृगु और अंगिरा हो जाते हैं जैसा कि कहा है:—'आपो भृग्वंगिरो रूपम् आपो भृग्वंगिरोमयम् ।' इनमें भृगु स्नेह-प्रधान है जिसके सोम वायु और अप् भेद कहे गये हैं । अंगिरा तत्त्व रुक्षता प्रधान है यह अग्नि तत्त्व है । इसलिए कार्य कारण का अभेद मान कर उसी यजु: अग्नि में यहाँ हवन बताया गया है क्योंकि अंगिरा तत्त्व का कारण वही याजुषाग्नि है । मन्त्र का अर्थ यह है कि 'जो बिलकुल नहीं चलता और मन से भी अधिक वेग रखता है ।' यह संकेत उसी गति और स्थिति वाले तत्त्व—यजु: का है । आकाश तत्त्व स्थिर है और उसमें व्याप्त वायु गतिशील है । वह वायु समस्त आकाश में व्याप्त है इससे वह सबसे पहले वहाँ पहुँचा हुआ है । देवता भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते । वह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़ने वालों से आगे रहता है । इसीं में मातरिश्वा नाम का वायु जो भृगु के द्वितीय भेद में है अप् तत्त्व को इसमें डाल देता है । यह अप् भृगु तत्त्व का तीसरा रूप है परन्तु इस एक के उल्लेख से भी सम्पूर्ण भृगु तत्त्व अभिप्रेत है । गतिशील होने के कारण वायु को यहाँ भृगु के अंगिरा (याजुष्) में हवन करने का कर्ता माना गया है । इसके आगे 'तदेजति तन्नैजति' अर्थात् वह चलता भी है नहीं भी चलता, इन पदों के द्वारा गति स्थिति दोनों तत्त्वों को स्पष्ट किया गया है । इसके आगे के मन्त्र में इसकी आत्मरूपता का स्मरण कराया गया है । फिर इसके आगे के मन्त्र में शुक्र-तत्त्व का स्पष्ट निरूपण है —

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य: ।।'

अर्थात् मातरिश्वा वायु अंगिरा में भृगु का आधान करके उससे उत्पन्न होने वाले शुक्र को चारों ओर से घेर लेता है । उस शुक्र का स्वरूप इस मन्त्र में बताया गया है । वह अकाय, काय रहित है । जिसका किसी मात्रा से परिमित रूप से चयन हो वह काय (शरीर) कहलाता है (काय शब्द चयन अर्थ वाली चि धातु से निष्पन्न हुआ है । यह शुक्र अकाय है अर्थात् चयन के द्वारा अभी स्थूलता को प्राप्त नहीं हुआ है । व्याघात करने वाले द्रव्य के योग से विक्षीण अंग वाला नहीं है; अव्रण है । विजातीय द्रव्य से युक्त नहीं है इससे स्नायु अर्थात् ग्रन्थिरूपता से रहित है । अपापविद्ध है अर्थात् किसी विरुद्ध धर्म (पाप) से अनुविद्ध नहीं है । ईश्वर के द्वारा परिग्रह की दशा में इन चारों दोषों से रहित है अर्थात् शुद्ध है । अमिश्रित अवस्था में होने के कारण निष्कैवल्य रूप में है । वह कवि है अर्थात्

सर्वकार्य कुशल है । इस अर्थ में ऋग्वेद में कवि शब्द अनेक स्थलों में प्रयुक्त हुआ है । यहाँ यह भी संकेत है कि ब्रह्म में भृगु और अंगिरा के सहित होने के कारण यथेच्छ साधन-संपत्ति प्राप्त होती है । कवि शब्द भृगु और अंगिरा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है । ताण्ड्य ब्राह्मण में मिलता है कि काव्य (कवि के पुत्र) उशना के पुरोहित थे—'उशना वै काव्योऽसुराणां पुरोहित आसीत् ।' उशना भृगु के पुत्र थे । 'कव्यवाऽग्निः' इत्यादि में भी कव्य शब्द भृगु तत्त्व परक है । अग्नि (अंगिरा) के लिए भी कवि शब्द स्पष्ट रूप से प्रयुक्त हुआ है—'अग्निनाग्निः समिध्यते कविः ।' इस प्रकार यहाँ कवि शब्दभृगु और अंगिरा दोनों तत्त्वों का बोधक हो सकता है । 'मनीषी' से प्रयोजन है कि मन का भाग भी उसमें सम्मिलित है । यहाँ मन से मन, प्राण और वाक् इन तीनों तत्त्वों का बोध होता है क्योंकि ये तीनों तत्त्व सर्वदा सहित रहते हैं जहाँ एक की स्थिति है वहाँ अन्य दो भी अवश्य साथ रहते हैं । वह परिभूः है अर्थात् सबको व्याप्त करके रहने का उसका स्वभाव है । वह स्वयंभू है इसका तात्पर्य यह है कि मूल तत्त्व स्वयंभू का ही रूपान्तर है । वही आगे बहुत काल तक स्थिर रहने वाले तत्त्वों को उत्पन्न करता रहता है । आगे अक्षर पुरुष क्षर कलाओं के परिणाम-रूप इस शुक्र से सम्पूर्ण जगत् की रचना करता है । इस प्रकार प्रकृति ब्रह्म योनि है, शुक्र रेत है । दोनों के मिथुन से विश्व उत्पन्न होता है ।

अक्षर पुरुष कर्ता, निमित्त कारण है और क्षर पुरुष की कलाएँ शुक्र का उत्पादन करके जगत् का उपादान कारण बनती हैं। मूल कलाएँ प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद एक दूसरी में मिल कर परस्पर संघटित रूप धारण करती हैं । इनको **पुरंजन** कहा गया है; वेदान्त दर्शन में जिस प्रकार पाँचों भूतों का पंचीकरण है, तब समस्त परस्पर में मिल कर पंचीकृत भूत रूप में आते हैं और इनसे जगत् का निर्माण होता है । छान्दोग्य उपनिषद् में तेज और अप् तथा अन्न का त्रिवृत्करण इसका उपलक्षण है । पंचीकृत रूप में आधा भाग अपना निजी रह जाता है और दूसरा आधा भाग चार भागों में विभक्त होकर अन्य चार में सम्मिलित हो जाता है और इस प्रकार प्रत्येक में दूसरे चार अंश आने से पूर्णता हो जाती है । वेदान्त दर्शन में इस प्रक्रिया को पंचीकरण कहा जाता है । वैदिक विज्ञान में इसे 'सर्वहुत' यज्ञ कहा जाता है । इस सर्वहुत यज्ञ से ही आगे सब पदार्थों की उत्पत्ति होती है जैसा कि श्रुति कहती है—'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादि । शुक्र के तीन भेद कहे गये हैं वाक्, आप् और अग्नि । ये फिर अमृत और मर्त्य भेद से दो प्रकार के हो जाते हैं । ये जो शुक्र के तीन भेद हैं इन्हें ही **वीर्य** भी कहते हैं । ये ही तीनों शुक्र ब्रह्मवीर्य क्षत्रवीर्य और विड्वीर्य कहलाते हैं । तीनों शुक्रों से (वीर्यों से)

सम्पूर्ण सृष्टि बनी है, इसलिए इनके उपादान होने के कारण प्रत्येक पदार्थ में इनकी सत्ता अनिवार्य है यहाँ तक कि अचेतन पदार्थों में भी इनकी सत्ता अनिवार्य है। वर्णव्यवस्था प्रकरण में इसका विवेचन किया गया है। यथार्थ में वर्णव्यवस्था का मूल विज्ञान इसी तत्त्व पर आधारित है। यहाँ संक्षेप में यह ज्ञातव्य है कि वाक् ब्रह्मवीर्य है। ब्रह्मवीर्य की प्रधानता रखने वाले ब्राह्मण का वाक् ही मुख्य शस्त्र है। अग्नि क्षत्रवीर्य है इसमें तीक्ष्णता बहुत रहती है और अत्यन्त शान्त रहने वाले आप् तत्त्व को विड्वीर्य या वैश्यवीर्य कहा गया है। इसमें उग्रता नहीं है, यह शान्तिप्रधान है।

आधिभौतिक कलाएँ

आगे आधिदैविक कलाओं की सहायता से आधिभौतिक कलाएँ उत्पन्न होती हैं। जिस पर हम लोग निवास करते हैं वह पृथ्वी मण्डल है जिसे **भूः** कहा जाता है। यह सूर्यमण्डल से सम्बद्ध है और उसी के आकर्षण में रहती और चलती है। सूर्यमण्डल को स्वर्ग या **स्वः** कहा जाता है। इन दोनों द्यावापृथिवी के मध्य के अवकाश को अन्तरिक्ष या **भुवः** कहते हैं। इस प्रकार भूः, भुवः और स्वः इन तीनों लोकों से एक त्रिलोकी बनती है इसके लिए श्रुतियों में **रोदसी** शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार यह पृथिवी सूर्य से सम्बन्ध रखती है उसी प्रकार सूर्यमण्डल भी एक दूसरे प्रधान मण्डल से बद्ध है उसे परमेष्ठी मण्डल कहते हैं। उस लोक का नाम जन या जनत् है। स्वः अब यहाँ पृथ्वी रूप मे हो जाता है और स्वः और जन के मध्य अवकाश अन्तरिक्ष को **महः** कहा जाता है। स्वः महः और जन लोकों से मध्य की जो त्रिलोकी बनती है उसे **क्रन्दसी** कहा गया है। वह परमेष्ठि-मण्डल किसी उच्च एक मण्डल से सम्बद्ध है। उसे स्वयंभू मण्डल कहते हैं और लोक **सत्यलोक** कहलाता है। परमेष्ठी और स्वयंभू के मध्य के अवकाश को **तपोलोक** कहा जाता है। इन तीनों—जन, तपः और सत्य तीन लोकों से परम त्रिलोकी बनती है जिसे **संयती** कहते हैं। इस प्रकार तीन त्रिलोकी—रोदसी, क्रन्दसी और संयती मुख्य हैं और प्रत्येक त्रिलोकी में भी तीन लोक हैं। परन्तु स्वः लोक और जन लोक पृथ्वी और द्यौः दोनों माने जाते हैं। भूः की अपेक्षा से स्वः द्यौः है वही जन लोक की अपेक्षा से पृथ्वी है। इसी प्रकार जन लोक सूर्य की अपेक्षा से द्यौः है परन्तु सत्य लोक की अपेक्षा से वही पृथ्वी माना जाता है। इस प्रकार तीनों त्रैलोक्य में सात ही लोक माने जाते हैं—भूः, भुवः स्वः महः जनत् तपः और सत्य। इनमें भूः स्वः जनत् और सत्य ये चार मण्डल और मध्य के अन्तरिक्ष हैं। अन्तरिक्ष विस्तृत अवकाश है। यद्यपि उसमें भी अवान्तर मंडल माने जाते हैं, जैसे वरुण बृहस्पति आदि के मण्डल किन्तु उनका पृथ्वी से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, अतः उन्हें यहाँ

गणना में नहीं लिया जाता। परन्तु पृथ्वी और सूर्य के मध्यवर्ती अन्तरिक्ष में जो चन्द्र-मण्डल है उसका पृथ्वी से साक्षात् सम्बन्ध है, इसलिए मण्डल में चन्द्रमण्डल को भी मान कर पाँच मण्डल हो जाते हैं। स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र और पृथिवी। अन्तरिक्ष में होने के कारण चन्द्रमण्डल को कहीं चतुर्थ मण्डल माना गया है, कहीं पृथ्वी के मण्डल में उसके अन्तर्गत होने के कारण उसे पंचम मण्डल माना गया है। परन्तु यह भेद अकिंचित्कर है इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

ये सातों लोक अधरोत्तर हैं। पृथ्वी से गणना करने पर ऊपर के मण्डल उत्तरोत्तर वड़े होते जाते हैं—केवल चन्द्रमण्डल पृथ्वी मण्डल के भीतर आता है। स्वयंभू मण्डल सबसे बड़ा है और उसकी व्याप्ति के भीतर ही अन्य सब मण्डलों का सन्निवेश है। उसके वाद परमेष्ठिमण्डल है इसकी व्याप्ति के भीतर अन्य तीन मण्डल हैं। इसी प्रकार सूर्य-मण्डल की व्याप्ति के भीतर पृथ्वी और चन्द्र के मण्डल सन्निविष्ट हैं। स्वयंभू मण्डल सबसे बड़ा है उससे बाहर कोई मण्डल नहीं है। इन्हीं पाँच मण्डलों का एक **ब्रह्माण्ड** बनता है। अनन्त आकाश में इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। उनका आभास मात्र श्रुति पुराणादि में मिलता है, परन्तु उनसे इस पृथ्वी का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है इससे उनका निरूपण शास्त्रों में नहीं हुआ है। अश्वत्थ की एक शाखा में, जिसमें यह पृथ्वी है, उसीका निरूपण हुआ है।

सभी लोकों में पाँचों अव्यय कलाएँ, पाँचों अक्षर कलाएँ और पाँचों क्षर कलाएँ व्याप्त हैं, इसलिए सभी षोडशी प्रजापति के रूप में हैं और तीनों ही शुक्रों के संयोग से सब मण्डल बनते हैं। किन्तु एक-एक मण्डल में एक-एक अक्षर कला, एक-एक क्षर कला और एक-एक शुक्र की प्रधानता रहती है। स्वयंभू मण्डल में ब्रह्मा अक्षर पुरुष, प्राण क्षर पुरुष और वाक् शुक्र प्रधान हैं। दूसरे परमेष्ठिमण्डल में विष्णु अक्षर पुरुष, आप् क्षर पुरुष और अप् शुक्र की प्रधानता रहती है। तीसरे सूर्य मण्डल में इन्द्र अक्षर पुरुष, वाक् क्षर पुरुष और अग्नि शुक्र प्रधान हैं। यहाँ तक तीनों अमृत शुक्र हैं। सूर्य ही अमृत और मृत्यु का विभाजक है जैसा कि कहा गया है—'आकृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।' इस कारण यहाँ शुक्रों की प्रधानता का क्रम बदल जाता है। सूर्य में ऊपर भाग में अमृत अग्नि शुक्र की प्रधानता है, अधोभाग में मर्त्य अग्नि शुक्र प्रधान है। उसके आगे चन्द्र मण्डल में सोम अक्षर पुरुष, अन्न क्षर पुरुष और मर्त्य अप् शुक्र प्रधान हैं। अन्न की प्रधानता के ही कारण 'सोमो राजा अन्नम्, सोमं राजानं देवा भक्षयन्ति' इत्यादि आशय के वाक्य श्रुतियों में बहुधा मिलते हैं। जिस प्रकार सूर्य की स्थिति बनाये रखने के लिए परमेष्ठिमण्डल से वहाँ सोम तत्त्व की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पृथ्वी की अन्नाद अग्नि

की रक्षा के लिए इस चन्द्रमण्डल से सोम की उपलब्धि होती है। सोम के बिना अग्नि के स्वरूप की रक्षा सम्भव नहीं है। आगे पृथ्वीमण्डल में अग्नि नाम का अक्षर पुरुष, अन्नाद नाम का क्षर पुरुष और मर्त्यवाक् शुक्र प्रधान हैं। अन्तरिक्ष की व्याप्ति अधिक है, इसलिए यहाँ चन्द्रमण्डल को चौथा मण्डल कहा गया है परन्तु वास्तव में चन्द्रमण्डल पृथ्वी के मण्डल के अन्तर्गत ही रहता है सम्पूर्ण, अन्तरिक्ष में उसकी व्याप्ति नहीं है, अतः उसे पंचम मण्डल भी मानते हैं यह कहा जा चुका है। पाँचों भूतों का सन्निवेश क्रम भी पाँचों मण्डलों के क्रम के अनुसार नियत है। स्वयंभू मण्डल का व्याप्ति प्रदेश आकाश कहा जाता है। स्वयंभू मण्डल में वाक् शुक्र प्रधान है इससे इस आकाश का गुण शब्द माना गया है। वेद भी वाक् रूप हैं, इसलिए ब्रह्मा नाम के स्वयंभू मण्डल को 'ब्रह्मा वेदमयः' कहा जाता है। इस स्वयंभू मण्डल के आकाश की व्याप्ति के भीतर ही अन्य सब मण्डल सन्निविष्ट हैं, अतः इस वेद वाक् की व्याप्ति भी सब मण्डलों में रहती है। इसी मण्डल से ऋग्, यजुः और साम नाम के तीनों वेद सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विस्तृत होते हैं। ये अनादि वेद या ब्रह्मनिःश्वसित वेद हैं। इनका विशेष विवरण वेद प्रकरण में द्रष्टव्य है। ब्रह्माण्ड में जितने भी पदार्थ उत्पन्न होते हैं उन सब में ये तीनों ऋग्, यजुः, साम अवश्य रहते हैं। यदि ये वेद न रहें तो उस वस्तु का ज्ञान होना सम्भव नहीं है। दूसरे परमेष्ठिमण्डल की व्याप्ति जहाँ तक है वह पंचभूत क्रम में वायु कहा जाता है। यह आकाश की व्याप्ति के अन्तर्गत है--यह आकाश में स्थित है, इसीलिए भगवद्गीता में कहा गया है 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।' इसी आकाश से वायु की उत्पत्ति तैत्तिरीय उपनिषद् में कही गयी है। यह कहा जा चुका है कि सोम, वायु और आप् ये तीनों एक ही तत्त्व की सूक्ष्मतम, सूक्ष्म और स्थूल अवस्थाएँ हैं। इसीलिए परमेष्ठिमण्डल को सोममय मण्डल या आपोमय मण्डल भी कहते हैं। यहाँ से तीन प्राण, भृगु, अंगिरा और अत्रि सर्वत्र ब्रह्माण्ड में फैलते हैं। भृगु से सोम, वायु और आप् तीनों का ग्रहण होता है। इसी प्रकार अङ्गिरा से अग्नि, यम और आदित्य लिये जाते हैं। इसी मण्डल का सोम तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भरा हुआ है उससे कोई स्थान रिक्त नहीं है क्योंकि अन्य सब मण्डल इस मण्डल की व्याप्ति के भीतर ही अवस्थित हैं। सूर्य किरणों से आकृष्ट होकर यह सोम निरन्तर सूर्य मण्डल में गिरता रहता है। इसी के कारण सूर्य प्रज्वलित रहता है। सूर्य की ऊष्मा और प्रकाश जितनी मात्रा में प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है उसकी प्रायः पूर्ति इसी सोम के द्वारा होती रहती है। यदि यह अन्न प्रकृति प्रदत्त उसे प्राप्त न होता तो सूर्य का अस्तित्व ही मिट जाता। परन्तु प्राकृतिक विधान के माहात्म्य से उसकी स्वरूप-रक्षा होती रहती है। सभी पदार्थ अग्नीषोममय हैं, इन्हीं दोनों के तारतम्य से सब पदार्थों की सृष्टि होती है। पदार्थ स्थित

अग्नि तत्त्व की रक्षा इसी सोम तत्त्व पर निर्भर है। सूर्य को कृष्ण वर्ण माना गया है, जैसा कि 'आकृष्णेन रजसा' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट है। सोम को भी कृष्ण वर्ण माना गया है परन्तु दोनों के विलक्षण संयोग से प्रकाश की उत्पत्ति हो जाती है। तीसरा यह सूर्यमण्डल है। पंचभूत क्रम में इसकी व्याप्ति को तेज कहा जाता है। यह सूर्यमण्डल ही हमारी इस पृथ्वी का सर्वस्व है। वेद ग्रन्थों में इन्द्र नाम से, आदित्य नाम से, बारह आदित्यों के भिन्न-भिन्न नामों से या सूर्य, सविता आदि नामों से सबसे अधिक इसका वर्णन है। इस रोदसी त्रिलोकी का अधिष्ठाता ईश्वर रूप सूर्य को ही माना जाता है। इस मण्डल से तीन तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैलते हैं—ज्योतिः, गौः और आयुः। ज्योति शब्द से प्रकाश और रूप दोनों लिये जाते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के प्रकाश का केन्द्र यही सूर्यमण्डल है। और रूप भी सब यहीं से उत्पन्न होते हैं। श्रुति में मिलता है—'इन्द्रो रूपाणि कतिक्रदचरत्' अर्थात् सूर्यमण्डल स्थित इन्द्र प्राण समस्त रूपों का निर्माण करता हुआ विचरण करता है। 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' इत्यादि मन्त्र में भी यही संकेत है। सूर्यमण्डल से दूसरा तत्त्व जो निकलता है वह आयु है। जड़-चेतन प्रत्येक वस्तु में वह आत्मा के रूप से स्थित है और वह कितने समय तक स्थित रहेगा इसका नियमन सूर्यमण्डल से ही होता है। इसीलिए श्रुति इसे सम्पूर्ण जगत् का प्राण कहती है—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः।' सूक्ष्म प्रपंच के नेता देवगण भी सूर्यमण्डल में संशवत रहते हैं, इसीलिए सूर्य को देवताओं की सेना कहा गया है—'चित्रं देवानामुदगादनीकम्'। तीसरा तत्त्व जो सूर्य से निकलता है वह है—गौः। इस गो तत्त्व के कारण ही सूर्य किरणों को गौः कहा जाता है। यह गो तत्त्व ही समस्त रसों का उत्पादक है। भिन्न प्रकार के जितने रस हैं उनका उद्भव सूर्य-किरणों से होता है। भिन्न-भिन्न धान्यों में या घास आदि में सूर्य किरणों के परिपाक से ही भिन्न-भिन्न रस उत्पन्न होते हैं। धान के पत्तों में कोई रस नहीं मिलता। पके हुए धान में (चावलों में) ही रस प्राप्त होता है। सूर्य किरणों से ही यह रस उत्पन्न हुआ है। दुग्ध, दधि आदि जो घास आदि के परिणाम हैं उनमें ये रस सूर्य किरणों के द्वारा प्राप्त होते हैं। ये ही गो नाम की सूर्य की किरणें गौ नाम के प्राणी में विशेष रूप से अवस्थित रहती हैं, इसीलिए इस प्राणी को गो कहा जाता है। इस प्रकार सूर्यमण्डल से सम्पूर्ण प्रजाओं को प्राण तत्त्व मिलता है, यह वैदिक सिद्धान्त है।

भूतक्रम में चौथा मण्डल चन्द्रमा को मानना चाहिए। इसकी व्याप्ति अन्तरिक्ष में है। वैदिक विज्ञान में समुद्र दो प्रकार के हैं। एक पृथ्वी पर प्रान्त भागों में जो बड़े जलाशय हैं उन्हें समुद्र कहा जाता है और दूसरा अन्तरिक्ष भी समुद्र नाम से वेदों में व्यवहृत हुआ है। 'स उत्तरस्मादधरं समुद्रम्' इस ऋग्वेद के मन्त्रांश में दोनों समुद्रों का स्पष्ट संकेत है।

उत्तर का अर्थ यहाँ **ऊपर** है अर्थात् ऊँचा और अधर का अर्थ है नीचा । जल तत्त्व सोम का ही रूपान्तर है—उसका स्थूल रूप है । इसीलिए चन्द्रमा को सोम या सोममय पिण्ड कहते हैं । इसी के लिए ज्यौतिष के सिद्धान्त ग्रन्थ में इसे पानीयपिण्ड कहा गया है—'तरणि-किरण संगादेष पानीयपिण्डः' । इस भूमि में ऋतु परिवर्तन आदि में—ओषधि आदि के रसों के परिपाक में पृथ्वी की अग्नि को भोजन प्रदान करके स्वस्वरूप में रक्षित रखने में इस चन्द्र का बहुत बड़ा उपयोग है । यज्ञ प्रक्रिया में तो चन्द्र का उपयोग है ही—दर्श पौर्णमास आदि में यह प्रत्यक्ष है ।पूर्वोक्त परमेष्ठिमण्डल भी सोम प्रधान होने के कारण चन्द्र कहलाता है । चन्द्र को जहाँ सूर्य से ऊपर बतलाया गया है—जैसे छान्दोग्योपनिषद् में 'आदित्याच्चन्द्रमसम्' से मृतात्मा की गति सूर्य से चन्द्रमण्डल में जाना बताया गया है, वहाँ इस परमेष्ठिमण्डल का चन्द्र अभिप्रेत है । इस चतुर्थ चन्द्रमण्डल में सोम नाम की अक्षर कला, अन्त नाम की क्षर कला और अप् नाम का मर्त्य शुक्र प्रधान हैं ।

पञ्चम मण्डल पृथिवी प्रसिद्ध है । श्रुतियों में पृथ्वी को अग्निगर्भा कहा गया है—

'यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।'

यह अग्नि अक्षर पुरुष की कला है । क्षर पुरुष की कला में यही अन्नाद अग्नि कहलाता है और इसमें मर्त्य वाक् शुक्र प्रधान है । अन्नाद अग्नि पृथ्वी में व्याप्त है । चन्द्रमा के सोम रूप अन्न का वह भक्षण करती है इससे उसे अन्नाद (अन्न को खाने वाली) कहा गया है । जैसे परमेष्ठिमण्डल के सोम से सूर्य का जीवन चलता है उसी प्रकार इस चन्द्र से उद्भूत सोम के द्वारा पृथ्वी की ओषधि-वनस्पति आदि सबका जीवन रहता है और पृथ्वी में परिव्याप्त अग्नि भी इसी सोम का भक्षण करके जीवित रहती है । जिस प्रकार ऊपर के लोकों से पृथ्वी को भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उपलब्धि होती है उसी प्रकार पृथ्वी भी अपने प्राणभूत अग्नि के द्वारा अपने तत्त्वों को ऊर्ध्व लोकों में प्रेषित करती है । इससे भी तीन तत्त्व निकलते हैं—वाक्, गौः और द्यौः । पिण्ड बनाने के लिए ठोसपन सब जगह पृथ्वी से ही पहुँचता है । गौः सूर्य का भी प्राण है उससे मिलकर पृथ्वी का यह गोप्राण आस्वाद योग्य रस बनता है । इसी प्रकार द्युलोक पर्यन्त इसका रस जाता है । यह पृथ्वी पंचम और अन्तिम भूत है । इस प्रकार पाँचों मण्डलों की व्याप्ति को ही वैदिक परिभाषा में 'पंचभूत' संज्ञा दी गयी है । ये ही ब्रह्माण्ड के आधिभौतिक रूप हैं ।

पञ्चभूत सिद्धान्त

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच भूतों के स्थूल रूप हैं । ये तन्मात्राओं के पंचीकृत रूप हैं । पंचीकरण प्रक्रिया का ऊपर में उल्लेख हो चुका है । इन पाँचों भूतों में

शुद्ध पाँच तन्मात्राएँ अंश रूप से सम्मिलित हैं, अतः ये यौगिक हैं; मूल तत्त्व नहीं हैं। इनके शुद्ध रूप—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। ये शुद्ध रूप में जब पृथक् रहते हैं, अकेले रहते हैं, तब इन्हें 'तन्मात्रा' कहा जाता है। इनका ग्रहण इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, ये अतीन्द्रिय हैं। यही जब पंचीकरण के द्वारा स्थूल दशा में आते हैं तब इनकी आकाश आदि संज्ञा होती है। आकाश तत्त्व में आधा भाग शब्द तन्मात्रा का होता है आधे भाग में अन्य चार तन्मात्राओं का अष्टमांश रहता है तब वह पूरा हो जाता है। आकाश में सबसे अधिक भाग शब्द तन्मात्रा का रहता है, अतः उसकी प्रधानता है। इससे आकाश का गुण शब्द माना गया है। यह शब्द समस्त आकाश में व्याप्त रहता है। इस दशा में वह अव्यक्त रहता है परन्तु कारणवश जब उसमें लहर उठती है तब वह श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है। आकाश सर्वत्र व्याप्त है उससे बाहर कोई पदार्थ नहीं है। उसी आकाश तत्त्व से अन्य सब पदार्थ उत्पन्न होते हैं। आकाश का गुण शब्द है इससे यह भी कहा गया है कि शब्द के द्वारा ही सब सृष्टि उत्पन्न हुई है। आकाश को वाक् भी कहा गया है। वाक् ही वेद है। इसीसे यह भी कहा गया है कि वेद शब्दों के द्वारा आदि में सब पृथक् संस्थाओं का निर्माण हुआ। 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।' आकाश तत्त्व प्रत्येक पदार्थ के निर्माण में किस प्रकार कारण होता है यह प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आकाश तत्त्व ही प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त होकर उसके स्वरूप का निर्माणकर्ता है। घट, पट आदि कोई पदार्थ ले लिया जाय उसमें यदि विभाग (पार्थक्य) न हो तो उस पदार्थ का स्वरूप नहीं बन सकता। परमाणु के परस्पर **विभाग** के द्वारा ही पदार्थ बनता है। यदि विभाग न हो—बीच में अवकाश न हो तो परमाणु सब एक में ही मिले रहेंगे और स्वरूप न बन सकेगा। द्यौः और पृथ्वी का विभाजक अन्तरिक्ष आकाश न हो तो दोनों एक ही हो जायँगे। फिर दोनों के मिले हुए रूप में भी यदि मध्य में अवकाश न रहेगा तो वह इतनी संकुचित हो जायगी कि उसका प्रत्यक्ष होना असम्भव हो जायगा। बादरायण ने अपने आकाश अधिकरण में 'यावद्विकारं तु विभागो लोकावत्' इस सूत्र में इस पर प्रकाश डाला है। जितने पदार्थ मात्र दृष्टिगोचर होते हैं उनमें प्रत्येक में दो तत्त्व हैं, एक अमृत और दूसरा सत्य। 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्' इसके अनुसार प्रत्येक भूत में विभक्त हुआ-सा प्रतीत होता हुआ अविभक्त सर्वव्यापक एक अमृत तत्त्व अवश्य रहता है। सब विशेषों में अविशेष (समान) रूप से रहने वाला वह अमृत है। श्रुति में कहा है—'प्राणो वा अमृतम्। नाम रूपे सत्यम् ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः' अर्थात् प्राण अमृत है। नाम और रूप सत्य हैं इन दोनों सत्य नाम और रूप से प्राण ढका हुआ है। जो अव्याकृत है, एक है, वह इस प्रकार नाम और रूप के द्वारा व्याकृत होता है।

घट, पट, नदी, पर्वत, समुद्र आदि के अन्योन्य भेद बनाने वाले प्रत्येक के नाम और रूप ही हैं। प्राणरूपता सबमें समान है और ये नाम और रूप ही विकार के हेतु हैं। इसी के लिए छान्दोग्योपनिषद् में आया है—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' अर्थात् मट्टी से बने विकृत पदार्थ विकार हैं वाक् से प्रारम्भ हुए नामधेय ही हैं उनका अविकृत तत्त्व कारण रूप सत्य मृत्तिका ही है। यह निदर्शन मात्र है। जिस प्रकार घट आदि मिट्टी से बने पदार्थों में मृत्तिका ही सत्य है और घट आदि विकार मात्र हैं इसी प्रकार मृत्तिका, जल, तेज आदि अपने-अपने मूल कारण सत्य की दृष्टि से विकार ही सिद्ध होते हैं और इस प्रकार सब विकार अपने परम सत्य रूप मूल में विलीन हो जाते हैं। यहाँ नाम यह इस विकार का प्रयोजक है। नाम विभाग होने से रूप विभाग सिद्ध होता है। पहले विकार का उत्पादक नाम ही है जैसा कि श्रुति कहती है—'सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते।' इसी के लिए कहा गया है 'स भूरिति व्याहरत् स भुवमसृजत।' यह नाम रूप विभाग यावन्मात्र विकार में उपलब्ध होता है। जब ये सब विकार के ही अधीन हैं, विकार से ही उत्पन्न होते हैं, तब इन सब विकारों में विभाग का होना अनिवार्य है। और प्रत्येक विकार में यह विभाग आकाश ही है लोकवत्। लोक का अर्थ है आयतन, स्थान, अवकाश। विभाग ही प्रत्येक पदार्थ का लोक है। विभाग के अनुसार ही वह पदार्थ उपलब्ध होता है। नाम, रूप, लक्षण वह विभाग आकाश ही है क्योंकि नाम और रूप का सम्पादन करने वाला आकाश ही माना गया है जैसा कि श्रुति कहती है 'आकाशो वै नाम रूपयोनिर्वहिता।' आकाश का शब्द गुण कहा ही गया है शब्द के द्वारा ही नाम होता है। नाम के द्वारा रूप होता है। रूप यद्यपि तेजः तत्त्व के द्वारा प्राप्त होता है तथापि पंचीकरण के अनुसार आकाश में भी तेज का अंश है ही और वह रूप का कारण है। इस प्रकार विकार मात्र में प्राप्त होने वाला विकार का कारण आकाश भी स्वयम् विकार ही है और वह ब्रह्म का कार्य है। विकार होने से ही यह मौलिक तत्त्व नहीं है। पंचीकरण के अनुसार यह यौगिक है। यह भी शून्य नहीं है। श्वन् नाम इन्द्र का है—'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्'। 'शुने हितम् शून्यम्' इस प्रकार श्वन् इन्द्र के लिए जो हित हो वह शून्य आकाश है। हित का अर्थ है निहित। इन्द्र तत्त्व इसमें विद्यमान है और इस इन्द्र का ही विकृत रूप 'ईथर' कहा जा सकता है।

भूत शब्द की व्युत्पत्ति

अव्यय पुरुष की आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् पाँच कलाएँ कही गयी हैं।

वायुः—इनमें यह प्राणकला बलों में ग्रन्थि बनाने में कारण है। बलों का दूसरे बलों से वेष्टन ही ग्रन्थि है। रस और बल अन्यत्र वर्णित हैं। इनमें रस निष्क्रिय है परन्तु बल

कुर्वद्रूप है परन्तु क्षणिक है । बलों के हृद्ग्रन्थि के रूप में परस्पर बद्ध होने पर उनमें सत्ता रस के योग से स्थिरता आकर जो रूप बनता है वही वाक् कहलाती है । वाक् के स्वरूप-निर्माण के लिए जितने बल आपस में बद्ध होते हैं ग्रथित होते हैं, संसृष्ट होते हैं ग्रन्थि में फिर बार-बार ग्रन्थि बनती रहती हैं तब बल की सृष्टि (संसर्ग) के परिवर्धन-क्रम से अन्य-अन्य सृष्टि होती हैं । इनमें बल का भूयस्त्व (आधिक्य) रहता है इससे ये भूत कहलाते हैं । बल के बहुत्व अर्थ में ही भू धातु निरूढ है। बहु शब्द से भाषा विज्ञान के अनुसार प्रयत्न दोष से ब में जो अकार है वह स्थान परिवर्तन करके अन्त में आकर हु के उकार को दीर्घ बना देता है । ब में से अकार के हट जाने से ब् ह में मिल कर भ् हो जाता है। बहु शब्द से ही भूयिष्ठ बनता है । अतः बहुत बलों का संसृष्ट होना ही भूतत्त्व है । इस प्रकार अपेक्षाकृत बलों के बढ़ने पर स्थूलता होती जाती है । इन भूतों में बलों के ग्रन्थि बन्धन के द्वारा प्रथम जो रूप बनता है उसे वाक् कहते हैं । इसमें अन्य भूतों की अपेक्षा बल कम रहते हैं । यह वाक् दो प्रकार की है—एक अमृता और दूसरी मर्त्या । अमृता वाक् वेदत्रयी है यह नित्य अव्यय के साथ रहती है और सब भूतों का आवपन (आयतन) होने के कारण आकाश भी कही जाती है । इसी अमृत आकाश में मर्त्य वाक् विकृत होती हुई परिवर्तित होती रहती है । बलग्रन्थि के तारतम्य से यह चार प्रकार की हो जाती है जिन्हें उत्तरोत्तर स्थूलता के क्रम से ऋषि, पितर्, नाभस् और भूत कहते हैं । मौलिक प्राण—अन्य जाति के प्राणों से असंसक्त, अस्पष्ट प्राण ऋषि कहलाते हैं । ऋषि देवता प्रकरण में इनका विशेष विवेचन हुआ है । अन्यान्य जाति के ऋषियों के संसर्ग से अपेक्षाकृत स्थूल प्राण पितर् कहे जाते हैं। फिर अनेक जातीय पितरों की संसृष्टि से नाभस् प्राण उत्पन्न होते हैं इन्हें आंभस् भी कहा गया है। ये भी चार प्रकार के हैं—देव, असुर, गन्धर्व और मनुष्य । ये मनुष्य प्राण रूप हैं यह ध्यान देने योग्य है । इन मनुष्य प्राणों को तैत्तिरीय श्रुति में पितृ भी कहा गया है। चन्द्र में स्थित पितृगणों के सान्निध्य के कारण इन्हें भी पितर् माना गया है। ऋषि, पितर् और नाभस् ये तीनों आकाश में रहने वाले प्राण हैं और ये तीनों वायु शब्द से भी कहे जाते हैं । ये वायु प्राण वाक् की अपेक्षा अधिक स्थूल हैं । इन्हीं वायु रूपी देव, असुर आदि प्राणों के परस्पर संघर्ष से भूत उत्पन्न होते हैं जो तेजः, अप् और अन्न के भेद से तीन प्रकार के हैं। इन तीनों में जो अन्तिम रूप है वह भूमि है । इसमें अन्य सब भूतों की अपेक्षा अत्यधिक बल संसृष्ट हैं, अतः यह भूमि शब्द सार्थक है । आकाश और वायु में अपेक्षाकृत बल का आधिक्य है ही इससे उनमें भी भूत शब्द अनुवृत्त होता है । वाक् और भूमि के बीच में बलाधिक्य का तारतम्य है ही । इस प्रथम वाक् तत्त्व की ही उत्तरोत्तर स्थूल दशा हुई है, इसलिए पाँचों भूतों को भी वाक् कहा जाता

है । इसीलिए ऐतरेय श्रुति में मिलता है कि यह सब वाक् ही है—'अथो वागेवेदं सर्वम् ।' इन बलों की परस्पर संसृष्टि होती है और इसी संसृष्टि से भूतोत्पत्ति होती है, इससे इसे सृष्टि भी कहते हैं ।

आकाश तीन प्रकार का माना गया है—परमाकाश, पुराणाकाश और भूताकाश । इनमें परमाकाश यजुर्वेद वेद वाक् है वह स्वयंभू है ईश्वर निःश्वसित है । ब्रह्मसूत्र के जिस आकाश का ऊपर में उल्लेख हुआ है वह वाग् रूप भूताकाश है और उसी की उत्पत्ति का क्रम तैत्तिरीय श्रुति में पंचभूतों के प्रथम भूत की आत्मा से उत्पत्ति बतायी गयी है ।

ब्रह्मसूत्र में वायु के सम्बन्ध में भी विचार उपस्थित किया गया है वहाँ 'एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः' इस सूत्र के द्वारा भूताकाश के क्रम में मातरिश्वा वायु का उल्लेख किया गया है। यह वायु भी श्रुतियों में अनेक प्रकार का कहा गया है, सबसे प्रथम ब्रह्म वायु है । ऋक्, साम और यजुः ये ब्रह्म हैं । यजुः नामक यह ब्रह्म वायु और आकाश का सम्मिलित रूप यत् और जूः = यज्जूः है जो परोक्ष भाषा में यजुः कहा जाता है । यह वायु प्राण है । और यह स्वयंभू है । इसके अतिरिक्त रोदसी अन्तरिक्ष में चार और वायु माने गये हैं—ऐन्द्राग्न, विश्वकर्मा, सार्वदैवत्य और दिव्य । इनके अतिरिक्त मरुत् नाम के उनचास रुद्र पुत्र वायु कहे गये हैं । भृगु के तीन रूप—आप्, वायु और सोम कहे गये हैं इनमें वायु का उल्लेख है । यह भृगु वायु भी चार प्रकार का है—सविता, पवमान, मातरिश्वा और वात । इन वायु भेदों में मरुद् वायु तक देव कोटि में माने जाते हैं, अतः पंचभूत के वायु से वे अतिरिक्त हैं । ब्रह्मसूत्र में भूत वायु का अधिकरण है, देवों का नहीं । इसलिए वहाँ स्पष्ट करने के लिए भूत, वायु, मातरिश्वा पद का प्रयोग हुआ है । माता शब्द से पृथ्वी शब्द विवक्षित है । 'द्यौः पिता पृथिवी माता' इत्यादि श्रुतियों में मिलता है । माता में अर्थात् पृथ्वी में व्याप्त रहता है इससे उसे मातरिश्वा कहा गया है—'मातरि पृथिव्यां श्वयते व्याप्नोति इति मातरिश्वा' । मातरिश्वा शब्द यहाँ चारों भृगु वायु को लक्षित करता है । इस पाँच भौतिक वायु का गुण स्पर्श है । यह आधिदैविक वायु की स्थूल दशा है । प्राणरूप, क्रिया-शील होने से यही वास्तव में सृष्टि का प्रवर्तक है । इसी के द्वारा 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' के अनुसार सृष्टि होती है ।

तेजः—ब्रह्मसूत्र में 'तेजोऽतस्तथा ह्याह हि' के द्वारा तेज को वायु से उत्पन्न माना गया है । छान्दोग्य उपनिषद् में तेज का मूल सत् को बताया गया है । 'सत्तु एव सोम्य इदमग्र आसीदेकमवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत।' परन्तु तैत्तिरीय श्रुति में आत्मा से आकाश, आकाश से वायु और वायु से तेज की उत्पत्ति बतायी गयी है । इस प्रकार तेज की उत्पत्ति के सम्बन्ध

में इन दोनों श्रुति वाक्यों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है । इसका समाधान यह है कि श्रुतियों में सृष्टि की उत्पत्ति दो प्रकार से बतायी गयी है । एक में क्रम के अनुसार एक से दूसरे की उत्पत्ति बतायी गयी है । दूसरे प्रकार में क्रम की विवक्षा नहीं है । तैत्तिरीय श्रुति में क्रम स्पष्ट निर्दिष्ट है । छान्दोग्य उपनिषद् में तेज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में क्रम विवक्षित नहीं है । परन्तु तेज से आप् और आप् से अन्न (पृथ्वी) की उत्पत्ति में क्रम निर्दिष्ट है और यह क्रम तैत्तिरीय के अनुसार ही है । जहाँ क्रम निर्दिष्ट है वहाँ उस क्रम के व्याघात होने से श्रुति में त्रुटि हो सकती है परन्तु जहाँ क्रम की विवक्षा नहीं है वहाँ कोई दोष नहीं आता । छान्दोग्य उपनिषद् में सत् से जो तेज की उत्पत्ति कही गयी है वह आकाश और वायु के पश्चात् होने पर सन्मूलक कही जा सकती है । अन्यत्र भी अविशेष रूप से सब की सृष्टि होने का वर्णन मिलता है—'स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत' । इस दृष्टि से विरोध का परिहार हो जाता है । यह प्रकरण भी पाँच भौतिक तेज का है और रूप इसका गुण है । रूप की उत्पत्ति साम (वेद) से होती है—'सर्वतेजः सामरूपम् ।' यहाँ यह भी ध्यान में रखना है कि यह तेज भी पाँच भौतिक होने से पंचीकृत है शुद्ध मौलिक नहीं है, योगज है और अपेक्षाकृत स्थूल है । मौलिक तेज तो परम तत्त्व ही है जिसके लिए श्रुति वाक्य है—"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं चकास्ति ।" भाव यह है कि वहाँ (परम तत्त्व में) न सूर्य प्रकाशित होता न चन्द्र, तारा और न विद्युत् या अग्नि । उसीके भासित होने से इन सबमें प्रभा आती है । सब प्रभाओं का मूल स्रोत वही है, यह आशय है । इस श्रुति में यह भी संकेत कर दिया गया है कि विश्व में पाँच प्रकार की ज्योति ही कार्य कर रही हैं—सूर्य, चन्द्र, तारा, विद्युत् और अग्नि । इन सबमें भी ज्योति परम ज्योति से ही आती है ।

आपः—तेज से जल की उत्पत्ति बतायी गयी है । परन्तु यहाँ भी अनेक मतभेद पाये जाते हैं । तैत्तिरीय और छान्दोग्य के अनुसार तेज से आप् की उत्पत्ति है । अन्यत्र मिलता है—"स प्रजापतिर्ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्याम्, ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा । तस्यां प्रतिष्ठितः सोऽपोसृजत वाच एव लोकात् । वागेवास्य सासृजत ।" इसके अनुसार प्रजापति ने प्रथम त्रयी ब्रह्म (वाक्) का सर्जन किया । यह त्रयी ब्रह्म ही सबकी प्रतिष्ठा है इस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर उसने वाग् लोक से भी अप् का सर्जन किया । इसकी वाग् ही अप् रूप में परिणत हुई । इस प्रकार इस वाक् से ही आप् की उत्पत्ति हुई; अर्थात् ये आप् वाक् के ही विकार हैं । अन्यत्र श्रुति में मिलता है—'प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीदेक एव । तस्माच्छ्रान्तात् तेपानाद् आपोऽसृज्यन्त ।' इसके अनुसार ये ब्रह्म के ही विकार

हैं। इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुति के क्रम में विरोध प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि ये आप् दो प्रकार के हैं—'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' इस श्रुति के अनुसार ये आप् देवलोक के रूप में कहे गये हैं। भूत रूप आप् दूसरे हैं। यह भूत का प्रकरण है इससे इस प्रकरण में तेज से जो अप् की उत्पत्ति कही गयी है वह भौतिक आप् के लिए है। अन्यत्र ब्रह्म से या वाग्लोक से जो आप् उत्पन्न हुए कहे गये हैं वे अभौतिक दिव्य आप् के सम्बन्ध में हैं। इसके अतिरिक्त वाग् लोक से जो आप् का सर्जन कहा गया है उसका अभिप्राय अपूर्व (नवीन) सृष्टि से नहीं है। वहाँ वाग् ही आप् रूप में परिणत हुई है। नवीन तत्त्व वह आप् नहीं है, वह वाक् तत्त्व की स्थूल अवस्था मात्र है। इस अप् के भेद को लक्ष्य में रखकर इन्हीं श्रुति वाक्यों का अनुवाद मनु ने किया है। प्रारम्भ में अप् की सृष्टि के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि प्रजापति ने विविध प्रकार की प्रजा के सर्जन करने की इच्छा से अभिध्यान करके अपने शरीर से आदि में अप् की ही सृष्टि की। 'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।' इसके आगे भूत प्रकरण में तैत्तिरीय श्रुति का क्रम प्रदर्शित है।

ऐतरेय ब्राह्मण में बताया गया है कि आत्मा रूप मूल तत्त्व ने जिस अप् तत्त्व को उत्पन्न किया वह चार अवस्थाओं में चार नामों से चार लोकों में व्याप्त है। उनके नाम हैं—अम्भः, मरीचि, मर, आप्। अम्भः इनमें वह है जो सूर्यमण्डल से (द्युलोक से) भी ऊर्ध्व प्रदेश में महः, जनः आदि लोकों में व्याप्त है। अन्तरिक्ष में जो जल व्याप्त है वह मरीचि रूप है। पृथ्वी के उत्पादन में जो अप् अग्रसर होता है वह मर् है। इसका प्रतिपादन आगे होगा। पृथ्वी पर प्रवाहित होने वाला या पृथ्वी को खोदने पर निकलने वाला आपः नाम से ही प्रसिद्ध है।[1] इनमें सर्वप्रथम जो अम्भः कहा गया है वह मौलिक (अमिश्रित) जल तत्त्व है। वही पंचीकृत होकर अन्य तत्त्वों के सम्मिश्रण से स्थूल अवस्था में आकर जल रूप में परिणत हुआ है और यही जल हम लोगों के नित्य व्यवहार में आता है। इसी प्रकार वेद में दिव्य, आन्तरीक्ष्य और पार्थिव आप् का वर्णन स्पष्ट रूप से मिलता है।[2]

१. ऐतरेय ब्राह्मण—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। स इमान् लोकानसृजत् अम्भो मरीचिर्मर आपः। अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा अन्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरः। या अधस्तात् ता आपः। सोऽद्भ्यः पुरुषं समुद्धृत्य अमूर्छयत्।'—(ऐत० १।१।१)

२. 'या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवुर्या आन्तरीक्ष्या उत पार्थिवीर्याः।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः शिवाः शंस्योनाः सुहवा भवन्तु ॥'

अथर्व श्रुति में भी यही मिलता है ।[१] ऋग्वेद के मन्त्र में पार्थिव (भूमि सम्बन्धी) जल के तीन विभाग बताये गये हैं ।[२] एक जल नदी आदि में बहने वाला, दूसरा गढ़ा खोदने से निकलने वाला और तीसरा अपने आप भूमि से निकलने वाला--स्रोत: के रूप में । इस प्रकार श्रुतियों में ही जल तत्त्व के सम्बन्ध में विस्तृत रूपसे विचार किया गया है । राज्याभिषेक प्रकरण में अनेक तीर्थों से जल लाकर उनके द्वारा अभिषेक होने का वर्णन मिलता है । जल से ही प्राण बनता है, अत: जल के द्वारा ही प्राण की रक्षा होती है । छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है—'अन्नमयं हि सौम्य मनः । **आपोमयः** प्राणः । प्राण को आपोमय कहा गया है, इससे इस तत्त्व का महत्त्व स्पष्ट है ।

ब्राह्मण, उपनिषद्, मनुस्मृति, पुराण आदि में सर्वत्र सृष्टि के आरम्भ में अप् की उत्पत्ति कही गयी है । अप् नाम यद्यपि जल का प्रसिद्ध है किन्तु इस स्थूल जल से वहाँ तात्पर्य नहीं है । रस रूप द्रव पदार्थ वहाँ अप् या अम्भः शब्द का अर्थ है । स्थूल अवस्था में आकर वही जल बन जाता है । इस स्थूल जल का सम्मिश्रित रूप होना मन्त्रों में स्पष्ट रूप से वर्णित है—

"अप्सु मे सोमोऽब्रवीत् अन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निं च विश्वशंभुवम् ।" अर्थात् जल के भीतर विराजमान जो सोम तत्त्व है वह यह बतलाता है कि जल के भीतर समस्त ओषधियाँ हैं; क्योंकि सोम में ही सूक्ष्म रूप से सारी ओषधियाँ रहती हैं । इससे सोम के रहने से उनका रहना सिद्ध हो जाता है और विश्व को शान्ति देने वाला अग्नि तत्त्व भी उसमें है यह भी सोम बतला देता है क्योंकि अग्नि के बिना सोम की सत्ता सम्भव नहीं । सोम के सम्बन्ध से अग्नि शान्त रूप बन जाता है और कल्याणकारक हो जाता है । इस प्रकार यह भौतिक जल निस्सन्देह यौगिक सिद्ध होता है । कुछ अर्वाचीन वैज्ञानिक यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय विज्ञान में जल को मौलिक तत्व माना है, यह भूल है क्योंकि वह तो दो तत्त्वों के योग से (H^2O) बनता है । इस आक्षेप का इससे समाधान हो जाता है ।

पृथ्वीः—ब्रह्मसूत्र में 'पृथिव्यधिकाररूप शब्दान्तरेभ्यः' इस सूत्र के सम्बन्ध में पृथ्वी के

१. 'या आपो दिव्या पयसा मदयन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम् ।
तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा ।'—अथर्व श्रुति ४।२।८।५

२. "या आपो दिव्या उत याः स्रवन्ति खनित्रिमा उत याः स्वयंजाः ।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह पावयन्तु ।।"—ऋ० वे० ७।४९।२

सम्बन्ध में यह बताया गया है कि छान्दोग्य श्रुति में 'ता आपः अन्नमसृजन्त' कहा है अर्थात् जल तत्त्व से अन्न की सृष्टि हुई। यहाँ अन्न शब्द से कृतान्न (सिद्ध अन्न) मोदक, ओदन आदि अथवा असिद्ध अन्न चावल, गेहूँ आदि से अभिप्राय नहीं है। यहाँ अन्न शब्द पृथ्वी के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसके लिए तीन कारण दिये गये हैं। प्रथम है—अधिकार अर्थात् प्रकरण। 'तत्तेजोऽसृजत तदपोऽसृजत' इस प्रकार भूत रूप तेज और आप् की उत्पत्ति बता कर उसके बाद आप् से अन्न की उत्पत्ति कही गयी है। यह प्रकरण भूतों की उत्पत्ति बता रहा है, अतः यहाँ भूत रूप पृथ्वी जो अन्तिम भूत है, मानी जायगी; धान्य, गोधूम आदि अथवा ओदन आदि नहीं। दूसरा कारण है रूप। इसी श्रुति में रूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है—'अथ यत् कृष्णं तदन्नस्य।' यह रूप भी पृथिवी के अनुगुण है। यह पृथ्वी कृष्ण वर्ण की मानी जाती है। शर्वरी (रात्रि) पृथिवी की छाया है, वह कृष्ण वर्ण है, यह पौराणिक लोग कहते हैं। मृत्तिका के जो अनेक प्रकार के रूप देखे जाते हैं वे सूर्य रश्मि के द्वारा परिपाक होने के कारण वैकारिक हैं। तीसरा कारण बताते हैं—'शब्दान्तरेभ्यः' अर्थात् अन्न शब्द से पृथ्वी ही अभिप्रेत है इसके लिए दूसरी श्रुतियों के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय श्रुति में ही 'अद्भ्यः पृथिवी' अर्थात् अप् से पृथ्वी का होना कहा गया है। वाजसनेय श्रुति में मिलता है—'तद् यदपां शर आशीत् तत्समहन्यत। सा पृथिवी अभवत्' अर्थात् जल का जो सार भाग (शर–मलाई) था वह संहत होकर पृथ्वी हो गया।

पृथ्वी के उत्पत्ति के सम्बन्ध में[1] शतपथ ब्राह्मण आदि में और अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। वह इस प्रकार है। जल के ऊपर वायु भ्रमण करता रहता है। जब किसी अवसर पर जल के स्तर को ऊँचा उठा कर वायु उसके भीतर प्रविष्ट हो जाता है तब बुद्बुद् बन जाया करता है। वायु के निकल जाने पर बुद्बुद् समाप्त हो जाता है और जल के रूप में हो जाता है। यह तो प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। परन्तु जब कभी ऐसा अवसर आता है कि जल का स्तर घना हो जाय और वायु उसकी अपेक्षा दुर्बल होकर बाहर न निकल सके तब वायु की रुक्षता और जल की स्निग्धता इन दो विरुद्ध धर्मों का संघर्ष

१. "भूय एव स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत। स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत। सोऽकामयत। सोऽवेदन्यद्वा एतद्रूपम्। भूयो वै भवति श्राम्याण्येवेति। स श्रान्तस्तेपानो मृदं शुष्कापमूषसिकतं शर्करामश्मानमयो हिरण्यमोषधिवनस्पत्यसृजत् तेनेमां पृथिवीं प्राच्छादयत्।" (शतपथ, काण्ड ६, अध्याय १–१–१२)

होता है और दोनों तत्त्वों के मूर्छित होकर मिल जाने से एक तीसरी वस्तु बन जाती है जिसे **फेन** कहते हैं। यह फेन रूप दूसरी अवस्था हुई। इस पर सूर्य की किरणों की गर्मी पहुँचती रहती है और वायु में संक्रान्त चिकनापन भी उसमें प्रविष्ट होता रहता है। इस प्रकार की आवागमन क्रिया से तीसरी अवस्था 'मृत्स्ना' नाम की बनती है जिसे पांक कहते हैं। इस पर फिर वायु और सूर्य की किरणों से सिकता, फिर शर्करा (कठोर रूप) बनती है, फिर वही पत्थर और अन्त में अनेक प्रकार के लौह आदि धातु उपधातु के रूप में क्रमशः परिणत होती है। इन आठ अवस्थाओं के संघात को ही पृथ्वी कहा गया है यह जल से उत्पन्न हुई है। जल को पुष्कर कहते हैं इससे इस पृथ्वी को 'पुष्कर पर्ण' कहते हैं।

ये आठों प्रकार के तत्त्व जल समुद्र में यत्र तत्र प्लावित रहते हैं। जब ईश्वरेच्छा से एक विशेष प्रकार की वायु चलती है जो चारों दिशाओं में समान रूप से अपना वेग रखती हो उससे ये सब तत्त्व एकत्र हो जाते हैं। उसी वायु के दबाव से घनीभूत होकर वे तत्त्व विशीर्ण नहीं होने पाते। उसी वायु को श्रुतियों में **वराह** कहा गया है। पुराण प्रकरण में इसका उल्लेख हुआ है। वराह शब्द वृ और अह दो धातुओं से बनाया गया है। वह चारों ओर की वायु सब ओर से पृथ्वी पिण्ड को आवृत कर लेती है—घेर लेती है और संघातरूप बना देती है, इसलिए उसे **वराह** कहा गया है।[१] इसी का रोचक वर्णन पुराणों में आता है कि वराह ने जल के भीतर घुसकर पृथ्वी को निकाला और यह पृथ्वी-पिण्ड वराह की दंष्ट्रा पर ठहरा हुआ है इत्यादि।

ब्रह्मसूत्र में यह भी विचार उपस्थित किया गया है कि जहाँ आकाश से वायु और वायु से जल इस प्रकार एक भूत से दूसरे भूत की उत्पत्ति बतायी गयी है वहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि आकाश आदि अपने से पर भूत को उत्पन्न करने में वे स्वतन्त्र हैं और ईश्वर का स्रष्टृत्त्व परम्परा रूप से होकर गौण होता है। इनका सिद्धान्त है कि वास्तव में सभी भूतों की उत्पत्ति ईश्वर से ही होती है। 'तदभिध्यानादेव तल्लिङ्गात् सः' यह सूत्र है। उस ईश्वर के अभिध्यान से ही इन भूतों की उत्पत्ति समझनी चाहिए। ईश्वर ही आकाश आदि की आत्मा के रूप में अवस्थित होकर सब भूतों की उत्पत्ति करता है। 'सोऽकामयत—बहु स्यां प्रजायेयेति' कह कर 'सच्च त्यच्च अभवत् तदात्मानं स्वयम् अकुरुत' यह कहा गया है जिसका स्पष्ट भाव यह है कि ईश्वर ने ही कामना—इच्छा की और स्वयम् अपने को परिणत किया। इसी प्रकार यह भी मिलता है—'तत्तेज ऐक्षत', 'ता आप ऐक्षन्त' अर्थात् तेज ने

१. 'इयत्यग्र आसीद्....तामेमूष इति वराह उज्जघान। इत्यादि—शत० (१४।१।२।२२)

ईक्षण (कामना) किया आप् ने ईक्षण किया। इन वाक्यों में अचेतन तेज आदि के लिए ईक्षण करना प्रयुक्त होता है। ईक्षण करना चेतन का धर्म है। इन तेज आदि में चेतनत्व का जो आरोप किया गया है वह ईश्वर का ही धर्म है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' इस श्रुति के अनुसार चिदात्मा ईश्वर के ही सर्वत्र व्याप्त होने के कारण उन्हीं का यह ईक्षण व्यापार है। 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा'—इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा नहीं है इसके अनुसार ईश्वर से अतिरिक्त के लिए ईक्षण का प्रतिषेध किया गया है। अतः यह सब भूत सृष्टि ईश्वर कर्तृक ही है, यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार भूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विचार किया गया है। इसके बाद ब्रह्म-सूत्र में प्रतिसंचर-लयक्रम पर भी विचार किया गया है। भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और लय ईश्वर के ही अधीन हैं यह श्रुति वाक्य है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जीवन्ति यदभिसंविशन्तीति।' उत्पत्ति का क्रम तो अनेक श्रुतियों में बताया गया है परन्तु प्रलय के क्रम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, संकेत अवश्य है। इस सम्बन्ध में बादरायण का सूत्र है —'विपर्य्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च।' इस उत्पत्ति क्रम से विपरीत प्रलय क्रम समझना चाहिए। लोक में इसी प्रकार देखा जाता है। जिस क्रम से कोई सीढ़ी पर चढ़ता है उसके विपरीत क्रम से ही उतरता है। जल से ओले बरफ आदि बनते हैं और फिर वे जल रूप में वापस हो जाते हैं। अतः अपनी स्थिति काल की समाप्ति पर यह पृथ्वी अपने उद्भव जल तत्त्व में लीन हो जायगी। इसी प्रकार अप् तेज में, तेज वायु में और वायु आकाश में प्रलीन होंगे। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर दशा में प्राप्त होते हुए ये सब अन्त में परम कारण रूप ईश्वर में ही लीन होंगे। ईश्वर से ही यह सर्ग होता है और अन्त में ईश्वर में ही लीन होता है। पुराण वचन इसके लिए स्पष्ट मिलता है—

"जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।
ज्योतिष्याप: प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥" इत्यादि।

यही आशय गीता में भी स्पष्ट है—

"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥"—गीता।

यहाँ भी अव्यय पुरुष को प्रभव और प्रलय स्पष्ट अक्षरों में कहा गया है। इसके अतिरिक्त श्रुतियों में भी इस प्रलय का संकेत है—

'अस्य लोकस्य का गतिरिति। आकाश इति। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते। आकाशं प्रत्यस्तं गच्छन्ति'—इत्यादि स्पष्ट है। इसी प्रकार और भी श्रुति वाक्य हैं। यहाँ दिग्दर्शन पर्याप्त है।

इस प्रकार क्षर पुरुष की पाँच कलाओं का आधिदैविक और आधिभौतिक वर्णन है। आधिभौतिक और आधिदैविक कलाओं के योग से आध्यात्मिक कलाएँ निष्पन्न होती हैं इनके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

यहाँ यह और द्रष्टव्य है कि आधिभौतिक पाँचों मण्डल एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और परस्पर एक दूसरे के उपकारक हैं। जो पार्थिव पदार्थ हमको प्राप्त होते हैं उनमें पाँचों मण्डलों का अंश सम्मिलित है। इसका दृष्टान्त एक सम्माननीय विद्वान् ने इस प्रकार दिया है—जलाने की लकड़ी को ही लिया जाय। इसका ऊपर का भाग तो पृथ्वी से बना हुआ है ही। इसमें यदि आग लगा दी जाय तो अग्नि का कार्य विशकलन करने का है वह भिन्न-भिन्न तत्त्वों के पारस्परिक सम्बन्ध विघटित कर देती है। तब पहले ही पृथ्वी का अंश ठोसपन और कठिनता तो अलग होकर जाती रहेगी। आगे चन्द्रमण्डल से आया हुआ सोम भाग द्रुत होकर टपक जायगा और सूर्यमण्डल से किरणों के द्वारा जो रूप उसमें प्राप्त हुए हैं वे भी बन्धन से विमुक्त होकर सूर्यमण्डल में परावर्तित हो जायँगे। अब तो कोयलों में श्याम (काला) रूप दिखाई देगा, वह परमेष्ठिमण्डल का सोम है जो घनता में आकर श्याम रूप दिखाई दे रहा है। अधिक अग्नि के प्रयोग से उसे भी निकाल दिया जाय तो स्वच्छ वर्ण का भस्म शेष रहेगा जो स्वयंभूमण्डल की स्वच्छता को अभिव्यक्त करेगा। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में सबके अंश देखे जा सकते हैं।

यह प्रतिसंचर का अच्छा उदाहरण है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जो वस्तु सृष्टि दशा में जहाँ से उद्भूत होती है प्रतिसंचर दशा में वहीं उसका लय होता है। क्रमशः आधिभौतिक मण्डलों के लय होने के पश्चात् अन्त में सबके परम कारण मूल तत्त्व में सबका लय हो जाना सिद्ध हो जाता है। जहाँ से उद्भव होता है वहीं प्रलय होता है।

आत्मतत्त्व—षोडशीप्रजापति

परात्पर, पंचकल अव्यय, पंचकल अक्षर और पंचकल क्षर इस प्रकार सोलह कलाओं का संघ 'षोडशी पुरुष' कहलाता है। समस्त सृष्टि इसीसे उत्पन्न होती है और यही सम्पूर्ण सृष्टि में व्यापक रूप से वर्तमान रहता है। ऐसा कोई पदार्थ विश्व में नहीं है जिसमें इसकी अवस्थिति न हो। विकार आवरणों के द्वारा पदार्थों में भिन्न-भिन्न नाम रूप ही देखे जाते हैं परन्तु यह षोडशी पुरुष सर्वत्र समान रूप से अविकृत रहता है। सबमें यह अनुस्यूत है, यही प्रजापति (षोडशी प्रजापति) कहा जाता है। इसीसे प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं इसी में स्थित रहती हैं और अन्त में इसी में लीन होती हैं। यह प्रजापति दो प्रकार का कहा गया है—अनिरुक्त प्रजापति और सर्व प्रजापति। अनिरुक्त प्रजापति

का वर्णन निम्नलिखित मन्त्र में स्पष्ट होता है। इसके तीन प्रकार के अर्थ किये गये हैं इसलिए इस गम्भीर अर्थ पर ध्यान देने से तीन प्रकार के तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है—

"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ।।"
(यजुः संहिता ३१ ।१९)

प्रथम अर्थ यह किया गया है—प्रजापति सम्पूर्ण प्रजाओं का स्वामी परमात्मा नित्य होने के कारण अजायमान है वस्तुतः उत्पन्न नहीं होता तो भी जरायुज, अण्डज आदि चारों प्रकार के भूतों के गर्भ में जीव रूप से प्रविष्ट होकर विचरता है (गर्भे अन्तः चरति) और बहुधा विजायते अर्थात् अनेक प्रकार की सन्तान उत्पन्न करता है, वा उत्पन्न होता है। अर्थात् स्वयं परमात्मा नित्य निर्विकार है वह उत्पन्न नहीं होता। किन्तु स्वप्रेरित माया द्वारा स्वयं ही कार्य कारणात्मक जगद् रूप बनता है। इससे वही गर्भ में प्रविष्ट होने वाला गर्भों को उत्पन्न करने वाला वा नाना रूप में उत्पन्न होने वाला है। विद्वान् (धीराः) पुरुष उस परमात्मा के स्थान (योनि) अर्थात् स्वरूप को स्वात्म के अभेद रूप से सर्वत्र देखते हैं। सम्पूर्ण लोक (विश्वा भुवनानि) उसी परमात्मा के आधार पर रहते हैं। जैसे घट मृत्तिका के आधार पर रहता है, पट तन्तुओं के आधार पर। इसी प्रकार कार्य-कारणात्मक सम्पूर्ण जगत् परम कारण रूप परमात्मा के आधार पर अवस्थित है। इस अर्थ से ईश्वर की जगत्कारणता और जगत् का ईश्वर से अभेद सिद्ध होता है।

दूसरा अर्थ है—प्रजाओं का स्वामी परमात्मा स्वरूप से नित्य होने के कारण उत्पन्न न होता हुआ भी जगत् के उपकार और भक्तों पर अनुग्रह के कारण गर्भ में प्रवेश करता है और मत्स्य, कूर्म, वराह, मनुष्य आदि नाना प्रकार की योनियों में जन्म ग्रहण करता है—(बहुधा विजायते) अर्थात् अनेक अवतार लेता है। विद्वान् लोग उसकी उत्पत्ति के स्थान को (कहाँ किस कारण अवतार हुआ इस रहस्य को) जानते हैं और उसी अवतारी परमात्मा के आश्रय से सम्पूर्ण लोक स्थिर रहते हैं। अर्थात् लोकमर्यादा की स्थिरता ही परमात्मा के अवतार का मुख्य हेतु होती है। इस दूसरे अर्थ में अवतार विज्ञान स्पष्ट होता है।

तीसरा वैज्ञानिक अर्थ है—(प्रजापति)—तैंतीस देवताओं में व्याप्त रहने वाला प्रजापति नाम का देवता (गर्भे अन्तः चरति) रतिअर्थात् प्रत्येक पदार्थ के ठीक मध्य (केन्द्र) में विचरता है। वह स्वयं अजायमान है, शक्ति रूप से नित्य है और बहुधा विजायते अर्थात् अनेक रूप से वस्तुओं का विस्तार करता रहता है। धैर्यवान् विद्वान् ही उस

प्रजापति के ठीक स्थान को पहचान सकते हैं। सम्पूर्ण भुवन के पदार्थ उसी प्रजापति के आधार पर बद्ध रहते हैं।

प्रकृत मन्त्र का यह वैज्ञानिक अर्थ है। इससे केन्द्र शक्ति का विज्ञान प्रकट होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी प्रत्येक पदार्थ के केन्द्र में एक शक्ति मानी जाती है जिसके आकर्षण पर सब पदार्थ स्थिर रहते हैं। उस शक्ति का आधार वेदोक्त आधिदैविक विज्ञान में प्रजापति देवता माना गया है। इस प्रजापति का वर्णन 'अनिरुक्तो वै प्रजापतिः' आदि वाक्यों से अन्यत्र श्रुतियों में बहुधा मिलता है। यह केन्द्रशक्ति निरवयव है उसके भाग नहीं, अतएव उसे अनिरुक्त कहा गया है क्योंकि उसका निर्वचन नहीं हो सकता। वह प्रजापति देवता सब पदार्थों के केन्द्र में निवास करता है और केन्द्र से ही विविध प्रकार की किरणें हर एक पदार्थ में से निकलती हैं। वृक्ष, प्राणी आदि पदार्थ केन्द्र शक्ति के आधार से ही बढ़ते हैं, अतः प्रजापति देवता ही विविध रूप से उत्पन्न हो रहा है। यद्यपि गोल पदार्थ के केन्द्र का परिज्ञान साधारणतः हो जाता है किन्तु दूसरे प्रकार के लम्बे चिपटे आदि पदार्थों के केन्द्र का परिज्ञान सरल नहीं है, उसके लिए बड़े गम्भीर गणित की आवश्यकता है। अतएव श्रुति ने कहा है कि उसे धीर (विद्वान्) पुरुष ही जान सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि प्रजापति के आधार से ही सब लोक ठहरे हुए हैं। यदि किसी बहुत भारी पदार्थ के भी ठीक केन्द्र स्थान का पता लगा लिया जाय तो अनायास ही उसका धारण किया जा सकता है। केन्द्र के आधार पर भारी से भारी वस्तु अनायास ठहर जाती है यह आशय भी इन वाक्यों से अभिव्यक्त हो जाता है। जिस प्रकार एक व्यष्टि (भिन्न-भिन्न पदार्थ) में प्रजापति है—जिसके लिए कहा गया है—'यद्वै किंच प्राणि स प्रजापतिः' इसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (समष्टि) का भी प्रजापति है जो हिरण्यगर्भ, सूत्रात्मा आदि नामों से शास्त्रों में वर्णित है। वह ब्रह्माण्ड के केन्द्र में रहता है।

यह अनिरुक्त प्रजापति का वर्णन हुआ। प्रजासहित **सर्व प्रजापति** का वर्णन इस मन्त्र में है—

"प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥"

इसका अर्थ है कि 'हे प्रजापति! तुम से अतिरिक्त और कोई नहीं है, जो इन सब उत्पन्न होने वाले पदार्थों को अभिव्याप्त कर उनके चारों ओर रहता है। (आप ही सब उत्पन्न होने वाले पदार्थों को घेर कर उनके चारों ओर मर्यादाबद्ध रहते हैं)। हम लोग जिस कामना से आपके लिए आहुति देते हैं (यज्ञ करते हैं), वे हमारी कामनाएँ पूर्ण हों। (सर्व प्रजापति ही सब यज्ञों का भोक्ता है; उसका ही स्वरूप संघटन यज्ञ से होता है इस-

लिए यज्ञ की सफलता उसी से माँगी जाती है।) हम सब सम्पत्तियों के स्वामी बनें। वही सर्व प्रजापति सम्पत्ति-रूप या सम्पत्ति का अधिष्ठाता है। पिण्ड रूप से उसे सम्पत्ति कह सकते हैं और उन-उन पदार्थों के अभिमानी चैतन्य के रूप में सम्पत्ति का अधिष्ठाता। स्तुति के मन्त्रों में अभिमानी चैतन्य की ओर ही लक्ष्य रहता है, इसलिए उससे ही सम्पत्ति प्राप्ति की प्रार्थना की गयी है।

यह शक्ति प्रत्येक पदार्थ में व्यापक रूप से रहती है। या यह कह सकते हैं कि मन-प्राण और वाक् रूप यह प्रजापति ही सत्ता रूप से सब पदार्थों में अनुप्रविष्ट है, यही पदार्थों की सत्ता है। वैदिक विज्ञान के अनुसार केन्द्र-शक्ति और यह प्रत्येक पदार्थ में रहने वाली शक्ति एक ही हैं। केन्द्र-शक्ति का विकास रूप ही यह व्यापक शक्ति है, अतएव दोनों का एक प्रजापति शब्द से ही वेद में व्यवहार किया गया है। प्रजापति का वर्णन वेद में बहुत है। जिस-जिस पिण्ड आदि के जो देवता अधिष्ठाता हैं—वे सब भी उस वस्तु के लिए प्रजापति रूप से वर्णित हैं।

ईश्वर और जीव दोनों ही प्रजापति कहलाते हैं। ईश्वर प्रजापति आधिदैविक है और अधिभूत उसकी प्रजा है। जीव प्रजापति आध्यात्मिक है और शरीर आदि उसकी प्रजा हैं।

दूसरे प्रकार से प्रजापति के तीन भेद किये गये हैं। नभ्य अर्थात् अनिरुक्त अव्याकृत, दूसरा व्याकृत—जिसका नाम और रूप के द्वारा व्याकरण, विवरण हुआ है। इसे ही मूर्ति (पिण्ड) होने के कारण मूर्त प्रजापति कहते हैं। तीसरा सर्वप्रजापति है जो अपने से उत्पन्न हुए सब विकारों से युक्त है। नभ्य प्रजापति नाभि में अर्थात् केन्द्र में रहता है और वहीं से अपनी किरणों का प्रसार करता है। वह धर्म रहित है। उसी में नाम-रूप धर्मों के द्वारा व्याकरण होता है तब वह व्याकृत रूप मूर्त प्रजापति होता है। नभ्य प्रजापति अपने स्वरूप से उत्थित समस्त पदार्थों का उक्थ, साम और ब्रह्म है। सब पदार्थ उसी से उत्थान करते हैं, उसी से निकलते हैं, इससे परोक्ष भाषा में वह उक्थ है। सबको अपने में धारण करता है इससे वह सबका ब्रह्म है—जो धारण करता है वह ब्रह्म कहा जाता है—बिभर्ति इति ब्रह्म। ब्रह्म शब्द भृ-धारणे धातु से निष्पन्न हुआ है। अपने से उठे हुए समस्त विकारों में वह समान रूप से व्याप्त रहता है इससे वह साम कहलाता है। जो जिस पदार्थ का उक्थ ब्रह्म और साम होता है वही उसका आत्मा कहलाता है, इस प्रकार यह नभ्य प्रजापति अपने से उत्पन्न हुए सब विकारों का आत्मा है। मूर्ति उसका व्याकृत रूप है, यह कहा गया है। इस मूर्ति के चारों ओर उसकी गो (किरणें) विचरण करती हैं और वेद-यज्ञ, रसा और देव इन्हीं किरणों के आश्रय से रहते हैं। इसका विशेष विवरण अन्यत्र

हुआ है, इस प्रकरण का केवल यही वक्तव्य है कि जहाँ कहीं हम किसी वस्तु को देखते हैं वहाँ उस प्रजापति रूप पदार्थ की गोरूप किरणें ही हमारे नेत्र-पटल पर प्राप्त होती हैं उसी से हमें उस वस्तु का ज्ञान होता है। ये पदार्थ की किरणें सूर्य आदि की किरणों के द्वारा ही उनसे मिल कर हमारे नेत्र में पहुँचती हैं। इसी का वर्णन निम्नलिखित मन्त्र में हुआ है—

"प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।

शिवाः सतीरूप नो गोष्ठमाकस्तासां वयंप्रजयासंमदेम॥"—(ऋ० १०।१२१)

सायण के अनुसार इसका भाव यह है कि प्रजापति विधाता ने हमें ये गौएँ दी हैं। वे सब देव और पितरों से एक मत थे; सबके ऐकमत्य से इन गौओं को दिया है। ये गौएँ कल्याण-कारिणी होती हुई हमारे व्रज (गोष्ठ) का उपकार करें। उन गौओं की प्रजा—सन्तान—वत्सों से हम युक्त हैं। परन्तु इसका वैज्ञानिक अर्थ ब्रह्मचतुष्पदी में इस प्रकार है—प्रजापति प्रति वस्तु में प्रतिष्ठित उस वस्तु की आत्मा है। वह सौर प्राण और चान्द्र प्राणों से संयुक्त होकर किरणों के प्रतिफलन के द्वारा सूर्य आदि की किरणों से मिल कर हमारे नेत्र में पहुँचता है, वही हमारे नेत्र में वस्तु के रूप में दिखता है। गोष्ठ यहाँ नेत्र चक्र है। गौओं की प्रजा उनसे उत्पन्न उन वस्तुओं का रूप है। संमदनम् का अर्थ यहाँ ज्ञान-वर्धन है। देवताओं का निवास सूर्य की किरणों में है तथा पितरों का चन्द्र किरणों में। इससे यहाँ **विश्वैर्देवैः** से सूर्यकिरण और **पितृभिः** से चन्द्रकिरण का अभिप्राय है। संविदानः का अर्थ है संसृष्ट होना। सूर्य और चन्द्र की किरणों से संसृष्ट होता हुआ प्रजापति, जो प्रतिवस्तु का अभिमानी प्राण है, शिवाः अर्थात् दृष्टि के अनुकूल होने वाली इन किरणों को हमारे गोष्ठ—दृक्प्रदेश में उपकार करता है। यदि वस्तु प्रदेश से प्रतिफलित ये किरणें न आवें तो हम किसी वस्तु को देख न सकेंगे और तब हमारे नेत्रों को अन्न न प्राप्त होगा और वे नष्टप्राय हो जायँगे। क्योंकि धर्म है देखना और जब कोई पदार्थ ही दृष्टिगत न होगा तो उनका अस्तित्व ही निरर्थक हो जायगा। इसलिए इन किरणों का दृष्टि पर अनुग्रह होने से दृष्टि का उपकार होता है। उन किरणों से उत्पन्न प्रजा के द्वारा प्रतिफलित किरणों से प्राप्त वस्तु के रूप से ज्ञानवर्धन होने से हम आनन्दित होते हैं। यह वैज्ञानिक अर्थ है। यह अन्यत्र स्पष्ट हो चुका है कि वेदों के अर्थ बहुत गम्भीर और सारगर्भित हैं और सूक्ष्म रूप से अनेक तत्त्वों का संकेत करते हैं। इसके कुछ और उदाहरण **वेद की शैली** के प्रकरण में स्पष्ट हुए हैं।

यह कहा जा चुका है कि क्षर, अक्षर और अव्यय तथा परात्पर इन चारों की षोडश कलाओं के द्वारा षोडशी पुरुष निष्पन्न होता है और वह सर्वत्र समान रूप से व्याप्त रहता

है। महान् या अणु रूप में ये षोडशी पुरुष अनन्त हैं क्योंकि सभी पदार्थ मात्र षोडशी पुरुष हैं। 'सर्वं वा षोडशकलम्' यह कहा गया है। जितने परमाणु हैं वे सब षोडश कला वाले हैं। इन षोडश कला वाले परमाणुओं का एक दूसरे में योग होने से जब उनकी एकात्मता होती है तब वह यज्ञ कहलाता है। अनेक परमाणुओं के योग से जो अणु बनता है उसे **त्रसरेणु** कहा जाता है, उसे ही यज्ञपुरुष कहते हैं। दो षोडशी पुरुषों के योग से दोनों का सम्मिलित रूप होता है उसमें नवीन षोडशी व्याप्त होता है और इस नये रूप यज्ञ का वह आधार बनता है। योषा (स्त्री) तथा वृषा (पुरुष) तत्वों के योग से जो एक नया पदार्थ बनता है उसमें कोई दूसरा अव्यय पुरुष प्रवृत्त होता है और उसके साथ ही अक्षर, क्षर और परात्पर के नित्य सम्बन्ध के कारण नया षोडशी पुरुष बन जाता है। इस प्रकार एक-एक पदार्थ यज्ञस्वरूप है। फिर एक यज्ञ दूसरे यज्ञ का उत्पादक होता है। यज्ञ से फिर यज्ञ होता है। इसी के लिए श्रुति (पुरुष सूक्त) कहती है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।' दो या अधिक यज्ञों के परस्पर योग से जो अन्य यज्ञ प्रवृत्त होता है वह विराट् (क्षुद्रविराट्) कहा जाता है और दस प्रकार के प्राण उसके आश्रय से स्थित हो जाते हैं। यज्ञ से फिर यज्ञ इस क्रम से अन्त में जो यज्ञ होता है जहाँ उस यज्ञ की सीमा समाप्त समझी जाती है उस अन्तिम यज्ञ को ही ईश्वर-यज्ञ पुरुष कहा जाता है। रस स्वतः निर्विशेष है। बलों के उद्भूत होने पर वही परात्पर कहा गया है। उसमें माया से सीमित अनन्त षोडशी पुरुष स्थित हैं। एक-एक षोडशी पुरुष स्वपुर से आवृत (आच्छन्न) तीन पुरुषों के द्वारा कृतात्मा होकर मूर्ति पुरुष शरीरधारी होता है। इन षोडशी रूप मूर्ति-परमाणु जब आपस में मिलकर त्रसरेणु बनाते हैं वह त्रसरेणु यज्ञ पुरुष है। फिर एक यज्ञ से जो दूसरा यज्ञ निष्पन्न होता है वह विराट् है, ये अनन्त हैं। परन्तु इन सबका समष्टि रूप ईश्वर परम विराट् है। निर्विशेष, परात्पर पुर् पुरुष और यज्ञ यह ऊपर से क्रम है। सबके अन्त में यज्ञ ही प्रतिष्ठित होता है। परात्पर से लेकर यज्ञ पुरुष ईश्वर सब वास्तव में एक ही तत्त्व की अवस्था विशेष हैं। जिस प्रकार कपड़े से बने हुए किसी शिरश्छादन में कपड़ा, तन्तु, रूई इत्यादि एक ही तत्त्वकी अवस्था विशेष हैं, इसलिए वह उष्णीष् भी कहा जा सकता है वही तन्तु और वही तूल। इसी प्रकार ये सब भी परात्पर षोडशी यज्ञ आदि भी एक ही तत्त्व सिद्ध होते हैं।

श्रुतियों में प्रजापति के अनेक रूपों का वर्णन मिलता है। पूर्व में अनिरुक्त और सर्व इन दो प्रजापतियों का उल्लेख हो चुका है। यज्ञात्मा प्रजापति को सप्तदश अंग वाला भी कहा गया है। षोडशी पुरुष की सोलह कलाएँ वही देह रूपी अंग से आवृत होकर देहावृत षोडशी प्रजापति को सत्रह अंग वाला कहा गया है। जिसके लिए यह वाक्य है :—

"चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै यज्ञात्मने नमः ।।"

प्रजापति के लिए जो हवन किया जाता है उसके लिए 'ओ श्रावय' यह चार अक्षर वाला मन्त्र है—फिर 'अस्तु श्रौषट्' यह चार अक्षर, फिर 'यज' ये दो अक्षर, 'ये यजामहे' पाँच अक्षर अन्त में वषट् दो अक्षर वाला भाग है । सब मिला कर सत्रह अक्षर सत्रह अंगों का संकेत करते हैं । यह मैत्रायणी श्रुति में (१।४।११) कहा गया है । इस सत्रह अक्षर वाले को छन्दस्य प्रजापति कहा गया है । यह भी इसकी फलश्रुति में कहा गया है कि यज्ञ में अन्वाभक्त इस प्रजापति को जानता है उसका स्मरण करता है उसके यज्ञ में अनवधानता से जो न्यूनता या अतिरिक्तता हो जाती है उसका परिहार हो जाता है—यज्ञ की पूर्णता होती है ।

पूर्व में जो अनिरुक्त प्रजापति कहा गया है वह माया से परिच्छिन्न नहीं है—माया रहित है—'अमाय' वह परात्पर है जहाँ रस में बल उद्भूत रहते हैं परन्तु सीमित नहीं रहते—बाद में माया से परिच्छिन्न होने पर अव्यय होता है । यह भी वास्तव में परात्पर ही है, रस प्रधान है परन्तु महामाया के प्रभाव से सीमित-सा प्रतीत होता है । यह मायी है और संस्था भेद से चार प्रकार का हो जाता है । शुद्ध अव्यय की दशा में वह 'अमित' कहलाता है । वही जब दूसरी संस्था में पाँच अक्षरों से युक्त होता है तब वह **सत्य** प्रजापति कहा जाता है । यह अपनी प्रकृति के सहित है । अक्षर और क्षर दोनों को गीता में अव्यय पुरुष की परा और अपरा प्रकृति कहा गया है । वही अव्यय अक्षर और क्षर से त्रिधातु होकर षोडशी प्रजापति बनता है और अन्त में यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा यज्ञ प्रजापति होता है । सबके अन्त में यज्ञ प्रजापति ही प्रतिष्ठित है जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में (१।८।१) में कहा गया है—'यज्ञ एवान्ततः प्रतितिष्ठति' । पूर्व में कहा जा चुका है कि प्रत्येक पदार्थ षोडशी है; प्रत्येक में सोलह कलाएँ हैं । वही त्रिधातु षोडशी पुरुष विकारक्षरों के द्वारा ग्रहण करके उससे आवृत हो जाता है तब यज्ञ नाम धारण करता है । देही (देह वाला) षोडश कला वाला है । क्रम से उसके तीन शरीर—कारण, सूक्ष्म और स्थूल—स्वतः उत्पन्न होते हैं और उस षोडशी देही का आवरण करते हैं । तीनों देहों से विशिष्ट इस यज्ञ प्रजापति का आत्मा षोडशी पुरुष है, वह देह से अतिरिक्त है । षोडशी पुरुष की आत्मा सत्य पुरुष और उसकी भी आत्मा अमित अव्यय है । यह माया से परिच्छिन्न होने पर भी अनवच्छिन्न के समान ही माना जाता है । इनका भी आत्मा निर्विशेष परात्पर है, वह मन और वाणी से अतीत है । ये जो चार—अमित, सत्य, षोडशी और यज्ञ हैं वही यह जगत् है; सर्वत्र ये ही व्याप्त हैं और इन्हें ही हम कथमपि जान सकते

है । यह पूर्व में कहा जा चुका है कि जो जिससे उत्पन्न होता है जिसमें लीन होता है वह कारण रूप कार्य का आत्मा कहा जाता है इसी दृष्टि से यहाँ परम कारण परात्पर सबका आत्मा कहा गया हैं । सब उसी से उत्पन्न होते हैं सबमें वह समान रूप से व्याप्त है सबको धारण किये हुए हैं और अन्त में उसी में सबका लय होता है ।

एक दूसरे प्रकार से प्रजापति को पाँच प्रकार का कहा गया है—उक्थ, विराट्, वैराज, छन्दस्य और सर्व । प्रत्येक शरीर के भीतर केन्द्र में जो हृद्य प्रजापति है उसे ही पूर्व में अनिरुक्त कहा गया है । अनिरुक्त को आवरण करने वाला शरीर कहा जाता है । हृद्ग्रन्थि के भेद से शरीर तीन प्रकार के हो जाते हैं—कारण, सूक्ष्म और स्थूल । इन तीनों से हृद्य आत्मा आवृत (ढका हुआ) रहता है । ये तीनों शरीर आत्मा के प्रथम पद हैं । फिर इनसे उत्थित दो और शरीर होते हैं ये बाद के पद हैं । ये जो तीन शरीर वाली मूर्ति है वह आत्मा का आद्य पृष्ठ है । चौथा शरीर सत्रहवाँ अहर्गण है वह मध्य कहलाता है वह दूसरा पृष्ठ है । अन्तिम शरीर तैंतीस अहर्गण है वह तीसरा पृष्ठ है । आद्य पृष्ठ हाथ से स्पर्श किया जा सकता है । मध्य पृष्ठ को आहवनीय कहा जाता है और वहीं तक आकर्षण शक्ति रहती है । तीसरा बहिःपृष्ठ है और उसके भीतर ही दृष्टि का संयोग होने से वह वस्तु दृष्टिगोचर हो सकती है । उसे ही अन्तिम साम कहा जाता है । इसका विवेचन अन्यत्र हुआ है । प्रत्येक आत्मा त्रिपृष्ठ (तीन पृष्ठ वाला) और पांच-शरीर वाला है । इन पांच शरीरों के कारण ही यज्ञ को पाँक्त (पाँच अवयव वाला) कहा गया है । इन पाँचों में कारण शरीर से उक्थ प्रजापति, सूक्ष्म शरीर से विराट्, स्थूल शरीर से वैराज, मध्य से छन्दस्य और तैंतीसवें अन्तिम पृष्ठ से सर्व ये पाँच प्रजापति के रूप होते हैं । इन पाँचों शरीरों से पाँच प्राकार वाले पुर के समान इस शरीर रूपी पुर में रहने के कारण यह षोडशी **पुरुष** (पुरि शेते इति पुरुषः) कहलाता है ।

इन पाँच प्रकार के यज्ञीय प्रजापतियों (उक्थ, विराज आदि) के साथ पूर्वोक्त अमित सत्य और षोडशी को मिलाने से प्रजापति की आठ संस्थाएँ हो जाती हैं । इन आठों प्रजापतियों से प्रारब्ध जो सर्वप्रजापति है वही मुख्य यज्ञ प्रजापति है । चित्य अग्नि के साथ जो चिते निधेयाग्नि है उसमें निरन्तर सोम की आहुति होती रहती है, वही यज्ञ प्रजापति है । उसकी चार संस्थाएँ हैं—परमेश्वर, ईश्वर, प्रतिमा और जीव । पूर्व-पूर्व के गर्भ में पर हैं । प्रथम जो परात्पर कहा गया है वह परमेश्वर है । स्वयंभूः परोरजाः (त्रैलोक्यातीत) ईश्वर है । सूर्य, परमेष्ठी, पृथिवी आदि प्रतिमा प्रजापति हैं । सूर्य, पृथिवी आदि में उत्पन्न हुए प्राणिगण जीव प्रजापति हैं । परमेश्वर अनादि, अनन्त, भूमा है । उसके गर्भ में अनन्त ईश्वर उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं । ईश्वर ऋतसत्यमय है । नाभि (केन्द्र)

और परिधि से सहित है । सातों लोक (भूः भुवः स्वः महः आदि) उसके शरीर हैं । वह मायी है; मुक्त है, निश्चल है । ईश्वर के गर्भ में नाभि और परिधि से युक्त प्रतिमा प्रजापति है । शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें अध्याय में प्रतिमा प्रजापतियों के सम्बन्ध में उल्लेख है । द्यावा-पृथ्वी के सम्मिलित रस से उत्पन्न पृथ्वी के ये प्राणी हैं । ये तीन प्रकार के हैं––आप्, वायु और सोम । ये तीनों भृगु के रूप में हैं । इन्हीं तीनों में––आप्य, वायव्य और सोम्य प्राणों में चित् का प्रतिबिम्ब होता है इससे इन्हीं तीन में चेतना प्रतिबिम्बित होती है । अन्य पदार्थ चित् के आभास को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है क्योंकि चित् यद्यपि सर्वत्र व्याप्त है तथापि उन पदार्थों में प्रतिफलन की शक्ति न होने से प्रतिबिम्ब नहीं बनता । चन्द्रमा के प्रकाश भाग में जो जीव विचरण करते हैं वे सोम्य जीव कहलाते हैं । कुछ लोगों के मत से शुक्र, रुधिर, अस्थि आदि में जो कृमि, कीट आदि (सृमर) हैं वे सोम-प्रधान होने के कारण सोम्य जीव कहे जाते हैं । इन सब प्रजापतियों में से दो ही विशेष उल्लेखनीय हैं––ईश्वर––परमात्मा, और जीवात्मा । इन्हीं दोनों––ईश्वर और जीव में सब प्रतिष्ठित हैं । सर्वादि में परात्पर परमेश्वर है, वह अनन्त बल सम्पन्न है और माया से अवच्छिन्न नहीं है । उसके अन्तर्गत ईश्वर और जीव ये दो यज्ञपुरुष हैं जिनका बार-बार उद्भव और प्रलय होता रहता है ।

ईश्वर प्रजापति और जीव प्रजापति

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि परात्पर परमेश्वर प्रथमावस्था है उसी में महामाया से सीमित-सा होने के कारण अव्यय पुरुष की संस्था है । उसी अव्यय पुरुष को सहस्र शाखा वाला अश्वत्थ कहा गया है; वही महेश्वर कहलाता है । फिर पाँच स्कन्धवाली एक-एक शाखा से परिच्छिन्न अव्यय पुरुष कहलाता है । परमेश्वर, महेश्वर और ईश्वर ये तीनों एक ही तत्त्व हैं केवल मात्रा का तारतम्य है; उसके अनुसार अवस्थाओं में भेद प्रतीत होता है । इसी प्रकार जीव भी ईश्वर से भिन्न नहीं है । अन्तर इतना ही है कि ईश्वर की अपेक्षा जीव में शक्ति की अत्यन्त अल्प मात्रा है । ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में यह अवश्य है कि षोडशी पुरुष की जो कलाएँ ईश्वर में हैं वे समष्टि हैं उसी षोडशी पुरुष की कलाएँ व्यष्टि रूप में जीव में हैं । ब्रह्मसूत्रों में ईश्वर जीव का तीन प्रकार का सम्बन्ध बताया गया है ।

प्रथम––ईश्वर का अंश जीव है । दोनों में अंशी और अंश का सम्बन्ध है । अन्तर इतना है कि लोक में अंशी पहले नहीं होता । अनेक अंश अवयव मिल कर अंशी या अवयवी का स्वरूप बनता है । उदाहरण के लिए तन्तुओं के संयोग से वस्त्र बनता है । तन्तु अंश––

अवयव हैं उनक समूह से वस्त्र का निर्माण होता है, अतः वस्त्र के सम्पन्न होने से पूर्व तन्तु का रहना आवश्यक है। परन्तु जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में क्रम विपर्यय है। ईश्वर अंशी है वह पूर्व है उसके वाद उसीसे निकले हुए उसके अंश जीव हैं। मुण्डकोपनिषद् में इसका उल्लेख है--

"तदेतत्सत्यम्। यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ।।"

अर्थात् जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्नि से समान रूप वाले हजारों अग्निकण निकलते हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष से अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन होते हैं। इस प्रकार जैसे अग्नि के कण उसके अंश हैं उसी तरह ईश्वर के अंश जीव हैं। जो-जो अग्नि के धर्म हैं वे सब अग्निकण में भी विद्यमान हैं परन्तु इनमें शक्ति की न्यूनता अवश्य रहती है। इसी प्रकार ईश्वर के जितने धर्म हैं वे सब जीव में भी विद्यमान रहते हैं परन्तु इन जीवों में अन्त्यन्त अल्प शक्ति रहती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिस प्रकार अग्निकण अधिक शक्ति का संचय करके अपनी दाहक शक्ति को बढ़ा सकता है उसी प्रकार जीव भी योग, उपासना आदि के द्वारा अपनी शक्ति की वृद्धि कर सकता है।

दूसरा प्रकार है--बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव। इसके दृष्टान्त जल दर्पण, आदि कहे गये हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब जल या दर्पण में पड़ कर दिखाई देता है उसी प्रकार ईश्वर का प्रतिबिम्ब रूप यह जीव है। इसका आशय यह है कि मुख्य शक्ति बिम्ब में ही रहती है प्रतिबिम्ब में आभास मात्र होता है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न भी उठाया गया है कि सूर्य के प्रतिबिम्ब के आभास के लिए जल, दर्पण आदि ऐसे पदार्थों की आवश्यकता है जिस पर से किरणों का प्रतिफलन हो सके। परन्तु ईश्वर एक तो निराकार माना गया है अतः उसका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं है; दूसरे उसके अतिरिक्त जब किसी दूसरी वस्तु की सत्ता ही नहीं है तब प्रतिबिम्ब पड़ेगा कहाँ? इसका समाधान यह किया गया है कि यह जगत् तो अनादि काल से चला आ रहा है जहाँ यह कहा जाता है कि यह जगत् मिथ्या है इसका अभिप्राय यही है कि ज्ञान से पृथक् उसकी सत्ता नहीं है, ज्ञान के आधार पर ही उसकी सत्ता नहीं है; उसकी स्वतन्त्रता नहीं है। इसके अतिरिक्त जिस प्रकार व्यवहार पक्ष में सूर्य से ही सृष्टि होती है और फिर उसी सृष्टि में सूर्य की किरणों का सम्पर्क होता है इसी प्रकार ईश्वर द्वारा ही सृष्टि होती है; उसी से आप्, वायु और सोम उत्पन्न होते हैं और फिर उनमें ईश्वर की जो चेतना संक्रान्त होती है वह प्रतिबिम्ब रूप में प्रतिफलित होती है, इसी को **आभास** कहते हैं।

तीसरा—अवच्छेदवाद है। जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश घट, मठ आदि से परिच्छिन्न-सा होता है, घट या मठ की उपाधि के द्वारा सीमित-सा प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में सीमित नहीं है इसी प्रकार शरीर से अवच्छिन्न होने पर ईश्वर ही जीव रूप में सीमित सा प्रतीत होता है। वास्तव में ईश्वर से जीव भिन्न नहीं है। केवल उपाधि का भेद है। जीव शब्द से जड़ और चेतन दोनों लिये जाते हैं। जड़ और चेतन अवस्था मात्र हैं। जिनमें इन्द्रिय होती है उन्हें चेतन कहा गया है और जिनमें इन्द्रिय नहीं है उन्हें अचेतन। चरक ने लिखा है—'सेन्द्रियं चेतन द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।' क्यों चिद्घन ईश्वर की चित्शक्ति तो सर्वत्र व्याप्त है जड़ चेतन सभी में समान रूप से उसकी व्याप्ति है इसलिए जड़ और चेतन का भेद करने वाला इन्द्रियों का अस्तित्व या अभाव है।

ऊपर में जो तीन भेद बताये गये हैं—अग्नि विस्फुलिंग, आभास और अवच्छेद ये तीनों ही यही सिद्ध करते हैं कि ईश्वर से पृथक् जीव की सत्ता नहीं है, वह ईश्वर का ही रूप है; केवल शरीर की उपाधि के कारण आवरण में आकर पृथक्-सा प्रतीत होता है। इसी से भारतीय शास्त्रों में मोक्ष को पृथक् पदार्थ नहीं माना गया है। जीव तो अपने स्वरूप से सदा मुक्त ही है। आवरण के कारण वह बद्ध-सा प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में वह बद्ध नहीं है। मोक्ष स्वतः सिद्ध है। आवरण का हटना ही मोक्ष है। जिस प्रकार सूर्य सदा प्रकाशित रहता है; चाहे बादल के आवरण से उसका प्रकाश तिरोहित प्रतीत होता हो परन्तु स्वरूप से सूर्य के प्रकाश में कोई अन्तर नहीं पड़ता। आवरण के हटते ही प्रकाश दृष्टिगत होने लगता है। आवरण प्रकाश और दृष्टि के बीच में आ जाता है इससे हमारी दृष्टि में प्रकाश का रूप नहीं आने पाता। जिस प्रकार चारों ओर से घिरे हुए दीपक का प्रकाश काच के भीतर एक रूप से वर्तमान रहता है; वह काच यदि स्वच्छ होता है तो उसकी पारदर्शकता के कारण प्रकाश का अंश बाहर भी दिखाई देता है परन्तु यदि काच बिलकुल काला हो तो भीतर एक रूप से यद्यपि दीपक का प्रकाश होता रहेगा तो भी बाहर—अंजन होने के कारण प्रकाश दृष्टिगत नहीं होगा। किन्तु दीपक के प्रकाश की अवस्था में अन्तर न पड़ेगा। इसीलिए ईश्वर को निरंजन कहा गया है और जीव सांजन है—अंजन सहित है। क्षुद्र आयतन में सीमित होने के कारण अल्प शक्ति है। परन्तु वह अंजन यदि दूर कर दिया जाय; मलिन काच को जिस प्रकार स्वच्छ किया जाता है उसी प्रकार शम, दम आदि के अभ्यास के द्वारा यदि अंजन को हटा दिया जाय तो जीव का प्रकाश बाहर भी दृष्टिगत होने लगेगा और यदि योग, उपासना, ज्ञान आदि के द्वारा आवरण भी हटा दिया जाय; उपाधिरहित कर दिया जाय तो जिस प्रकार घट के भीतर अवच्छिन्न—सीमित-सा प्रतीत होने वाला घटाकाश घट के आवरण के मुक्त हो जाने के कारण स्वभावतः व्यापक

आकाश रूप हो जाता है उसी प्रकार जीवात्मा भी उपाधि के हट जाने पर अपने ईश्वर रूप स्वरूप में पहुँच जाता है।

स्थूल प्रपंच या क्षर पुरुष की अवस्था में ईश्वर को विराट् और जीव को विश्व कहा जाता है। इन्हें ही महाविराट् और क्षुद्र विराट् कहा जाता है। प्रत्येक छोटा या बड़ा पदार्थ एक-एक क्षुद्र विराट् है और ईश्वर महाविराट्। सूक्ष्म प्रपंच या अक्षर पुरुष की स्थिति में ईश्वर को हिरण्यगर्भ और जीव को 'तैजस' एवम् उससे भी उच्च केवल कारण रूप प्रपंच की या अव्यय पुरुष की स्थिति में ईश्वर को सर्वज्ञ और जीव को प्राज्ञ कहा जाता है। सम्पूर्ण विश्व को एक मूर्ति के रूप में कल्पना करके भिन्न-भिन्न मण्डलों को उसके भिन्न-भिन्न शरीरावयव मानना जो विराट् पुरुष के वर्णन में भागवत और उपनिषदों में आता है वह विराट् रूप ईश्वर है। उसी विराट् ईश्वर का हमें प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। जैसे हमारे शरीर का अभिमानी एक जीव है वैसे ही सम्पूर्ण विश्व को अपना शरीर मानने वाला एक अभिमानी आत्मा ईश्वर है और अनन्त ब्रह्माण्डों को अपना शरीर मानने वाला एक अपरिच्छिन्न परमेश्वर है। दूसरी युक्ति ईश्वर की सिद्धि में यह है कि जीवात्मा के पास उसकी इन्द्रियाँ,मन आदि जितनी व्यष्टि सामग्री है उस सबकी समष्टि का प्रत्यक्ष या तर्क से हमें पूरा पता लगता है। तब फिर जीव में जो चैतन्य व्यष्टि रूप में है जिसका प्रतिक्षण अनुभव होता है उसकी भी समष्टि चाहिए। उसकी जो समष्टि है वही सत्यं ज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म है। वही ईश्वर या परमेश्वर है।

जीव और ईश्वर का साधर्म्य और वैधर्म्य

जिस प्रकार ईश्वर में अव्यय, अक्षर और क्षर तथा परात्पर--षोडशी पुरुष के रूप में व्याप्त है उसी प्रकार जीव प्रजापति में षोडशी पुरुष की अवस्थिति है, यह पूर्व में कहा गया है। अन्तर इतना है कि जीव ईश्वर का अत्यन्त क्षुद्र अंश है और यह योगमाया से आवृत है, इसलिए ईश्वरीय अव्यय अक्षरादि की मात्राएँ इसमें अत्यन्त अल्प हैं। किन्तु इन्हीं अल्प मात्राओं से इसमें जो पृथक् षोडशी की संस्था बनती है इससे जीव शरीर में जीवतन्त्र के अधिष्ठाता व्यवस्थित होते हैं। ईश्वराव्यय की संस्था भिन्न हो जाती है जीवाव्यय की भिन्न। अपनी निज की संस्था में जीवात्मा भी मनः प्राण वाङमय है, अतः इन तीनों का धर्म, इच्छा तप और श्रम इससे स्वतन्त्र हैं। परन्तु ईश्वर के तन्त्र में यह परतन्त्र हैं। गमन करना, बैठना, सोना, बोलना इत्यादि में जीव की स्वतन्त्रता है परन्तु ईश्वरीय तन्त्र के पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि का प्राकृतिक प्रभाव जो इस पर होता है इसमें वह परतन्त्र है। ईश्वर का शरीर मण्डलाकार है। जीव अर्धेन्द्र है; मण्डलाकार

नहीं है। अपूर्ण है। इसका आधा भाग पत्नी के द्वारा पूर्ण होता है। इसका अन्यत्र वर्णन है। ईश्वर सब धर्मोपपन्न है, उसके संकल्प, उसकी कामना सत्य-सत्य हैं उनमें कभी व्यभिचार नहीं होता। वह विश्वकर्मा है; पूर्ण शक्ति है। इसके विपरीत जीव अपूर्ण-शक्ति है; अल्पवीर्य है। सब मात्राएँ इसमें अल्प हैं। ईश्वर में जागृत्, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का भेद नहीं है। क्षुधा, पिपासा आदि ऊर्मियाँ उसमें नहीं हैं। इसके विपरीत जीव में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्छा, मोह और मरण ये अवस्थाएँ हैं। शोक, मोह, जरा, मरण, क्षुत्, पिपासा ये छः ऊर्मियाँ हैं। ईश्वर वर्तुल वृत्त है उसके लिए कहा गया है कि उसके सब ओर मुख, शिर, ग्रीवा हैं। सब भूतों की गुहा में उसका आशय (निवास) है। वह भगवान् सर्वव्यापी सर्वगत शिव (कल्याणकारक) है। और भी कहा है—उसके हाथ और पैर सब ओर हैं; सब ओर उसके नेत्र, शिर, मुख है, सर्वतः उसके श्रोत्र हैं वह सबको व्याप्त करके स्थित है :—

'सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठेति॥'

इस प्रकार वह महावीर्यशाली है। जीव की इन्द्रियाँ एक ही ओर हैं, सीमित हैं, अतः उसकी शक्ति भी अत्यन्त अल्प है। उसके लिए कहा गया है—

"पराञ्चि खानि व्यतरत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥"

भाव यह है कि स्वयंभू ईश्वर ने जीव की इन्द्रियों को बाहर की ओर बनाया है, अतः वह बाहर की ओर ही देख सकता है, अन्तरात्मा की ओर नहीं। कोई विरला धीर पुरुष ही (धीरः शब्द यहाँ अत्यन्त सार्थक है—जो धी अर्थात् बुद्धि को प्रेरित करता है वह धीर[1] है) अतः अमृतत्व की इच्छा करके अपने चक्षु को आवृत्त करके बुद्धि रूपी चक्षु के द्वारा प्रत्यगात्मा को देखता है।

भगवद्गीता में ईश्वराव्यय को द्वादश गुण वाला कहा गया है —

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥'—गीता।

१. 'धियं बुद्धिम् ईरयति प्रेरयति इति धीरः।'

यह ईश्वराव्यय के सम्बन्ध में है। इसी के बाद जो पृथक् छः गुण बताये गये हैं वे परिशेष के अनुसार जीव प्रजापति में घटित होते हैं। इस प्रकार द्वादश गुणी ईश्वर से छः गुण वाले जीव का भेद स्पष्ट हो जाता है––

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः।।

यहाँ देह शब्द से जीवात्मा स्पष्ट प्रतीत होता है। अध्यात्म में परमात्मा षोडशी पुरुष है। महेश्वर स्वयंभू चित्त है, अनुमन्ता महान् आत्मा अहंकार है; उपद्रष्टा विज्ञानात्मा क्षेत्रज्ञ है; भोक्ता प्रज्ञानात्मा मन है तथा भर्ता शरीरात्मा देह है।

ईश्वर के सम्बन्ध में योगसूत्र में कहा गया है कि क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इन से अस्पष्ट पुरुष विशेष ईश्वर है।––'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' जीव इन क्लेशादि से युक्त है। इस प्रकार दोनों में भेद सिद्ध होता है। यद्यपि जीव ईश्वर का ही अंश कहा गया है, इसलिए भेद न होना चाहिए परन्तु शरीर की उपाधि के कारण प्रकृति के गुणों में आबद्ध होने के कारण उसमें भेद उत्पन्न हो जाता है। ईश्वर चिदात्मा है, चिद्घन है। उसी का अंश प्रत्यगात्मा के रूप में समस्त जीवों में व्याप्त रहता है। उसे ही चिदंश कहते हैं। वह मुख्य जीवात्मा है और सब जीवों में समान रूप से एक ही है, अतः जीवों का समष्टि रूप यह प्रत्यगात्मा ईश्वर के समान ही सर्वदा मुक्त है। परन्तु उसी प्रत्यगात्मा चिदंश का जो अंश शरीर में प्रवर्ग्य होकर विज्ञानात्मा में आभासित होता है वह चिदाभास शारीरक जीव है और वह प्रति शरीर में भिन्न है इससे संख्या में अनन्त है। इस शारीरक आत्मा में ही सुख-दुःख, पुण्य-पाप, कर्म-अकर्म सबका प्रभाव पड़ता है। कर्मानुसार लोकान्तर में इसी की गति होती है। स्वर्ग और नरक का भोग इसे ही होता है। इसी शारीरक में ईश्वर से भेद सम्भव है। जिस प्रकार अनेक घड़ों में जिनमें जल भरा हुआ है उनमें प्रत्येक में सूर्य की किरणों के द्वारा सूर्य का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है जिससे भिन्न-भिन्न अनेक सूर्य दिखने लगते हैं। सूर्य की किरणों में से कुछ थोड़ी-सी ही प्रतिबिम्ब निर्माण करने में उपयुक्त हुई हैं और बाकी किरणें अन्यत्र फैली हुई हैं। उस प्रतिबिम्ब पर भी वे किरणें समान रूप से व्याप्त रहती हैं। जब तक घट के जल और सूर्य का सम्बन्ध बना रहेगा तभी तक प्रतिबिम्ब की स्थिति रह सकेगी तथा वायु आदि के आघात से उस प्रतिबिम्ब में क्रिया भी लक्षित होती रहेगी। परन्तु प्रतिबिम्ब के आधारभूत जल के हट जाने पर सूर्य किरणों का प्रतिफलन न होगा, अतः प्रतिबिम्ब न बनेगा और प्रतिबिम्ब को बनाने वाली किरणें भी अपने प्रभव में लीन हो जायँगी। इसी प्रकार जब तक शरीर की उपाधि नष्ट न होगी तब तक शारीरक जीव का

मोक्ष सम्भव नहीं है। परन्तु कर्म कषाय के निवृत्त हो जाने पर उपाधि हट जाने से वह स्वभावत: अपने प्रभव प्रत्यगात्मा में लीन हो जायगा और प्रत्यगात्मा तो चिदंश होने से मुक्त है ही। इस प्रकार जीवात्मा शारीरक भी जो यथार्थ में विमुक्त था, वह बंधन से मुक्त हो जाता है। 'विमुक्तश्च निमुच्यते' यह उसके लिए कहा गया है।

षोडशी पुरुष ईश्वर रूप और जीव दोनों में समान रूप से अनुप्रविष्ट है केवल मात्रा का भेद है, यह कहा जा चुका है। षोडशी पुरुष में अव्यय, अक्षर और क्षर ये तीनों सम्मिलित हैं तथा परात्पर को सम्मिलित करने से ये चारों गूढात्मा कहे गये हैं और अश्वत्थ विद्या में इन्हें ही अमृत कहा गया है। इनके बाद ब्रह्म—(प्रकृति ब्रह्म) दूसरी संस्था है। ये प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद कहे गये हैं। जीवात्मा महाचैतन्य का व्यष्टि रूप है उसी का अंश है यह कहा गया है, अत: इस जीवात्मा के साथ पूर्वोक्त क्षर पुरुष की कलाओं का एक-एक अंश रहता है। ये आध्यात्मिक कलाएँ कहलाती हैं। जिस प्रकार जीवात्मा महान् आत्मा का एक अंश है उसी तरह आध्यात्मिक कलाएँ भी आधिदैविक और आधिभौतिक कलाओं के अंश हैं। इन अंशों के सम्बन्ध से एक ही मुख्य जीवात्मा के व्यावहारिक रूप अनेक आत्मा प्रादुर्भूत हो जाते हैं। क्षर पुरुष की आध्यात्मिक कलाओं को—बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त हैं—और इन कलाओं के सम्बन्ध से जो व्यावहारिक रूप बनते हैं वे—शान्तात्मा या अव्यक्तात्मा, महान् आत्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा और प्राणात्मा कहे गये हैं। ये पाँचों जीव के तन्त्र का परिचालन करते हैं। इन्द्रियों को शक्ति देकर उनका परिचालन करने वाला प्राण है। उस प्राण से परिच्छिन्न चैतन्य को प्राणात्मा कहते हैं। इसी प्रकार मन से परिच्छिन्न चैतन्य को प्रज्ञानात्मा और बुद्धि सहित चैतन्य को विज्ञानात्मा कहते हैं। उससे भी पर उसके नियन्त्रण करने वाले महत्त्व से परिच्छिन्न चैतन्य को महानात्मा और इन सबमें प्रविष्ट होकर इन्हें एक सूत्र में बाँधने वाले अन्तर्यामी रूप चैतन्य को शान्तात्मा कहा जाता है। इनका क्रम से निरूपण कठोपनिषद् में हुआ है।

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन:।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् पर:॥
महत: परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष: पर:।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गति:॥"

अर्थात् इन्द्रियाँ (प्राण रूप) पर (उत्कृष्ट) हैं उससे पर मन है (क्योंकि बिना मन के सहयोग के इन्द्रियजन्य ज्ञान सम्भव नहीं है), मन से पर बुद्धि है (क्योंकि मन संकल्प-विकल्प वाला है, बुद्धि निश्चय करने वाली है और इन्द्रियजन्य ज्ञान को आत्मा तक पहुँचाने

में मुख्य साधन है), बुद्धि से पर महान् आत्मा है और महान् से पर अव्यक्त है। अव्यवत (प्रकृति में) तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं क्षुब्ध होने पर वे ही महान् आत्मा के द्वारा सर्जन करते हैं। अव्यक्त मूल प्रकृति है, अतः वह महत् से पर है। अव्यक्त से भी पर पुरुष है वह प्रकर्ष की पराकाष्ठा है; परा गति है। यहाँ इन्द्रिय प्राणों को शरीरात्मा को अपेक्षा से पर कहा गया है। महद् ब्रह्म के सम्बन्ध में गीता में कहा गया है—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥"—गीता।

इसे ही प्रत्यगात्मा कहते हैं जो सम्पूर्ण व्यष्टि जीवों में आभासित होता है। ईश्वर सब भूतों के हृदय में विराजमान है। यन्त्रारूढ़ प्राणियों की तरह अपनी माया से सबको घुमाता है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' भगवद्गीता की इस उक्ति में भी यही चिदात्मा विवक्षित है। उपनिषद् में अन्तर्यामी रूप से सबमें व्याप्त रह कर सबका नियमन करने वाला इसे ही बताया गया है। यह भी तीन रूपों में मनुष्य आदि प्राणियों में व्यवस्थित है जो रूप—विभूति, श्री और ऊर्ज कहे जाते हैं। ईश्वर द्वारा उत्पादित ये तीन प्रकार के वीर्य प्राणियों में व्याप्त रहते हैं जिन्हें ब्रह्मवीर्य, क्षत्रवीर्य और विड्वीर्य कहते हैं। ये सर्वत्र व्याप्त रहते हैं परन्तु जिनकी प्रधानता होती है उनके अनुसार उन्हें ब्रह्म, क्षत्र या विड् आदि वर्ण में माना गया है। ये वीर्य चेतन और अचेतन सबमें व्याप्त रहते हैं। वर्ण-व्यवस्था के प्रकरण में इनका विशेष विवरण है। इनमें ब्रह्मवीर्य को विभूति, क्षत्रवीर्य को ऊर्ज और विड्वीर्य को श्री कहते हैं। इन बलों का विशेष उत्कर्ष जहाँ देखा जाता है उसे ही ईश्वरावतार कहते हैं। इसी का उल्लेख गीता में किया गया है—

"यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥"

इस प्रकार शरीरात्मा, वैश्वानर, तैजस, कर्मात्मा, चिदाभास, विभूति, ऊर्ज और श्री इन नामों से भूतात्मा के आठ भेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त भूतात्मा के साथ एक और हंसात्मा का उल्लेख श्रुतियों में हुआ है। इस सहचारी हंसात्मा को सम्मिलित करके भूतात्मा के नौ भेद सिद्ध होते हैं। भूतात्मा के इन भेदों को शुक्रिय भी कहा गया है तथा अश्वत्थ विद्या के अनुसार अमृत (परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर) के चार भेद तथा प्रकृति ब्रह्म के पाँच भेद इस प्रकार नौ भेद पूर्व में कहे गये हैं उनके साथ इन शुक्रिय

नौ भेद मिल कर आत्मनिकाय अठारह हो जाते हैं––अश्वत्थ के सम्बन्ध में––'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्चते' यह कहा जा चुका है। इन्हीं अठारह आत्मनिकायों के स्मारण के लिए पुराणादि के अठारह परिच्छेद का उल्लेख पुराण प्रकरण में किया गया है।

षोडश कल

प्रकारान्तर से उपनिषदों में षोडश कल का भी उल्लेख हुआ। इसी षोडश कल को लक्ष्य में रखकर ब्रह्मसूत्रों को––जिसमें ईश्वर और जीव के सम्बन्ध का निरूपण है बादरायण चार अध्याय और सोलह पादों में विभक्त किया है। 'चतुष्टयं वा सर्वम्'; 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' श्रुतियों में कहा गया है। अतः संक्षेप में उसका विवेचन यह है––

परम प्रजापति ईश्वर षोडशी पुरुष है उसी का अंश जीव भी षोडशी पुरुष है, यह कहा जा चुका है। ईश्वर जीवों में भी व्याप्त है, अतः ईश्वर की सोलह कलाएँ अवश्य ही जीवों में संक्रान्त होती हैं। पाँच स्कन्ध वाली ब्रह्माश्वत्थ की एक शाखा एक अव्यय ईश्वर है। परमेश्वर से भिन्नाभिन्न महेश्वर (सहस्रशाख अश्वत्थ रूप अव्यय) से भिन्नाभिन्न यह ईश्वराव्यय है। यह परम प्रजापति है। इसके अन्तर्गत पाँच अन्य प्रजापति स्कन्ध रूप में सन्निविष्ट हैं। इसका आशय यह है कि प्रत्येक प्राणी के शरीर का जो आकार बनता है उस आकार का सम्पादक महान् आत्मा है और महानात्मा में बीज रूप से अनुप्रविष्ट होने वाला रस अव्यय पुरुष है। इस आकार बनाने वाली चैतन्य सत्ता को 'आकृति महान्' कहते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की प्रकृति (स्वभाव) का निर्माण करने वाला महान् 'प्रकृति महान्' कहा जाता है तथा सब आयतनों में अहंभाव का प्रसार करने वाला 'अहंकृति महान्' कहा जाता है। आगे का अव्यक्तात्मा शान्तात्मा सूत्र रूप है जो सब आयतनों को ग्रथित करता है। उसे सूत्रात्मा भी कहते हैं। ये पाँच प्रकार के आत्मा मुख्य आत्मा (पुरुष पद वाच्य) के आयतन में देवपरिस्थिति के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त परात्पर आदि चार और ये पाँच मिलकर आत्मा के नौ आयतन सिद्ध हुए।

भूतों से उत्पन्न होने वाला भूतात्मा या शरीरात्मा कहलाता है। यद्यपि शरीर भी घट पट आदि के समान ही पंच भूतों से ही बना है तथापि शरीर में विलक्षणता देखी जाती है। इसके अवयवों का एक उचित सन्निवेश है। इसका घटना-बढ़ना होता है। खाये हुए अन्न का रस रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र के रूप में क्रम से परिवर्तन होते रहना भी इस शरीर की विशेषता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर के आकार में परिणत होने वाले इन भूतों में भी चैतन्य शक्ति अनुस्यूत होकर कार्य करती रहती है। इसलिए उसे भूतात्मा या शरीरात्मा कहना उपयुक्त है। यही शरीरात्मा शुभ या अशुभ

कर्म करता है; इसी की जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाएँ होती हैं। मनु ने इन आत्माओं का संक्षेप में निदर्शन किया है।

"योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः।।"––मनुस्मृति।

जिस प्रकार भूतों का परिणाम शरीर है उसी प्रकार भूतों में अनुप्रविष्ट प्राण शक्तिरूप अग्नि का अंश यह भूतात्मा है। इसके पुनः अवान्तर तीन भेद हो जाते हैं। वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। वैश्वानर का कार्य है शरीर के अवयवों का यथास्थान संगठन और उनका रक्षण। यह वैश्वानर आत्मा जड़-चेतन सब प्रकार के पार्थिव पदार्थों में समान रूप से व्याप्त है। दूसरे तैजस आत्मा का कार्य है शरीर को क्रम से बढ़ाना। यह वृक्ष आदि अन्तःसंज्ञ में भी रहता है, निःसंज्ञ में नहीं। तीसरा प्राज्ञ आत्मा है वह ज्ञान, इच्छा, सुख-दुःख आदि का आश्रय बनता है। इन तीनों के आयतन क्रम से अग्नि, वायु और सूर्य हैं। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि सूर्य और वायु के अंश इन तीनों में जो आते हैं वे साक्षात् नहीं आते हैं। पृथ्वी के भीतर प्रविष्ट होकर पृथ्वी की अग्नि से मिल कर ही आते हैं। सूर्य से साक्षात् रूप से आने वाला अंश विज्ञानात्मा कहा गया है और पृथ्वी के द्वारा जो सूर्य का प्राण (इन्द्र) भूतात्मा में आता है वह प्राज्ञ है। दोनों तत्त्व वास्तव में एक ही हैं परन्तु प्रक्रिया भेद से उनके कार्य और नाम भिन्न हो जाते हैं। प्राज्ञ आत्मा फिर कार्य भेद से तीन प्रकार का माना जाता है––कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। शुभ या अशुभ कर्मों में शरीर को प्रवृत्त कराने वाला चैतन्यांश कर्मात्मा कहा जाता है। कर्मजनित संस्कार भी इसी कर्मात्मा में रहते हैं। अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण इसमें चिदात्मा का चैतन्य प्रतिबिम्बित हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य बिम्ब से प्रतिबिम्बित सरोवर आदि का जल अपनी प्रभा दूर तक फैलाने में समर्थ हो जाता है उसी प्रकार यह चिदाभास भी कार्य करने लगता है। वेदान्त आदि दर्शनों ने व्यावहारिक आत्मा इसी को माना है क्योंकि शरीर, मन और बुद्धि आदि में चैतन्य का संचार ही चिदाभास है। इस चिदाभास का मुख्य उत्पादक बिम्ब जो चिदात्मा है वह ईश्वर का अंश है। इन्हें स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र कहा जाता है। अव्यय की, अक्षर की और क्षर की प्रत्येक की पाँच-पाँच कलाएँ और सोलहवीं परात्पर की कला ईश्वर में है। इन्हीं सोलह कलाओं का उत्तरोत्तर पुण्डीरों में अवतरण होने से प्रत्येक पुण्डीर (स्कन्ध) षोडश कल होता है––यह कहा है–– 'यदेवेह तदमुत्र तदन्विह'; 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' इनके अनुसार जीव में षोडश कलाओं की अवस्थिति सिद्ध होती है। ईश्वर और जीव दोनों प्रकार के प्रजापति षाट् कौशिक (छः कोश वाले) माने गये हैं। ये कोश हैं––परात्पर, पुरुष, प्रकृति, प्राण, अन्न और

अधियज्ञ । साथ ही श्रुति यह भी कहती है कि आत्मा प्रजापति का आधा मर्त्य है आधा अमृत है—"अर्धं वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदधर्ममृतम् ।" इसके अनुसार ये दोनों प्रजापति (ईश्वर और जीव) मर्त्य अमृत इन दो रूपों में विभक्त हैं । इनमें परात्पर, पुरुष, प्रकृति और प्राण ये चार कोश अमृत हैं । अन्न और अधियज्ञ मर्त्य भाग हैं ।

१. भूमा परात्पर प्रथम कोश है । २. अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीन कलाओं से युक्त पुरुष कोश दूसरा है । ३. प्राण, आप्, वाक्, अन्न, अन्नाद इन पाँच कलाओं वाला प्रकृति-कोश तीसरा है । ४. चार आत्मा पुरुष, दो पक्ष पुरुष, एक पुच्छ रूप प्रतिष्ठा पुरुष इस प्रकार सात कला वाला प्राण कोश चौथा है । इस प्रकार ये चार कोश और सोलह कलाएँ अमृत भाग हैं । ये चार कोश और सोलह कलाएँ ईश्वर और जीव में समान रूप से हैं ।

इसी प्रकार मर्त्य विभाग में जो अधियज्ञ कोश हैं उसमें नौ कलाएँ—शरीरात्मा, हंसात्मा, वैश्वानर आदि हैं। इनका वर्णन ऊपर आ चुका है ।

इसके अतिरिक्त मर्त्य भाग में जो अन्नकोश है उसमें सात कलाएँ हैं—मनः, प्राण, वाक्, वायु, तेजः, आपः और पृथ्वी । उपनिषद् में जो 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयम्' कहा गया है उससे गुणत्रय भेद से भिन्न अहंकार के भूमा से सम्बन्ध के कारण उत्तरोत्तर स्थूल आहंकारिक तीन भूत उत्पन्न होते हैं । वे विरलावयव, तरलावयव और निबिडावयव रूप से तीन प्रकार के हैं । इन्हें ही क्रमशः तेज, आप् और अन्न कहा गया है ।[१] इस दो बार त्रिवृत्करण की प्रक्रिया से सात रूप हो जाते हैं मन, प्राण, वाक् आदि । इस प्रकरण में वाग् से यहाँ आकाश अभिप्रेत है । मन और प्राण सूक्ष्म हैं इनकी अपेक्षा वाग् आदि उत्तरोत्तर स्थूल हैं इससे वे भूत कहलाते हैं जैसा कि अन्यत्र उल्लेख हो चुका है । इनमें मन और प्राण ब्रह्म के रूप हैं । ये स्वतः अनवच्छिन्न होते हुए भी उपाधि रूप से अवच्छिन्न हैं । मध्य के वाग्, वायु और तेज तीन शुक्र देव रूप हैं । ये शुक्रिय देव नाभस,

१. छां० उप०—अ० ६, "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत तत्तेज ऐक्षत... तदपोऽसृजत..... ता आप ऐ सन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त । तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति—अण्डजं जीवजमुद्भिज्जम् इति । सेयं देवता ऐक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे करवाणीति । तासां त्रिवृतमेकैकां करवाणीति"—इत्यादि

आम्भस और तैजस हैं एवं ये तीनों आकाश संचारी भाव हैं । अन्त के दो आप् और पृथ्वी स्थूलतम हैं । इसी लोक में रहने वाले अग्नि के शरीर के आरम्भक भूत रूप हैं ।

ये सातों मनः प्राण आदि अन्न रूप में कहे गये हैं, जैसा कि बृहदारण्यक श्रुति में कहा गया है—

"यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता ।
एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् ।।
त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत् ।
तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न ।।"—बृहदारण्यकोपनिषत्

इसका भाव यह है कि पिता प्रजापति ने मेधा (यहाँ इच्छा से अभिप्राय है) और तप के द्वारा सात प्रकार के अन्न उत्पन्न किये । इनमें एक सबके लिए साधारण है—सबके उपयोग में वह समान रूप से आता है । इनमें से दो देवों को दिया; तीन आत्मा के लिए नियत हुए तथा एक पशुओं को दिया; उसी में सब प्रतिष्ठित हैं जो श्वास लेते हैं या नहीं लेते (प्राणि और अप्राणि) । इसके आगे इसकी व्याख्या है जिसका भाव यह है कि सात अन्नों में से तीन—मन, प्राण और वाक् आत्मा के लिए नियत किये गये । आत्मा, मन, प्राण वाङ्मय हैं यह कहा गया है । इसी के द्वारा आत्मा कुछ-न-कुछ विचार करता रहता है; कुछ-न-कुछ प्राण चेष्टा होती रहती है और वाक् के द्वारा श्रम होता रहता है । मन के कारण इच्छा, प्राण के कारण तप (यत्न) और वाक् के द्वारा श्रम होता है । इच्छा (काम) तप और श्रम के द्वारा ही सृष्टि होती है । इसीलिए जहाँ कहीं भी सृष्टि होने का प्रकरण मिलता है वहाँ सर्वत्र श्रुतियों में काम, तपः और श्रम मूल में बताये जाते हैं । दो देवों को विभाजित किया—वायु और तेज । छान्दोग्य उपनिषद् में कहे गये सात अन्नों में एक-वाक्यता बनी रहे इसलिए यहाँ आध्यात्मिक देवों के लिए वायु और तेज अन्न माने गये हैं । बृहदारण्यक में इनके स्थान में हुत और प्रहुत शब्द प्रयुक्त हुए हैं ये ईश्वर के शरीर की अपेक्षा से हैं । अधिदैवत में देवों के लिए हुत और प्रहुत के द्वारा ही अन्न समर्पण किया जाता है । अध्यात्म में जो देवों के लिए वायु और तेज आहुत होते हैं वे भी हुत और प्रहुत से अतिरिक्त नहीं हैं । एक पशुओं को दिया । पशु यहाँ भूत हैं । पार्थिव जो कुछ अन्न खाया जाता है उसके द्वारा शरीर को बनाने वाले भूत धातुपुष्ट होते हैं । एक जो सबके लिए साधारण कहा गया है वह आप् है । अप् से ही भूतग्राम, देवग्राम और आत्मग्राम उत्पन्न होते हैं । कहा भी गया है—'सर्वमापोमयं जगत् ।' इस प्रकार यह सात कला वाला मर्त्य भाग अन्नकोश या भूतकोश कहा गया है ।

यह भी द्रष्टव्य है कि मनः, प्राण और वाक् (आकाश) इस स्वयंभू मण्डल में व्याप्त

हैं। सातों लोक स्वयंभू मण्डल के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार आपोमय परमेष्ठि-मण्डल में वायु-समुद्र उत्पन्न होकर व्याप्त होता है। सूर्यमण्डल तेजः का संस्थान है। चन्द्रमण्डल अप् का स्थान है। यह पृथ्वी लोक अन्न का प्रभव है। ये सब लोक ईश्वर के शरीर हैं इसलिए जिस प्रकार ईश्वर षोडश कला वाला है उसी प्रकार ये जीव भी षोडश कला वाले होते हैं, यह स्पष्ट है और इस प्रकार ईश्वर जीव में साधर्म्य है। मात्रा का तारतम्य अवश्य है। जीव में मात्राएँ अत्यन्त अल्प हैं, पर हैं सब कलाएँ। जिस प्रकार जल के एक बिन्दु में भी जल के सब गुण विद्यमान रहते हुए भी उस एक बूँद से प्यास की शान्ति नहीं होती इसी प्रकार जीव शक्ति की मात्रा की अत्यल्पता अपने आवरण को सरलतया हटाने में समर्थ नहीं होता परन्तु वह जब ईश्वरानुग्रह से तप, योग, उपासना आदि के द्वारा ईश्वर से शक्ति विशेष लाभ कर लेता है तब वह अपने बन्धनों से मुक्त होकर स्वस्वरूप ईश्वर में पहुँच जाता है परन्तु इसके लिए गीता में कहा गया है—'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' इसी के लिए शास्त्रों के विधिनिषेध हैं। इसी बन्धन-मुक्ति के लिए शम, दम, तितिक्षा आदि, तप, योग, उपासना आदि का विधान है।

यह और स्पष्ट है कि अश्वत्थ विद्या में, ईश्वर शरीर में, पुरुष प्रकृति और विकृति को ही अमृत ब्रह्म और शुक्र कहा गया है। इनमें अमृत पुरुष रूप है, वह न प्रकृति है और न विकृति। ब्रह्म प्रकृति है। इस ब्रह्म के पाँच रूप कह गये हैं—प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद। ये पाँचों दो रूप में विभक्त हैं—ऋत् और सत्य। अग्नि सत्य है और सोम ऋत है। सहृदय (हृदय वाला) सत्य है; जिसमें हृदय नहीं है वह ऋत है। हृदय से यहाँ अभिप्राय केन्द्र से है। इनमें प्राण ब्रह्माग्नि है। वाग् देवाग्नि है और अन्नाद भूताग्नि है। ये तीनों सत्य अग्नि के रूप हैं। अब ये आप् और अन्न दोनों एक ही अर्थ हैं सोम। उसके ये दो रूप ऋत हैं—परमेष्ठी और चन्द्र। इन्हीं ऋत और सत्य के परस्पर सहयोग से तीन प्रकार के शुक्र उत्पन्न होते हैं और वे अमृत और मर्त्य दो भेद के होते हैं। प्राण, आप् और अग्नि ये तीन अमृत शुक्र हैं। वाग्, आप् और अग्नि ये तीन मर्त्य हैं। अमृत प्राण शुक्र से स्वयंभू मण्डल बनता है, अमृत अप् शुक्र से परमेष्ठिमण्डल रूप धारण करता है। मर्त्य अप् से चन्द्रमा का और मर्त्य अग्नि शुक्र से पृथ्वी का रूप बनता है। मध्यवर्ती यह सूर्य अमृत वाक् शुक्र से वेदमय (गायत्री मातृक वेद) और मर्त्य वाक् के द्वारा देवमय सम्पन्न होता है। सूर्य ही मर्त्य और अमृत का विभाजक है इसीके लिए 'आकृष्णेम रजसा' इत्यादि मन्त्र में 'निवेशयन् अमृतं मर्त्यं च' कहा गया है। इस प्रकार ईश्वर के शरीर में हृदय रूप इस सूर्य से ऊर्ध्व सब तत्त्व अमृत हैं; सूर्य से नीचे सब मर्त्य हैं। इसी प्रकार जीव शरीर में भी हृदय से ऊपर भाग में उरोगुहा

और शिरोगुहा के प्राण सूर्यानुगामी होने के कारण अमृत हैं; हृदय से नीचे के उदरगुहा और वस्तिगुहा के प्राण पृथ्वी के अनुगत होने के कारण मर्त्य हैं।

इस प्रकरण में सात कला वाला मर्त्य अन्न कोश आत्मा नहीं है, वह अन्न रूप है। नौ कला वाला शुक्रिय आत्मा और नौ कला वाले पुरुष और प्रकृति ब्रह्म मिल कर अठारह आयतन आत्मा के कहे गये हैं। परन्तु अमृत भाग के सोलह कला रूप आयतन में इन मर्त्य शुक्रिय नौ कलाओं को मिलाने से आत्मा के आयतन पचीस हो जाते हैं। यह केवल दृष्टि भेद है, वस्तु में अन्तर नहीं आता। षोडश कला में निर्दिष्ट सात प्रकार की प्राण कलाओं का प्रकृति ब्रह्म में समावेश कर लेने से अठारह कला होंगी; उसे पृथक् मानने पर पच्चीस कला होंगी।

ऋषि, पितृ और देवता

ऋषि-निरूपण

यह पूर्व में कहा गया है कि वेद में आधिदैविक विज्ञान की मुख्यता है उसी के आधार पर आधिभौतिक और आध्यात्मिक भेद हैं। अधिदैवत प्रकरण प्राण तत्व का निरूपण करता है। श्रुतियों में मौलिक प्राणों को ऋषि कहा गया है, अतः ऋषि शब्द का निरूपण अपेक्षित है। श्रुतियों में जहाँ ऋषियों को प्राण रूप कहा गया है वहीं नक्षत्र, तारा आदि भी ऋषि शब्द से कहे गये हैं। ऋषि प्राणों का साक्षात् करने वाले भी ऋषि प्रसिद्ध ही हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक परिभाषा के अनुसार वेद मन्त्रों के वक्ता ऋषि और जिन देवताओं का मन्त्र में निरूपण हुआ है वे देव कहे गये हैं। इस प्रकार ऋषि शब्द की प्रवृत्ति श्रुतियों में चार प्रकार की देखी जाती है। असत् प्राण लक्षण ऋषि, रोचना (आकाश के ज्योतिः-पिण्ड) लक्षण, द्रष्टृ लक्षण और वक्तृ लक्षण। इनमें प्रथम असल्लक्षण (प्राणरूप) ऋषि प्रधान हैं।

(१) प्राण लक्षण ऋषि

प्रजापति निरूपण में लिखा गया है कि षोडशी पुरुष के आधार पर क्षर कलाओं में प्रथम कला प्राण है। यह प्राण वाक् के आधार पर है; वाक् के आधार पर है इसलिए यह प्राण वाक् भी है। प्रजापति सृष्टि की अपेक्षा से मनःप्राण वाङ्मय है। इनमें प्राण को असत् कहा गया है और वाक् को सत्। यह पारिभाषिक है। यह देखा जाता है कि जिस वस्तु में प्राण शक्ति रहती है वह सत् कही जाती है। सत्ता का हेतु प्राण है। परन्तु प्राण में प्राण के द्वारा सत्ता प्राप्त नहीं होती। प्राण तो दूसरों में सत्ता का आधान करता है।

यदि अपनी सत्ता के लिए उसे अन्य प्राण की अपेक्षा होगी तो फिर उस प्राण को भी अपनी सत्ता के लिए अन्य प्राण की अपेक्षा हो जायगी। इस प्रकार **अनवस्था** का दोष आ जायगा। इसी दृष्टि से उसे असत् कहा गया है। यह शास्त्रों की प्रक्रिया है। वैशेषिक शास्त्र में द्रव्य, गुण और कर्म को सत् कहा गया है क्योंकि इनमें सत्ता समवेत है। सत्ता में दूसरी सत्ता समवेत नहीं है इसलिए उसके लिए सत् शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसी प्रकार प्राण को यहाँ असत् कहा गया है। प्राण के द्वारा वाक् में सत्ता होती है इससे वाक् सत् है। मन दोनों से सम्बन्ध रखता है इससे वह सदसत् कहलाता है। ये प्राण अनेक जाति के हैं। इन प्राणों के घन (समूह) को पुरुष कहा जाता है। ये प्राण दो प्रकार के हैं। जो एक ही जाति के हैं जिनमें विजातीय प्राणों का संसर्ग नहीं है वे मौलिक--ऋषि प्राण कहे जाते हैं और जो अनेक जाति के प्राणों के समुदाय हैं उनके लिए देव शब्द प्रयुक्त होता है। इन्हीं विजातीय प्राणों के तारतम्य से क्रमशः पितृ, देव, असुर, मनुष्य आदि प्राणों की सृष्टि होती है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।१।१) में मिलता है —

'असद् वा इदमग्र आसीत्। किं तवदसदासीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषय इति **प्राणा वा ऋषयः।'** इसका अर्थ स्पष्ट है। पूर्व में असत् था, ऋषि असत् थे। वे असद् ऋषि कौन थे? प्राण ही ये ऋषि थे। ब्राह्मणों में कई स्थानों में भिन्न-भिन्न इन्द्रिय आदि प्राणों को भी भिन्न-भिन्न ऋषि नाम से कहा गया है। शतपथ के ही अष्टम अध्याय में मिलता है—"प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। यद्वै श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठः। मनो वै भरद्वाज ऋषिः। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः। वाग्वै विश्वकर्म ऋषिः" वहीं पर इन ऋषि प्राणों के नाम की व्युत्पत्ति भी दी गयी है। इस प्रकार ऋषियों की प्राणरूपता बतायी गयी है। मन्त्रों में भी इसका संकेत है।

(२) रोचना लक्षण

आकाश में जो ज्योतिःपिण्ड दृष्टिगत होते हैं जिन्हें ऋक्ष, नक्षत्र, तारा आदि नामों से अभिहित किया जाता है उनके लिए भी श्रुतियों में ऋषि शब्द प्रयुक्त हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में (२।१।२।१–४) मिलता है —

'एकं द्वे त्रीणि चत्वारि वा अन्यानि नक्षत्राणि। अथैता एव भूयिष्ठा यत् कृत्तिकाः। ... ऋक्षाणां ह वा एता अग्रे पत्न्य आसुः। **सप्तर्षीनु** ह स्म **पुरर्क्षा** इत्याचक्षते। अमी हि उत्तराहि सप्तर्षय उद्यन्ति पुर एताः।' यहाँ स्पष्ट शब्दों में कहा गया है ऋक्ष शब्द से सप्तर्षि माने गये हैं जो उत्तर दिशा में आकाश में दिखाई देते हैं। और भी अनेक मन्त्रों में इसका संकेत है। यहाँ उदाहरण के लिए एक मन्त्र उद्धृत किया जाता है—(ऋ० सं० १०।८२।४)—

"त आयजन्त द्रविणं समस्ता ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूता ।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ।।"

इसका आशय यह है कि तारा रूप में वर्तमान ऋषि गण सूर्य ताप से रहित अर्थात् सूर्य ताप से दूर, एवं सूर्य ताप से संगृहीत अर्थात् समीप दोनों प्रदेशों के लोकों पर अपने तेज से परिवेष्टित रहते हुए विराजते हैं जैसे कि यज्ञ में स्तोता लोग चारों ओर बैठते हैं। ये नक्षत्र रूप ऋषि समस्त जगत् को धन-धान्य से पूर्ण करते हैं और ये ही सब भूतों के रचयिता हैं।

ऋक्ष रूप सप्तर्षियों का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। इनमें मरीचि वसिष्ठ आदि ऋषि प्राणों की जिन-जिनमें प्रधानता रहती है उसके अनुसार उनके नाम कल्पित हैं। वसिष्ठ प्राण की जिस तारा में अधिकता है वह वसिष्ठ कहा गया है। इसी प्रकार अन्यान्य नाम हैं। इनके द्वारा इन प्राणों का सर्वत्र प्रसार होता है और इससे सबका उत्पादन तथा उपकार होता है। एक यह भी मत है कि जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों से प्रतिष्ठित सब प्राण देव शब्द से कहे जाते हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में स्थित प्राण पितर कहे जाते हैं उसी प्रकार ऋक्षों के प्रकाश में व्याप्त प्राण ऋषिपद वाच्य हैं।

(३) द्रष्टृत्व लक्षण

प्राण, देव, पंचभूत और भौतिक पदार्थों का जो नियत कार्यकारण भाव है अर्थात् किससे कौन उत्पन्न हुआ, किसमें किस प्रकार के गुण-धर्म हैं इत्यादि सब बातों के ज्ञान को **विद्या** कहते हैं। नियत जो सत्य है—याथातथ्य है; यथार्थ ज्ञान है वह विद्या है, वही ब्रह्म है और वही वेद है। इन तीनों में—ब्रह्म विद्या और वेद में—अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर भी माना गया है। पदार्थों में वर्तमान नियत कार्य-कारण भाव (गुण-धर्म) के प्रत्यक्ष ज्ञान को ब्रह्म कहते हैं। जिन गुण-धर्मों का प्रत्यक्ष पूर्व में हो चुका है उस ज्ञान के संस्कार से आगे होने वाले ज्ञान को विद्या कहते हैं। शब्द द्वारा होने वाले ज्ञान को वेद कहते हैं। परन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर होते हुए भी केवल ज्ञान रूप अर्थ में ही तीनों को प्राचीन आचार्यों ने समानार्थक माना है—इसीलिए कहा है—'त्रयो वेदाः, त्रयी विद्या, त्रयं ब्रह्म।' इसी प्रकार वेद और मन्त्र इन शब्दों में मौलिक भेद होने पर भी दोनों का समान अर्थ में व्यवहार हुआ है। शब्द के द्वारा उपपादित **देवता विज्ञान** वेद है। देवता विज्ञान का उपपादक शब्द मन्त्र (शब्द रूप) है। तथा संज्ञा और संज्ञी (नाम और नामी) का तादात्म्य मान कर परस्पर संकीर्ण व्यवहार होता है। उदाहरण के लिए वेद के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान के द्वारा जो तत्त्व न जाना जा सके वह वेद से जाना जाता है। यही वेद की वेदता है—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।

एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।' यहाँ वेद शब्द अपने मुख्य अर्थ ज्ञान में प्रयुक्त न होकर शब्द रूप वेद के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है । इसी तरह निरुक्त में कहा गया है—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' । 'साक्षात् कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः । तेऽसाक्षात्कृतधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् प्रादुः ।' यह मन्त्र शब्द विद्या के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार मन्त्र, विज्ञान और शब्द दोनों के लिए आता है । मन्त्र का समानार्थक ब्रह्म शब्द भी दो अर्थों में मिलता है—

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।।"

इसका अभिप्राय यह है कि शब्दब्रह्म और परब्रह्म ये दोनों ब्रह्म जानने योग्य हैं । इनमें शब्द-ब्रह्म के ज्ञान में निष्णात हो जाने पर पर-ब्रह्म का ज्ञान होता है । भाव यह है कि शब्द-ब्रह्म के द्वारा जानने योग्य वस्तु विज्ञानरूप परब्रह्म ही है । इस प्रकार मन्त्र और ब्रह्म दोनों शब्द समान रूप से वाक्य और देवता विज्ञान रूप सम्मिलित अर्थ में व्यवहृत होते हैं । यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही वेद है अथवा ब्रह्मविद्या का नाम वेद है ।

वह ब्रह्म स्वयं अपने आपको यज्ञ रूप बताता हुआ सब कुछ बना है, सब कुछ बनता है और सब कुछ बनेगा । यह जो कुछ है यज्ञ रूप ही था; यज्ञ रूप है और यज्ञ रूप रहेगा । इस यज्ञ का विज्ञान वेद है । यह यज्ञ धर्म भी कहा गया है । मीमांसा में जैमिनि ने यज्ञ को धर्म कहा है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि धर्म विज्ञान वेद है । यज्ञ के शरीर में सब देवता आ जाते हैं इससे वेद दैवत विज्ञान भी है । सब देवताओं में प्रधान प्रजापति हैं । यज्ञ प्रजापति से ही उत्पन्न होता है । प्रजापति के आधार से ही यज्ञ स्थित रहता है ओर प्रजापति में ही लीन होता है । यज्ञ प्रजापति रूप ही है, अतः प्रजापत्ति विज्ञान है । प्रजापति अनन्त हैं; यज्ञ भी अनन्त हैं । इन सबमें प्रधान सबका आत्मा ये भगवान् सूर्य हैं । इसलिए इस सूर्य का विज्ञान भी वेद है । सूर्य के ही यथार्थ विज्ञान से सब देवता, सब यज्ञ, सब प्रजापति अच्छी तरह ज्ञात हो जाते हैं । इससे यह सूर्य वेद भी है, दैवत वेद, धर्मवेद, यज्ञवेद, प्रजापति वेद और ब्रह्मवेद कहा जा सकता है । सामान्य रूप में यह वेद सब का ज्ञापक है, अतएव आयुर्वेद, पशुवेद, वृक्षवेद, धनुर्वेद आदि एकदेशीय विज्ञान के प्रकाशक वेदों के समान इसमें कोई विशेषण लगा कर इसे सीमित नहीं किया जाता ।

प्राचीन युग में उन-उन अर्थों को प्रत्यक्ष देखकर जिन्होंने इस विज्ञान का उपदेश दिया वे द्रष्टा वेदाचार्य महर्षि कहे जाते हैं । इस प्रकार ये शब्द रचना करने की दृष्टि से इन महर्षियों को मन्त्रकर्ता और देवतादि विज्ञान के साक्षात्कार करने के कारण मन्त्रद्रष्टा ये

दोनों समन्वित हो जाते हैं । इसीलिए श्रुतियों में अनेक स्थानों में इन्हें मन्त्रकर्ता कहा गया है ।

'यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिण:' इत्यादि तथा 'नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्य:' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति में ऋषियों को मन्त्रकर्ता कहा गया है । शतपथ में 'द्वया वै देवा: देवा अहैव देवा:, अथ ये ब्राह्मणा: शुश्रुवांसोऽनूचीनास्ते मनुष्य देवा:' मिलता है इसके अनुसार विशिष्ट विद्वान् महर्षियों को देव शब्द से कहा गया है । उनकी वाक् ही वेद (ग्रन्थ) है । यह ठीक भी है क्योंकि यह वाक्य रचना शरीर बुद्धीन्द्रिय आदि के द्वारा होती है; स्वत: नहीं होती । वैशेषिक दर्शन में मिलता है 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' इससे भी ऋषि मन्त्रकर्ता सिद्ध होते हैं। वेदों के अपौरुषेयत्व प्रकरण में इस पर विशेष विचार किया गया है यहाँ प्रकरण की संगति के लिए संकेत मात्र कर दिया गया है। अतीन्द्रिय अर्थ का विज्ञान अनीश्वर के द्वारा सम्भव नहीं है, अत: विज्ञान भाग अवश्य ही अपौरुषेय है ।

द्रष्टा के दृश्य तीन प्रकार के हैं—भौतिक, दैविक और अतीन्द्रिय । इनमें भौतिक अर्थों के द्रष्टा आप्त अनूचान (प्रवचन कर्ता) के लिए ऋषि शब्द प्रयुक्त नहीं होता । जो दैविक और अतीन्द्रिय तत्त्वों के द्रष्टा हैं, साक्षात्कार करने वाले, उपदेश देने वाले हैं वे ऋषि कहे जाते हैं । यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि विषमय द्रव्य के विज्ञान में कुत्तों में, बिल्ली आदि में स्वभावत: सामर्थ्य होता है; विष को दूर करने वाली ओषधि का विज्ञान नकुल आदि को रहता है । किसी भविष्य के अर्थ का ज्ञान कराने की शक्ति श्रृगाल, काक आदि में रहती है जो शकुन शास्त्र में वर्णित है । आगे होने वाली वृष्टि का संकेत मण्डूक के शब्द से हो जाता है । चीटियों के द्वारा भी होने वाली वृष्टि का संकेत मिल जाता है । इनमें यह विज्ञान स्वाभाविक है; ईश्वरप्रवृत्त है । उपदेश अथवा अभ्यास आदि की वह अपेक्षा नहीं रखता । इसी प्रकार अपूर्व अतीन्द्रिय अर्थ को जानने का सामर्थ्य तप: प्रभाव से अथवा तपोयोग आदि के द्वारा पवित्रीकृत अन्त:करण में ईश्वरानुग्रह से जिनमें उत्पन्न हो जाता है वे ऋषि द्रष्टा कहलाते हैं । वे उन अतीन्द्रिय तत्त्व को प्रत्यक्ष देखते हैं । इसके लिए कहा गया है: —

"आविर्भूतप्रकाशानामनुपप्लुत चेतसाम् ।
अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ।।
अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा ।
ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते ।।"—भर्तृहरि ।

भाव यह है कि जिनमें दिव्य प्रकाश का आविर्भाव हो गया है जिनका चित्त सब प्रकार के मल से रहित है उनका अतीत (भूत काल) और अनागत (भविष्य) का ज्ञान प्रत्यक्ष

से भिन्न नहीं है। जो अतीन्द्रिय और असंवेद्य भावों को आर्ष दृष्टि से देखते हैं उनके वचन अनुमान (तर्क) के द्वारा खण्डित नहीं किये जा सकते। इन महर्षियों ने तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखा है और प्रत्यक्ष सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है।

(४) वक्तृत्व लक्षण

मन्त्रवर्ण के द्वारा जो ऋषित्व होता है वह वेद वाक्य के अनुसार पारिभाषिक है। उस वाक्य का जो कहने वाला है जिसका वह वाक्य है वह ऋषि होता है और उस वाक्य के द्वारा जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है वह देवता होता है। वाक्य, वाक्य का अवयव अथवा वाक्य का समूह मन्त्र है। अर्थ का साक्षात्कार करके जिनके द्वारा मन्त्र उपदिष्ट होता है वे उस मन्त्र के ऋषि कहे जाते हैं। इन ऋषियों के द्वारा ही पूर्व में मन्त्रों का उपदेश किया गया था उनका ही प्रायः वह वाक्य माना जाता है, इसलिए अवारऔर पार जानने वाले वक्ता रूप ऋषि और द्रष्टा रूप ऋषि प्रायः एक ही होते हैं।

किन्तु कहीं-कहीं द्रष्टा ऋषि अपने आपको वक्ता रूप से प्रकट न कर किसी अन्य को वक्ता बना देता है वहाँ जो वक्ता बनाया जाता है वह ऋषि कहलाता है, वह गौण और कल्पित है। मुख्य द्रष्टा ऋषि अपने को प्रकट नहीं करता।

मन्त्रों के पाँच वर्ग माने गये हैं—१. भाववृत्त। सृष्टि के क्रम का निरूपण जिसमें होता है वह भाववृत्त कहा जाता है। २. जिसमें प्राण देवों के स्वरूप धर्म का प्रदर्शन होता है वह देवस्तव है। इन दोनों में मन्त्रप्रणेता ही ऋषि होते हैं। क्योंकि वही द्रष्टा भी हैं और मन्त्रप्रणेता भी। वहाँ देवता भाववृत्त में सृष्टि विषय है और देवस्तव में प्राण देव। ३. इसमें मन्त्रप्रणेता अपनी ही स्तुति करता है। अतः यहाँ वही ऋषि भी होता है और वही देवता। यह वक्तात्मस्तव कहा जाता है। ४. चौथा देवात्मस्तव है। इसमें मन्त्र प्रणेता ऋषि प्रतिपाद्य देव की उस देव के मुख से ही स्तुति कराता है। यहाँ प्राणदेवता ही वक्ता हो जाता है, अतः वही ऋषि भी होता है और देवता भी। मन्त्र प्रणेता का वक्तृत्व छिप जाता है। ५. पाँचवाँ संवादरूप है। इसमें दो व्यक्तियों का आपस में संवाद होता है। जिन दोनों का संवाद (परस्पर बातचीत) होता है उनमें जो बोलने वाला है वह ऋषि माना जाता है और जिसको सम्बोधित करके कहा जाता है वह देवता होता है। इस प्रकार पर्यायसे जब जो वक्ता होता है वह ऋषि माना जाता है और जो सम्बोध्य है, जिसको सम्बोधित करके वाक्य कहा जाता है, वह देवता होता है। यहाँ भी मन्त्रप्रणेता अपह्नुत रहता है।

कहीं-कहीं कुछ विशेषता दृष्टिगत होती है वह भी ध्यान देने योग्य है। ऋग्वेद के

(१०।१०७।६) नीचे लिखे मन्त्र की ऋषिका भी दक्षिणा नाम से कही गयी है तथा दक्षिणा देवता भी है —

"तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगमुक्थ शासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ।।"

इसका भाव यह है कि दक्षिणा देने के कारण सत्कर्म कर्ता होने से तथा ऋत्विजों के कर्मों के दक्षिणा दान के द्वारा फलभागी होने से यजमान परोक्षदर्शी ऋषि, ब्रह्मा, यज्ञ का नेतृत्व करने वाला अध्वर्यु, साम का गानकर्ता उद्गाता तथा होता मान लिया जाता है। इन सबके द्वारा किये गये कर्मों की दक्षिणा देकर क्रय कर लेता है। वह शुक्र के तीन रूपों को जानता है। यहाँ ऋषि और देवता में नाम की समानता है। परन्तु स्वरूप भिन्न है। प्रजापति अंगिरा की पुत्री दिव्य आंगिरस की भगिनी दक्षिणा नाम वाली ऋषिका है वह यज्ञ में ऋत्विजों को दी जाने वाली दक्षिणा की स्तुति करती है, अतः दी जाने वाली दक्षिणा देवता है। अतः यहाँ नाम म साम्य होने पर भी वक्ता का आत्मस्तव न माना जायगा। यह प्रथम विभाग में कही गयी मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिका है और देवता उससे भिन्न है।

संवाद का उदाहरण इस प्रकार है —

अगस्त्य ऋषि और इन्द्र का संवाद है। अगस्त्य इन्द्र से कहते हैं—हे इन्द्र सब मरुद्गण तुम्हारे भाई हैं, इसलिए तुम इनके साथ उचित व्यवहार करो। यज्ञ के भाग अन्न आदि में इन्हें भी सम्मिलित करो अथवा उनसे युद्ध न करो अथवा युद्ध में शत्रुओं की तरह नष्ट न करो।

"किं न इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस्तव ।
तेभिः कल्पस्व साधुया मानः समरणे वधीः ।।"—ऋ० १।१७०।२

इसमें वक्ता अगस्त्य हैं, अतः वे ऋषि हैं और इन्द्र सम्बोध्य हैं उन्हें सम्बोधन करके वाक्य कहा गया है, इसलिए देवता हैं। इसके आगे के मन्त्र में इन्द्र का उत्तर है। उसमें इन्द्र वक्ता हैं, अतः वे ऋषि हुए और ऋषि अगस्त्य सम्बोध्य हैं, अतः वे देवता हुए।

देवता के आत्मस्तव का उदाहरण ऋग्वेद के दशम मण्डल में मिलता है जहाँ इन्द्र ने 'अहं भुवम्' इत्यादि मन्त्रों में अपना जीवन चरित—अपने जीवन की मुख्य घटनाओं का वर्णन किया है।

इस प्रकार इन चार अर्थों में ऋषि शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु एक दूसरा मत यह है कि ऋषि शब्द का अर्थ 'प्रवर्तकत्व' है। गत्यर्थक ऋष् धातु से प्रेरणार्थक णिच् के अन्तर्भूत होने के कारण प्रवर्तक रूप अर्थ उपपन्न हो जाता है। ऋषि शब्द का यह प्रवर्तकत्व रूप एक ही अर्थ प्रवृत्ति के विषयों के भिन्न हो जाने के कारण भिन्न प्रतीत होता

है—वास्तव में प्रवर्तकत्व रूप ही सर्वत्र अनुगत होता है। विषय भेद से ऋषि तीन प्रकार के हो जाते हैं। सृष्टि-प्रवर्तक, वेद-प्रवर्तक और गोत्र-प्रवर्तक। पूर्वोक्त असल्लक्षण प्राण रूप ऋषि और रोचना लक्षण (तारा रूप) सृष्टि-प्रवर्तकों में आ जाते हैं। द्रष्टा और वक्ता मनुष्य रूप ऋषियों का वेदप्रवर्तक में समावेश हो जाता है। इनमें सृष्टि-प्रवर्तकों को 'दिव्य ऋषि', 'देवर्षि' अथवा 'पुराण ऋषि' भी कहा जाता है।

सृष्टि के आदि रचयिता ऋषि प्राण रूप हैं। इनका प्रत्यक्ष लौकिक इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। मानव ऋषि तप से तथा विद्याओं के द्वारा इन अप्रत्यक्ष तत्त्व रूप ऋषियों का वा उन तत्त्वों के विशेष रूप वा विशेष धर्मों का साक्षात् अनुभव करके उन्हें व्यावहारिक रूप में जगत् के समक्ष उपस्थित करते हैं। उन धर्मों के साक्षात् द्रष्टा तथा सर्वप्रथम उपदेष्टा ऋषि तत्त्वों के या उनके विशेष धर्मों के उद्भावक होनेके कारण द्रष्टा कहे जाते हैं। उस प्राण पर उनका इतना अधिकार होता था कि उस तत्त्वमय प्राण के द्वारा, देवता तथा पितरों की आराधना करके वे अपने अभिलषित अर्थ को पूर्ण करते थे।

इस प्रकार उन प्राणतत्त्वों के साथ इनकी घनिष्ठता हो जाने से, प्रकट किये गये उन प्राणों को तथा उनके द्रष्टा ऋषि को एक ही शब्द से कहा जाता था। जो उस प्राण का नाम होता था वही नाम ऋषि का भी हो जाता था। इस प्रकार दृश्य प्राण और द्रष्टा ऋषि दोनों के एक ही नाम मिलते हैं। परन्तु इनमें विशेषता है। अधिकतर तो प्राण-रूप ऋषि का जो नाम होता था वही नाम ऋषि (द्रष्टा) का भी होता था। परन्तु कहीं-कहीं इससे विपरीत भी मिलता है। जो ऋषि किसी प्राण तत्त्व का उद्भावक होता था उसी ऋषि के नाम से उस प्राणतत्त्व का नामकरण हो जाता था। यह प्रकार वर्तमान-कालीन वैज्ञानिकों में भी पाया जाता है जहाँ उद्भावक के नाम से तत्त्व का नाम होता है, यथा नवीन ग्रह अपने उद्भावक हर्षल के नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

पूर्व में 'प्राणो वै वसिष्ठः' इत्यादि श्रुतियों में भिन्न-भिन्न प्रकारकी व्युत्पत्ति दिखाकर वसिष्ठ आदि शब्दों का मूल तत्त्व रूप प्राणों का ही वाचक होना सिद्ध हुआ है। इससे वसिष्ठ आदि शब्द मुख्य रूप से प्राण के ही वाचक हैं। उन वसिष्ठ आदि प्राणों का प्रत्यक्ष करने के कारण द्रष्टा ऋषि भी वसिष्ठ नाम से प्रसिद्ध हो गये। ये उनके यशोनाम थे। उनका यश—उनकी उद्भावकता की ख्याति—इस नाम से द्योतित होती है। इस नाम का इतना महत्त्व बढ़ गया कि उनका यादृच्छिक नाम प्रचार में न आने के कारण लुप्त हो गया। यत्र कुत्र यादृच्छिक नाम भी उपलब्ध हो जाता है, जैसे भरद्वाज ऋषि का यादृच्छिक नाम विदधी अथवा वितथी भी मिलता है।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि केवल प्राणों का द्रष्टा होना मात्र हेतु न था।

इन वसिष्ठ आदि ऋषियों में अध्यात्म में वसिष्ठ प्राण का प्राधान्य रहता था इस प्रधानता के अनुरोध से भी उनका यह नाम हुआ। कोई यह भी कहते हैं कि जिस ऋषि में वसिष्ठ प्राण सम्बन्धिनी श्रद्धा अधिक मात्रा में रहती थी वे वसिष्ठ आदि नामों से कहे जाने लगे। इतना सिद्ध है कि पुराकाल में भृगु, अंगिरा, अत्रि नाम के तथा मत्स्य, वसिष्ठ, अगस्त्य, आदि नाम के तत्त्वद्रष्टा, महर्षि, मनुष्य रूप में थे और ये वेदप्रवर्तक वेदाचार्य ऋषि थे। जिन प्राणों का इन महर्षियों ने साक्षात्कार किया वे तत्त्व रूप प्राण सृष्टिप्रवर्तक ऋषि थे। और इन सृष्टिप्रवर्तक और वेदप्रवर्तक ऋषियों के समान नाम थे यह सिद्ध है।

इस प्रकरण में यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन प्राणद्रष्टा महर्षियों के नाम उनको वंशपरम्परा में अनुगत हुए हैं। इन महर्षियों ने वसिष्ठ आदि प्राणों की आराधना करके अपने आत्मा में विशेष रूप से स्थित किया उन प्राणों की दो गति सम्भव हो सकती है—पतन और सन्तनन। पारोवर्य आचार्यों ने पातक, उपपातक, महापातक आदि जिन-जिन पतनीय कर्मों की व्यवस्था की थी उनमें आसक्ति होने से आत्मा का पतन हो जाता है। पितृपरम्परा प्राप्त वह ऋषि प्राण आत्मा से च्युत हो जाता है। इसी प्रकार जिसको पुत्र पौत्रादि सन्तान की उत्पत्ति नहीं होती वहाँ भी वंश के लुप्त हो जाने के कारण उस ऋषि के बाद वह प्राण ऋषि भी समाप्त हो जाता है। तथा जिस आत्मा का पुत्र पौत्र आदि के द्वारा सन्तान (सन्तनन—विस्तार) होता है वहाँ उस प्राण की परम्परा अनुगत होती है उसका पतन नहीं होता, इसीलिए सन्तान को अपत्य कहा जाता है। अपत्य के भी दो विभाग हैं—अनन्तरापत्य और अन्तर्हितापत्य। पुत्र अनन्तरापत्य है। पुत्र और पिता के मध्य में कोई अन्तर-व्यवधान नहीं है। पौत्र प्रभृति अन्तर्हितापत्य हैं। इनमें मूल पुरुष के मध्य में पुत्र का व्यवधान है। पौत्र प्रभृति की गोत्र संज्ञा है जो पारिभाषिक है। जिस उद्भावक प्रथम उपदेशक प्रथम वसिष्ठ की आत्मा वसिष्ट प्राण से सम्पन्न हुई थी उस प्राण का पुत्र तथा पौत्र आदि गोत्र सन्तानों में सन्तनन होता है, इसलिए उस गोत्र में उत्पन्न सभी व्यक्तियों के लिए वसिष्ठ, वसिष्ठापत्य आदि का व्यवहार होता है। इसी दृष्टि से वेद मन्त्रद्रष्टा मूल पुरुष वसिष्ठ के वंशधर सभी वसिष्ठ कहे जाते हैं। महाराज इक्ष्वाकु के कुल-पुरोहित वसिष्ठ थे। रामायण में रामचन्द्र के कुल-पुरोहित भी वसिष्ठ थे। एक ही पुरुष का इतना दीर्घजीवी होना सम्भव नहीं है। इक्ष्वाकु और रामचन्द्र के समय में अत्यधिक अन्तर था। श्रुति में 'शतायुर्वै पुरुषः' कहा गया है। तपोयोग आदि के प्रभाव से इस सामान्य नियम में अन्तर अवश्य देखा जाता है तथापि वह एक सीमा तक ही होता है; निरवधि नहीं होता। अतः यह मानना पड़ता है कि रामचन्द्र के समय में जो वसिष्ठ थे वे मूल वसिष्ठ के वंशज थे। इसी प्रकार

वेदमन्त्र द्रष्टा अत्रि की वंश परम्परा भी अत्रि नाम से ही प्रसिद्ध थी। रामायण में रामचन्द्र के समय में जिन अत्रि और अनसूया का उल्लेख मिलता है वे भी अत्रि वंश के थे। इसी प्रकार विश्वामित्र के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अत्रि की पत्नी अनसूया भी इसी प्रकार सामान्य नाम है। अत्रि प्राण के द्रष्टा होने के कारण महर्षि का नाम अत्रि हुआ। उनकी परम्परा भी अत्रि नाम से प्रसिद्ध हुई। इसी प्रकार प्राण रूप अत्रि की शक्ति रूप जो गुण है वह अनसूया शब्द से कहा जाता है। जिस व्यक्ति में अत्रि प्राण की प्रचुरता होती है उसमें अनसूया गुण होता है। अनसूया का लक्षण यह मिलता है—

"न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
न हसेच्चान्यदोषाँश्च सानसूया प्रकीर्तिता॥"

इसका भाव यह है कि अनसूया वह कहलाती है जिससे कोई किसी गुणी के गुणों का हनन नहीं करता, उसका उचित सम्मान करता है। मन्द गुण वाले की भी प्रशंसा करता है। दूसरों में दोष देकर उनका उपहास नहीं करता। इस प्रकार अत्रि और अनसूया अनुगत हुए हैं। जहाँ-जहाँ अत्रिवंशज अत्रि कहे गये हैं वहाँ सर्वत्र अत्रिपत्नी अनसूया कही गयी है। रामचन्द्र काल के अत्रि की पत्नी का भी अनसूया नाम ही मिलता है।

इसी प्रकार अन्यान्य ऋषियों के सम्बन्ध में समझना चाहिए।

यह भी द्रष्टव्य है कि इन महर्षियों का भूमि-स्वर्ग के अधिष्ठाता इन्द्रादि देवों से साक्षात् सम्बन्ध रहता था। इनका भूमिस्वर्ग में यातायात होता था; परस्पर मैत्रीभाव भी रहता था। वसिष्ठ ऋषि की वरुणदेव से मैत्री थी और वे वरुण के निवास गृह में गय थे यह भी प्रमाणित करने वाला मन्त्र मिलता है।[१] महर्षि वसिष्ठ का आश्रम, उनकी विज्ञान भवन भारत भूमि में ही सरस्वती के तट पर था यह भी स्पष्ट रूप से मन्त्रों से सिद्ध होता है। वसिष्ठ और वरुण का सख्य था इसका प्रमाण एक और मन्त्र में स्पष्ट है। वरुण के यहाँ जब वसिष्ठ ऋषि गये थे तब वरुण ने वसिष्ठ को अपने साथ नौका में बैठाकर समुद्र में विहार कराया था यह वसिष्ठ के शब्दों में ही मन्त्र में मिलता है।[२] इतना ही नहीं। ऋषियों और देवों में विद्या का भी परस्पर आदान-प्रदान होता था। कुछ विद्याएँ

१. "क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः स चावहे यदवृकं पुरा चित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते॥"—ऋ० ७।८८।५।

२. "आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम्।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेंख ईंखयावहै शुभे कम्॥"—ऋ० ७।८८।३।

ऐसी भी थीं जिन्हें महर्षिगण जानते थे और इन्द्र को उनका ज्ञान न था । शतपथ ब्राह्मण (१२।३।१) में एक आख्यायिका मिलती है जिससे यह बात स्पष्ट होती है—वसिष्ठ ने विराज् का विज्ञान प्राप्त किया । इन्द्र ने उनसे कहा 'ऋषे तुम विराज् विद्या जानते हो वह हमें बताओ । ऋषि ने कहा हमें उससे क्या प्राप्त होगा । इन्द्र ने कहा हम तुम्हें सब यज्ञ की प्रायश्चित्ति बता देंगे और उसका रूप भी दिखा देंगे । ऋषि ने कहा उससे हमें क्या लाभ होगा । इन्द्र ने कहा तुम इस लोक से जीवस्वर्ग में जा सकोगे । तब वसिष्ठ ने वह विद्या इन्द्र को बता दी । इन्द्र ने भी प्रायश्चित्ति का उन्हें ज्ञान करा दिया । तब से यह व्याहृति वसिष्ठ वंशज ही जानते थे ।' इसलिए पूर्वकाल में वसिष्ठ ही ब्रह्मा होता था । ब्रह्मा शब्द यहाँ कृताकृतावेक्षक के अर्थ में है । यज्ञ में कोई त्रुटि न होने पावे इसका वह ध्यान रखता था और यदि कोई न्यूनातिरिक्तता दोष आ जाय तो उसका वह मार्जन—प्रायश्चित्ति के द्वारा करता था ।[१]

इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि मुख्य ऋषित्व का बोधक प्राण है । इस प्राण को असत् और ऋषि कहा गया है । पूर्व में क्षर को पाँच कलाओं में प्रथम कला प्राण को ही कहा गया है। क्षर की कलाओं से सृष्टि की उत्पत्ति होती है यह प्रजापति निरूपण में कहा गया है । क्षर की प्राण रूप यह कला वाक् के आधार पर है । अक्षर पुरुष की प्राण रूप कला के आधार पर अक्षर पुरुष का विकास होता है और वाग् रूप कला के आधार पर क्षर का । इस प्रकार अव्यय पुरुष कलारूप से इस क्षर कला रूप में विशेषता है । सृष्टि प्रवर्तक यह प्राण वाक् और प्राण का सम्मिलित रूप है । वाक् आकाश रूप है—आधार रूप है, स्थिर है और प्राण यत् है गमनशील हैं, क्रियाशील है । इन दोनों तत्त्वों का यत् और जूः (वाक् आकाश) का सम्मिलित रूप यज्जूः है वही यजुः कहा गया है । प्रजापति का प्रथम रूप यह यजुः है । प्रजापति मनः प्राणवाङ्मय है और यह यजुः भी मनः प्राण वाङ्मय है । यजुः के साथ ऋक् और साम का अविनाभाव है । जहाँ यजुः रहता है वहाँ ऋक् और साम भी उपस्थित हो जाते हैं । इस यजुः को अग्नि भी कहा गया है तथा

१. शतपथ ब्रा०—'वसिष्ठो ह विराजं विदांचकार । तां हेन्द्रोऽभिदध्यौ । स होवाच ऋषे ! विराजं ह वै वेत्थ । तां मे ब्रूहीति । स होवाच किं मम ततः स्यादिति । सर्वस्य च ते यज्ञस्य प्रायश्चित्तिं ब्रूयां रूपं च त्वा दर्शयेयेति । जीवस्वर्ग एवास्माल्लोकात् प्रेयादिति । ततो हैतामृषिरिन्द्राय विराजमुवाच । × × × ता ह स्मैताः पुरा व्याहृतीर्वसिष्ठा एव विदुः । तस्माद्ध स्म पुरा वासिष्ठ एव ब्रह्मा भवति ।।'

'अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते' इत्यादि मन्त्र के अनुसार ऋक् साम ही उपस्थित हो जाते हैं, यह सिद्ध होता है। यह यजुः ही सृष्टि का प्रवर्तक है, सृष्टि का उत्पन्न करने वाला है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में (१०।३।५) में कहा गया है :—

"अयं वाव यजुर्योऽयं पवते, एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति, एतं प्रतियन्तमिदमनु-प्रजायते। तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमाकाशो जूः। यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाश-मनुजवते। तदेतद्यजुर्वायुश्चान्तरिक्षं च। यच्च जूश्च। तस्माद्यजुरेष एव ह्येति। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम् ऋक्सामे वहतः।"

प्रजापति की प्रथम सृष्टि यही वेदत्रयी रूप प्राण वाक् तत्त्व है। वह प्रजापति रूप ही है। इसी प्राण तत्त्व के द्वारा प्रजापति की सृष्टि का क्रम प्रारम्भ होता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में प्राण ही सब सृष्टि करते हैं—भूतमात्रा का सर्जन करते हैं; सब प्रकार के रस तथा भौतिक धातुओं को उत्पन्न करते हैं; तेजो मात्रा, सब प्रकार के बल सब संज्ञा चेष्टा कर्म आदि का सर्जन करते हैं; प्रज्ञा मात्रा, सब इन्द्रियाँ उनके ज्ञान कर्म सब प्राण के अधीन है। प्राण से ही इन सबका उत्थान होता है, प्राण में ही प्रतिष्ठित रहते हैं और अन्त में प्राण में ही लीन होते हैं। प्राण ही इन सबका प्रभव, प्रतिष्ठा और परायण है। इसी प्रकार प्रजापति का प्राण ही सब सृष्ट पदार्थों का प्रभव, प्रतिष्ठा और परायण है। इसीलिए इन ऋषिप्राणों को सृष्टिप्रवर्तक कहा गया है। इन ऋषि-प्राणों की अवस्थिति सत्यलोक है। सत्यलोक के स्वयंभूमण्डल में अन्य सब मण्डल सन्नि-विष्ट हैं, इसलिए इन ऋषिप्राणों की भी सर्वत्र व्याप्ति है। यहाँ ये अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रहते हैं। ये मौलिक हैं, असंग हैं। इन प्राण जातियों के अनन्त प्रकार होने में निम्न श्रुति प्रमाण रूप है :—

'विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः। तेऽङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे।'

—ऋ० १०।६२।५

इन्हीं असद्रूप ऋषिप्राणों से उनमें अन्तःसृष्टि होती है। ऐतेरेय श्रुति में मिलता है—'प्राणा वा ऋषयो दैव्यासस्तनू पावानस्तन्वस्तपोजाः' इसके अनुसार ऋषिप्राणों को तपः के द्वारा सृष्टिजनक कहा गया है। अव्यय पुरुष के आलम्बन में अक्षर पुरुष प्रकृति से विशिष्ट होकर क्षर पुरुष की सहायता से—प्रकृति ब्रह्म के पाँच प्रकार के होने के कारण अपने को पाँच भागों में विभक्त करता है। वह प्राणमय स्वयंभू है; आपोमय परमेष्ठी है इत्यादि अन्यत्र विवेचन हो चुका है। सत्य लोक ब्रह्माग्नि लोक हैं। वहाँ याजुष् वाय्वाकाश में अनन्त प्रकार के वायु प्राण रूप उन्मुग्ध अवस्था में रहते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उनके स्वरूप का विकास नहीं होता। फिर ये ही तपोलोक में आकर क्षुब्ध

होते हैं क्रमश: तृतीय पारमेष्ठ्य जगल्लोक में आकर इनके अवयव उद्‌बुद्ध हो जाते ह । पारमेष्ठ्य मण्डल के सोम के साथ योग होने से ये मौलिक न रहकर यौगिक हो जाते हैं और तब यौगिक होकर आगे की सृष्टि के लिए पितृ कहलाने लगते हैं । जब तक ये मौलिक हैं तब तक ऋषि कहे जाते हैं । यौगिक होने पर ये ही पितर् हो जाते हैं । फिर इन यौगिक पितृप्राणों के परस्पर योग के द्वारा देवासुर आदि यौगिक प्राणों की उत्पत्ति होती है। मनुस्मृति में इसी अभिप्राय से कहा गया है—"ऋषिभ्य: पितरो जाता: पितृभ्यो देव दानवा: । देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वश: ।' मौलिक प्राण ऋषि हैं उनसे यौगिक प्राणों की सृष्टि होती है और योग के तारतम्य के अनुसार पितृ देव आदि भेद होता है । प्रत्येक वस्तु में जितने कार्य होते हैं उनके जो गुण-धर्म हैं उनका कारण उस वस्तु में संनिविष्ट देवता और असुर हैं । इन यौगिक प्राणों के उत्पादक पितृ प्राण भी यौगिक ही हैं ।

प्राण अनन्त प्रकार के हैं यह कहा जा चुका है । इनमें बारह प्राणों की स्तुति अधिकतर देखी जाती है—भृगु, अंगिरा, अत्रि, मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, दक्ष, वसिष्ठ, अगस्त्य, विश्वामित्र और विश्वकर्मा । ये परमेष्ठिमण्डल में प्राप्त होने पर उद्‌बुद्धावयव हो जाते हैं और सोम के साथ युक्त होकर सृष्टि कर्ता होने में समर्थ होते हैं । इसी सृष्टिकर्तृत्व के कारण ये पितृसंज्ञा प्राप्त करते हैं । सृष्टिकर्ता ये पितृप्राण अक्षर पुरुष के मनोविशेष से बल प्राप्त करके अपने को वाग् योनि में सिंचन करके सब सृष्टियों को उत्पन्न करते हैं ।

पितृ-निरूपण

आपोमय परमेष्ठिमण्डल में आकर प्राण के मुख्य दो भेद हो जाते हैं, भृगु और अंगिरा । भृगु सोम प्रधान है । स्थूलता के तारतम्य से उसके तीन भेद हो जाते हैं—आप्, वायु और सोम । ये तीनों सोमप्रधान हैं । अंगिरा प्राण अग्निमय है; उसके भी तीन भेद हैं अग्नि, यम और आदित्य । आपोलोक में ये दोनों तत्त्व भृगु और अंगिरा व्याप्त हैं—कहा गया है—'आपो भृग्वंगिरो रूपमापो भृग्वंगिरोमयम् ।' आग्नेय और सौम्य दोनों प्रकार के प्राण एक-दूसरे में सम्मिलित रहते हैं परन्तु प्रधानता के अनुरोध से सोमप्राण की प्रधानता वाला प्राण सौम्य और अग्नि प्राण की प्रधानता वाला प्राण आग्नेय कहलाता है । अक्षर पुरुष कलाओं में अन्तिम दो अग्नि और सोम हैं । इन्हीं की प्रधानता से क्षर पुरुष में आग्नेय प्राण और सौम्य प्राण विभक्त होते हैं, आगे वही अग्नि और सोम के जनक होते हैं । क्षर पुरुष की कलाओं में अग्नि को अन्नाद और सोम को अन्न कहा जाता है । इनमें सौम्य प्राण पितृप्राण कहे जाते हैं और आग्नेय प्राण देव । सोम प्रधान पदार्थों में इन सौम्य प्राणों का विशेष सम्बन्ध रहता है और अग्नि का प्रज्वलन भी सोम की आहुति से ही होता है । इन पितृप्राणों के ७ या ८ भेद हैं । अग्निष्वात्ता वर्हिषद् इत्यादि । इन सौम्य

प्राणों के सम्बन्ध से ऋतुओं में परिवर्तन होता है उससे पदार्थों की उत्पत्ति होती है, इसलिए ऋतुओं को भी पितर् कहा गया है—'ऋतवः पितरः ।' जिन ऋतुओं में सोम तत्त्व प्रबल होकर अग्नि तत्त्व को दबा देता है वे शरद्, हेमन्त, शिशिर विशेषकर पितृ सम्बन्धी ऋतु मानी गयी हैं। जिस प्रकार ऋषि प्रकरण में ऋषि शब्द प्राणों के लिए भी आया है तथा मनुष्यादि के लिए भी । इसी प्रकार ये पितृ प्राणरूप तो हैं ही । इन प्राणों की जिन में प्रधानता है, वे चन्द्रलोक आदि के प्राणी भी पितर् कहे जाते हैं । चन्द्रपिण्ड में सोम तत्त्व की प्रधानता है, अतः सौम्य प्राण जिनमें प्रधान है वे प्राणी चन्द्रमण्डल या उसके आसपास के लोकों में ही रहते हैं । उनमें भी दो प्रभेद हो जाते हैं । जो चन्द्रमण्डल या उसके आसपास के लोकों में सृष्टि के आदि से रहते हैं वे दिव्य पितर् कहे जाते हैं और मनुष्य लोक से शरीर त्याग कर जो वहाँ पहुँचते हैं वे प्रेत पितर् कहलाते हैं । ये वहाँ स्थायी रूप से नहीं रहते उनका आवागमन होता है । इसका निरूपण अन्यत्र हुआ है । इनके अतिरिक्त मनुष्य वर्ग में भी पितर् माने गये हैं ।

देव-निरूपण

पितृप्राण से देवप्राण का उद्भव होता है । ऋषि और पितृ शब्दों के समान देव शब्द भी अनेक अर्थों में व्यवहार में आया है । मुख्य देवप्राण रूप है । वे प्राण जिन प्राणियों में प्रधान रूप से रहते हैं वे सूर्यमण्डल और उसके समीपवर्ती लोकों के प्राणी भी देव कहलाते हैं । दैव प्राणों की जिनमें विशेषता है वे तारामण्डल भी देव और उनके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण आदि नामों से कहे जाते हैं । इसी प्रकार इन विद्याओं के पूर्णतया जानने वाले विद्वानों को भी मनुष्य देव, भूदेव कहा जाता है । इनके अतिरिक्त पूर्व युगों में भूमि-स्वर्ग के निवासी प्राणी देव शब्द और उनके विशेष वाचक इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि आदि नामों से व्यवहृत होते थे । इनके विरोधी असुर, राक्षस आदि शब्दों से कहे जाते थे । इनके संग्रामों का विस्तृत वर्णन वेदों में मिलता है। भारतीय राजा दशरथ, दुष्यन्त, अर्जुन आदि स्वर्गलोक में जाकर जिन देवों के सहायक बने थे वे देव इसी उत्तराखण्ड के वासी थे, यह स्पष्ट है ।

१. प्राण देवताओं के अनेक भेद हैं । प्रजापति ही एक देव है । अन्य सब देव उसीसे उत्पन्न हुए हैं—'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वमसृजत यदिदं किं च ।'—शतपथ (६।१।२।११।) 'प्रजा वै भूतानि । देवाः पितरो मनुष्याः पशवोऽसुरा इति पञ्च भूतानि ।'—शत० २।३।४।१ । 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।'—श्वेताश्वतर ।

२. 'द्यावापृथिव्यो वै सन देवताः प्रतिष्ठिताः ।' शत० (१३।२।९।१।) इसके अनुसार दो देव मुख्य हैं । कहीं इन्द्र और अग्नि नाम से दो देव कहे गये हैं—'इन्द्राग्नी वा देवाना-

मोजस्वितमौ।' शत० १३।१।२।६। शतपथ में ही विद्वान् ब्राह्मणों को देव मान कर भी दो देव माने गये हैं—'द्वया वै देवाः देवा अहैव देवाः। अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्य देवाः।'

३. देवता कितने हैं इसके उत्तर में यास्क कहते हैं—तीन ही देवता होते हैं। भूस्थानीय अग्नि है। अन्तरिक्ष स्थानीय वायु अथवा इन्द्र है। द्युस्थानीय सूर्य है। इनके महाप्रभावशाली होने के कारण कर्म पृथक् होने से अनेक नाम हो जाते हैं।[1]

४. तैत्तिरीय ब्राह्मण में चार देवों का उल्लेख है—अग्नि, रुद्र, वरुण और इन्द्र।

५. कहीं पाँच देव भी माने गये हैं—अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और दिक्।

इस प्रकार इनकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में (३।९) शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया है कि देव कितने हैं। इसका उत्तर याज्ञवल्क्य ने अनेक प्रकार से दिया—एक डेढ़, तीन, छः, तैंतीस, तैंतीस सहस्र और तैंतीस लक्ष आदि देवों की संख्या बतायी। उसका स्पष्टीकरण पूछने पर उन्होंने बताया कि एक देवता जो प्राणस्वरूप है उसीका आगे विस्तार होता है। प्राण से ही रयि (भूत) की उत्पत्ति होती है, इसलिए उसे प्राण का अर्धभाग मान लें तो डेढ़ देव हो जाते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु ये तीन देव हैं। इनके अधिष्ठाता अग्नि, वायु और सूर्य को पृथक् गिना जाय तो लोक और लोक के अधिष्ठाता मिल कर छः देव होते हैं। इनमें अग्नि के आठ भेद हैं जो वसु कहलाते हैं। वायु के रुद्र नाम के ग्यारह भेद हैं। आदित्य के बारह भेद हैं। इस प्रकार इकतीस हुए। इनके साथ प्रजापति और इन्द्र नाम की दो शक्तियां और मिला देने से तैंतीस देव हो जाते हैं। कहीं-कहीं इन दो देवों को प्रजापति और वषट्कार कहा गया है, कहीं द्यावापृथिवी और कहीं दो अश्विनी कुमार। इन सब में एक-एक के अनन्त कार्य हैं। उस कार्य की उपाधि के भेद से गणना की जाय तो वह संख्या सहस्र लक्ष कोटि तक पहुँच सकती है। इससे देवों की प्राणरूपता और सब जगत् की उत्पादकता सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार असुर गन्धर्व आदि की प्राणरूपता भी अन्य प्रकरणों से सिद्ध होती है। ऋषि, पितृ, देव, असुर आदि मुख्य रूप से प्राण हैं यह स्पष्ट है। इन तत्त्वों की जिन प्राणियों में प्रधानता होती है वे प्राणी भी इसी नाम से कहे जाते हैं। तारामण्डलों में जहाँ-जहाँ ये तत्त्व प्रधान रूप से मिलते हैं उन ताराओं के नाम भी उन्हीं

१. यास्कः—'तिस्र एव देवता भवन्ति। अग्निर्भूस्थानो, वायुर्वा इन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। तासां महाभाग्ययादेकैकस्या बहूनि नामधेयानि भवन्ति।'

ऋषि, देव आदि प्राणों के अनुसार कल्पित हुए हैं। ऋषि, देव आदि प्राणरूप में अनेक प्रकार हैं तो भी प्राधान्य के अनुसार ऋषि सात, पितृ सात, देव तैंतीस, असुर निन्यानवे और गन्धर्व सत्ताइस माने गये हैं। ये पूर्ण प्रजापति के रूप हैं। इनके केन्द्र से चारों ओर समान रूप से रश्मि का प्रसार होता है, इसलिए इनका आयतन पूर्णवृत्त मण्डल (गोल) होता है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि पिण्ड बर्तुलवृत्त हैं। परन्तु इन्द्र अक्षर की प्रेरणा से जब चारों ओर प्राण प्रसारित होते हैं तब एक ओर में जाने वाले प्राणों का समूह एक पृथक् प्राण बन जाता है। एक ही ओर के प्राणों से इसका निर्माण होता है इससे यह वर्तुल वृत्ताकार नहीं होता, वह प्रलम्ब रूप में बनता है। वह अर्धेन्द्र होता है। इस प्राण को मनु कहा जाता है। इस प्राण के भी दो भेद होते हैं। एक आग्नेय प्राण और दूसरा सौम्य प्राण। आग्नेय प्राण पुरुष कहे जाते हैं और सौम्य प्राण स्त्री। इन्हीं की प्रधानता से प्राणियों में स्त्री और पुरुष ये दो भेद हो जाते हैं। श्रुति कहती है––प्रजापति ने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त किया। ये दोनों पति-पत्नी रूप हुए। इसीलिए पुरुष और स्त्री एक चने की दो दाल की तरह आधे-आधे हैं। इनमें प्रत्येक पृथक् (अकेला) सृष्टि करने में समर्थ नहीं है। विवाह द्वारा जब दोनों संयोजित होते हैं तब पुरुष के अर्ध भाग को स्त्री पूरा कर देती है और वे दोनों मिलकर यज्ञ के अधिकारी होते हैं और सृष्टि करने में समर्थ होते हैं।[१] इसीलिए प्राणियों की सृष्टि मैथुनी सृष्टि कहलाती है। मिथुन दो को कहते हैं। पुरुष विवाह करने के बाद ही पूर्ण होता है। शतपथ में (५।२।१।१०) मिलता है––"अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया। तस्माद् यावज्जायां न विन्दते, नैव तावत् प्रजायते। असर्वो हि तावद् भवति। अथ यदैव जायां विन्दते अथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति।" इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में (३।३।३) भी उल्लेख है–– 'अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः, न प्रजाः प्रजायेरन्। अथो अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी। यज्ञस्य धृत्या अशिथिलंभावाय।' इसका आशय यह है कि जिस पुरुष की पत्नी नहीं है वह अयज्ञ है (यज्ञ का अधिकारी नहीं है)। वह प्रजोत्पत्ति नहीं कर सकता। (यज्ञ से ही प्रजा की उत्पत्ति होती है, यह श्रुतिसिद्ध है)। पत्नी ही आत्मा का आधा भाग है उसके

१. बृहदारण्यक, ३।४।३––'स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ। स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां, तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्वः इति ह स्माह याज्ञवल्क्यः, तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते।'

मिलने पर ही यज्ञ की धृति होती है। यज्ञ की दृढ़ता के लिए पत्नी आवश्यक है। यहाँ जो अर्धात्मा रूप से इन्द्रप्राण पशुशरीरों में —मनुष्य आदि प्रत्येक जीवधारी के शरीरों में रहता है इसे मनु कहते हैं। मनुस्मृति में मिलता है कि इसीलिए कोई विद्वान् अग्नि कहते हैं, कोई मनु, कोई प्रजापति, कोई इन्द्र और शाश्वत ब्रह्म।[1] सबका आशय एक ही है। पूर्ण वर्तुल वृत्त में दूर्वा वनस्पति आदि से लेकर मनुष्य पर्यन्त जो प्राणी उत्पन्न-विनष्ट होते रहते हैं उन्हें पारिभाषिक रूप में **पशु** कहा जाता है। इनमें जो प्राण रहता है वह अर्धेन्द्र होता है वही मनु कहा जाता है। उसकी स्थिति-उत्पत्ति आदि मुख्य पिण्ड के आधार पर ही होती है। मुख्य पिण्ड के ये पोषक हैं इस अर्थ में ये पशु कहे जाते हैं। इनके उत्पन्न-विनष्ट होते रहने से मुख्य पिण्ड में कोई हीनता नहीं होती। ये अर्धेन्द्र मनु सब पिण्डों में होते हैं वहाँ विवक्षावश कहीं चार, सात या चौदह मनु माने जाते हैं। स्वयंभू आदि पाँच मण्डलों में स्वयंभू और परमेष्ठी को एक मान कर ब्रह्म शब्द से कहा जाता है उसके अनुसार चार पिण्डों में चार मनु माने जा सकते हैं। गीता में 'चत्वारो मनवः' कहा गया है।[2] सात लोक या चौदह भुवनों में पृथक्-पृथक् मनु मानने से संख्या सात या चौदह हो जायगी। इस मनु की उत्पत्ति यद्यपि सूर्य से होती है यह मैत्रिश्रुति में मिलता है[3] तथापि यह श्रुति वैवस्वत मनु का उल्लेख करती है अन्य स्वयंभुव आदि मनु का विरोध नहीं करती। वे सब भी मनु हैं ही।

इस मनु प्राण के भी पाँच भेद हैं जैसा कि पुरुषसूक्त में वर्णित है :—

'तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥''

इसके अनुसार पुरुष (मनुष्य), अश्व, गो, अज और अवि (मेष) ये मनु प्राण के पाँच मुख्य भेद हैं। इन पाँच प्रकार के प्राणों के परस्पर सम्बन्ध और तारतम्य से अनन्त प्राणी बन जाते हैं। इसका यह आशय न समझा जाय कि वेद महर्षियों को केवल इन्हीं चार पशुओं का (अश्व, गो, अज और मेष) ही ज्ञान था, अन्य पशुओं के सम्बन्ध में उन्हें कोई जानकारी न थी। क्योंकि ऋग्वेद में ही एक मन्त्र में महिष, मृग, हाथी आदि का

१. 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्'

२. 'महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।

३. 'स वाव विवस्वानादित्यो यस्य मनुश्च वैवस्वतो यमश्च। मनुरेवास्मिन् लोके यमोऽमुष्मिन्निति।'—मै० १।६।१२।

उल्लेख है।[१] अन्य मन्त्रों में उष्ट्र का उल्लेख है। यजु: संहिता में व्याघ्र, वृक और सिंह का उल्लेख है।[२]

प्रजापति के शरीर रूप ब्रह्माण्ड में ये सब प्राण सर्वत्र व्याप्त हैं। इन्हीं प्राणों के परस्पर सहयोग से समस्त भौतिक पदार्थों का निर्माण होता है। प्रजापति प्रकरण में इसका विवेचन हुआ है। जो प्राण परस्पर संघर्ष में आकर युद्ध धर्म से या मैथुन धर्म से प्रतिमूर्छित हो जाते हैं वे भूत पदार्थ बनते हैं और अवशिष्ट प्राण उस भूत में निहित रहते हैं। ये दोनों ही अग्नि के रूप हैं। मूर्छित प्राण भूत रूप चित्याग्नि और उनमें व्याप्त प्राण चिते निधेय कहे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ का निर्माण प्राण रूप देवताओं से है, इसीलिए ऐतरेय श्रुति में मिलता है कि जो कोई भी प्राण उत्पन्न होते हैं वे सब इन्हीं देवताओं से उत्पन्न होते हैं—'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः।' पदार्थ का विश्लेषण करने पर प्राण मात्र रह जाता है। वर्तमान विज्ञान भी अब इस सिद्धान्त तक पहुँच गया है और पदार्थों के विश्लेषण की परीक्षा करके यह मानने लगा है कि प्राणशक्ति (energy) ही बद्ध होकर पदार्थ रूप में परिणत है। ये ही प्राण अध्यात्म में हैं। यह प्रसिद्ध है—'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे।' महर्षियों ने इन प्राणों का साक्षात्कार करके उनके गुण-धर्म की परीक्षा की थी इसका भी यत्र तत्र संकेत मिलता है। अध्यात्म में इन ऋषियों के कार्य लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—मरीचि प्राण से सम्भूति होती है। अपत्य आदि संसार-धर्म की प्रवृत्ति का प्रयोजक मरीचि प्राण है। मरीचि प्राण के संयोग के अभाव में संभूति का विच्छेद होता है। अंगिरस् प्राण के द्वारा पूर्वानुभूत की स्मृति होती है। जिस भाव से सम्बन्ध रखने वाला अंगिरा प्राण संसक्त होता है उसी का स्मरण होता है। उस अंगिरा प्राण के ध्वंस से उस भाव की स्मृति नहीं होती। अनसूया का लक्षण अन्यत्र लिखा जा चुका है। गुणों में दोष दृष्टि रखना असूया है, उसका अभाव अनसूया है। भृगुप्राण से ख्याति होती है एक विशेष प्रकार की श्री होती है। वसिष्ठ प्राण ऊर्जा का प्रवर्तक है जो एक प्रकार का बल-विशेष है। ऋतु से यज्ञ प्रवणता होती है। पुलस्त्य से प्रीति होती है।

१. 'महिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरयो न स्वतवसो रघुष्यदः।
मृगा इव हस्तिनः खाया वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम्॥'—ऋ० १।६४।७।
'प्रहित्वा पूषन्नजिरं न यामनि... उदानट् ककुहो दिवमुष्ट्रान् चतुर्युजो ददत्।'
—ऋ० ८।६।५४९

२. 'या व्याघ्रं विषूचिकोभौ वृकं च रक्षिते। श्येनं पतत्रिणं सिंहम्।'—यजु: १९।१०।

किसी के लिए अनुराग विशेष होता है। पुलह क्षमागुण का प्रवर्तक है। प्रचेता दक्ष हैं। उत्साह विशेष जिसके द्वारा वाग् बुद्धि शरीर आदि के कार्यों में दक्षता होती है वह प्रचेता का धर्म है। नारद का धर्म है श्रद्धाभाव से विपरीत भाव उत्पन्न करना। नार नाम आप् का है—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः' यह मनु कहते हैं। आप् को ही श्रद्धा कहा गया है—'आपोऽस्मै श्रद्धां नयन्ते' अप् तत्त्व ही श्रद्धा का उत्पादक है। उस नार रूपी श्रद्धा भाव को दूर करने वाला—श्रद्धा का विघातक नारद प्राण है। विश्वामित्र प्राण के द्वारा सबके हित की कामना 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' इत्यादि विश्वजनीन कल्याण की प्रवृत्ति होती है। इत्यादि।

इसी प्रकार देव प्राणों के भी कुछ निदर्शन इस प्रकार हैं—शरीर में अध्यात्म देवों का प्रभाव पड़ता है। शरीरगत भिन्न-भिन्न कर्मों के अधिकार में विनियुक्त ये देव प्राण उन-उन कर्मों में प्रयोजक-प्रवर्तक होते हैं। वाजसनेयी संहिता में मिलता है:—'सवित्रा प्रसवित्रा, सरस्वत्या वाचा, त्वष्ट्रा रूपैः, पूष्णा पशुभिः, इन्द्रेणास्मे, बृहस्पतिना ब्रह्मणा, वरुणेन ओजसा, अग्निना तेजसा, सोमेन राज्ञा, विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि।' यजुः—(१०।३०) इससे इन-इन देवों का शरीर में कर्म प्रयोजकत्व सिद्ध होता है।

इस प्रकार समस्त जगत् को प्राण शक्ति का विजृम्भण देख कर महामहिम महर्षियों ने प्रकृति तत्त्व पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए सर्वप्रथम अधिदैव तत्त्व का निरूपण किया। यही कारण है कि यास्क ने ऋग्वेद के मन्त्रों को प्रधानतया आधिदैविक अर्थ में लिया है। अधिदैव का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसका यज्ञ के द्वारा प्रयोग करके सब प्रकार के समीहित को सिद्ध करना लक्ष्य था। तथापि केवल प्रकृति तत्त्व के आधिपत्य पर ही उनके प्रयत्न सीमित न थे। प्राकृतिक पदार्थों का, जगत् के समस्त स्पृहणीय तत्त्वों का उपभोग करते हुए पारमार्थिक दृष्टि का उन्होंने परित्याग नहीं किया। प्रायः यह कहा जाता है कि प्रारम्भ में महर्षि गण अनेकेश्वरवाद के प्रतिपादक थे। एकेश्वरवाद का उत्थान बहुत बाद में उपनिषत्काल में हुआ। परन्तु यह विचार युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। इन विचारों में ऐतिहासिक क्रम की कल्पना निस्सार है। संहिता के मन्त्रों में जहाँ-तहाँ एकेश्वरवाद स्पष्ट शब्दों में वर्णित है।[१] अतः उनकी पारमार्थिक दृष्टि में

१. (क) 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो.... द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।'
—ऋ०१०।८१

(ख) 'सहस्रशीर्षा पुरुषः'—इत्यादि।—ऋ० १०।७।९०।

(ग) 'हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।'—ऋ० १०।१०।१२१

(घ) 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।'

प्रकृति से भी पर तत्त्व कभी ओझल नहीं हुआ । इसी प्रकार उपनिषदों में सर्वत्र एकेश्वरवाद ही नहीं है । इसके अतिरिक्त उपनिषदों में ही अनेक स्थानों में मन्त्र भाग का प्रमाण उपस्थित किया गया है । महर्षियों का लक्ष्य सर्वांगीण उन्नति का था । आधिभौतिक सिद्धि के साथ-साथ पारमार्थिक पथ का प्रश्रय लेना ही उनका ध्येय था ।

तृतीय अध्याय

भारतीय संस्कृति

संस्कृति शब्द का प्रयोग आजकल जिस अर्थ में होने लगा है इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग भारतीय ग्रन्थों में उपलब्ध न होने के कारण कुछ समालोचक यह भी कल्पना करने लगते हैं कि भारत में संस्कृति नाम की कोई बात पहले न थी। आजकल 'संस्कृति' शब्द अंग्रेजी के कल्चर (Culture) शब्द के लिए प्रयुक्त होता है। यह बहुत अंशों में उपयुक्त प्रतीत होता है। संस्कृति और संस्कार एक ही हैं। संस्कार शब्द का उपयोग अवश्य हुआ है परन्तु वह भी एक सीमित अर्थ में। संस्कार के सम्बन्ध में पृथक् प्रकरण में निरूपण होगा। यहाँ संस्कृति शब्द पर विचार उपस्थित है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों को सम्मिलित कर लेने पर 'संस्कृति' शब्द अपने व्यापक रूप को द्योतित करने में समर्थ होता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके लिए आचार और विचार शब्द प्रयुक्त हुए हैं। भारत की संस्कृति की प्राचीनता तथा उपादेयता कितनी व्यापक थी यह मनु के एक श्लोक से प्रकट होता है। मनु कहते हैं—इस देश (भारत वर्ष) में उत्पन्न हुए अग्रजन्मा ब्राह्मण से पृथिवीमण्डल में समस्त मानव समाज अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें—'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।' अवश्य ही वह काल भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष का द्योतक था। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत भारतीय विचारधारा और विचारों के अनुरूप आचरण करना दोनों सन्निविष्ट हैं। वास्तव में भारतीय संस्कृति मूलभूत स्वरूप अध्यात्म प्रवणता है। भारतीय विचारों में पंचभूतों से निष्पन्न शरीर के अतिरिक्त एक आत्मा की सत्ता मानी गयी है। यह आत्मा अजर-अमर है। शरीर बदलता रहता है परन्तु आत्मा सदा एकरूप रहता है। वही मुख्य पदार्थ है। वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर आत्मा दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है। आत्मा के प्रकरण में इसका निरूपण द्रष्टव्य है। आत्मा के एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर का ग्रहण करना ही 'पुनर्जन्म' का सिद्धान्त है। इस दृष्टि से इस पुनर्जन्मवाद को भारतीय संस्कृति की एक विशेषता मानने पर वेदों को प्रमाणरूप में न मानने वाले बौद्ध, जैन आदि जो भारतीय हैं वे भी इस संस्कृति के उपासक हैं। ये सब सम्प्रदाय पुनर्जन्म मानते हैं। इस प्रकार जहाँ तक आध्यात्मिक विचार का सम्बन्ध है इन सबमें ऐक्य हैं। आवागमन से मुक्ति पाना भी सभी का लक्ष्य है। जिस प्रकार

भोजन, वस्त्र आदि के द्वारा शरीर के प्रति हमारे अनेक कर्तव्य हैं उसी प्रकार आत्मा के प्रति भी हमारे कुछ कर्तव्य हैं। वास्तव में आत्मा के प्रति कर्तव्यों को भारतीय संस्कृति में प्रधान स्थान प्राप्त है। प्राचीन समय में भारत में अध्यात्म दृष्टि प्रधान रही है। आत्मा को उन्नत बनाने वाले आचरणों को ही धर्म कहा जाता है। धर्म उसी का नाम है जो उन्नति की ओर ले जाय। और इस उन्नति से अभिप्राय आत्मा की उन्नति से है। धर्म का लक्षण करते हुए कणाद लिखते हैं कि जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' यह उन्नति न केवल संसार की ही है परन्तु उसके साथ-साथ आत्मा की चरम उन्नति है अर्थात् मोक्ष भी धर्म के द्वारा ही होता है। कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि अध्यात्मवाद के अनुयायियों ने धर्म को प्रधानता देकर अर्थ और काम को नीचे गिरा दिया। वे केवल धर्म को ही ग्रहण किये रहे और देश की उन्नति में बाधक हुए। परन्तु यह आक्षेप सर्वथा निराधार है। प्राचीन भारत की भौतिक विभूति पर दृष्टिपात करने पर प्रत्यक्ष हो जाता है कि अर्थ, काम के क्षेत्र में भी भारतवर्ष चरम उत्कर्ष पर था—यह अन्यत्र विशदतया लिखा गया है—'धर्मा-दर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।' यह घोषणा है। धर्म के द्वारा अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं और उसी से अन्त में मोक्ष भी प्राप्त होता है। वास्तव में भारतीय शास्त्रों की दृष्टि में धर्म ही मूल था। अर्थ के उपार्जन में और काम के उपभोग में अनि-यन्त्रण रूप से उच्छृंखल रूप से प्रवृत्त होना विघातक था। परन्तु धर्म को लक्ष्य में रखते हुए मूल पदार्थ धर्म को बिना बाधित किये अर्थोपार्जन और कामोपभोग अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के भी साधन बनते थे। भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ माने गये हैं। 'पुरुषैरर्थ्यते' पुरुषों के द्वारा प्रार्थनीय, चाहे जाने वाले ये चारों ही पुरुषार्थ कहे गये हैं। इन चारों में अन्तिम 'मोक्ष' परम पुरुषार्थ है उसी के लिए पूर्व के तीन—धर्म, अर्थ और काम—साधन माने गये हैं। इन तीनों को ही त्रिवर्ग कहा गया है। परन्तु ये तीनों ही यदि अन्तिम पुरुषार्थ के प्रतिकूल जाते हैं तो अवश्य ही हेय हैं। जिस धर्म के द्वारा मोक्षमार्ग में बाधा उपस्थित होती है, जो अन्य प्राणियों के प्रतिकूल आचरण करके उनमें विद्वेष की भावना उत्पन्न करता है, जो बलात्कार से अपने धर्म को दूसरे पर लादना चाहता है वह वास्तव में धर्म ही नहीं कहा जाता वह कुधर्म है, वह हेय है। इसी प्रकार धर्मवृत्ति की सहायता से न्याय्य रूप से अर्थ का उपार्जन करना सर्वथा श्लाघ्य था। 'परि-त्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ' यह भारतीय नीति थी। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय दर्शनों की दृष्टि से भी भौतिक पक्ष की कभी उपेक्षा नहीं की गयी। इस प्रकार की उपेक्षा सर्वथा असम्भव थी। क्योंकि भारतीय सिद्धान्त में मुख्य मूल तत्व एक अद्वितीय अनिर्वचनीय सर्वव्यापक अखण्ड है और वह निर्बल नहीं है वह सर्वज्ञानमय होने के साथ-

साथ सर्वशक्तिमान् है। शक्ति उसी का एक पहलू है। शक्ति उससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है, उसी के आधार पर उसी का स्वरूप है। और यह भौतिक वैभव, समस्त विश्व उसी शक्ति का विजृंभण है। यह सब अन्य प्रकरण में विस्तार से निरूपित हुआ है। यहाँ केवल यही कहना है कि निर्विशेष ब्रह्म तो निष्क्रिय और निर्लेप है। विश्व के रूप में शक्ति ही कार्यकारिणी है। विश्व के अन्तर्गत होने से मनुष्य समाज, प्राणिमात्र ही, उसी शक्ति के आधार पर उसी के विकास रूप में हैं, अतः इस शक्ति की सर्वथा उपेक्षा करना तो इच्छा करने पर भी सम्भव नहीं है। गीता कहती है कि कोई भी एक क्षण भी बिना कार्य किये नहीं रह सकता। ईशोपनिषत् कहता है कि यहाँ कार्य करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे।[१] तब यह कार्य जलताडनवत् तो है नहीं; उसका अर्थ तो यही है कि वह कार्य करता रहे जिसके द्वारा अन्त में मोक्ष सम्पन्न हो। प्रायः साधारण व्यक्तियों में यह धारणा देखी जाती है कि धर्म के द्वारा ही भारतवर्ष को दुर्दिन देखना पड़ा है। परन्तु यहाँ यह कहना होगा कि कुधर्म से अवश्य ही ऐहिक और पारलौकिक हानि अनिवार्य है। धर्मान्धता अथवा कलहमूलक धर्म, धर्म नहीं है। यह सभी जानते हैं कि किसी राष्ट्र, देश अथवा व्यक्ति की धर्म के द्वारा हानि हो ही नहीं सकती। हिन्दू-धर्म, यवन, बौद्ध, जैन, क्रिश्चियन आदि जितने भी प्रधान धर्म हैं उनका सच्चा रूप धार्मिक होकर लोक कल्याणकारक होता है। परन्तु जो दंभ, द्वेष, लोकप्रतिष्ठा, धन अथवा राज्य के लोलुप होकर धर्म के नाम पर पीड़न करने में तत्पर होते हैं उन्हें धार्मिक संज्ञा नहीं दी जा सकती। वास्तव में धर्म के मूल सिद्धान्त सभी धर्मों में समान हैं। यत्र कुत्र जो भेद उपलब्ध होते हैं वे सिद्धान्त में नहीं, प्रत्युत प्रक्रिया में हैं। लक्ष्य सबका एक है। मानव धर्म में सभी विश्वास करते हैं। मोक्ष का लक्ष्य सभी का है। यहाँ तक जो घोर अनीश्वरवादी हैं; जो केवल दृश्यमान संसार को ही सब कुछ मानते हैं उसके आगे—स्थूल शरीर के आगे—सूक्ष्म शरीर अथवा आत्मा में विश्वास नहीं करते वे भी मानव धर्म को मानते ही हैं; सामाजिक कल्याण और अभ्युदय की कामना वे भी करते हैं इस प्रकार वे भी अपने ढंग पर, अप्रत्यक्ष रूप से—ब्रह्म के ही उपासक हैं। क्योंकि भारतीय सिद्धान्त के अनुसार यह समस्त संसार सम्पूर्ण प्राणी—जड़ जंगम—सभी उसी एक ब्रह्म के विकसित रूप हैं और अतः मानवजाति का अथवा प्राणि मात्र की सेवा करना प्रकारान्तर से ब्रह्म की ही उपासना है। यह तो सर्वथा अनुपपन्न है कि धर्म के द्वारा भौतिक उन्नति में बाधा होती है।

'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'—गीता
'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेषेच्छतं समाः।'—ईशोपनिषत

धर्म का अर्थ ही यह है कि धारण करे अथवा जो धारण किया जाय (धारयति, ध्रियते वा स धर्म है)। धर्म ही प्रत्येक वस्तु को उसके स्वरूप में धारण करता है और धारण किये जाने पर उसके स्वरूप की रक्षा करता है। भारतीय सिद्धान्त में धर्म शब्द अत्यन्त व्यापक है। मानव धर्म, ब्राह्मण धर्म, क्षत्रिय धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्र धर्म, विश्वधर्म आदि उसी के विकसित रूप हैं। परन्तु यथार्थ में यह धर्म प्रत्येक वस्तु में रहता है—चाहे वह जड़ हो अथवा चेतन। जिस वस्तु का जो धर्म है वह यदि उसमें से हट जाय तो उसका स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। वह वस्तु ही न रह जायगी। तब उस वस्तु में जो अन्य धर्म आ जायेंगे उस भिन्न नाम रूप से वह व्यवहृत होने लगेगी। अपने स्वरूप में वह तभी तक स्थित रह सकेगी जब तक उसका धारण करने वाला धर्म उसमें रहेगा। उदाहरण के लिए अग्नि को लिया जाय। अग्नि का धर्म है दाहकता। यदि दाह करने की शक्ति रूप धर्म उसमें से निकल जाय तो वह अग्नि नहीं रह जायगी, वह राख के धर्म का ग्रहण करके राख कहलाने लगेगी। जल में द्रवत्व धर्म है। वह यदि उसमें से हट जाय तो द्रवता दूर होकर घनता आ जाय तो वह बर्फ कहलाने लगेगा। अथवा यदि अधिक ताप के द्वारा उसका द्रवत्व दूर होकर वाष्प में वह परिणत हो जायगा तो उसका नाम ही बदल जायगा। इस प्रकार वास्तव में यह धर्म उन-उन वस्तुओं की प्रधान शक्तियाँ हैं और उन्हीं शक्तियों के द्वारा उसके स्वरूप की स्थिति रहती है। इस प्रकार जब धर्म शक्ति रूप में माना जाता है तो वह शक्ति संचय उचित रीति से उपयुक्त होने पर अवश्य ही भौतिक अभ्युदय का पोषक होगा। परन्तु उसी के दुरुपयोग होने पर वह अवश्य ही घातक सिद्ध होगा। बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है कि उस आत्मा ने श्रेयोरूप धर्म का सर्जन किया[१] इसीलिए धर्म से बढ़कर अन्य कोई वस्तु नहीं है। जो धर्म है वही सत्य है, इसलिए जो सत्य बोलता है उसके लिए कहा जाता है कि वह धर्म बोलता है तथा जो धर्म बोलता है उसके लिए कहा जाता है कि वह सत्य बोलता है। ये दोनों ही एक हैं। पूर्व में जो 'अभ्युंदय-निःश्रेयस' की सिद्धि करने वाले को धर्म कहा गया था उसी का पोषक यहाँ 'श्रेयो रूपम्' है। प्रेय और श्रेय का विभेद सभी जानते हैं; गीता में भी श्रेय और प्रेय का सुन्दर विवेचन मिलता है।

बृहदारण्यकोपनिषद्—'स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यतो अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञा एवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद् हि एव एतदुभयं भवति।'

इस प्रकार परिणाम में अमृत के समान सुख देने वाला श्रेयो रूप धर्म है । जो धर्म है वही सत्य है । संसार का ऐसा एक भी धर्म न मिलेगा जो सत्य की महिमा को न मानता हो, सभी मानते हैं । सत्य और धर्म की एकरूपता भी इस बात का प्रमाण है कि संसार के सब धर्मों का मूल सिद्धान्त एक ही है । इसी बृहदारण्यक के प्रकारण में चातुर्वर्ण्य––ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के सर्जन का वर्णन है । ये चारों आत्मा के वीर्य हैं जैसा अन्यत्र विशदतया वर्णित है । इन्हीं वीर्यों के लिए यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है । इसी धर्म के लिए सत्य शब्द प्रयुक्त हुआ है । सत्य भी वही है जो धर्म है । दोनों में समानता है । सत्य ही वस्तु की सत्ता को स्थित रखता है । उस वस्तु का सत्य ही उसका धर्म है । वह सत्य यदि उसमें से हट जाय तो उस वस्तु का स्वरूप बदल जाय । आत्मा के लक्षण में सत्ता, चित् और आनन्द बताये गये हैं––आत्मा के प्रकरण में इसका विशद विवेचन है । उस परम सत्ता से ही अन्यान्य पदार्थों में सत्ता संक्रान्त होती है जिसके द्वारा सत्ता प्राप्त होती है वह उस-उस वस्तु की आत्मा होता है । उदाहरण के लिए––मृत्तिका से कपास में सत्ता आयी, कपास से सूत को सत्ता प्राप्त हुई; सूत्र से वस्त्रखण्ड में । इस प्रकार मृत्तिका की सत्ता परम्परा के रूप में चली । परन्तु वस्त्रखण्ड की सत्ता आधान करने वाला जो सूत्र है वह यदि नष्ट हो जाय तो वस्त्र नहीं रह जायगा इसी प्रकार सूत्र म से यदि कपास का अंश हट जाय तो सूत्र भी नष्ट हो जायगा । इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सत्ताप्रद की सत्ता जबतक बनी रहती है तभी तक वह वस्तु अपने स्वरूप में स्थित रह सकती है । इसलिए सत्य ही स्वरूपस्थिति रखने में कारण है । यही बात धर्म के सम्बन्ध में कही जा चुकी है । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सत्य या धर्म आत्मा के धर्म हैं । आत्मा मनोमय, प्राणमय, वाङमय है । ये तीनों मनः, प्राण और वाक् सदा एक साथ रहते हैं, तीनों मिल कर ही आत्मा का स्वरूप बनाते हैं । इसका भी अन्यत्र विशद विवेचन है । यहाँ केवल यह कहना है कि अव्यय पुरुष की पाँच कलाओं में से आनन्द, विज्ञान और मन विद्या रूप हैं और मन, प्राण और वाक् कर्म रूप हैं । मध्य का मन दोनों में समान है, अतः पाँच ही कला मानी गयी हैं । ये दोनों विभाग विद्या और कर्म के मोक्षसाक्षि और सृष्टिसाक्षि माने जाते हैं । आनन्द, विज्ञान और मन विद्या रूप से मोक्ष के प्रवर्तक हैं तथा मन, प्राण और वाक् ये तीनों सृष्टिसाक्षि हैं; सृष्टि के प्रवर्तक हैं, बन्धन करने वाले हैं । विद्या भाग बन्धन को मुक्त करने वाले हैं । मध्यस्थित मन सृष्टि और मोक्ष दोनों में समान है और इसीलिए कहा गया है 'मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है ।' यहाँ केवल यह कहना है कि मनः, प्राण और वाक्––अव्यय पुरुष के कर्म भाग हैं इन्हीं के द्वारा सृष्टिक्रम चलता है । उसी आत्मा के वीर्य रूप में धर्म को बताया गया है ।

तब उस वीर्यशाली आत्मा के धर्म के द्वारा भौतिक उन्नति होना सर्वथा स्वाभाविक प्रक्रिया है। वास्तव में आत्मा अपने वीर्य के द्वारा संसार की सृष्टि करता है तब उस वीर्य से संसार का विस्तार होना अवश्यंभावी है। यही विस्तार भौतिक उन्नति है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म भौतिक उन्नति में बाधक न होकर साधक होता है, यह कथन सर्वथा युक्तिसम्मत प्रतीत होता है। अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि जब धर्म के द्वारा ऐहिक उन्नति अभ्युदय आदि की प्राप्ति होती है तब उस धर्म के द्वारा मोक्ष की कल्पना के लिए कहाँ स्थान रह जाता है। अतः यह जो घोषणा है कि धर्म के द्वारा मोक्ष प्राप्ति होती है यह तो भ्रामक हो जाती है। इस सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि भारतीय धर्म-व्यवस्था पर ध्यान देने से इस समस्या का समाधान हो जाता है। समाज की दृष्टि से उसकी सर्वांगीण उन्नति के लिए चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का विधान था। उसके अनुसार सम्पूर्ण समाज की सुव्यवस्था के लिए समुचित रीति से समाज के सब अंगों के अभ्युदय के लिए कार्यभार विभाजित किया गया था। चातुर्वर्ण्य और आश्रमों के सम्बन्ध में अन्यत्र पूर्ण विवेचन किया गया है। इस प्रसंग में केवल इतना ही संकेत करना है कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अनुसार आध्यात्मिक चिन्तन ब्राह्मणों के द्वारा प्रधान रूप से होता था; क्षात्र समाज सुशासन के द्वारा सामाजिक विप्लवों को दूर कर शान्तिमय उन्नति पथ पर अग्रसर होने का लोगों को अवसर देता था। उसी प्रकार वैश्यवर्ग भोजन आदि सामग्री का सम्पूर्ण समाज के लिए व्यवस्था करता था तथा वाणिज्य व्यवसाय के द्वारा राष्ट्र के अर्थविभाग में अत्यन्त सहायक होता था। शूद्र वर्ग शिल्प कला आदि के द्वारा राष्ट्र के वैभव की अभिवृद्धि करता था। इस प्रकार समस्त समाज में सब प्रकार की—आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति का साधन सुलभ होता था। यह समस्त समाज सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए होता था और सबके मूल में **धर्म** बुद्धि सतत जागरूक रहती थी जिससे अन्याय, अत्याचार आदि की प्रवृत्ति पर स्वाभाविक नियन्त्रण हो जाता था। उसी प्रकार व्यक्तिगत रूप से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग की प्राप्ति सुलभ करने के लिए आश्रम व्यवस्था थी। मनुष्य की आयु को चार भागों में विभक्त किया गया था। ब्रह्म के दो स्वरूप ज्ञान और कर्म माने गये थे। ज्ञान से मोक्ष और कर्म से भौतिक वैभव उपलब्ध होते थे। परन्तु वे एक दूसरे के विरुद्ध न थे। एक का दूसरे में सहयोग था। भौतिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचने पर भी मोक्ष का लक्ष्य तिरोहित नहीं होता था। आयु के प्रथम भाग में ज्ञान सम्पादन प्राप्त करना मुख्य लक्ष्य था। परन्तु यह ज्ञान मोक्ष पथ की दृष्टि से नहीं प्रत्युत कर्म में सब प्रकार की कुशलता प्राप्त करने के उद्देश्य से होता था। ब्रह्मचर्याश्रम में रह कर गृहस्थ बनने की योग्यता सम्पादित की जाती थी। गृहस्थ-आश्रम प्रधान आश्रम था।

इसमें सांसारिक, ऐहिक, सुख-भोग, वैभव, समृद्धि सम्पादित होती थी। परन्तु इस वैभव की चकाचौंध में मुख्य लक्ष्य मोक्ष तिरोहित नहीं होता था। यहाँ अपने भोग के साथ-साथ न्यायपूर्वक दूसरों के साथ सद्व्यवहार का लक्ष्य रहता था। ब्रह्मचारी और संन्यासियों के भोजनादि का भार गृहस्थ पर ही रहता था। इतना ही नहीं पशु, कीट, चाण्डाल तक के साथ दया के साथ व्यवहार करने की व्यवस्था थी। तर्पण के मन्त्र में आता है—
"देवा यक्षास्तथा नागा गन्धर्वाप्सरोऽसुराः। क्रूराः सर्पाः सुपर्णाश्च तरवो जृंभकाः खगाः। निराधाराश्च ये जीवा पापे धर्मे रताश्च ये। तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया।"
यह स्पष्ट है कि क्रूर हिंस्र सर्प, पापियों आदि सबके लिए जल दान की व्यवस्था थी। इस प्रकार भोग की सामग्री सम्पन्न होने पर धर्म रूप से परोपकार में प्रवृत्त होने से आत्म-विकास का पथ अवश्य ही परिष्कृत होता है। परन्तु इसके विपरीत जो भोग ऐश्वर्य में उन्मत्त होकर अपने धर्म पथ से परिभ्रष्ट होते थे उनकी बात दूसरी है। इस प्रकार प्रारम्भ के दो भागों का कर्म का महत्त्व था। इसी गृहस्थ धर्म में यज्ञों की व्यवस्था थी जो लोकोपकारक थी। इनका भी पृथक् विस्तृत विवेचन है। इस प्रकार प्रथम आश्रम में कर्म के लिए ज्ञान सम्पादन किया जाता था। गृहस्थ आश्रम के अनन्तर वानप्रस्थ का विधान है जिसमें कर्म की प्रधानता है। परन्तु ये कर्म गृहस्थाश्रम के समान प्रवृत्ति-परक कर्म न थे। उनसे ठीक विपरीत थे। ये निवृत्तिपरक कर्म थे। इनके द्वारा सांसारिक प्रवृत्त कर्मों के विपरीत कर्म के द्वारा अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष के लिए पथ प्रशस्त करना था। यह सिद्धान्त था कि कर्म के द्वारा ही ग्रन्थिबन्धन होने से संसार होता है। कर्म के द्वारा ही ग्रन्थि का मोचन होता है। केवल कर्म की दृष्टि में अन्तर था। प्रवृत्ति कर्म से ग्रन्थि-बन्धन तथा निवृत्ति कर्म से ग्रन्थ-विमोक होता था। इसीलिए कर्म की प्रधानता मानी गयी है। इस आश्रम के बाद चतुर्थ आश्रम संन्यास था। धर्म और सत्कर्म एक ही हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के द्वारा ही अर्थ और काम और उसी के द्वारा मोक्ष भी सम्पन्न होते थे। यह समन्वय भारतीय विचारकों की विशेषता थी।

धर्मपूर्वक आचरण करने वाले राजाओं के शासन में प्रजा किस प्रकार सब प्रकार की सुख सम्पत्ति से समृद्ध रहती थी इसका निदर्शन भारतीय इतिहास में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। वेदकालीन राजा. . . . के शासन काल की प्रजा की समृद्धि का वर्णन उनके ही मुख से इस प्रकार किया गया है[१]—मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है; कोई कदर्य नहीं

'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥'—उपनिषद्
'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥'—रघुवंश

है और न कोई मद्यपान करने वाला है । कोई भी अनाहिताग्नि नहीं है--सतत प्रज्वलित रखी जाने वाली अग्नि का आधान करके उसमें नित्य प्रातः, सायं हवन करने वाला आहिताग्नि कहा जाता है । यहाँ प्रत्येक के अपने-अपने धार्मिक नित्य कृत्य सम्पादन करते रहने का संकेत मिला है । कोई अविद्वान् नहीं है, सभी विद्वान् हैं--इससे शिक्षा का प्रसार सम्पूर्ण राज्य में कितना व्यापक था यह बिलकुल स्पष्ट होता है । इस वर्तमान युग में जब शिक्षा के लिए इतने सुलभ साधन उपस्थित किये जाते हैं तो समस्त संसार में ऐसा कौन-सा देश है जहाँ का प्रत्येक निवासी शिक्षा सम्पन्न हो--शत प्रतिशत व्यक्ति शिक्षित हों । केवल सामान्य रूप से शिक्षित नहीं प्रत्युत विद्वान् कहलाने योग्य शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों की संख्या आज कल कितनी अल्प है यह सभी जानते हैं । आचरण के सम्बन्ध में राजा की घोषणा है कि कोई व्यक्ति स्वैरी--स्वेच्छाचारी दुराचारी नहीं है फिर स्त्रियों में कोई स्वैरिणी कहाँ से होगी । यहाँ इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि स्त्रियों को पथभ्रष्ट करने में प्रायः पुरुष जाति की स्वेच्छाचारिता ही प्रधान कारण होती है । पुराणादि में वर्णित मांधाता, दिलीप, रघु, राम, कार्तवीर्य, युधिष्ठिर आदि शतशः राजाओं के राज्य में प्रजा का सब प्रकार के सुख साधनों से सम्पन्न होना मिलता है। रघु के विश्वजित् यज्ञ का कालिदास ने वर्णन करके उनके त्याग की पराकाष्ठा पर पूर्ण प्रकाश डाला है । आश्रम धर्म का पालन इक्ष्वाकुवंशी राजगण किस प्रकार करते थे यह कालिदास के शब्दों में प्रकट है कि वे लोग शैशव अवस्था में विद्या का अभ्यास करते थे । यौवन में विषय सेवन की अभिलाषा रखते थे । वार्धक्य में मुनिवृत्ति धारण करके वानप्रस्थ आश्रम में प्रविष्ट होते थे और अन्त में योग के द्वारा शरीर का त्याग करते थे । अर्वाचीन ऐतिहासिक काल में अशोक का धर्म पालन तथा प्रजा की सुख-समृद्धि सभी को विदित है । गुप्तकालीन राजाओं के धार्मिक विचार तथा उनके सुशासन की व्यवस्था का परिज्ञान प्रत्येक इतिहास के छात्र को प्रत्यक्ष है ।

भारतीय धर्म पर यह भी आक्षेप देखा जाता है कि यहाँ धर्म में कभी एकरूपता नहीं है । इतने अधिक मत-मतान्तर हो गये हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में ही भिन्न-भिन्न मति पायी जाती है--पिण्डे-पिण्डे मतिर्भिन्ना । वैदिक धर्म में ही ज्ञान, कर्म और उपासना का भेद है । उपासना में भी शैव, शाक्त, वैष्णव आदि अनेक भेद हैं । शैव, शाक्त और वैष्णव आदि में अवान्तर अनेक भेद उपलब्ध हैं । एक ही कृष्ण की उपासना में कोई उनकी शिशु-लीला के उपासक हैं, कोई उनकी बाललीला के अनुयायी हैं तथा अन्य उनकी प्रौढ़ अवस्था के उपासक हैं । बौद्ध मत में भी बाद में अनेक भेद हो गये । जैनों में यही दशा उपलब्ध है । यह सब देख कर आक्षेपक लोगों का यह विचार कि भारत में कोई व्यवस्थित धर्म नहीं

है आपाततः देखने से सर्वथा समीचीन दिखता है । परन्तु एक तो यह विभेद अन्यान्य धर्मों में भी मिलता ही है । क्रिश्चियन धर्म में भी अवान्तर अनेक भेद हैं । यही दशा इस्लाम धर्म की भी है । इससे इस प्रकार के आक्षेपों का कोई मूल्य नहीं रहता; यद्यपि भारतीय दृष्टि से इसका समीचीन समाधान है । परन्तु दूसरा जो उससे भी प्रबल आक्षेप है वह यह है अन्य धर्मों में प्रत्येक व्यक्ति जन्म के ऊँच-नीच का बिना विचार किये उन-उन धर्मों में प्रविष्ट होकर उच्च से उच्च स्थिति प्राप्त कर सकता है । परन्तु वैदिक धर्म में वर्ण-व्यवस्था को इतना अधिक महत्त्व दे दिया गया है कि उसके कारण नियत वर्ण के व्यक्ति ही नियत धर्मों के आचरण के अधिकारी माने गये हैं । कुछ कर्म ऐसे हैं जिनमें ब्राह्मण के अतिरिक्त दूसरे वर्ण का अधिकार नहीं है । कुछ कर्म केवल क्षत्रिय के लिए नियत हैं उनके सम्पन्न करने का अधिकार उच्च माने जाने वाले ब्राह्मणों को भी नहीं है । शूद्र तो वेदाध्ययन या तदनुकूल वेद प्रतिपादित यज्ञों के प्रायः अधिकार से सर्वथा वञ्चित ही हैं । यहाँ तक सामान्य रूप से स्त्रियों को भी वेदाध्ययन अधिकार प्राप्त नहीं है । विशेष अवस्था में अवश्य ही वेदाध्ययन करने वाली स्त्रियों का वेदमन्त्रों की द्रष्ट्री के रूप में ऋषिकाओं का उल्लेख वेद ग्रन्थों में उपलब्ध होता है परन्तु ये अपवाद रूप ही माने जाते हैं । ऐसी स्थिति में जब चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत आने वाले शूद्र और स्त्रियों को ही वेदाध्ययन अधिकार से वंचित किया गया था तब चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त अन्य लोगों का उसमें प्रवेश पाना तो दूर की बात थी । यह ठीक है कि पौराणिक उपासना सम्प्रदाय में यह भेद मिट गया था और शैव, शाक्त, वैष्णव आदि उपासना सम्प्रदाय में स्त्रियों तथा शूद्रों को भी समान अधिकार प्राप्त थे । इतना ही नहीं, चातुर्वर्ण्य से बाहर के व्यक्ति भी यहाँ तक कि म्लेच्छ या यवन कहे जाने वाले व्यक्ति भी इन धर्मों में समान रूप से दीक्षित होने के अधिकारी माने गये हैं । परन्तु जहाँ तक वैदिक कर्मकाण्ड का सम्बन्ध है उसमें इस प्रकार का उदार भाव अब तक नहीं आ सका है । यह आक्षेप अत्यन्त प्रबल है इसमें सन्देह नहीं ।

आक्षेप-निरास

प्रथम आक्षेप है कि भारतीय धर्म में एकरूपता नहीं है । इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि भारतीय वैदिक धर्म किस आधार पर प्रतिष्ठित हुआ है । इसे हृदयंगम कर लेने पर दोनों ही आक्षेप (विभिन्नता तथा अधिकार भेद) निरस्त हो जाते हैं । पूर्व में वेद प्रकरण में दिखाया गया है कि वेदमहर्षियों को उनके तपःपूत अन्तःकरण में वैदिक विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ और तदनुसार उस ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा उन्हें प्राकृतिक तत्त्वों को यथावत् हृदयंगम करने की क्षमता प्राप्त हुई । प्रकृति के विधान को लक्ष्य में

रखकर तदनुरूप ही—प्रकृति के नियमों के आधार पर समाज-व्यवस्था और धर्म-व्यवस्था का सामञ्जस्य रखा गया। भारतीय धर्म मनुष्यकृत स्वेच्छाचारिता का परिणाम नहीं है प्रत्युत प्रकृति आधिदैविक, आधिभौतिक तत्त्वों का सम्यक् रूप से निरीक्षण करके अध्यात्म तत्त्व का महर्षियों ने निर्धारण किया। आधिदैविक तत्त्व प्राण रूप तथा उन्हीं प्राणों के परिणाम रूप स्थूलभाव में आधिभौतिक तत्त्वों का विकास हुआ। अब तो वर्तमान सायन्स भी यह मुक्तकण्ठ से स्वीकार करने लगा है कि पदार्थ मात्र प्राणरूप शक्ति मात्र की स्थूल अवस्था है। शब्द मात्र में भेद है, वस्तु तत्त्व में कोई अन्तर नहीं है। जिसे वर्तमान विज्ञान शक्ति (energy) कहता है वही भारतीय दर्शन में **प्राण** शब्द से व्यवहृत हुआ है तथा जिस प्रकार वर्तमान विज्ञान में प्रकट शक्ति (patent energy) और अप्रकट शक्ति (latent energy) मानी जाती है उसी प्रकार भारतीय दर्शनों में तीन विभेद करके उसी एक शक्ति को बल प्राण और शक्ति शब्दों के द्वारा व्यक्त किया है। प्राण रूप शक्ति को ही **देव** पद से कहा गया है। यह देव प्रकरण में विस्तृत रूप से वर्णित है। जिस प्रकार शक्ति (प्राण) बद्ध होकर स्थूल रूप में वस्तु के रूप में परिणत होती है तथा बची हुई शक्ति उस-उस पदार्थ के भीतर नियति के रूप में भी स्थित रहती है इसका समर्थन वर्तमान विज्ञान में भी परीक्षण के द्वारा सिद्ध हुआ है। इन्हीं दोनों आधिभौतिक और आधिदैविक शक्तियों का समन्वय अध्यात्म में देखा जाता है। इस प्रकार प्राण रूप देवताओं की भिन्न-भिन्न शक्तियों के द्वारा चेतन शरीर का निर्माण हुआ है। इनमें भी स्थूल शरीर भौतिक रूप में, सूक्ष्म शरीर प्राण रूप में माना गया है। जिस प्रकार की देव प्राण रूप शक्तियों से (यहाँ देव शक्ति ही देव और असुरशक्ति दोनों के लिए प्रयुक्त है) मानव का अन्तःकरण बनता है तदनुरूप ही उसकी प्रवृत्ति, चेष्टाएँ, स्वभाव आदि का निर्माण होता है और उसी को ध्यान में रख कर उसके लिए पृथक् धर्म की कल्पना करके उसके अभ्युदय में सहायता पहुँचाना परम कारुणिक महर्षियों का ध्येय था। प्रकृति के सत्त्व गुण और रजो गुण ये तीन भाव भी इन देव और असुर-शक्तियों के उस-उस वर्ग में विभाजित करने में हेतु हैं। इस प्रकार जब भिन्न-भिन्न प्राणशक्तियों के समन्वय से सूक्ष्म शरीर का निर्माण हुआ है वह अवश्य ही उस व्यक्ति के लिए विशेष रूप से नियामक होगा। मनुष्य मात्र स्थूल दृष्टि से एक ही तत्त्व से बने हुए हैं। सभी पांचभौतिक हैं, इसलिए सभी समान हैं यह स्थूल दृष्टि से ठीक है। इसी आधार पर स्थूल शरीर की दृष्टि से मनुष्य, पशु और पक्षियों में भी परस्पर समानता है। परन्तु मनुष्य और पशुओं में विभेद सभी मानते हैं और मान्यता का हेतु यह दिया जाता है मनुष्य में पशुओं की अपेक्षा **विवेक**बुद्धि विशेष रूप से जागृत है। यह विवेक बुद्धि स्थूल शरीर का

धर्म तो है नहीं। अतः अगतिक होकर स्थूल शरीर के अतिरिक्त सूक्ष्म शरीर मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। जैसा भर्तृहरि ने कहा है आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि स्थूल शरीर के धर्म पशुओं में और मनुष्यों में समान रूप से पाये जाते हैं परन्तु **धर्म** ही (यहाँ धर्म शब्द से विवेक बुद्धि ही अभिप्रेत है) मनुष्यों की विशेषता है और इस धर्म से—जो पशु और मनुष्य के विभेद का द्योतक है—जो हीन हैं उनमें और पशुओं में कोई अन्तर नहीं रह जाता, दोनों समान हो जाते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्थूल शरीर के अतिरिक्त कोई वस्तु है जो इस अन्तर की नियामिका है। वही विवेक बुद्धि से अभिहित है। अब यह विवेक बुद्धि भी सब मनुष्य मात्र में समान रूप से नहीं पायी जाती, यह अनुभव-सिद्ध बात है। एक ही माता-पिता की सन्तानों में परस्पर बुद्धि-भेद प्रतिपद में प्रत्यक्ष दिखता है। कोई बालक गणित में, कोई विज्ञान में तथा कोई कला में कौशल दिखाता है तथा उन्हीं सहोदरों में कोई अत्यन्त मन्दबुद्धि भी पाया जाता है। इतना ही नहीं, युग्मजात (twins) बालकों में परस्पर अभिरुचि की विभिन्नता पायी जाती है। किसी अत्यन्त सदाचारपरायण दम्पति के बालकों में से कोई अत्यन्त धर्मबुद्धि निकलता है तो कोई अत्यन्त पापपरायण, पर सन्तापकारी, स्वभावतः चौर्य आदि दुष्कर्मों में प्रवृत्त पाया जाता है। तब यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि मनुष्य मात्र समान हैं। हाँ, जहाँ तक भोजन, वस्त्र आदि का सम्बन्ध है वहाँ अवश्य सबका समान अधिकार है और इस सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि सदा उदार रही है। जैसा पूर्व में कहा गया है डाकू, चोर, चाण्डाल आदि को ही नहीं पशु, पक्षी, वृक्ष तक को समान मान कर भोजन-जल का विधान स्पष्ट शब्दों में किया गया है। परन्तु धर्म तो अन्तःकरण की वस्तु है। उसका नियामक अन्तःकरण है शरीर तो उसके कार्य का सहायक मात्र है। जब प्रत्येक का अन्तःकरण भिन्न है तब उसका धर्म भी पृथक् हो तो इसमें कोई आक्षेप नहीं हो सकता। प्रत्युत यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी बौद्धिक योग्यता के अनुसार ही उसे अभ्युदय करने का अवसर दिया जाय। जो व्यक्ति विज्ञान शब्द के नाम से घबड़ाता है, जो दूसरे व्यक्ति के रुधिर की बिन्दु देख कर ही विचलित हो जाता है, चीर-फाड़ से जिसे स्वाभाविक घृणा है उसे डाक्टरी (medical) पढ़ाने के लिए कौन आग्रह करेगा। ऐसे अनेक उदाहरण देखे गये हैं जब कि स्वरूप ज्ञान न होने के कारण कोई छात्र डाक्टरी की प्रारम्भिक परीक्षा में उत्तीर्ण होकर कक्षा में प्रवेश पा जाता है और जो उसकी चिर संचित अभिलाषा थी वह पूर्ण हो जाती है तब वहाँ के बीभत्स कृत्य देख कर—चीर-फाड़ से विरक्त होकर वह उस व्यवसाय से विरत हो गया है। यह सभी शिक्षा-विशेषज्ञ स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुरूप शिक्षा देने से ही उसका

कल्याण हो सकता है । प्रतिकूल पड़ने वाली शिक्षा से लाभ न होकर हानि ही इतनी होती है कि वह सर्वथा पथभ्रष्ट हो जाता है । जब व्यावहारिक शिक्षा में प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न-भिन्न क्षेत्र सब स्वीकार करते हैं तब पारमार्थिक अभ्युदय के लिए—धर्म के निर्णय के लिए कितनी सतर्कता अपेक्षित है यह सरलतया जाना जा सकता है । यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन सर्वथा स्वभावसिद्ध है । इस प्रकार अधिकारिभेद से धर्म में प्रभेद होना स्वाभाविक है । केवल शक्ति के उपासकों को ही लिया जाय; शक्ति के अनेक प्रभेदों में—अनेक देवताओं में काली, छिन्नमस्ता, त्रिपुर सुन्दरी आदि—परस्पर भिन्नता तो प्रत्यक्ष है । परन्तु एक ही देवता काली की जिस शिष्य को गुरु दीक्षा देता है वह सद्गुरु उस शिष्य की योग्यता के तारतम्य का पूर्णतया ज्ञान प्राप्त करके तदनुरूप मन्त्र देता है । एक ही उपास्य देवता के भिन्न-भिन्न मन्त्र भिन्न-भिन्न शिष्यों के लिए निर्धारित हैं जिनका विशेष वर्णन मन्त्रमहोदधि आदि शाक्त ग्रन्थों में स्पष्ट वर्णित है । इसी प्रकार वैष्णव मन्त्रों में—एक ही कृष्ण के भिन्न-भिन्न मन्त्रों की शिष्य की योग्यता, अभिरुचि आदि की दीक्षा देने का सम्प्रदाय प्रचलित है । यह तो हुई उपासना की बात । मानव अभिरुचि के अनुसार जिस प्रकार उसकी शिक्षा-दीक्षा में विभेद हो सकता है उसी प्रकार अन्य व्यावहारिक कार्यों में भी विभेद प्रतिपद पर प्राप्त होता है । एक ही प्रकार का भोजन प्रत्येक व्यक्ति के लिए हितकर नहीं हो सकता । किसी की जठराग्नि प्रबल है वह घृत आदि गरिष्ठ पदार्थों का सरलता से भोजन करके उनके रस के द्वारा अपने शरीर को पुष्ट कर सकता है । परन्तु जिनकी जठराग्नि मन्द है उनके लिए घृत के समान लाभप्रद पदार्थ भी प्रतिकूल पड़ता है और उसके सेवन से लाभ होना तो दूर रहा प्रत्युत हानि ही अधिक होती है । वात, पित्त, कफ की प्रधानता के तारतम्य से प्रत्येक व्यक्ति के भोजन की सामग्री में तथा मात्रा में विभेद प्रत्यक्ष देखा जाता है । इसी प्रकार ओषधि भी प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार ही निर्धारित होती है । कोई भी कुशल भिषक् एक ही ओषधि को समान रूप से सबके लिए हितकर नहीं मानता । एक ही ओषधि की मात्रा भी भिन्न-भिन्न व्यक्ति के लिए उसकी ग्रहण शक्ति की परीक्षा करके निर्धारित होती है । यही हाल व्यायाम का है । व्यायाम करने और उससे लाभ उठाने की शक्ति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में पृथक् होती है । एक ही प्रकार का व्यायाम अथवा उसकी मात्रा सबके लिए हितावह नहीं है । सुकुमार प्रकृति के पुरुषों के लिए उनकी सहनशक्ति का बिना विचार किये व्यायाम की मात्रा अधिक हो जाने से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है । सहनशक्ति से अधिक व्यायाम करने से क्षय तक होता देखा गया है जैसा माघ कवि ने कहा है—'अयथा बलमारभ्य निदानं क्षयसम्पदः ।' यह तो

सभी जानते हैं कि अनेक व्यक्ति ऐसे भी मिलते हैं जिनको दूध के समान अमृतोपम पदार्थ भी प्रतिकूल पड़ते हैं। इसी प्रकार और अनेक उदाहरण विभिन्नता के प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। तब धर्म तो सूक्ष्म शरीर में अतिशय का आधान करता है। जिस प्रकार स्थूल शरीर में सबमें समान शक्ति नहीं पायी जाती उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में धर्म द्वारा जो अतिशय का आधान होता है उसके धारण करने में प्रति व्यक्ति भेद सम्भव है। जिनका अन्तःकरण धर्म के दिये हुए प्रबल संस्कार को धारण करने में असमर्थ होता है उनको वह धर्म हानिकर ही होगा। वेद के गम्भीर ज्ञान को समझने की जिनमें शक्ति नहीं, उसके समझने के उपयुक्त संस्कार जिन्हें प्राप्त नहीं हैं उन्हें वेद, विज्ञान में दीक्षित करना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकर है। जहाँ ब्राह्मणादि को वेद-विज्ञान बताने का विधान है वहीं ब्राह्मण बालक उपनयनादि संस्कार के द्वारा जब तक वेद-विज्ञान को धारण करने की क्षमता प्राप्त नहीं कर लेता तब तक उसे वैदिक विज्ञान की शिक्षा नहीं दी जाती। इसके अनेक उदाहरण उपनिषद् में आख्यान रूप में उपलब्ध हैं जहाँ बरसों तक शिष्य परीक्षा रूप में ही कार्य करता रहा और अत्यन्त कठोर परीक्षा के अनन्तर ही वह आत्म-विद्या का अधिकारी समझा गया। छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है कि सत्यकाम जाबाल जब आत्मज्ञान की दीक्षा लेने के लिए हरिद्रुमत गौतम के पास पहुँचा और उनसे प्रार्थना की कि मैं आपकी सेवा में ब्रह्मचर्य की उपासना करना चाहता हूँ। इस पर प्रथम तो गुरुजी ने उसके गोत्र के सम्बन्ध में प्रश्न करके यह जानना चाहा कि वह ब्राह्मण है या नहीं परन्तु जब उसने स्पष्ट रूप से बिना किसी झिझक यह सत्य बता दिया कि मैं अपना गोत्र नहीं जानता। मैंने अपनी माता से पूछा, वह भी नहीं बता सकी। इस सत्य उत्तर से गुरु जी को यह निश्चय हो गया कि यह अवश्य ही ब्रह्मवीर्य से उत्पन्न है। इस अधिकारिता को देख कर उन्होंने उसे अपनी शिष्य कोटि में प्रविष्ट तो कर लिया परन्तु ब्राह्मण मात्र होने की योग्यता पर्याप्त नहीं मानी गयी। उन्हें यह आदेश दिया कि इन चार सौ गौओं को—जो अत्यन्त कृश और दुर्बल थीं—लेकर चरोखर में ले जाओ और जब तक इनकी सख्या बढ़ कर एक सहस्र न हो जाय तबतक आश्रम में मत लौटना। 'यह कितनी कठोर परीक्षा थी' यह प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार दूसरी आख्यायिका भी महत्त्वपूर्ण है। कठोर परीक्षा में उत्तीर्ण हुए सत्यकाम जाबाल जब स्वयं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए तब उनकी शिष्यता प्राप्त करने के लिए उपकोसल कामलायन उपस्थित हुआ। वहाँ उसने बारह वर्ष तक उनकी अग्नि की परिचर्या की। परन्तु गुरुजी अन्यान्य छात्रों को तो समावर्तन संस्कार करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अनुमति देते गये परन्तु उपकोसल का समावर्तन नहीं करते थे। उनकी (सत्यकाम) स्त्री ने उनसे कहा कि शिष्य ने ब्रह्मचर्य का सम्यक् पालन किया

है, तप कर चुका है अच्छे प्रकार से अग्नि देवताओं की परिचर्या की है, इसका समावर्तन क्यों नहीं करते, अग्निदेव तुम्हारा प्रतिवाद न करें, इन्हें आत्मज्ञान की दीक्षा दीजिए। तो भी वे महात्मा बिना उसे दीक्षा दिये हुए ही प्रवास में चले गये। इस व्यवहार से असन्तुष्ट होकर शिष्य अनशन करने लगा। आचार्य पत्नी उसके पास जाकर बोलीं कि हे ब्रह्मचारिन्! तुम भोजन क्यों नहीं करते। इसका उसने उत्तर दिया कि इस पुरुष में बहुत-सी कामनाएँ हैं; अनेक विघ्न हैं; व्याधियों से परिपूर्ण हूँ, मैं भोजन न करूँगा। तब अग्नि देवताओं ने इकट्ठे होकर विचार किया कि इस ब्रह्मचारी ने तप किया है और हम लोगों की भली प्रकार से परिचर्या की है, अतः इसे हम उपदेश दें। तब अग्निदेवताओं ने उसे ब्रह्म का उपदेश दिया। तीनों अग्नि देवताओं ने पृथक्-पृथक् उसे ब्रह्म का स्वरूप बताया। यह सब विद्या बताने के बाद भी अग्नि देवताओं ने आचार्य के पद की प्रतिष्ठा की रक्षा की। आचार्य की अनुपस्थिति में ज्ञान-दान करके भी आचार्य ने उसे आचार्य के प्रतिकूल भावना रखने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। उपदेश के अन्त में यह कह दिया कि इस विद्या की गति का उपदेश तुम्हें आचार्य करेंगे। इसके बाद आचार्य जब प्रवास से लौट कर आये तब उन्हें सब बातें ज्ञात हुईं और अन्त में आत्मविद्या की पूर्ण दीक्षा देकर उनका समावर्तन किया। यह भी कठिन परीक्षा थी और बाह्य दृष्टि से इसमें आचार्य की उपेक्षा दृष्टि दिखती है परन्तु वास्तव में आचार्य महोदय का यह आचरण शिष्य पर अनुकम्पा की दृष्टि से था। साक्षात् अग्निदेवताओं के उसी आत्म-ज्ञान की प्राप्ति कराना उनका मुख्य लक्ष्य था। इस प्रकार का सौभाग्य विरले ही शिष्यों को प्राप्त होता है। यह एक निदर्शन मात्र है। यही दशा वर्तमान विज्ञान (Science) के उपासकों की है। आइन्स्टीन सदृश चोटी के विद्वान् ने भौतिक विज्ञान में पारंगत होने के लिए किस प्रकार सकल शारीरिक सुख की आहुति देकर तपस्या की थी यह सब जानते हैं। जब भौतिक विज्ञान में तपः आवश्यक है तो पारमार्थिक विज्ञान में तो वह अनिवार्य है। यहाँ फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह स्वभाव वैचित्र्य कहाँ से आया जब सब मनुष्य समान रूप से ईश्वर की सन्तान हैं तब ईश्वर के परम कल्याणमय गुणों का ही सबमें अवतरण होना चाहिए, परस्पर स्वभाव भेद के लिए कोई स्थान नहीं रहता। बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित है कि जिस प्रकार अग्निपुंज से उसके विस्फुलिंग फैलते हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष से ही ये जीव व्युच्चरित होते हैं। जब जीवमात्र एक ही महापुरुष के क्षुद्र अंश हैं तब उनमें उसी के अंश होने के कारण वही गुण होना स्वभावसिद्ध होना चाहिए। अग्नि में दाहिका शक्ति है वह अपने बृहद् रूप में पर्वत को भी भस्मसात् करने की सामर्थ्य रखता है तो उसके विस्फुलिंग में—एक कण में भी दाहक शक्ति अवश्य है। अपनी सूक्ष्मता

के कारण अपने से अधिक परिमाण वाली वस्तु को वह भले ही पूर्णतया दग्ध न कर सके परन्तु उस अधिक परिमाण वाली वस्तु के एक क्षुद्र अंश का दाह तो कर ही देती है और यदि रूई सरीखी वस्तु से उसका सम्पर्क हो जाय तो वही अग्नि कण बड़ी से बड़ी रूई की राशि को भस्म कर देता है। जल में प्यास को शान्त करने की शक्ति है। जल की एक बूंद प्यास का शमन नहीं कर सकती तो भी उसमें अत्यन्त क्षुद्र रूप में वह शक्ति विद्यमान है, यह सभी मानते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के अंश होने के नाते जीव मात्र में कल्याण गुण अवश्य हैं, पर उनकी मात्रा स्वरूपानुरूप अत्यन्त अल्प है, पर है अवश्य। तब यह स्वभाव भिन्नता कहाँ से आयी इस पर भी भारतीय मनीषियों ने विचार किया है। उसका दिग्दर्शन इस स्थल में अपेक्षित है। इस दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि भारतीय विचारों की तर्कधारा परस्पर समन्वय में सर्वदा सफल हुई है। जो सिद्धान्त मान्य हुए हैं वे दिव्य दृष्टि को आधार में रखते हुए भी, युक्ति और तर्क में भी सर्वथा समर्थित होते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि विश्व के सम्बन्ध से निर्विशेष के तीन संस्थान हो जाते हैं। वही अपनी शक्ति प्रकृति के द्वारा विश्व में परिणत होता है; विश्व भी ईश्वर ही है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ की सत्ता नहीं मानी जाती। विश्व प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थ है, अतः उसकी सत्ता भी है ही। परन्तु उसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं है; ब्रह्म की शक्ति का ही वह विजृम्भण है। शक्ति और शक्तिमान् होता है। शक्ति की सत्ता ब्रह्म के आधार पर ही है, अतः मुख्य सत्ता एक ही है और इसीसे अद्वैत सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती। विश्व की सृष्टि करके वह विश्व रूप में हुआ तथा उसकी सृष्टि करके वह उसमें प्रविष्ट हुआ। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यह उपनिषदों की घोषणा है। इस प्रकार प्रविष्ट हुआ रूप विश्वचर कहलाता है। परन्तु विश्व के बाहर जो ब्रह्म की सत्ता है वह विश्वातीत कही जाती है। इस प्रकार विश्व, विश्वचर और विश्वातीत ये तीन संस्थान हो जाते हैं। इनका अन्यत्र विस्तार है। विश्व ईश्वर का ही स्वरूप है उसमें प्रविष्ट ईश्वर विश्व का नियन्त्रण करने वाला है। विश्वातीत तटस्थ है। ऊपर उपनिषदों में जीव को जो ईश्वरांश कहा है वह ईश्वर प्रत्येक प्राणिमात्र के भीतर अवस्थित रहता है और वही मुख्य जीव है। उसमें भी ईश्वर की सब शक्तियाँ विद्यमान हैं। उसके लिए गीता में कहा गया है कि ईश्वर सब भूतों के हृदय प्रदेश में स्थित रहता है और यन्त्रारूढ़ के समान सब भूतों को अपनी माया के द्वारा घुमाता रहता है। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।' वह जीव ईश्वर स्वरूप है और इसीलिए उसे अपने मोक्ष के लिए कुछ करना नहीं पड़ता, वह स्वयं मुक्त है। परन्तु शरीर की प्रकृति

के आवरण के कारण उसकी शक्ति तिरोहित हो रही है। स्थूल शरीर तो उसका कार्यक्षेत्र है। मुख्य कार्यकर्ता सूक्ष्म शरीर है। वह एक प्रकार से प्रकृति का ही स्वरूप है। वही सुकृत-दुष्कृत का कर्ता होता है और वही तत्परिणाम भूत सुख-दुःख का भोग करता है। मुख्य आत्मा तो सर्वदा निर्लेप, असंग, अक्रिय है। वह तो सर्वथा सत्, चित् और आनन्द-मय है वह न कर्ता है और न कृतकर्म का भोक्ता है। यह तो सामान्य बात व्यवहार में देखी जाती है कि जो व्यक्ति कोई कार्य करता है वही उस कर्म का भोक्ता होता है। अतः सूक्ष्म शरीर ही कर्ता है और वही भोक्ता है। वही बद्ध है और उसी के आवरण को हटाने के लिए शास्त्रों के विधिनिषेध वाक्य हैं। उसी के निराकरण के लिए हर एक धर्म में सदाचार का शम, दम आदि का विधान होता है। उसके अस्तित्व का नाश ही अभिप्रेत है और उस आवरण के नष्ट हो जाने से जीव जो पहले से ही मुक्त है—केवल बद्ध माना जा रहा है—स्वतः मुक्त हो जाता है। मोक्ष कोई आगन्तुक पदार्थ नहीं है वह कहीं से आता नहीं, वह स्वयंसिद्ध है। इसके उदाहरण में वेदान्त ग्रन्थों में आकाश को लिया गया है। आकाश सर्वत्र व्यापक है। ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ आकाश न हो। परन्तु घटाकाश में —घड़े के भीतर जो आकाश का भाग है—वह पृथक् ज्ञात होता है। मकान के भीतर जो आकाश का भाग है वह मठाकाश कहा जाता है। वास्तविक दृष्टि से कहा जाय तो आकाश भाग कहना ही असंगत है क्योंकि आकाश का विभाग हो ही नहीं सकता। जो पदार्थ सर्वत्र समान रूप से व्याप्त है उसका विभाग कैसे होगा, अतः यहाँ भी घटाकाश और मठाकाश का व्यावहारिक प्रयोग है, पारमार्थिक नहीं। घट के आवरण में प्रतीत होते हुए आकाश को घटाकाश और मठ के आवरण में स्थित आकाश को मठाकाश कहकर व्यवहार होता है। यहाँ भी घट के आवरण में अथवा मठ के आवरण में—घटकपाल में या भित्ति आदि में भी तो आकाश व्याप्त ही है। तब यह केवल व्यवहार के लिए है। आकाश पहले से ही मुक्त है; घट के आवरण होने पर केवल सीमित होने की प्रतीति मात्र होती है वास्तव में इस दशा में भी वह मुक्त ही है और घट के आवरण के हट जाने पर तो वह मिथ्या प्रतीति भी नष्ट हो जाती है और आकाश अपन स्वस्वरूप में प्रतीत होने लगता है। इसी प्रकार जीव—परमात्मा का अंश—सीमित-सा, बद्ध सा प्रतीत मात्र होता है; आवरण के हट जाने पर वह स्वस्वरूप में स्थित हो जाता है। दूसरा उदाहरण प्रकाश का दिया जाता है। ईश्वर चिन्मय है, ज्ञानमय, प्रकाशमय है। तदंश जीव भी प्रकाशमय है। उस पर यदि स्वच्छ काच का आवरण कर दिया जाय तो भी वह अपने स्वरूप में रहते हुए भी काच से बाहर भी अपनी प्रकाश रश्मि का प्रसार करेगा ही। परन्तु वही आन्तरिक प्रकाश कृष्ण वर्ण के अत्यन्त मलिन काच से आवृत किया जाय तो उसकी प्रकाशरश्मि

बाह्य प्रदेश में प्रसरित न होगी परन्तु अपने स्वस्वरूप में वह सदा प्रकाशित ही होता रहेगा। और, आवरण के हटते ही उसका स्वप्रकाश स्वच्छन्द हो जायगा। आवरण के हटने पर नया प्रकाश कहीं बाहर से नहीं आयेगा। यही दशा जीव की है। आवरण के तारतम्य के कारण ही जड़-चेतन का प्रभेद प्रतीत होता है। अतः ईश्वरांश रूप जीव में बन्धन और मोक्ष दोनों ही अनुपपन्न हैं। चिन्मय आत्मा के स्वरूप में बन्धन का कोई प्रवेश नहीं है। तब प्रकृति के प्रभाव से चिदाभास बन्ध और मोक्ष का भागी होता है। प्रकृति के द्वारा जितने विकार देखे जाते हैं वे सब सत्त्व, रजः और तमः इन तीन मुख्य भागों में विभाजित हैं। इन्हीं के परस्पर सहयोग के तारतम्य से भिन्न-भिन्न अनेक पदार्थों की सृष्टि होती है। सत्त्व ज्ञान का, रजः क्रिया का तथा तमः आवरण का द्योतक है। तमः के आवरण को हटा कर सत्त्व का सम्पादन करने से ही प्राणिमात्र का उद्धार सम्भव है। मध्यस्थ रजो गुण क्रियारूप में उसका प्रवर्तक है। यद्यपि तीनों गुण सर्वथा साथ रहते हैं परन्तु उनकी प्रधानता और अप्रधानता के अनुसार उनके कार्य होते हैं। इन्हीं के कारण कर्म के प्रभाव से प्राणि का कारण शरीर उत्पन्न होता है फिर सूक्ष्म शरीर के द्वारा उसके कार्यकलाप प्रारम्भ होते हैं। यह अन्यत्र कहा जा चुका है कि भारतीय सिद्धान्त पुनर्जन्मवाद का दृढ़ समर्थक है। गीता में कहा है—'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।' अर्थात् जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी फिर अवश्य होता है। इस प्रकार यह जन्म-मृत्यु चक्र निरन्तर चलता रहता है और इससे निस्तार पाने के उपायों के निर्देश भिन्न-भिन्न प्रकृति वालों के लिए शास्त्रों में निर्दिष्ट हुए हैं और इन्हीं के लिए गीता में भगवान् कहते हैं कि इसलिए कार्य और अकार्य के लिए तुम्हारे लिए शास्त्र ही प्रमाण हैं—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।' इस पुनर्जन्मवाद सिद्धान्त के अनुसार ही दूसरे जन्म में पूर्वजन्म के संस्कार साथ आते हैं—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।' विद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा के तारतम्य से प्रकृति, स्वभाव, सूक्ष्म शरीर का, निर्माण शक्ति आदि का सन्निवेश होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्वजन्मकृत सात्त्विक राजस, तामस आदि कर्मों के द्वारा नये जन्म में प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव में प्रवृत्ति में अवश्य तारतम्य होगा। सब एक समान कदापि नहीं हो सकते। शास्त्रों में उपनिषदों में यह भी स्पष्ट वर्णित है कि किस प्रकार के कर्मों के परिणामभूत किस योनि में जन्म लेना पड़ेगा। उदाहरण के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है कि जो रमणीय आचरण करने वाले हैं वे रमणीय योनि को प्राप्त करते हैं—ब्राह्मण योनि, क्षत्रिय योनि अथवा वैश्य योनि। और जो कुत्सित आचरण वाले हैं वे कुत्सित योनि को

प्राप्त होते हैं—कुत्ते की, शूकर की या चाण्डाल की योनि ।[१] इससे स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान प्रकृति के निर्माण में पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हैं । अतः प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति भिन्न होना सर्वथा प्राप्त है। इतना ही नहीं जिस प्रकार सदाचरण के द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का उल्लेख है अर्थात् सदाचरण के तारतम्य के अनुसार ब्राह्मण आदि योनियों में अथवा कदाचरण के द्वारा श्वयोनि आदि में तारतम्य होता है उसी प्रकार एक ही योनि को प्राप्त करने पर भी आचार के तारतम्य के कारण प्रकृति में भेद होना सिद्ध होता है । ब्राह्मण योनि प्राप्त करने योग्य सदाचार के द्वारा ब्राह्मण योनि प्राप्त होने पर भी उनमें से कोई ज्ञान में, कोई अर्थ में और कोई अन्य कार्यों के लिए अभिरुचि लेकर प्राप्त होते हैं । एक क्षत्रिय कुशल युद्धवीर होता है । तो दूसरा शम प्रधान होता है । युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम के स्वभावों की विलक्षणता उदाहरण है । इस प्रकार जब भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले व्यक्ति देखे जाते हैं तब सबके लिए एक ही मार्ग किस प्रकार लाभदायक हो सकेगा । इसीलिए भिन्न-भिन्न शास्त्रों में भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों के हित के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार बताये गये हैं, अतः उनमें पक्षपात का आरोपण करना नितान्त असंगत है । प्रत्युत यह उनकी परम कारुणिकता है कि सबके हित का ध्यान रख कर उन्होंने आचार का विधान किया है। यह कहना भी असंगत है कि ब्राह्मणों को अधिकार प्राप्त था, अतः उन्होंने ब्राह्मण जाति को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया । उनके लिए सब प्रकार की सुविधा प्रदान की यहाँ तक कि उन्हें राजदण्ड से भी छूट दे दी । परन्तु यह आक्षेप भी क्षोदक्षम नहीं है । इसका अन्यत्र विशेष विवरण है । यहाँ यह निदर्शन पर्याप्त है कि ब्राह्मण के लिए ऐश्वर्य भोग का कहीं विधान नहीं है, उनके लिए तो त्याग ही की महिमा मुक्तकण्ठ से घोषित हुई है । जिसके पास दूसरे दिन की भोजन सामग्री नहीं है जो अश्वस्तनिक है उसका स्थान सबसे उत्तम माना गया है । प्रायश्चित्त प्रकरण में जहाँ ब्राह्मण के लिए पूरे चतुष्पाद प्रायश्चित्त का विधान है वहीं अन्य वर्णों के क्रमानुसार एक-एक पाद कम करने का विधान है । ऐसी दशा में पक्षपात का आरोप निस्सार है । जहाँ श्रोत्रिय ब्राह्मण के लिए भोजनादि की व्यवस्था करने का भार राजा पर रखा गया है अथवा उन्हें राजदण्ड से मुक्त रखने का आदेश है वह भी प्रकरणान्तर में

१. तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह वा यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।'—छां० उ०, ५–१० ।

स्पष्ट होगा, श्रोत्रिय ब्राह्मण से वहाँ तात्पर्य यह नहीं है कि जो वेद का पारायण मात्र करने में पटु है वह श्रोत्रिय अभीष्ट है। वहाँ श्रोत्रिय से अभिप्राय उस वेदनिष्ठ ब्राह्मण के लिए है जो कि वेदों के यथार्थ अर्थ का ज्ञाता होकर तदनुकूल वैज्ञानिक परीक्षाओं में सतत लगा रहे जिससे वह समस्त समाज के सब प्रकार के अभ्युदय में सहायता देता रहे। इस प्रकार के हितकारक ब्राह्मण को भोजनाच्छादनादि की चिन्ता से मुक्त रखना समाज या राज्य का कर्तव्य था, यह सर्वथा उपयुक्त ही था।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक धर्म---वेदविज्ञान को विधिपूर्वक धारण करने की क्षमता प्रत्येक व्यक्ति में समान रूप से न थी और इसलिए उचित अधिकारी देख कर उस वैदिक विज्ञान की संस्था में प्रवेश हो सकता था। अन्यत्र यह भी उल्लेख किया गया है कि यज्ञ एक वैज्ञानिक विधि थी और प्रकृति के साथ सामंजस्य करके उन यज्ञों के द्वारा आधिदैविक प्राणतत्त्वों पर आधिपत्य स्थापित किया जाता था। ऐसे विज्ञान को हृदयंगम करने के उपयुक्त संस्कार जिनके नहीं हुए उनको वेद-विज्ञान की शिक्षा देना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अहित करने वाला था। प्रथम तो उस विज्ञान को धारण करने की क्षमता आवश्यक थी साथ ही यह देखना भी आवश्यक था कि वह अधिकारी सात्त्विक वृत्ति का है और रागद्वेष में पड़ कर उस उच्चविज्ञान का दुरुपयोग न करेगा। ऐसे व्यक्ति के चुनाव में विशेष ध्यान रखा जाता था और इसीलिए आचार्य शिष्य की सब प्रकार की परीक्षा करने के बाद ही जब उसे पूर्ण अधिकारी समझता था तभी उसे आत्म-विज्ञान में पटु करता था। यह बात आजकल के भौतिक विज्ञान में भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है। योग-सिद्धि के मार्ग पर बहुत कुछ आगे बढ़ कर कुसंस्कार के कारण उसका दुरुपयोग करके कितने लोग भ्रष्ट हो गये हैं यह सभी जानते हैं। अतः यह महर्षियों की सङ्कीर्णता न थी प्रत्युत लोकोपकारक बुद्धि थी कि उनकी विज्ञान-परम्परा योग्य व्यक्ति के पास जाकर लोकोपकार में ही प्रयुक्त हो, अनुपयुक्त के हाथ में पड़ कर समाज का अहितकर सिद्ध न हो। इसीको लक्ष्य में रख कर महर्षियों की यह परम्परा थी कि जिस आध्यात्मिक ज्ञान का उन्होंने अपने तपःपूत अन्तःकरण में प्रत्यक्ष किया था और जो सर्वसाधारण को सुलभ न था---उस ज्ञान का दान उचित, अधिक योग्यतासम्पन्न सच्छिष्य को दीक्षा द्वारा दिया करते थे।* ऐसे भी उदाहरण हैं जहाँ

*Arbinds—Introduction to 'Hymns to the mysti fie—P. V.

It has been the tradition in India from the earliest times that Rishis, the poet-seers of the Veda, were men of this type, men with

यह परम्परा उन महर्षियों के सन्तानों को छोड़ कर योग्य शिष्यों द्वारा ही प्रचलित हुई है। अपने अनधिकारी पुत्र को भी जब वे वह विज्ञान नहीं देते थे तब अन्य अनधिकारी को देने की बात तो दूरापेक्ष है। जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है शूद्रों में स्वभावतः पूर्वजन्म के संस्कार की न्यूनता के कारण इस आत्मविज्ञान के धारण की क्षमता न थी, इसलिए यदि उन्हें इस विज्ञान से वंचित रखा गया तो इसमें कोई अन्याय का आक्षेप नहीं हो सकता। परन्तु उनके भी हित की उपेक्षा नहीं की गयी है। वेद के ही विषयों को रोचक और सरल भाषा में—कथा, उपाख्यान आदि के रूप में पुराणों में निबद्ध कर उनकी शिक्षा का मार्ग प्रशस्त कर दिया गया था। उस शिक्षा को वे सरलता से ग्रहण भी कर सकते हैं और उससे लाभ उठा सकते हैं। इसी प्रकार उनके लिए ऐसे कर्म वैदिक संस्कृति में निर्धारित हैं जिनके द्वारा उत्पन्न अतिशय या संस्कार को वे सहन कर सकते हैं। इस प्रकार सब व्यक्तियों का उपकार ही, अधिकारों के अनुसार, वैदिक संस्कृति का लक्ष्य है।

इसी प्रकार स्त्रियों को वेदाध्ययन के अधिकार से वंचित रखने का आक्षेप प्रायः देखा जाता है। यह पूर्व में लिखा जा चुका है कि ब्रह्मवादिनी अनेक स्त्रियाँ मन्त्रों की ऋषिका थीं। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ ब्रह्म सम्बन्धी वाद में भाग लेने में, ब्रह्मविद्या में, अवगति रखने वाली स्त्रियाँ थीं। याज्ञवल्क्य की पत्नी पति के दिये हुए दाय को अस्वीकार करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए ही आग्रहशील थी। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये विशिष्ट योग्यता सम्पन्न स्त्रियाँ अपवाद रूप में ही थीं। साधारणतः, स्त्रियों को वेदाधिकार से बाहर ही रखा गया था। इसके कारणों पर भी विचार आवश्यक है। यह भी आक्षेप प्रायः होता है कि भारतीय संस्कृति में स्त्रियों को निकृष्ट स्थान प्राप्त था, वे पराधीन थीं; परमुखापेक्षिणी, उपेक्षिता थीं और उन्हें समाज में पुरुषों के समान अधिकार से सर्वथा वंचित रखा गया था। अतः प्रथम स्त्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेद में क्या सिद्धान्त मिलता है वह द्रष्टव्य है। पुरुष अथवा स्त्री के शरीर में मेरुदण्ड अन्तरिक्ष में वर्तमान विषुवत्मण्डल के आधे ही सम (सीधे) भाग से निष्पन्न होता है। आकाश में सूर्य की उत्तर-दक्षिण गति का जो मध्यभाग है वह विषुवत् है यही हमारे मेरुदण्ड का निर्माता है। अतः अर्धविषुवत् मण्डल से ही

great spiritual and occult knowledge, not shared by ordinary human beings, men who handed down this knowledge and their powers by a secret initiation to their descendent and chosen disciples.

हमारी उत्पत्ति हुई है। ऐतरेय ब्रा० (१८।८) में मिलता है कि 'जैसे एक पुरुष होता है वैसे ही विषुवान् (विषुवद् वृत्त) है। जैसे पुरुष का दक्षिण अर्धभाग होता है वैसे ही विषुवान् का प्रथम आधा (दक्षिण ओर का) भाग है और जैसे पुरुष का वाम भाग है वैसे ही विषुवत् का उत्तर का अर्ध भाग है। वाम भाग के सादृश्य से ही उसे उत्तर कहते हैं। जैसे मनुष्य जब दोनों हाथ सीधे रखकर सीधा खड़ा हो जाता है तब शिर ऊँचा रहता है वैसे ही इन सब मण्डलों में विषुवान् सबसे ऊँचा भाग है इससे शिरस्थानीय ही विषुवान् है। जैसे दो आधी दाल मिला कर एक चना पूरा बनता है ऐसे ही सम्पूर्ण प्राणी दो दल (वाम और दक्षिण भाग) मिला कर ही बनते हैं अर्थात् दो आधी फांक-सी जुड़ कर एक पुरुष बनता है। यही कारण है कि शिर का मध्य भाग सिया हुआ सा दिखाई देता है।[१] अपूर्ण होने से ही, अर्ध होने से ही, यह इन्द्र आत्मा (इसका अन्य प्रकरण में विवरण है) अपने को अपर्याप्त (अधूरा) मानता है, इसलिए यह आत्मा अकेला रमण (विनोद क्रीड़ा) नहीं करता। इसी आशय को बृहदारण्यक उपनिषद् ने स्पष्ट किया है—पहले यह आत्मा ही पुरुषविध (पुरुष के रूप में) अकेला था। × × वह डरता था, इसलिए अकेले पुरुष को डर होता है। उसने यह विचार किया कि मुझसे अन्य तो और कोई है नहीं मैं डरता किससे हूँ तब ही उसका भय दूर हो गया। परन्तु उसका मन रमा नहीं, इसलिए अकेला पुरुष रमण (विनोद) नहीं करता। उसने द्वितीय की इच्छा की। वह इतना ही था। जैसे स्त्री और पुरुष दोनों एक दूसरे से संपरिष्वक्त (मिले हुए) हों। उसने अपने इस आतमा को दो भागों में विभक्त किया। पति और पत्नी दो हुए। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा कि हम दोनों (स्त्री पुरुष) आधी बृगल अर्थात् दाल के समान हैं। इसलिए यह आकाश (अवकाश स्थान) स्त्री के द्वारा पूर्ण होता है।[२] मनु ने भी लिखा है कि ब्रह्मा ने अपने देह को दो

१ "यथा वै पुरुषः एवं विषुवान्। तस्य यथा दक्षिणोऽर्धः, एवं पूर्वोऽर्धो विषुवतः। यथोत्तरोऽर्धः, एवमुत्तरोऽर्धो विषुवतः। तस्मादुत्तर इत्याचक्षते। प्रबाहुकसतः शिर एव विषुवान्। विदलसंहित इव वै पुरुषः। तद्धापि स्यूम इव मध्ये शीर्ष्णो विज्ञायते।" —ऐतरेय ब्रा०, १८—८

२. 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः। सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति सहायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति, तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद् द्वितीयाद्वै भयं भवति। स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स ह एतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ सम्परिष्वक्तौ स इममेव आत्मानं द्वेधापातयत् ततः पतिश्च

भागों में विभक्त किया; आधे भाग से पुरुष हुआ और आधे से स्त्री ।[1] इसीलिए अर्ध भाग पुरुष जहाँ दारग्रहण (विवाह) करता है तब यह पूर्ण होता है । शतपथ ब्रा० में लिखा है, यह जो मिथुन (पति पत्नी का जोड़ा) है यह आधा-आधा है । जब एक आधे का दूसरे से मिथुन (सम्बन्ध, संयोग होता है अर्थात् दूसरे मिथुन से—आधे भाग से मेल हो जाता है तब ये पूर्ण हो जाते हैं ।[2] तैत्तिरीय भी कहते हैं--जो अपत्नीक है, पत्नी से रहित है, वह अयज्ञ है । यज्ञ का अधिकारी नहीं है । वह प्रजोत्पत्ति नहीं कर सकता । पत्नी ही आत्मा का आधा भाग है उसके मिलने पर ही यज्ञ की धृति (धारणा) होती है । तैत्ति० 'अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः, न प्रजाः प्रजायेरन् । अथो अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी । यज्ञस्य धृत्या अशिथिलं भावाय ।' (तैत्तिरीय ब्रा० ३।३।३) । इसी को शतपथ में और भी स्पष्ट किया गया है कि यह जाया (स्त्री) आत्मा का आधा भाग है, इसलिए जब तक जाया को प्राप्त नहीं कर लेता है, सृष्टि नहीं कर सकता । तब तक यह अपूर्ण रहता है । जब जाया प्राप्त कर लेता है तब नयी सृष्टि--सन्तान पैदा करता है, क्योंकि तब वह पूर्ण हो जाता है ।[3] इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष और स्त्री दोनों एक ही हैं । एक ही मुद्रा के दो पहलू हैं । जिस प्रकार पुरुष और शक्ति दोनों एक ही हैं उसी प्रकार पुरुष और स्त्री हैं । अतः यह आक्षेप करना कि पुरुषों ने अपनी प्रधानता हठात् स्थापित कर ली और स्त्रियों को अनेक अधिकारों से वंचित कर दिया एक प्रकार से उन्हें पददलित करके रखा गया । ये आक्षेप सर्वथा निराधार हैं । अभी भी गृह के सम्पूर्ण कार्यों का एकाकी अधिकार स्त्रियों के ही अधिकार में हैं । स्त्रियों का मातृरूप में कितना आदर होता है यह किसी भारतीय से छिपा नहीं है । 'मातृदेवो भव' यह तो श्रुति की घोषणा है

पत्नी च अभवतां तस्मादिदमर्धं वृगलमिव स्वः इति स्माह याज्ञवल्क्यः तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते ।' --बृहदारायक उप०, १–४ ।

१. मनुः—'द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ।।'

२. 'अर्धमुहैतदात्मनो यन्मिथुनम् । यदा वै सह मिथुनेन अथ सर्वोऽथ कृत्स्नः ।'
—शतपथ ब्रा०, ८।७।२।३

३. 'अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया । तस्माद् यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजायते । असर्वो हि तावद् भवति । अथ यदैव जायां विन्दते अथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति ।'—शतपथ, ५।२१।१०

ही । स्मृतिकारों ने तो माता के स्थान को पिता के स्थान से उच्च कर दिया है । 'पितुः शतगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते ।' मनु ने लिखा है कि जहाँ स्त्रियों का सम्मान नहीं होता वे घर अभिशप्त हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, । 'जामयो यत्र गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः । तानि कृत्याहतानीव. . . ।'

इस प्रकरण में यह विचार भी आवश्यक प्रतीत होता है कि स्त्री पुरुषों के निर्माण में प्रकृति के किन अंशों की प्रधानता है, इसके अनुशीलन से यह स्पष्ट हो सकेगा कि उनके लिए जो कृत्य नियत किये गये हैं वे उनकी प्रकृति से प्रतिकूल है या अनुकूल । यह पूर्व में कहा जा चुका है कि विषुवत् स्थित सूर्य के रस से मनुष्य का आत्मा बनता है; कहा भी है— 'सूर्य आत्मा जगस्तस्थुषश्च'—अर्थात् सूर्य ही स्थावर और जंगम का आत्मा है । यह भी कहा जा चुका है कि विषुवत् के आधे भाग से पुरुष और आधे भाग से स्त्री का आत्मा बनता है । परन्तु वहाँ भी यह विशेषता है कि जिन रसों के द्वारा आत्मा बनता है उनमें से जो सूर्य की दिशा में अर्थात् अग्नि से सम्बद्ध दिशा में जाता है उससे पुरुष का आत्मा बनता है और जो भाग सूर्य से प्रतिकूल दिशा में अर्थात् सौम्य दिशा में जाता है उससे स्त्री का आत्मा बनता है । सोम तत्त्व यद्यपि सर्वत्र व्याप्त है तथापि सूर्य के प्रकाश के भाग में वह दबा हुआ रहता है और अप्रधान रहता है, वहाँ अग्नि की प्रधानता रहती है । परन्तु पृथ्वी के व्यवधान के कारण सूर्य की प्रतिकूल दिशा में सोम का प्राधान्य रहता है इससे जो आत्मा बनता है वह सौम्य होता है । सभी पदार्थ अग्नि और सोम से बनते हैं ('अग्नीषोमात्मकं जगत्') परन्तु इन दोनों की प्रधानता अथवा अप्रधानता के कारण अनेक प्रकार के भेद हो जाते हैं । यहाँ पुरुष का आत्मा अग्निप्रधान तथा स्त्री का आत्मा सोमप्रधान कहा गया है । स्त्री का आत्मा जाया बलप्रधान माना गया है । यह कहा गया है कि भूत देह में (पार्थिव शरीर में जिसका आत्मा जाया बल से अनुगृहीत होता है उस भूत का यह देह नारी योनि में उत्पन्न होता है—'जायाबलेन यस्यात्मा भूतदेहेऽनुगृह्यते । तस्य भूतस्य देहोऽयं नारीयोनौ प्रजायते ।'[1] जाया बल के सम्बन्ध में श्रुति कहती है 'जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते स्वयम्'[2] अर्थात् जाया का यही जायात्व है कि वह (पुरुष)

१. ब्रह्म समन्वय—पृ० १५ ।
२. 'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम् ।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥'

स्वयं उसमें से उत्पन्न होता है।[१] इस प्रकार दोनों के (पत्नी और पति) उत्पादक तत्त्वों के भेद के कारण ही उनके स्वभाव में, उनके अनुकूल कृत्यों में—परस्पर कुछ भेद होना स्वाभाविक है। स्त्रियों में सोम की प्रधानता होने से जाया बल के प्रभाव से प्रजनन शक्ति और मातृत्व भाव की प्रधानता होती है यह प्रत्यक्ष है। स्त्रियों का मातृत्व कितने महत्त्व का है इसका वर्णन करना असम्भव है। इसीलिए परम माता जगज्जननी जगदम्बा महामाया भगवती की उपासना प्रत्येक सद्गृहस्थ के घर में अनिवार्य मानी गयी है। उन्हीं महाशक्ति की प्रतिरूप हम लोगों की माताएँ देवताओं की भी देवता मानी गयी हैं। शंकराचार्य ने सौन्दर्य लहरी में यह कहा है कि शिव, शक्ति के प्रभाव से शिवत्व प्राप्त करते हैं उसी के द्वारा उन्हें प्रभुत्व प्राप्त है। यदि वे शक्ति से रहित हो जायँ तो शव हो जायँ और स्पन्दन भी न कर सकें;[१] प्रभुत्व करना तो दूर की बात है। इन सब तथ्यों को देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ पददलित थीं, उनका तिरस्कार होता था; समाज में उनका स्थान हीन माना जाता था।

सन्तानोत्पादन और सन्तान के पालन-पोषण में आवश्यक रूप से लगने वाली स्त्रियाँ भी इस गम्भीर वेद-विज्ञान के मार्ग में सामान्यतः उपयुक्त न समझी गयीं। अपवाद रूप में मन्त्रद्रष्ट्री ऋषिकाओं का उल्लेख हो चुका है। गम्भीर विज्ञान का प्रभाव सन्तानोत्पादक शक्ति पर भी बुरा पड़ता है। इसके अतिरिक्त यज्ञ में पति के साथ उनका समावेश आवश्यक है; फिर वैदिक विज्ञान के चक्कर में पड़ कर अपने लौकिक कार्यों में अपटु रह कर सामाजिक व्यवस्था को अस्त-व्यस्त करने की क्या आवश्यकता थी। यज्ञ का फल—अतिशय तो स्त्री और पुरुष दोनों में समान रूप में उत्पन्न होता है यह वैदिक विज्ञान का सिद्धान्त है। तब बिना वेदाध्ययन के परिश्रम के ही उन्हें फल की प्राप्ति हो गयी यह तो उनके हित की ही बात है। इसमें विद्वेष की गन्ध अथवा उपेक्षा कहाँ आती है। किस व्यक्ति में किस प्रकार का अतिशय धारण करने की क्षमता है, इसकी परीक्षा अतिपरोक्ष विषय होने के कारण ऋषि लोग ही जानते थे। उन्होंने राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण का भी अधिकार न होना घोषित किया है; क्योंकि उसका अतिशय ब्राह्मण के अन्तःकरण में प्रविष्ट नहीं हो सकता। इसी प्रकार वाजपेय में क्षत्रिय का अनधिकार माना गया है, इससे ब्राह्मण-क्षत्रियों ने अपने हाथ में सब अधिकार लेकर औरों को वंचित

१. 'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।'—सौन्दर्य लहरी।

किया, यह कल्पना निर्मूल है । वह तो मनोविज्ञान द्वारा अन्तःकरण की परीक्षा करके हितबुद्धि से ही विधान है । इष्टापूर्ति, उपासना आदि के द्वारा पूर्ण कल्याण का साधन करने का मनुष्य मात्र को अधिकार है, यह वैदिक संस्कृति की घोषणा है । यहाँ न अनुचित पक्षपात है, न द्वेषबुद्धि है और न स्वार्थसिद्धि है । यह समस्त संसार के सब प्रकार के सुख साधन को दृष्टि में रख कर तपःपूत महर्षियों का विधान विश्वकल्याण के लिए था । साधारणतः प्राकृतिक प्रभाव के कारण ही स्त्रियों के लिए ऐसे कृत्यों की व्यवस्था की गयी थी जो उनके अनुकूल समझी गयी । सोमप्रधान होने के कारण सौम्य स्वभाव वाली नारियों के लिए कठोर परिश्रम शारीरिक या मानसिक प्रतिकूल ही थे । इसके विपरीत जहाँ उनमें कठोर परिश्रम की क्षमता पायी जाती है वह अपवाद रूप ही है । परन्तु इससे उनके अपमान करने की भावना लेश मात्र न थी । उन्हें तो उच्च स्थान ही दिया गया था । दक्षिण दिशा अग्नि की मानी जाती है और उत्तर दिशा सौम्य है । अग्निप्रधान दक्षिण भाग से पुरुष की उत्पत्ति बतायी गयी और सोमप्रधान उत्तर भाग से स्त्रियों की । इसी-लिए स्त्री को अर्धांगिनी मान कर उनका स्थान दक्षिण से विपरीत उत्तर में--वाम भाग में नियत हुआ है । अर्धनारीश्वर की कल्पना इन्हीं दोनों भागों के समन्वय के आधार पर है । दोनों मिल कर एक पूर्ण रूप बनाते हैं इनमें भी विवेकपूर्वक देखा जायगा तो उत्तर भाग में—वामभाग में—उनका अवस्थान उनके उत्कर्ष का ही द्योतक है । विवाह पद्धति के अनुसार जब तक उनमें पत्नीत्व प्राप्ति नहीं होती तबतक उनका स्थान वाम में न होकर दक्षिण में होता है । पश्चात् शास्त्रीय विधि के अनुसार पत्नीत्व हो जाने पर उनका वाम भाग नियत हो जाता है जो उनकी श्रेष्ठता प्रमाणित करता है । तुलसीदास ने इसी आधार पर शिव के लिए 'वामांगे च विभाति भूधर सुता' तथा राम के लिए 'सीतासमारोपित वामभागं' लिखा है। इन सबसे स्पष्ट सिद्ध है कि स्त्रियों की अवहेलना की कल्पना निस्सार है ।

वर्णाश्रम-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था

प्रजापति प्रकरण में यह उल्लिखित किया गया है कि क्षर पुरुष की प्राण, आप्, वाक् आदि पाँच कलाओं के परस्पर पंचीकरण से सर्वहुद् यज्ञ सम्पन्न होता है और उससे आगे प्रजापति की सृष्टि चलती है । प्रजापति की सर्व प्रथम सृष्टि वेदत्रयी है जो उसका स्वरूप है उस वेदत्रयी में यत् और जूः जो याजुषाग्नि है वही आगे की सृष्टि में उपादान बनता है। वेद को ब्रह्म कहा गया है । प्रजापति ब्रह्म रूप है । उससे शुक्र की उत्पत्ति बतायी गयी

है और उसके तीन भेद वाग्, आपः और अग्नि कहे गये हैं। शुक्र ही वीर्य है जैसा सामान्य रूप से प्रसिद्ध है। इन तीनों शुक्रों में वाग् ब्रह्मवीर्य है, अग्नि क्षत्रवीर्य है और आप् विड्-वीर्य है। आत्मा के ये तीन वीर्य ही ब्राह्मण आदि वर्गों के उत्पादक हैं। इन तीनों वीर्यों के विकास के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण में मिलता है कि यह पहले (सृष्टि से पूर्व अवस्था में) एक ब्रह्म रूप ही था। वह एकाकी रहता हुआ (स्वसृष्टि कर्म में) समर्थ न हो सका। इससे श्रेयोरूप, **क्षत्र** रूप, उत्पन्न किया जो कि क्षत्र देवता इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान नामों से प्रसिद्ध हैं। परन्तु इससे उसका लक्ष्य पूरा न हुआ। तब उसने **विश्** प्रजा उत्पन्न की जो देवताओं से उत्पन्न होने के कारण देवजात कहलाती है, जिसे गणदेवता कहा जाता है। ये गण देवता वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत् आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। इससे काम न चला तब पूषा नाम से प्रसिद्ध शूद्र वर्ण को उत्पन्न किया। यह पृथ्वी ही पूषा है। जो कुछ हम देख रहे हैं उस सब की पुष्टि (पोषण, पालन) इसी पृथ्वी से हो रहा है। इस प्रकार ब्रह्म प्रजापति ने क्रमशः क्षत्र, विट्, शूद्र, देवता उत्पन्न कर अपने ब्रह्मरूप को इन तीनों में सम्मिलित कर चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की परन्तु तो भी पूर्णतः सफल न हुआ। पूर्ण सफलता के लिए अन्त में उत्कृष्ट श्रेष्ठ **धर्म** तत्त्व उत्पन्न किया। धर्म तत्त्व चारों वर्ण प्रजाओं से श्रेष्ठ बनता हुआ सर्वश्रेष्ठ तथा सर्व ज्येष्ठ है इसे प्रमाणित करती हुई श्रुति कहती है—धर्म यह क्षत्र का भी क्षत्र है अर्थात् उसका भी नियन्त्रण करने वाला है। जो धर्म है वही सत्य है। इसलिए सत्य बोलने वाले के लिए कहा जाता है—वह धर्म बोलता है। धर्म बोलने वाले के लिए कहा जाता है—वह सत्य बोलता है। दोनों ही एकरूप हैं। आगे कहा जाता है 'ब्रह्म, क्षत्र, विश्, शूद्र' नामक (ब्रह्म द्वारा प्रादुर्भूत उक्त देवता ही क्रमशः प्राकृतिक नित्य) चार वर्ण हैं। जिस ब्रह्म ने अन्य तीन वर्णों का विकास किया वह स्वयं देववर्ण समुदाय में प्राकृतिक देव वर्णों में अग्नि रूप से ब्राह्मण बना एवं मनुष्य वर्ग में इसी अग्नि रूप से ब्राह्मण बना। अर्थात् प्रकृति में अग्नि जातीय प्राणदेवता ब्राह्मण कहलाते हैं एवं विकृति रूप मनुष्य सम्प्रदाय में वे मनुष्य ब्राह्मण कहलाते हैं जिन मनुष्यों के उपादान द्रव्य रूप शुक्र शोणित में जन्मकाल से ही अग्नि ब्रह्म की प्रधानता रहती है। इसी प्रकार अन्यान्य प्राकृतिक पदार्थों में ब्रह्म, क्षत्र आदि वर्णों का अनुगमन श्रुतियों में प्रतिपादित हुआ है जिसका विवेचन आगे होगा। इसी प्रकार क्षत्र इन्द्रादि देवताओं के प्रवेश से वह ब्रह्म मनुष्यों में क्षत्रिय बना, विट् देवताओं के प्राधान्य से मनुष्यों में वैश्य बना और पूषा नामक शूद्र देवता के प्राधान्य से मनुष्यों में शूद्र बना।[1] इन चारों

१. शतपथ ब्रा०, १४।४।२

का नियन्त्रण करने वाला, इनको अपने-अपने स्वरूप में सुरक्षित करने वाला सर्वोपरि धर्म ही है। धर्म द्योतित करने के लिए संस्कृत में 'त्व' प्रत्यय का प्रयोग होता है। ब्राह्मणत्व ही ब्राह्मण वर्ण की स्वरूप रक्षा करता है। जिसमें ब्राह्मणत्व (ब्राह्मण धर्म) न होगा वह ब्राह्मण नहीं हो सकता। इसी प्रकार क्षत्रियत्व आदि धर्म समझना चाहिए। यद्यपि यहाँ धर्म शब्द की उत्पत्ति चारों वर्णों के सम्बन्ध में ही कही गयी है तथापि धर्म का यह स्वरूप सर्वत्र समान रूप से स्वरूप रक्षक होता है। मनुष्यत्व (मनुष्य धर्म) ही मनुष्य की स्वरूप रक्षा कर सकता है। इसी प्रकार राजधर्म का पालन करने वाला ही राजा कहा जा सकेगा। जिस क्षण में वह अपने राजधर्म से च्युत हो जायगा वहीं उसी क्षण वह राजा शब्द के प्रयोग से वंचित हो जायगा। राजधर्म के परित्याग करने के कारण वेन आदि का अनुशासन किया गया था यह प्रसिद्ध है।

याज्ञवल्क्य के ऊपर कहे गये सिद्धान्त के अनुसार वर्णसृष्टि के प्राकृतिक और वैकृतिक भेद से दो संस्थान हैं। प्राकृतिक सृष्टि में भी (देवसृष्टि) चातुर्वर्ण्य है। देवों के द्वारा ही भूत सृष्टि होती है इस सिद्धान्त के अनुसार वर्णधर्मानुगामी प्राकृतिक प्राण देवताओं से समुत्पन्न वैकृतिक प्रजावर्ग में भी चातुर्वर्ण्य व्यवस्थित है।

इसी श्रुति से यह भी सिद्ध होता है कि वर्ण विभाग का तथा उन वर्णों के स्वरूप रक्षक और नियामक धर्म आनन्द विज्ञान गर्भित मनः प्राणमय वाङ्मूर्ति ब्रह्म के साथ ही सम्बन्ध है। न मनुष्य वर्ण-सृष्टि का कारण है और न वर्णानुगत धर्म-सृष्टि का ही माननीय कल्पना से कोई सम्बन्ध है। मनः प्राणवाङ्मय क्षर पुरुष का कलारूप मुख्य प्राण जिसे अन्यत्र ऋषिप्राण कहा गया है वही व्यावहारिक आत्मा है और उसी क्षर भाग से आगे सृष्टि प्रारम्भ होती है। परम आत्मा तो निःसंग, निर्लेप, निर्विकार है उसके लिए शास्त्रों के विधि-निषेध की कल्पना ही नहीं हो सकती। विधि-निषेध इत्यादि व्यावहारिक आत्मा से ही सम्बन्ध रखते हैं। इसे अनेक नामों से कहा गया है—ऋषि प्राण, इन्द्र प्राण, प्रजापति, नभ्य प्राण, अभय इत्यादि इसी के वाचक हैं। क्षर प्राण के कारण यह प्राण रूप है और यह क्षर प्राण वाक् का रूप है और इन दोनों का आधार मन है। तीनों की समष्टि ही मनःप्राणवाङ्मय यह आत्मा है। इसमें मन (ज्ञान प्रधान) का विकास ब्रह्मवीर्य है; प्राण (क्रियारूप) का विकास क्षत्र वीर्य है, तथा वाक् (अर्थ प्रधान) का विकास विड्वीर्य है। ये तीनों वीर्य आत्मा के ही धर्म हैं। अतः जब कि आत्मा से ही समस्त सृष्टि हुई है तब सम्पूर्ण सृष्टि मात्र में इन तीनों की सत्ता अनिवार्य हो जाती है। आत्मा में मन, प्राण और वाक् ये तीनों ही सम्मिलित रूप हैं। इन्हीं तीनों के विकास रूप सृष्टि में भी ब्रह्म, क्षत्र और विड् ये तीन वीर्य सर्वदा

एक साथ रहते हैं । जिस पदार्थ में या जिस व्यक्ति में जिस वर्ण की प्रधानता रहती है उसके अनुरोध से वह ब्राह्मण आदि वर्ण का कहा जाता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्राह्मण में क्षत्र, विड् आदि का सर्वथा अभाव है । सबमें सबका अस्तित्व है । मात्रा का भेद है । वीर्य मुख्यतः तीन ही हैं परन्तु वर्ण चार बताये गये हैं । शूद्र वर्ण को निर्वीर्य कहा गया है उसका अर्थ यह नहीं है कि उसमें इन तीनों वीर्यों का सर्वथा अभाव है । निर्वीर्य का अर्थ यहाँ अल्प वीर्य वाला है । जिस प्रकार ऊपर के तीन वर्णों में वीर्यों का विकास है उस प्रकार विकास शूद्र में नहीं है । यहाँ यह स्मरणीय है कि यह वीर्य शब्द इस प्रकरण में शारीरिक बल का द्योतक नहीं है । शारीरिक बल की मात्रा तो प्रायः शूद्रों में ही अधिक देखी जाती है । शूद्र को अयज्ञिय कहा गया है इसका प्रधान कारण यह है कि ब्रह्म, क्षत्र और विड् ये तीनों क्रम से अग्नि, वायु इन्द्र और आदित्य इन तीन यज्ञिय देवताओं से तथा गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन तीन छन्दों से सम्बन्ध रखते हैं । शूद्र का सम्बन्ध पृथ्वी से है—तथा शूद्र किसी छन्द से छन्दित नहीं है, इसलिए यज्ञ मर्यादा से बहिर्भूत है । इसका आगे विवेचन होगा । शूद्र छन्दित नहीं है, अतः काम चार काम भक्ष है । स्वच्छन्द है ।

जिस प्रकार क्षत्र आदि देवताओं का उल्लेख हुआ है उसी प्रकार स्वविकास-लक्षण ब्राह्मण वर्ग की स्वरूप निष्पत्ति के लिए—सोम, सविता, मित्र, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति और सरस्वती इन छः प्राणदेवताओं का सहयोग है । इन छः देवताओं के योग से सप्तमूर्ति बनता हुआ वह वाग्ब्रह्म 'ब्राह्मण वर्ग की मूल प्रतिष्ठा बन जाता है । इन सातों में वागग्नि मुख्य है; शेष छः प्राण गौण हैं । ये सातों देवता प्रकृति के 'ब्राह्मण देवता' कहलाये । इन सातों के धर्म इस प्रकार हैं:—

(१) वागग्नि—प्रतिष्ठा तत्त्व इस वागग्नि का मुख्य धर्म है । इसके अतिरिक्त सांसारिक विपत्तियों के सहने की शक्ति, आसुर भाव विनाश की शक्ति, नियमपालन की दृढ़ता, यज्ञ कर्म की ओर प्रवृत्ति रखना इत्यादि भी धर्म हैं । जिसमें यह प्राणाग्नि प्रधान रूप से प्रतिष्ठित होगा उसमें जन्म से ही इन अग्निधर्मों का समावेश रहेगा । इन सबके अतिरिक्त 'वर्च' नाम का तपोलक्षण तेज इस ब्रह्माग्नि का मुख्य धर्म है । देखने में सर्वथा शान्त किन्तु अन्तर्जगत् में महाप्रदीप्त बलवत्तर वीर्य ही 'वर्च' नाम का तेज है और यही ब्राह्मण वर्ण का मुख्य धन है । इसी अभिप्राय को कालिदास ने भी व्यक्त किया है—

'शमप्रधानेषु तपोवनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः ।'

शतपथ ब्रा० में तथा अन्यत्र इस अग्नि का स्वधर्म बताया गया है—

१. 'अग्ने ! महां असि ब्राह्मण भारतेति'—यजुः

२. 'अग्निरेव ब्रह्म'—(शतपथ ७।३।२।१६)

३. 'अग्निर्वायुष्मानायुष ईष्टे' (शतपथ १३।८।४।८) इत्यादि।

(२) सोम—आचार-व्यवहार को सर्वथा निर्मल रखने वाला, शरीरगत दूषित मल भागों का विशोधन करने वाला, मति को दिव्य भाव की ओर प्रवृत्त रखने वाला—इत्यादि सोम के धर्म हैं।

'सोमो वै पवमानः' (शत० २।२।३।२२)– 'जनिता मतीनाम्' (ऋ०, ९।९६)

'सोमो वै ब्राह्मणः' (ताण्ड्य ब्रा० २३।१६।५); 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (यजुः) इत्यादि।

(३) सविता—आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रिय वर्ग आदि को उनके कर्मों की ओर प्रेरित करनेवाला, अपने विद्युद् रूप से आध्यात्मिक पर्वों में विद्युत्सम स्फूर्ति देने वाला, वेद धर्म की ओर प्रवृत्ति कराने वाला, यज्ञवृत्ति में प्रेरित करने वाला—इत्यादि धर्मयुक्त आदित्य मण्डलस्थ प्राणविशेष सविता देवता है—

'धियो यो नः प्रचोदयात्'; 'विद्युदेव सविता' (गो० पू० १।३३); 'वेदा एव सविता' (गो० पू० १।३३)– 'यज्ञ एव सविता' (तै० उप० ४।२७।७) इत्यादि।

(४) मित्र—आध्यात्मिक घोर वृत्तियों का उपशमन करने वाला, भूतमात्र के साथ निष्कारण सौहार्द रखने वाला इत्यादि मित्र देवता के धर्म कहे गये हैं।

'सर्वस्य ह्येव मित्रो मित्रम्' (शत० ५।३।२।७); 'तं यद् घोरसंस्पर्शं सन्तं मित्रकृत्येवोपासते तदस्य मैत्रं रूपम्' (ऐत० ब्रा० ३।४); मित्रेणैव यज्ञस्य स्विष्टं शमयति (तै० ब्रा० १।२।५।३) इत्यादि।

(५) बृहस्पति–वाणी में ओज बल का आधान करते हुए वाणी को सबल बनाये रखने वाला, शरीर कान्ति लक्षण **द्युम्न** नामक तेज की स्वरूप रक्षा करने वाला, ब्रह्मवर्चस् का आधान करने वाला—इत्यादि बृहस्पति के धर्म हैं—

'वाग्वै बृहती, तस्या एष पतिस्तस्माद् बृहस्पतिः' (शत० ६।३।१६) 'द्युम्नं हि बृहस्पतिः' (शत० ३।१।४।१९)– ब्रह्म वै देवानां बृहस्पतिः (तै० ब्रा०); इत्यादि।

(६) ब्रह्मणस्पति–ब्रह्मणस्पति उस बृहस्पति की मूल प्रतिष्ठा माना गया है जो कि वाक्पति बृहस्पति सूर्य संस्था से ऊपर एवं पारमेष्ठ्य जगत् से नीचे, दोनों की सन्धि में प्रतिष्ठित माना गया है—'बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः' इसके अनुसार सत्य, तप, जन और मह इन चार पूर्व लोकों में अन्त में बृहस्पति है। एवं स्वः, भुवः, भूः इन तीन उत्तर लोकों के आरम्भ में इन्द्र की सत्ता मानी जाती है। यह बृहस्पति देवता सौर संस्था के बृहस्पति ग्रह से सर्वथा भिन्न है। यह सूर्य से ऊपर महर्लोक की अन्तिम सीमा में प्रतिष्ठित रहने वाला वाङ्मय प्राण है। इसी के सम्बन्ध से प्राकृतिक नित्य,

आधिदैविक **वाजपेय** यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। इसी से वाजपेय यज्ञ को बृहस्पति सव कहा जाता है। इस बृहस्पति से ऊपर पारमेष्ठ्य जनलोक में सौम्य प्राणमूर्ति 'ब्रह्मणस्पति' प्रतिष्ठित है। इसके सौम्य धर्म को लेकर ही बृहस्पति की स्वरूप रक्षा हो रही है। अतएव 'बृहस्पते ब्रह्मणस्ते' (तै० ब्रा०) इत्यादि रूप से दोनों को अभिन्न भी मान लिया जाता है। इस प्राण का मुख्य कार्य है शरीर के दूषित भावों को नष्ट करके शरीर संस्था को सर्वथा निर्मल रखना। अन्तरात्मा के पवित्र विचार इसी ब्रह्मणस्पति के अनुग्रह पर निर्भर हैं।

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्त तनूर्न न तदामो अश्नुते शृतास इद् वहन्तस्तत् समातत ।।'—ऋ० ९।३।१

इस मन्त्र में ब्रह्मणस्पति की स्तुति में उसके धर्म अभिहित हैं।

(७) सरस्वती—वाणी में माधुर्य की प्रतिष्ठा करने वाला, वाणी में ऐसा ओज डालने वाला जिसके समावेश से वाणी गम्भीर निनाद करती हुई श्रोतृजनों को प्रभावित करती हुई बाहर निकलती है। वाणी में वज्रसम प्रभाव शक्ति उत्पन्न करने वाला, सर्वथा वाक् तत्त्व का उपकार करने वाला प्राणविशेष सरस्वती देवता नाम से प्रसिद्ध है।

'अथ यत् स्फूर्जयन् वाचमिव वदन् दहति तदस्य सारस्वतं रूपम्।'—(ऐ० ब्रा०)
'सरस्वतीति तद् द्वितीयं वज्ररूपम्।'—(कौ० ब्रा० १२।२)

ब्राह्मणवर्ण के स्वरूप सम्पादक प्राण देवताओं का विशेष विवेचन इसलिए अपेक्षित हुआ कि ब्राह्मणवर्ग पर ही लोक का कल्याण प्रधान रूप से निर्भर है और इसी के कारण वर्तमान काल में समग्र अवनति का कारण मुख्य रूप से ब्राह्मण ही माना जाता है। इस सम्बन्ध में आगे और वक्तव्य है।

ऊपर के प्राण देवताओं के धर्मों का संक्षेप यह है कि प्रतिष्ठा समर्पक प्राण **अग्नि** है। आचार-व्यवहार की पवित्रता सम्पादन करने वाला प्राण **सोम** है। बुद्धि, मन, इन्द्रियादि को दिव्य भावों की ओर प्रेरित करने वाला प्राण **सविता** है। भूत मात्र के साथ निष्कारण सौहार्द रखने वाला प्राण **मित्र** है। वाक् तत्त्व को परिमार्जित करने वाला प्राण **बृहस्पति** है। अन्तर्जगत् को पवित्र रखने वाला प्राण **ब्रह्मणस्पति** है। वाक् में ब्रह्मवीर्य का आधान करने वाला प्राण **सरस्वती** है। अग्निगर्भित, अग्नि से परिगृहीत इस प्राण-सप्तक की समष्टि ही ब्रह्मपदार्थ (श्रुत्युक्त) है। 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' में जो ब्रह्म शब्द है वह इन सातों का उपलक्षक है क्योंकि ये सातों ही ब्रह्म वीर्य के प्रवर्तक बनते हुए ब्राह्मण वर्ण की प्रतिष्ठा बनते हैं। इसी ब्रह्म से उसके विकास रूप क्षत्र, विट् और शूद्र की और अन्त में इन सबसे श्रेष्ठ सबके नियामक धर्म की उत्पत्ति बतायी गयी है।

यह ब्रह्ममूला वर्णसृष्टि हुई। इसी प्रकार अदितिमूला वर्णसृष्टि भी मानी गयी है, इस पर आगे विचार उपस्थित होगा। उससे पूर्व वर्ण शब्द के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि अर्वाचीन आलोचक प्रायः वर्ण का अर्थ रंग (Colour) करते हैं और उसको आधार मान कर आलोचना करते हैं।

वर्ण—वर्ण शब्द वरणार्थक वृञ् (वृञ् वरणे–स्वा० उ०) से भी बनता है और प्रेरणार्थक वर्ण धातु (वर्ण प्रेरणे प०) से भी। दोनों ही अर्थ इसमें चरितार्थ होते हैं। वर्णसृष्टि संवरण भी करती है और यही आत्मप्रेरणा का भी आलम्बन बनती है। प्रथम संवरण दृष्टि से विचार करने पर यह देखा जाता है कि सृष्टि का उद्भव मायाशक्ति (बल) के द्वारा रस के सीमित रूप से ही क्रमशः अव्यय, अक्षर और क्षर का विकास होने से होता है। आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान विकास को आवृत करने वाला आत्मा का सृष्ट रूप माना गया है। मायोपाधि के सम्बन्ध से एक ही आत्म तत्व के अथवा ब्रह्म तत्व के सृष्ट, प्रविष्ट और प्रविरिक्त ये तीन रूप हो जाते हैं। प्रत्यक्ष दृष्ट पांचभौतिक विश्व उसका सृष्ट रूप है। इस पांचभौतिक विश्व के हृदय में व्यक्षर रूप से प्रतिष्ठित रह कर अपनी नित्य नियति से विश्वधर्मों का संचालन करने वाला, विश्व सृष्टि का निमित्त कारण बना हुआ अन्तर्यामी उसी ब्रह्म का प्रविष्ट रूप है। एवं विश्व सीमा के भीतर, बाहर सब ओर असंग रूप से केवल आलम्बन रूप से रहता हुआ, विश्व कार्य-कारण भावों से उन्मुक्त व्यापक तत्त्व इसी ब्रह्म का प्रविविक्त रूप है। इन तीनों का अव्यय, अक्षर और क्षर से सम्बन्ध है। आत्मा का क्षर रूप भौतिक विश्व का उपादान बनता हुआ सृष्ट ब्रह्म है; अक्षर रूप विश्व का नियन्ता प्रविष्ट ब्रह्म है तथा अव्यय रूप असंग प्रविविक्त ब्रह्म है। इन तीनों में अव्यय ब्रह्म ज्ञान ज्योतिप्रधान, अक्षर ब्रह्म क्रिया शक्तिप्रधान और क्षर ब्रह्म अर्थ शक्तिप्रधान बताया गया है। अर्थ तत्व ही ज्ञानक्रिया का संवरण करता हुआ सृष्ट रूप में परिणत है। इसी सृष्ट रूप से आत्म-विकास आवृत है। आवरण लक्षण इसी संवरण भाव से सृष्टात्मक क्षर पुरुष को वर्ण कहा जा सकता है। यही क्षरात्मक संवरण धर्मा **वर्ण** आगे जाकर चार भागों में विभक्त होता हुआ 'चातुर्वर्ण्य' भाव का प्रेरक बनता है। इस प्रकार दोनों भाव इसमें व्यक्त होते हैं। पर ब्रह्म विवर्त में जिस प्रकार सृष्ट क्षर प्रपंच अपने संवरण और प्रेरणा धर्म से वर्ण है, इसी प्रकार शब्द ब्रह्मविवर्त में क्षर स्थानीय व्यंजन प्रपंच अपने बाह्य रूप से शब्द प्रपंच का संवरण तथा प्रेरणा करते हुए वर्ण कहलाता है। परब्रह्म का सृष्ट रूप क्षर है। शब्द ब्रह्म का सृष्ट रूप व्यंजन (वर्ण) है। परब्रह्म में जैसे अव्यय, अक्षर, क्षर तीनों में से केवल सृष्ट क्षर ब्रह्म ही दृष्टि का विषय बनता है; अव्यय और अक्षर निगूढ़ रहते हैं इसी तरह शब्द ब्रह्म विवर्त में अव्यय स्थानीय

स्फोट और अक्षर स्थानीय स्वर निगूढ़ बने रहते हैं और वर्ण समाम्नाय ही दृष्टि का आलम्बन बनता है। सारांश यह है कि संवरण और प्रेरणा धर्मों से ही परब्रह्म का क्षर भाग एवं शब्दब्रह्म का व्यंजन भाग वर्ण कहलाता है। इन वर्णों का परस्पर सम्बन्ध विवेचित होगा।

अदितिमूला वर्णसृष्टि

पूर्व में ब्रह्ममूला वर्णसृष्टि का वर्णन हो चुका है। यहाँ क्रम प्राप्त अदितिमूलक वर्णसृष्टि पर भी विचार करना आवश्यक है। उसके आगे परब्रह्म और शब्दब्रह्म के वर्णों के परस्पर सम्बन्ध में विवेचन करना उपयुक्त होगा।

श्रुतियों में पृथ्वी को अदिति कहा गया है—'इयं वै अदितिः' (कौ० ब्रा० ७।६) इसी प्रकार इसे दिति भी कहा गया है। एक ही पृथ्वी का अदिति और दिति दोनों परस्पर विरोधी शब्दों से व्यवहार श्रुति में हुआ है। पुराणों के अनुसार कश्यप प्रजापति की अदिति, दिति, कद्रू, विनता आदि तेरह स्त्रियों में से अदिति से देवों की और दिति से असुरों की उत्पत्ति कही गयी है। परन्तु श्रुति के अनुसार आधिदैविक अर्थ में इनका विचार उपयुक्त होगा। क्रान्ति वृत्त नाम से प्रसिद्ध अपने नियत दीर्घवृत्त पर सूर्य को केन्द्र बनाकर भूपिण्ड उसके चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। पृथ्वी की यह क्रान्तिगति 'सांवत्सरिक गति' कहलाती है। घूमते हुए भूपिण्ड में सूर्य का प्रवर्ग्य तेज (सूर्य से प्रवृक्त—अलग होकर) समाविष्ट होता रहता है। जो सौर तेज पृथ्वी में अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होता है वह पृथ्वी की अपनी निजी (प्रातिस्विक) वस्तु बन जाता है। पृथ्वी की वस्तु बन कर यह तेज अपने प्रभव सूर्य की ओर उन्मुख रहता है। सूर्य की ओर जाते हुए पार्थिव इसी दिव्य तेजोमण्डल को 'अदिति' कहा जाता है। 'दो अवखण्डने' धातु से दिति शब्द बना है। जो तेज खण्डित हो जाता है, पृथ्वी के व्यवधान के कारण सूर्य का जो तेज पृथ्वी की छाया रूप में सूर्य के विमुख भाग में रहता है वह पृथ्वी का छाया भाग **दिति** कहा जाता है। जो प्रकाशयुक्त है, खण्डित नहीं हुआ है और प्रकाश रूप से सूर्य के सम्मुख भाग में महापृथ्वी में व्याप्त है वह **अदिति** है। इस तेजोमय मण्डल में सौर तेज अखण्ड रूप से आता रहता है, इससे इसे अदिति कहना सर्वथा सार्थक है। सूर्य सम्मुख तेजोमय पृथ्वी का भाग अदिति तथा सूर्य से विरुद्ध दिशा में छायामय पृथ्वी का भाग दिति है इस प्रकार एक ही पृथ्वी दिति और अदिति दो रूपों में विभक्त हुई है। अदिति मण्डलोपलक्षित तेजोमयी पृथिवी में प्रतिष्ठित प्राणाग्नि की व्याप्ति २१ वें अहर्गण तक मानी गयी है। इसी प्राणाग्नि के ९,१५ और २१ वें स्तोमों में घन, तरल और विरल अवस्थाओं में अग्नि, वायु और आदित्य अवस्थान माना गया है। घनावस्थापन्न प्राणाग्नि (अग्नि) त्रिवृत्

(नव) स्तोम स्थानीय पार्थिव है, विरलावस्थापन्न प्राणाग्नि एकविंश स्तोमस्थानीय आदित्य है। मध्य का तरलावस्थापन्न प्राणाग्नि पंचदशस्तोमस्थानीय वायु है। इस प्रकार ३३ अहर्गणात्मक वषट्कार के २१ वें अहर्गण तक व्याप्त तेजोमयी अदिति मण्डलात्मिका महापृथिवी में स्तोम भेद से अग्नि के तीन भेद होने से तीन लोकों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। महापृथ्वी का त्रिवृत्प्रदेश घनावस्थापन्न पृथ्वी ही है। पृथ्वी को वैदिक परिभाषा में माता और द्युलोक को पिता कहा जाता है। इस पृथ्वी के सम्बन्ध से अदिति को माता कहा जा सकता है। द्युलोक की दृष्टि से पिता भी कहा जा सकता है। तीनों रसों के समन्वय से ३३ देवता अदिति के गर्भ में जन्म लेते हैं। अदिति ही उन रूपों में परिणत होती है इससे वह पुत्र भी कही जा सकती है। अदिति पृथिवी की इसी सर्वव्यापकता का स्पष्टीकरण करता हुआ यह मन्त्र है:—

'अदितिर्द्यौ रदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।

विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥' ऋ० १।८९।१०

त्रिवृत् स्तोम में जो अग्नि प्रतिष्ठित है उसकी अपेक्षा से यह अदिति 'प्रातःसवन' की, पंचदश स्तोम में प्रतिष्ठित वायु की अपेक्षा से यही अदिति 'माध्यंदिनसवन' की तथा एकविंश स्तोम में प्रतिष्ठित आदित्य की अपेक्षा से यही 'सायंसवन' की अधिष्ठात्री बनी है। प्रातःसवन के काल से आरम्भ करके सायंसवन के सायंकाल तक इसी अदिति का साम्राज्य है। एक ही अहःकाल उक्त तीन सवनों में विभक्त हो रहा है। प्रातः सवन में प्रतिष्ठित अदिति पुत्रस्थानीय प्राणाग्नि 'ब्रह्म' है। माध्यंदिन में प्रतिष्ठित वायुगर्भित इन्द्र क्षत्र है एवं सायंसवन में प्रतिष्ठित विश्वेदेवात्मक आदित्य विट् है। ब्रह्मवीर्य ब्राह्मण भाव है, क्षत्रवीर्य क्षत्रिय भाव और विड्वीर्य वैश्यभाव।

पार्थिव तेजोयुक्त प्रातःकालीन वर्धिष्णु सौर तेज ज्ञानशक्ति प्रधान बनता हुआ ब्राह्मण है, मध्याह्न का वृद्धिंगत सौर तेज क्रिया प्रधान बनता हुआ क्षत्रिय है तथा सायंकालीन क्षयिष्णु सौर तेज अर्थशक्ति प्रधान बनता हुआ वैश्य है। प्रातः सवनीय अग्निदेवता अष्टाक्षर गायत्री छन्द से छन्दित होकर गायत्र है; माध्यंदिन सवनीय वायुगर्भित (मरुत्वान् नामक) इन्द्र देवता एकादशाक्षर त्रिष्टुप् छन्द से छन्दित होता हुआ त्रैष्टुभ है एवं सायंसवनीय आदित्य गर्भित विश्वेदेवता द्वादशाक्षर जगती छन्द से छन्दित होता हुआ जागत है। गायत्र अग्नि ब्राह्मण है, त्रैष्टुभ इन्द्र क्षत्रिय और जागत विश्वेदेव वैश्य। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—'गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यं, न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्तयत्।'

पार्थिव तेजोयुक्त सौर इन्द्र तत्त्व गायत्री, सावित्री, सरस्वती इन तीन प्रणालियों के

भद से क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र और विट् इन तीन वीर्यों की प्रतिष्ठा बनता है। पृथ्वी से लौटता हुआ सौर तेज गायत्री है। सूर्य से साक्षात् निकलने वाला तेज सावित्री है। गायत्र तेज क्रमशः बढ़ता है, शान्त है। माध्यंदिन सावित्र तेज पूर्णतया वृद्ध है; प्रखर है। सायंकालीन सौर तेज क्रमशः क्षीण होने वाला है। सायंकाल का कुछ भाग ऐसा है जिसमें प्रकाश रहता है एवं सायंकाल की ही एक ऐसी भी अवस्था है जिसमें प्रकाश नहीं है, पर अंधकार भी नहीं है। छायामय प्रकाश है। भू की आभा से प्रतिफलित सौर तेज विद्यमान है, धूप नहीं है, छायामय प्रकाश है। यही तेजोमय सायंसवन है। इसके बाद भूभा का प्रतिफलन भी अस्त हो जाता है, सूर्य बिलकुल डूब जाता है, प्रकाश की आभा विलुप्त हो जाती है; अन्धकार आया नहीं है, प्रारम्भ हो रहा है यह सायंकाल की दूसरी अवस्था है इसे 'तमोमयसायंसवन' माना जाता है। इन दोनों में से तेजोमय सायंसवन का सम्बन्ध विड्वीर्य से है एवं तमोमय सायंसवन से पूषा प्राणात्मक शूद्र का सम्बन्ध है। तेजोमय सायंसवन में तेजःप्रधान विश्वेदेवों के विकास से पार्थिव पूषा प्राण को विकसित होने का अवसर नहीं मिलता। जब तेजोंऽश का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है तभी पूषा प्राण स्वस्वरूप से प्रकट होता है। सायंसवनीय तमःप्रणाली से आया हुआ यह पूषा प्राण ही शूद्र सृष्टि का प्रवर्तक बनता है। इस प्रकार अदिति मण्डलात्मक केवल अहःकाल में ही प्रातःसवन, माध्यंदिन सवन, तेजोमय सायंसवन तथा तमोमय सायंसवन के भेद से अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव और पूषा प्राणों के द्वारा चारों वर्णों की प्रतिष्ठा हो जाती है।

अवर्ण—इस प्रकार वर्णव्यवस्था अदितिमूलक सिद्ध होती है। इसी प्रकरण में दितिमूलक अवर्ण सृष्टि का विचार भी संक्षेप में अपेक्षित है। कहा गया है कि पृथ्वी का वह आधा मण्डल जहाँ सौर तेज का सम्बन्ध नहीं होने पाता दितिमण्डल है। सौर तेज वहाँ खण्डित हो जाता है, अतः दिति शब्द सार्थक है। तमोभाव के तारतम्य से इस दितिमण्डल के भी चार भाग हो जाते हैं। वर्ण का देवभाव से सम्बन्ध है। जिसमें देव प्राण का विकास नहीं होता, देवप्राण तम की अधिकता से अनुद्बुद्ध रहता है, वह अवर्ण सृष्टि है। अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु और म्लेच्छ ये क्रमशः चार विभाग अवर्ण हैं।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों के आत्मा में तेज का साक्षात् सम्बन्ध है, अतएव इन्हें वर्ण कहा जाता है। शूद्र तेज तमोभाव से युक्त है साथ ही इस का कोई छन्द भी नहीं है, अतएव इसे अवर वर्ण माना गया है।

ब्राह्मण वर्ण—जिन प्राणियों के आत्मा में जन्मतः गायत्र ब्रह्मप्राण की प्रधानता रहेगी वे (अन्य प्राणों के रहते हुए भी) प्रधानता के अनुरोध से ब्राह्मण होंगे। अग्नि प्रधान देवता ब्राह्मण का आत्मा बना हुआ है। अग्नि तत्त्व अष्टाक्षर गायत्री छन्द से

नित्य युक्त है। एक-एक वर्ष में एक-एक अग्निमात्रा की स्वरूप-निष्पत्ति होती है। इस क्रम से आठवें वर्ष में अग्नि ब्रह्म पूर्ण बनता है। इसी समय ब्राह्मण में छन्दोलक्षण मर्यादा का विकास होता है, इसीलिए अष्टम वर्ष में ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार विहित है। गर्भावस्था को भी वर्ष में गणना कर लेने से गर्भाष्टम भी विहित कोटि में माना गया है—'गर्भाष्टमेऽष्टमेऽब्दे वा ब्राह्मणस्योपनायनम्।' बालक में पूर्व संस्कारातिशय होने पर विशेष अवस्था में पंचम वर्ष में भी उपनयन संस्कार माना गया है—'ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे।' परन्तु यह सामान्य नियम नहीं है, विशेष है।

इसी प्रकार एकादशाक्षर त्रिष्टुप् छन्द से नित्ययुक्त रहने के कारण क्षत्रिय बालक का ग्यारहवें वर्ष में और जगती छन्द से युक्त वैश्य का बारहवें वर्ष में उपनयन का विधान है।

शूद्र का अच्छन्दस्क पूषा प्राण से सम्बन्ध है, अतएव वह इस यज्ञमर्यादा से बहिष्कृत है। यज्ञ का संवत्सर मण्डल से सम्बन्ध है अथवा संवत्सर मण्डल का ही नाम यज्ञ है। संवत्सर को अदिति मण्डल माना गया है। इस अदिति मण्डल में गायत्रअग्नि, त्रैष्टुभ इन्द्र, जागत आदित्य इन तीन प्राण देवताओं का ही साम्राज्य है। चौथा पूषा प्राण भू-पिण्ड से सम्बन्ध रखता हुआ यज्ञात्मक अदिति मण्डल से—महापृथिव्यात्मक संवत्सर यज्ञमण्डल से बहिर्भूत है। अतएव तत्प्रधान शूद्र भी प्रकृत्या यज्ञ में अनधिकृत है; यज्ञोपवीत का अधिकारी नहीं है।

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि मनः प्राणवाङ्मूर्ति कर्माव्ययानुगृहीत क्षर ब्रह्म ही वर्णसृष्टि का प्रवर्तक है। उक्त वर्ण सृष्टि के साथ इन छन्दोभावों का समन्वय करने से यही ज्ञात होता है कि ज्ञानमय मन ही ब्रह्म है, क्रियामय प्राण क्षत्र है; अर्थमयी वाक् विट् है एवं प्रवर्ग्य लक्षण मृतभाग शूद्र है। इन चारों का मूल वही क्षर ब्रह्म तत्त्व है। ज्ञान साक्षात् ब्रह्म है—'तज् ज्ञानं ब्रह्म संज्ञितम्।' मनःप्राण वाक् की समष्टि ही सत्ता है, यही अस्तित्व है, यही अव्यय ब्रह्म का अमृत रूप है। मन से उत्पन्न रूपों का, प्राण से उत्पन्न कर्मों का एवं वाक् से उत्पन्न नामों का समुच्चय ही उसका मर्त्य भाग है। मर्त्य भाग अमृत से अविनाभूत है। अमृत भाग वर्ण रूप है। स्वयं अव्यय अवर्ण है, उसी की शक्ति के योग से वर्णसृष्टि का उद्भव है जैसा कि श्वेताश्वतर श्रुति कहती है—

'य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥'

इससे यह सिद्ध है कि वर्ण आत्मा का ही धर्म है। आत्मा सर्वत्र है। प्रजापति प्रकरण में कहा गया है कि प्रत्येक सृष्ट पदार्थ एक-एक प्रजापति है। आत्मा ही प्रजापति है, इसलिए वर्ण भी प्रत्येक पदार्थ में अनिवार्य रूप से सिद्ध हैं। चारों वर्णों की स्थिति आत्म-

धर्म है। चारों वर्णों की स्थिति प्रत्येक पदार्थ में है। आत्मा के वीर्य रूप ही ये वर्ण हैं; आत्मा कभी निर्वीर्य नहीं है। जहाँ ब्राह्मण आदि वर्णों का पार्थक्य बताया गया है वहाँ प्रधानता के कारण हैं यह कहा जा चुका है। इसी प्रकार शूद्र को निर्वीर्य कहा गया है, वहाँ भी अभिप्राय अल्पवीर्य से है। अन्त्यज आदि में भी इन वीर्यों का अस्तित्व अनिवार्य है परन्तु तम के आधिक्य के कारण वीर्य अभिभूत रहते हैं। इसी दृष्टि से श्रुतियों में देवताओं में तो वर्ण विभाग कहा ही है, चेतन-अचेतन सभी में उनके अस्तित्व का उल्लेख किया गया है। यहाँ दो चार उदाहरण देने से स्पष्ट हो जायगा कि किस प्रकार वर्ण-विभाग की व्यापकता है।

१. ब्राह्मण—वृक्षों में पलाश को ब्राह्मण कहा गया है—'ब्रह्म वै पलाशः।' शत० ५।३।५।१३। नक्षत्रों में रोहिणी को ब्राह्मण कहा गया है—'यद् ब्राह्मण एव रोहिणी।' तै० ब्रा० २।७।९।४। पशुओं में अज ब्राह्मण है—'ब्रह्म वा अजः।' शत० ६।४।४।१५। दिन और रात में दिन ब्राह्मण है—'ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यदहः।' शत० १३।१।५।४। इत्यादि और अनेक प्रमाण हैं यहाँ इतना निदर्शन पर्याप्त है।

२. क्षत्रिय—अश्व क्षत्रिय है—'क्षत्रं वा अश्वः' तै० ब्रा० ३।९।७।१। धातुओं में हिरण्य क्षत्रिय है—'क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम्।' शत० १२।२।२।१७। आरण्य पशुओं में व्याघ्र क्षत्रिय है—'क्षत्रं वा एतदारण्यानां पशूनां यद् व्याघ्रः।' ऐत० ब्रा० ८।६। प्रस्तर (कुश मुष्टि) क्षत्र है—'क्षत्रं वै प्रस्तरः विश इतरं बर्हिः।' शत० १।३।४।१०। इसी प्रकार वैश्य और शूद्र के सम्बन्ध में भी श्रुतियों में अनेक वचन मिलते हैं, उनका विस्तार यहाँ अभीष्ट नहीं है। सारांश यह है कि चातुर्वर्ण्य आत्मा का धर्म है और जहाँ आत्मा है वहाँ ये चारों वर्ण विद्यमान हैं। परन्तु इन चारों में कहीं कोई एक विशेष रूप से उद्भूत रहता है, अन्य तीन अन्तर्हित रहते हैं तथा जिसकी प्रधानता होती है उसके अनुसार उसका व्यपदेश होता है। इसी प्रधान वर्ण के अनुरोध से उस-उस वर्ण का प्रतिस्विक (निजी) धर्म भी पृथक् माना गया है।

जिसके द्वारा आत्मा में दिव्य भाव सम्पन्न होता है, उस आत्मा में मन के सम्बन्ध से ज्ञानस्वरूप के उदय में प्रतिबन्ध करने वाले दोष को हटाने वाला ब्रह्मवीर्य है। इसके द्वारा ब्रह्मवर्चस तेज, आकार, तप, विद्या, बुद्धि ये बल सम्भव होते हैं। ब्रह्मवीर्य से दिव्य भाव-युक्त यह आत्मा, प्रशान्त वृत्ति, धृतिमान्, ज्ञानशील सम्पन्न होता है।

जिसके द्वारा आत्मा में वीर भाव होता है; प्राण के सम्बन्ध से क्रिया में प्रतिबन्ध करने वाले दोष का निराकरण होता है, वह क्षत्र वीर्य है। उसमें ओजः, वाज नाम का तेज

आकार, ऐश्वर्य, पराक्रम, उत्साह, प्रताप आदि बल उत्पन्न होते हैं। वीर भाव के कारण आत्मा स्वतन्त्रवृत्ति महोत्साह, क्षोभप्रधान पराक्रमशील सम्पन्न होता है।

विड्वीर्य से पशुभाव, वागवच्छे त धर्म के उदय का अप्रतिबन्ध होता है। इसमें द्युम्न नाम का तेज, आकार, वाणिज्य, धन ये बल उत्पन्न होते हैं। पशुभाव के कारण अन्य का अनुरोध रखने वाला, परतन्त्र वृत्ति, पराश्रय सापेक्ष, तथा परार्थ व्यवसाय करने वाला होता है। वास्तव में समाज के भरणपोषण आदि का भार मुख्यतया वैश्य वर्ग पर ही निर्भर है।

ये तीनों सवीर्य के स्वरूप हुए। शूद्र निर्वीर्य माना जाता है। यहाँ निर्वीर्य से वीर्य का सर्वथा अभाव अभिप्रेत नहीं है क्योंकि वीर्य तो आत्मा का धर्म है। परन्तु यह वीर्य तिरोहित होता है। विरोधी तत्त्वों से आक्रान्त होकर उद्भूत नहीं हो पाता, अतः वह दूसरे अभिभव करने योग्य, शीघ्र द्रवणशील होता है। शूद्र की आत्मा में शारीर बल मात्र उत्पन्न होता है। आत्मबलों में से एक की भी सिद्धि नहीं होती। यह आत्मा शीघ्र द्रवित हो जाता है, क्लान्त हो जाता है, विषादयुक्त होता है; अत्यन्त निद्राशील होता है। निष्कर्म और आलस्य धारण करता है।

चन्द्र का आत्मा ब्राह्मण है, इसीलिए चन्द्र का प्रकाश शान्त और आह्लादक है। सूर्य का आत्मा क्षत्रिय है। उसके प्रकाश में प्रखरता और असह्यता है। पृथ्वी मण्डल का मध्य प्राण विड्वीर्य है। सम्पद् रूप अन्नादि की इसी में प्रचुरता से उत्पत्ति होती है। इन मण्डलों में जो पशु, तृण, ओषधि, आदि अर्धेन्द्र, उत्पन्न होते हैं इनके अधिष्ठाता प्राण शूद्र कहे जाते हैं। उदाहरण के लिए पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले पदार्थ (चेतन-अचेतन) सभी शूद्र कोटि में होंगे और निर्वीर्य कहे जायँगे। परन्तु पृथ्वी की अपेक्षा से इनमें वीर्य अत्यन्त कम है यही इसका अभिप्राय है। अपेक्षाकृत ब्राह्मणत्वादि जड़ रत्नादि में, अर्ध-चेतन ओषधि, वनस्पति में तथा सचेतन प्राणियों में चातुर्वर्ण्य है ही।

सर्वत्र सब वर्णों का न्यूनाधिक रूप से समावेश है इसका एक निदर्शन यहाँ किया जाता है। ब्रह्मभाव सम्पन्न मनुष्य ब्राह्मण है। इसके शरीर में भी ज्ञानशक्ति युक्त मस्तक ब्राह्मण भाग है, क्रियाशक्ति युक्त वक्षःस्थल तथा दोनों बाहु क्षत्रिय हैं। भुक्तशक्ति का अधिष्ठाता समस्त शरीर का संचार करके पोषण करनेवाला अर्थशक्ति युक्त उदर भाग वैश्य है। सबकी सेवा करनवाला पाद भाग शूद्र है। अब शरीर में ब्राह्मण स्थानीय मस्तक पर भी विचार किया जाय। अग्निमय वागिन्द्रिय ब्राह्मण है; वायुमय प्राणेन्द्रिय (नासिका) क्षत्रिय है। आदित्यमय चक्षुरिन्द्रिय वैश्य है। सोममय श्रोत्रेन्द्रिय शूद्र है।

समाज

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, यह आर्य सिद्धान्त सम्मत है। मनुष्य के उत्पादक द्रव्य में अनेक तत्त्वों का समन्वय है। ऋषि, पितर्, देव, असुर, गन्धर्व आदि प्राणों के प्रत्यंश को लेकर मनुष्य बना है। इन सबका समूह ही ग्राम (ग्राम का अर्थ यहाँ समूह) है। ताण्ड्य ब्रा० (६।९।२) में मिलता है—'नरो वै देवानां ग्रामः।' मनुष्य का जीवन सुख, शान्ति सब कुछ सामाजिक धर्मों से सम्बद्ध है। सामाजिक सुख शान्ति ही मनुष्य की वैयक्तिक सुख शान्ति के मूल कारण हैं। कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र ये सब समाज के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। तीनों में क्रमशः 'दहरोत्तर' (छोटे से बड़े की ओर) सम्बन्ध है। व्यक्ति कुटुम्बात्मक छोटे-छोटे (परिवार लक्षण) समाज के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं। परिवार लक्षण छोटे समाज देशाचारानुबन्धी समाजों के गर्भ में स्थित हैं। इन विविध समाजों की समष्टि ही राष्ट्र है। राष्ट्र की समष्टि विश्व है।

राष्ट्र लक्षण समाज को अपने योगक्षेम के लिए जिन-जिन कर्तव्य कर्मों की अपेक्षा रहती है, राष्ट्रीय समाज में अन्तर्भुक्त व्यक्तियों को उन सब कर्तव्य कर्मों की रक्षा करनी पड़ती है। उन सब कर्मों की जब तक पूर्ति नहीं हो जाती तब तक राष्ट्र सुसमृद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए भारतीय आर्य समाजशास्त्रियों ने—प्राकृतिक, आधिदैविक आदि को आधार मानकर—अपने इस राष्ट्रीय समाज के कल्याण की दृष्टि से कर्तव्य कर्मों को भी चार श्रेणियों में विभक्त किया एवं कर्तव्य कर्म के भेद से राष्ट्रीय समाज में रहने वाले प्रजावर्ग को भी चार ही श्रेणियों में विभक्त किया। राष्ट्रीय समाज के इन चार कर्तव्यों में अवान्तर अन्य सब कर्मों का अन्तर्भाव हो जाता है।

सबके मूल में ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा ही कर्तव्य कर्म निष्पन्न होता है—'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत नाज्ञात्वा किंचिदाचरेत्' इसके अनुसार कर्म ज्ञानमूलक है। अव्यय पुरुष के ज्ञान और कर्म दो विभाग बताये गये हैं। ज्ञान के धरातल में ही कर्म सम्भव हो सकता है। प्रतिक्षण विनाशशील क्रिया प्रवाहरूप से अस्तित्व की अपेक्षा के लिए ज्ञान का ही अवलम्ब लेती है। इसीलिए कहा गया है—'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' इत्यादि। यद्यपि अच्छा-बुरा कोई भी कर्म ज्ञान के बिना नहीं हो सकता, अतः ज्ञान की सत्ता स्वयंसिद्ध है परन्तु क्रिया के सम्पर्क के कारण ज्ञान के तीन भेद हो जाते हैं—ज्ञान, अज्ञान और विज्ञान। यथार्थ ज्ञान ही मुख्य ज्ञान है। इसी प्रकार कर्म के भी तीन भेद हो जाते हैं—कर्म, अकर्म और विकर्म। इन तीनों कर्मों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान के द्वारा ही बोध होता है अन्यथा सत्कर्म और असत्कर्म का विवेक सम्भव नहीं है। इसी दृष्टि से गीता में तीनों के बोध (ज्ञान) का महत्त्व कहा गया है। 'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च

वोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।' संसार कर्मक्षेत्र है उसके यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए यथार्थ ज्ञान की उपासना अनिवार्य है, यह कहा जा चुका है कि ब्रह्मवीर्य ज्ञानप्रधान है, अतः राष्ट्र में प्रथम स्थान ज्ञानप्रधान ब्राह्मण का माना गया। ज्ञान और कर्म इन दो गिभागों में ज्ञान का एक पृथक् वर्ग हुआ। कर्म भाग में तीन विभाग हो जाते हैं जो क्रमशः क्षत्रिय वैश्य और शूद्र से सम्वन्ध रखते हैं। ज्ञान मुख्य वर्ग है इसमें भी एकमात्र ब्राह्मण अधिकृत हुआ है, अतः उस पर ही यथार्थ में राष्ट्र के अभ्युदय और निःश्रेयस का समस्त भार पड़ जाता है। इस दुर्भर भार को वहन करने के लिए उसे सवसे अधिक सचिन्त रहना पड़ता है। ज्ञान लक्षण कर्म में दीक्षित इस ब्राह्मण वर्ग का यह कतव्य हो जाता है कि ऐह लौकिक और पारलौकिक तत्त्वों का शान्त भाव से अन्वेषण करते हुए ज्ञान का विकास करना, विकसित ज्ञान के द्वारा समाज के अविद्यादि दोषों को दूर करते हुए, ज्ञान सहकृत अभ्युदय निःश्रेयस मूलक कर्तव्य कर्मों में यथाधिकार समाज को स्थिर रखना। ज्ञानचर्या स्वभावतः अर्थ प्रपंच की विरोधिनी है। यदि वह अर्थप्रपंच की चिन्ता में पड़ेगा तो अवश्य ही उसके ज्ञानचिन्तन का धाराप्रवाह शिथिल पड़ जायगा। परिणाम यह होगा कि विभवत होकर ज्ञान और अर्थ दोनों अपूर्ण हो जायँगे। इसलिए समाज का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह इस ज्ञानचिन्तक वर्ग को अर्थचिन्ता से मुक्त कर दे और उसके योगक्षेम का भार समाज अपने ऊपर ले। साथ ही ब्राह्मण वर्ग का यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने को अर्थसंग्रह और अर्थलिप्सा से वचाता रहे। ब्राह्मण को अपनी आवश्यकताएँ भी कम करनी पड़ती हैं। लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि से पृथक् रहते हुए सर्वभूत हित को अपना लक्ष्य बनाना पड़ेगा। यथाकाल प्राप्त भोगों पर सन्तोष करना पड़ेगा। यदृच्छा लाभ-संतुष्ट, विमत्सर, द्वंद्वातीत होना पड़ेगा तभी वह यथार्थ में अपने ज्ञानचिन्तन में सफल हो सकेगा। ब्राह्मण की सन्तोष वृत्ति को प्रोत्साहन देते हुए मनु ने उस ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ माना है जिसके पास दूसरे दिन के भोजन के लिए भी अन्न न हो—जो अश्वस्तनिक हो। अर्थलिप्सा में पड़ने पर ब्रह्मत्व शिथिल हो जायगा, यह निर्विवाद है। त्याग ही ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य था। आजकल उसका विपर्यय हो रहा है यह काल का दुर्निवार प्रभाव है। 'कालो हि दुरतिक्रमः।' क्षत्रिय वर्ग—जो राष्ट्र अरक्षित रहता है, निर्बल रहता है उसे अन्य सबल राष्ट्र आक्रमण करके अपने वश में कर लेता है, यह साधारण सांसारिक नियम है। इस बहिरंग आक्रमण से देश की रक्षा के लिए क्रियाशील उत्साह अध्यवसाय सम्पन्न क्षत्रिय वर्ग की आवश्यकता हुई। इस सुरक्षा कार्य के लिए सैनिक संगठन शस्त्रास्त्रादि सामग्री कोष आदि की आवश्यकता हुई और इस सवका प्रवन्ध क्षत्रिय वर्ण के अधीन रखा गया। साथ ही प्रजा वर्ग में परस्पर राग-द्वेष के कारण जो कलह उपस्थित

होते थे और जिसके कारण राष्ट्र में, समाज में शान्ति-भंग की सम्भावना होती थी इसका नियन्त्रण भी शासक वर्ग के अधीन रखा गया।

इस प्रकार ब्राह्मण वर्ग प्रजा की आध्यात्मिक रक्षा का तथा क्षत्रिय आधिभौतिक प्रपंच की रक्षा का अधिकारी बना। समाज रूपी शरीर के आन्तरिक अंगों की रक्षा करने वाला चर्मस्थानीय ब्राह्मण हुआ। लौकिक भाषा में जिसे चर्म कहा जाता है वही देव भाषा में शर्म कहा जाता है। शतपथ ब्राह्मण में (१।१।४।४) कृष्ण मृग के चर्म ग्रहण के सम्बन्ध में लिखा है—"अथ कृष्णाजिनमादत्ते 'शर्मासि' इति। चर्म वा एतत् कृष्णस्य। तदस्य तन्मानुषम्। शर्म देवत्रा इति।' इसीलिए चर्म स्थानीय ब्राह्मण को शर्मा कहा जाता है। वहिरंग की रक्षा करने वाला वर्म (कवच) स्थानीय क्षत्रिय वर्मा कहा जाता है।

राष्ट्र को ज्ञान शक्ति ब्राह्मण वर्ग से, रक्षा का साधन क्षत्रिय वर्ग से उपलब्ध हुआ। अब उस अर्थ की समस्या राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित हुई जिसके बिना राष्ट्र की स्वरूपरक्षा ही सर्वथा असम्भव हो जाती है। इस अर्थचिन्ता से त्राण पाने के लिए राष्ट्र में एक विभाग **वैश्य** वर्ग का हुआ जो कृषि गो-रक्षा वाणिज्य के द्वारा अर्थ-संग्रह करते हुए समग्र राष्ट्र को अर्थ-संकट से मुक्त करने का साधन बना। जिस प्रकार शरीर के पोषण के लिए उदर भाग आवश्यक है उसी प्रकार समाज शरीर के पोषण के लिए उदर स्थानीय वैश्य वर्ग हुआ। वही मुख्य प्रजा है। श्रुतियों में प्रजा वर्ग के लिए विश् शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ है। अर्थ बल ही राष्ट्र की प्रतिष्ठा है, अतः अर्थ का उत्पादक वैश्य वर्ग ही समाज का प्रधान शरीर माना गया है और वह वर्म और शर्म (चर्म) से गुप्त है, रक्षित है, इसीलिए वैश्य वर्ग के लिए **गुप्त** शब्द प्रयुक्त होता है।

'आशु द्रवति' यह शूद्र का निर्वचन है। अपने शिल्पादि कर्मों में एवं सेवा कर्म में बिना प्रतीक्षा किये शीघ्र द्रवणशील वर्ग शूद्र है। शिल्प आदि का उत्पादन वही करता है जिसके व्यवसाय से वैश्य वाणिज्य के द्वारा अर्थ-संग्रह करता है। शिल्प द्वारा सेवा करने वाले शूद्र के लिए **दास** प्रयुक्त है, जैसा कि मनु कहते हैं—शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं दासः शूद्रस्य कारयेत्।' इसी आशय को विष्णु स्मृति और अधिक स्पष्ट कर देती है—

'शर्म्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥'

यह नामकरण भी उनके कर्तव्यों का द्योतक है। एक ही शरीर के चारों विभागों में परस्पर ऊँच-नीच का भाव अथवा राग-द्वेष मानना सर्वथा अनुचित है। चारों भाग अपने-अपने प्रातिस्विक कर्मों के द्वारा सबकी समष्टि रूप आत्मा के ही उपकारक हैं।

अपना उनका उसमें स्वार्थ नहीं है। इसी प्रकार राष्ट्र रूप शरीर में ब्राह्मणादि प्रत्येक वर्ग का लक्ष्य यही है कि राष्ट्र का उपकार हो; उसकी पुष्टि और रक्षा हो। परस्पर कलह या पक्षपात की कल्पना नहीं हो सकती।

समस्त राष्ट्र के अभ्युदय के लिए यह चातुर्वर्ण्य व्यवस्था कल्पनामूलक नहीं है। अतीन्द्रियार्थ द्रष्टा महर्षियों के सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण का यह परिणाम है। प्राकृतिक समस्त पदार्थों में चातुर्वर्ण्य का प्रत्यक्ष ज्ञान करके उसकी उपादेयता को समस्त राष्ट्र रूपी शरीर के लिए अत्यन्त हितकर और अनिवार्य मान कर यह व्यवस्था की गयी है। सम्पूर्ण विश्व जिनका शरीर है उन विराट् ईश्वर के शरीर में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का संकेत पुरुष सूत्र के मन्त्र में स्पष्ट दिख रहा है—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।' इसी का अनुवाद पुराण और धर्मशास्त्रों में सर्वत्र मिलता है।[1] इस प्रकार यह निश्चित है कि जिस प्रकार विश्व रूप शरीर में चातुर्वर्ण्य की उपयोगिता है उसी प्रकार राष्ट्र शरीर के लिए उसका महत्त्व है और इस व्यवस्था की वैज्ञानिकता सर्वथा सिद्ध है। प्राकृतिक आधार होने के कारण जब यह चातुर्वर्ण्य चेतन-अचेतन सभी में समान रूप से विद्यमान है तब अन्यान्य देशों के मनुष्यों में इसका अस्तित्व सर्वथा सिद्ध ही है। अन्तर इतना ही है कि आर्यों ने उसकी वैज्ञानिकता की परीक्षा करके उसको सुव्यवस्थित रूप में प्रसारित किया और उसे समाज के अविच्छेद्य अंग के रूप में स्थिर किया।

वर्ण व्यवस्था—जन्म से अथवा कर्म से

वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में विचारशील पुरुषों में अनेक मत देखे जाते हैं।

१. सनातन धर्मावलम्बी एक पक्ष यह है कि वर्ण-सृष्टि का मनुष्य की कल्पना से

१. ''लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुख बाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥'—मनु० १।३१
'वक्त्राद्यस्य ब्राह्मणाः संप्रसूतास्तद्वक्षरतः क्षत्रियाः पूर्वभागैः।
वैश्याश्चोर्वोर्यस्य पद्भ्यां च शूद्राः सर्वे वर्णा गात्रतः सम्प्रसूताः॥'
—वा० पु० ७१ अ०

'मुखतोऽवर्तत ब्रह्म पुरुषस्य कुरूद्वह। यस्तून्मुखत्वाद् वर्णानां मुख्योऽभूद् ब्राह्मणो गुरुः॥ बाहुभ्योऽवर्तत क्षत्रं क्षत्रियस्तदनुव्रतः। यो जातस्त्रायते वर्णान् पौरुषः कण्टकक्षतात् ॥ × × × पद्भ्यां भगवतो जज्ञे शुश्रूषाधर्मसिद्धये। तस्यां जातः पुरा शूद्रो यद्वृत्या तुष्यते हरिः॥'—भागवत ३।६

कोई सम्बन्ध नहीं है। यह वर्ण-सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है। स्वयं प्रजापति वर्णसृष्टि के आविर्भावक हैं और जैसा ऊपर में विवेचित हुआ प्रत्येक चेतन-अचेतन पदार्थ में वर्ण-व्यवस्था पायी जाती है उसी के अनुसार मनुष्य में भी यह प्राकृतिक है। वेद पुरुष ने विराट् पुरुष के मुख, बाहु आदि से चारों वर्णों की उत्पत्ति बता कर यह सिद्ध कर दिया है कि जिस प्रकार विराट् पुरुष के शरीर में यह व्यवस्था है उसी प्रकार राष्ट्ररूपी समाज को एक शरीर मान कर उसमें इन चारों वर्णों की व्यवस्था स्वाभाविक है। भारत से इतर देशों में भी यह सर्वथा सम्भव है और प्लेटो आदि पाश्चात्य विचारकों ने भी इसका महत्त्व माना है। वर्तमान काल में भी बुद्धिजीवी शिक्षक, धर्मोपदेशक, वैज्ञानिक आदि इस वर्ग में आते हैं। सैनिक विभाग क्षत्रिय स्थानीय है ही। व्यवसायिवर्ग वैश्य श्रेणी में और शारीरिक श्रम वाले मजदूर दल शूद्र कोटि में आते हैं। इतना ही अन्तर है कि अन्य देशों में यह विभाजन कर्मणा है; जन्म से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। प्लेटो ने जन्म को भी प्रधानता अवश्य दी है परन्तु प्लेटो के मत का पाश्चात्य देशों में उचित सम्मान नहीं हुआ। आर्य महर्षियों ने वेद-वाक्य के आधार पर वर्णव्यवस्था का वैज्ञानिक महत्त्व समझ कर उसे सुव्यवस्थित किया और उसका शिलान्यास सुदृढ़ आधार पर किया जो हजारों वर्ष के झंझावात को सहन करके इस समय भी किसी प्रकार अवस्थित है।

२. दूसरे पक्ष का कथन है कि वर्ण-व्यवस्था वेदसिद्ध है। परन्तु इसकी मूल प्रतिष्ठा गुण कर्म ही हैं। वैदिक युग में जो जैसा कर्म करता था, जिसमें जैसा गुण था वह व्यक्ति उसी वर्ण का मान लिया जाता था। यद्यपि उपलब्ध धर्मशास्त्रों में बहुत-से वचन ऐसे मिलते हैं जिनसे वर्ण का जन्ममूलत्व सिद्ध होता है। परन्तु ये वचन प्रक्षिप्त हैं। स्वार्थी ब्राह्मणों ने अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा को सुरक्षित करने की दृष्टि से स्वार्थवश अपनी ओर से इन वचनों का उनमें समावेश कर दिया है। जब तक वर्ण-विभाग गुणकर्मानुसार बना रहा तब तक देश की समुन्नति होती रही। इस दशा में वेद भक्तों का यह कर्तव्य है कि पौराणिक सामयिक उक्त अविद्या को दूर कर गुण कर्म द्वारा ही वर्ण-विभाग का प्राधान्य स्वीकार करें।

३. तीसरा पक्ष यह कहता है कि जिस समय भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर पहुँचा था उस समय वर्ण-व्यवस्था न थी। उस समय न वर्णों का झगड़ा था, न ऊँच-नीच का भाव था और स्पृश्यास्पृश्य का विवाद था। पौराणिक युग में व्यक्ति स्वार्थ के प्राधान्य से इसका जन्म हुआ। यही भारत के सर्वनाश का कारण है। जब से जाति द्वेषमूला इस व्यवस्था का जन्म हुआ तब से भारत के राष्ट्रीय संघ बल का ह्रास आरम्भ हो गया। ऊँच-नीच भावों ने जाति द्वेष का बीजवपन किया। ऐसी दशा में देश हितैषियों का यह

कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी पूरी शक्ति लगा कर इस अनर्थकारिणी वर्ण-व्यवस्था का समूल उन्मूलन कर डालें तभी भारत राष्ट्र की उन्नति सम्भव है ।

इन तीनों में अन्तिम मत पर विचार उपस्थित करना अनावश्यक है । जो लोग श्रुति-स्मृति को प्रमाण नहीं मानते; युक्ति, उपपत्ति आदि के द्वारा सूक्ष्मदर्शिता दिखाना नहीं चाहते और अपने अभिनिवेश के द्वारा अपने ही मत को सर्वमान्य समझते हैं उनसे विवाद में प्रवृत्त होकर वितण्डावाद का प्रश्रय लेना अनुपयुक्त प्रतीत होता है । 'भिन्न-रुचिर्हि लोकः' के अनुसार उन्हें विचार स्वातन्त्र्य प्राप्त है और तदनुसार ये इसी में सन्तुष्ट रहें ।

प्रथम और द्वितीय के सम्बन्ध में विचार आवश्यक है क्योंकि ये दोनों वर्ग ही अपने-अपने मत की पुष्टि में युक्तिवाद के साथ ही श्रुति, स्मृति, इतिहास आदि का प्रमाण उपस्थित करते हैं । यथार्थ में देखा जाय तो दोनों पक्षों के प्रमाण निर्बल नहीं होते । तथापि यह कहना पड़ता है कि इन विरुद्ध मतों के उपोद्बलक जो प्रमाण उपस्थित होते हैं उन पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर परस्पर विरुद्ध प्रमाणों का समन्वय होकर दोनों की एक-वाक्यता हो जाती है और परस्पर भेद तिरोहित हो जाता है ।

प्रथम मत के मानने वाले मनीषि गण जन्म को महत्त्व देते हैं और जन्म के द्वारा ही वे वर्ग-व्यवस्था मानते हैं । इस मत की पुष्टि में इन लोगों ने बहुसंख्यक प्रमाण उपस्थित किये हैं इनमें से संक्षेप में कुछ प्रमुख प्रमाणों का यहाँ निदर्शन किया जाता है जिनसे वर्ण की जन्ममूलकता सिद्ध होती है ।

१. छान्दोग्य[१] उपनिषद् में मिलता है कि जो रमणीय आचरण करने वाले हैं निश्चय ही वे रमणीय योनि को प्राप्त करते हैं—ब्राह्मण योनि, क्षत्रिय योनि अथवा वैश्य योनि । और जो कुत्सित आचरण वाले हैं वे निश्चय ही कुत्सित योनि को प्राप्त करते हैं—कुत्ते की योनि, शूकर की योनि अथवा चाण्डाल की योनि । इस श्रुति का तात्पर्य यही है कि इस जन्म के परित्याग के अनन्तर दूसरा जन्म लेने वाला कर्मभोक्ता प्राणी अपने शुभाशुभ संचित संस्कारों के अनुसार ही शुभाशुभ योनियों में जन्म लेता है । श्रुति ने स्पष्ट ही ब्राह्मणादि को योनि बताया है । अपने संस्कार के अनुसार ही जीव अपने अनुकूल पिता के

१ "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्--ब्राह्मणयोनिं वा, क्षत्रिययोनिं वा, वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरण अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनि-मापद्येरन्--श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ।।"--छां० उ० ५।१०।७

शुक्र में भुक्तान्नपानादि के द्वारा प्रथम प्रविष्ट होता है, यह अन्यत्र उल्लेख हो चुका है। शुभाचार सम्पन्न, योग भ्रष्ट अपने कर्म के प्रभाव से पवित्र श्रीमान् के गेह में उत्पन्न होता है। यह गीता में भी प्रतिपादित है—

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।'

२. पूर्व में यह लिखा जा चुका है कि श्रुति के अनुसार देवगण में भी वर्ण माना गया है उन्हीं देवों के द्वारा अन्य सृष्टि होती है। 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः' इसके अनुसार जन्म से ही देवताओं का सम्बन्ध सिद्ध है और अतः देवताओं के वर्ण के अनुसार जायमान का वर्ण भी जन्मतः सिद्ध है। वसन्त, पलाश आदि अचेतन के लिए भी श्रुति में वर्ण माना गया है—'ब्रह्म हि वसन्तः (शत० २।१।३।५); 'ब्रह्म वै पलाशः' (शत० ५।३।५।१३) इत्यादि से स्पष्ट है कि इन अचेतनों में जन्मतः वर्ण माना गया है। इसी प्रकार मनुष्यों में भी जन्मना वर्ण सिद्ध होता है।

३. उत्पन्न शिशु का दसवें दिन नामकरण संस्कार का विधान है। नामकरण-प्रकरण में भिन्न-भिन्न वर्ण के बालक का भिन्न प्रकार का नामकरण होता है। ब्राह्मण वर्ण के बालक का नाम मंगलयुक्त, क्षत्रिय बालक का बलान्वित इत्यादि कहा गया है। जब तक जन्मना ब्राह्मणादि वर्ण न माना जायगा यह विधान अनुपपन्न होगा। यही प्रकार उपनयन-संस्कार के सम्बन्ध में भी पाया जाता है।

४. पूर्व में कहा जा चुका है कि वर्ण-सृष्टि का सम्बन्ध क्षर प्रजापति से है। भूत रूप से वहिर्भूत किन्तु भूत रूप का सम्पादन करने वाले क्षर ब्रह्म से वर्ण रूप से जो प्राण देव सृष्टि हुई है वह अमूर्त सृष्टि है। प्राण देवता प्राणात्मक होने से रूप, रस, गन्ध आदि पाँचों से अतीत है, अतः इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा तो रूप, रस आदि का ही ग्रहण होता है। इन्द्रियातीत ये ही वर्ण देवता शुक्र विशेषों में (महत् प्रकृति के द्वारा) बीज रूप से प्रतिष्ठित हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण सृष्टि के प्रवर्तक बनते हैं। मनुष्यों में रहने वाला यह वर्ण तत्त्व विशुद्ध प्राणात्मक है, शक्ति रूप है, स्वभावात्मक है। इसका स्थूल आकृति से सम्बन्ध नहीं है। वह सूक्ष्म शरीर का विषय है। यदि स्थूल शरीर में ब्राह्मणत्व आदि की कल्पना की जायगी तो भयंकर परिणाम होगा। पिता के शव को दाह करने वाले पुत्र पर ब्रह्महत्या का आरोप होगा। दाह स्थूल शरीर का किया जाता है। सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होता वह यथाकर्म उत्क्रमण करके लोकान्तर में जाता है।

५. दोनों पक्ष वाले मनुस्मृति को पूर्णतया वेदानुगामिनी होने के कारण प्रमाण कोटि में मानते हैं। वहाँ स्पष्ट निर्दिष्ट है कि ब्राह्मण पृथिवी में उत्पन्न होते ही सब भूतों का ईश्वर (स्वामी) होता है। वह धर्मकोश की रक्षा के लिए है :—

'ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ।।''––मनु० ।

इसी प्रकार मनुस्मृति में और भी अनेक वचन जन्मतः वर्ण की व्यवस्था को प्रमाणित करते हैं। उनका यहाँ विस्तार अपेक्षित नहीं है।

जन्मतः वर्ण-व्यवस्था मानने वालों के मत के परिपोषक और भी अनेक प्रमाण हैं, विस्तार-भय से केवल पाँच प्रमाण यहाँ दिये गये हैं। दूसरे मत वाले जन्म के द्वारा वर्ण-व्यवस्था नहीं मानते; इनका कथन है कि ब्राह्मणादि के जिन गुण-कर्मों का विधान श्रुति-स्मृति में पाया जाता है तदनुसार आचरण जिसमें होंगे वह व्यक्ति उसी वर्ण का माना जायगा; जन्म उसका किसी भी योनि में हो, वह वर्ण का नियामक नहीं है।

दूसरे मत के परिपोषक निम्नलिखित युक्ति उपस्थित करते हैं :––

१. आपोनप्त्रीय सूक्त (ऋ० १०।३०) के द्रष्टा कवष ऐलूष थे। इनका उपाख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। इसका अन्यत्र दूसरे प्रकरण में उल्लेख हो चुका है। ये ब्राह्मण नहीं थे, अतः ऋषियों ने इनका तिरस्कार करके इन्हें वहाँ से निकाल करके सर्वथा जलहीन देश में प्यास से मरने के लिए छोड़ दिया। वहीं इन्होंने उक्त सूक्त के द्वारा अन्तरिक्ष से आकर्षण प्रयोग करके प्रचुर मात्रा में जल प्रवाहित किया। मन्त्रद्रष्टा ऋषि कोटि में ये प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार अब्राह्मण होते हुए भी ये अपने गुण-कर्म के द्वारा ऋषि कोटि में प्रविष्ट हुए। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वर्ण का नियामक गुण-कर्म ही है, जन्म नहीं है। इसी प्रकार विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी अपने गुण-कर्म के प्रभाव से ब्राह्मण कोटि में प्रविष्ट हुए थे यह भी इस मत की पुष्टि करता है।

२. जन्मसिद्ध वही सृष्टि मानी जा सकती है जिसके कर्ता स्वयं जगदीश्वर हों। मनुष्य, अश्व, गौ, कृमि, कीट आदि जन्मसिद्ध हैं। ईश्वर के लिए सम्पूर्ण विश्वक्षेत्र समान है। यदि भगवान् के मुख, बाहु आदि से ब्राह्मण आदि चारों वर्ण की उत्पत्ति होती तो अन्य देशों में भी वर्ण-विभाग होता। परन्तु देखा जाता है कि वर्ण-व्यवस्था, धर्मभेद, तत्प्रतिपादक मन्वादि धर्मशास्त्र आदि केवल भारत में ही उपलब्ध हैं। इसलिए यह व्यवस्था जन्मसिद्ध नहीं है। आर्य-समाजशास्त्रियों ने ज्ञान, कर्म, अर्थ, शिल्प इन चारों समृद्धियों से समाज को सुसम्पन्न बनाने के लिए उन चार विभागों की कल्पना आवश्यक समझी जो कालान्तर में ब्राह्मण आदि नाम से प्रसिद्ध हुए। आज भी पाश्चात्य देशों में गुण-कर्म के अनुसार चार विभाग देखे जाते हैं—अध्यापक, वैज्ञानिक, धर्मोपदेशक, ब्राह्मण वर्ग में हैं। सैनिक विभाग क्षात्र है ही। व्यवसायी वर्ग वैश्य है और शारीरिक श्रम वाला (Labour) शूद्र वर्ग माना जा सकता है। वहाँ कहीं यह व्यवस्था जन्मसिद्ध नहीं

मानी जाती । लेवर कक्षा का व्यक्ति अपने गुण-कर्म के द्वारा ऊपर के किसी भी वर्ग में अधिकृत हो सकता है । यदि उसमें जन्म का प्रतिवन्ध होता तो यह सम्भव न हो सकता कि निम्न वर्ग का व्यक्ति उच्च वर्ग में प्रविष्ट हो सकता । वास्तव में वहाँ इन गुण-कर्मों के द्वारा भी उच्च-नीच का भाव भी नहीं है ।

३. (i) महाभारत के वन पर्व में युधिष्ठिर-नहुष संवाद प्रकरण में युधिष्ठिर कहते हैं कि हे नागेन्द्र ! (सर्पराज) सत्य, ज्ञान, क्षमा, शील, आनृशंस्य, तपः, दया जिसमें दिखे वही ब्राह्मण कहा जाता है । स्पष्ट ही यहाँ गुण-कर्म का ही महत्त्व है ।

'सत्यं ज्ञानं क्षमाशीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ।।'—म० भा०, वनपर्व ।

(ii) वनपर्व में ही यक्ष को उत्तर देते हुए युधिष्ठिर कहते हैं कि हे यक्ष ! कुल, स्वाध्याय या श्रुत द्विजत्व में कारण नहीं है । वृत्त (आचरण, कर्म) ही कारण है—

'शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ।।'—म० भा०, वन० ।

(iii) 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।'
'स्वाध्यायेन जपैर्होमै स्त्रैवेद्येनेज्यया सुतैः ।
महा यज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।'—मनु० २।२८

यहाँ महाभारत का वचन वृत्त को महत्त्व देता ही है । तीसरे स्मृति के वचनों में स्पष्ट ही उल्लेख है कि व्यक्ति जन्म से शूद्र ही उत्पन्न होता है वाद में संस्कार के द्वारा द्विज कहा जाता है । दूसरे वचन में स्वाध्याय, यज्ञ आदि के द्वारा शरीर को ब्राह्म सम्पत्ति से युक्त बनाना स्पष्ट ही कर्म की महत्ता का द्योतक है ।

४. मनुस्मृति में ऐसे और अनेक वचन मिलते हैं जिनसे जन्म के द्वारा वर्ण का खण्डन हो जाता है—'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम् । क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्या-द्वैश्यात्तथैव च ।"—(मनु० १०।६५) । इससे स्पष्ट है कि शूद्र ब्राह्मणत्व को और ब्राह्मण शूद्रता को प्राप्त होता है । यह वर्ण-परिवर्तन तभी सम्भव हो सकता है जब वर्ण का जन्म से सम्बन्ध न हो । द्वितीय अध्याय में मनुस्मृति में यह भी लिखा है कि जो द्विज वेद का अध्ययन न करके अन्यत्र श्रम करता है वह जीता हुआ ही सान्वय (परिवार सहित) शीघ्र शूद्रता को प्राप्त होता है—

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।'—मनु० २।१६८

यह भी जन्म के द्वारा द्विजत्व का प्रतिबन्धक है। जन्मना द्विजत्व होता, ईश्वरकर्तृक होता तो उसका उसी जीवन में परिवर्तन सम्भव न हो सकता।

इसी प्रकार और भी अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ब्राह्मणादि वर्ण जन्मतः नहीं हैं। कर्म और गुण के अनुसार ही वर्ण-व्यवस्था आर्यसम्मत है।

इनके प्रतिवाद में प्रथम पक्ष वाले (जन्मतः वर्ण मानने वाले) निम्नलिखित युक्ति उपस्थित करते हैं :—

१. कवष ऐलूष के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह अपवाद स्वरूप था। पूर्व जन्म के प्रबल संस्कारों के कारण पूर्वोपार्जित कर्म की महिमा से उसमें ऋषित्व का प्रादुर्भाव हुआ था। यह अपवाद ही जन्मना वर्ण का उपोद्बलक है। उस समय जन्म के द्वारा ही ब्राह्मणत्व मानना सर्वसम्मत सिद्धान्त था। यह इसी से स्पष्ट सिद्ध है कि यज्ञ करने वाले ब्राह्मण ऋषियों ने उसे अब्राह्मण समझ कर अपने यज्ञ कर्म में उसे सम्मिलित होने का अधिकारी नहीं समझा और उसकी अनधिकार चेष्टा के कारण उसे वहाँ से निकाल कर निर्जल प्रदेश में छोड़ दिया। विश्वामित्र के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध ही है कि उनमें ब्रह्मवीर्य का प्रभाव था।

२. अन्य देशों में जन्मना वर्ण-व्यवस्था नहीं है इससे वह ईश्वरकृत नहीं है इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जब समस्त पदार्थों में (जड़-चेतन सर्वत्र) वर्ण माना गया है जैसा कि अन्यत्र विवेचित हुआ है, तब अन्य देशों के मनुष्यों में वर्ण नहीं है यह तो कोई भी नहीं कहता। जब अचेतन पदार्थों तक में वर्ण का विधान जन्मतः है तब अन्य देश के मनुष्यों में जन्मतः वर्ण तो है ही। अन्तर यह है कि भारतवर्ष में आर्य महर्षियों ने आर्य दृष्टि के द्वारा प्राकृतिक तत्त्वों का निरीक्षण करके—समाजोपकारक इस वर्ण को जन्मतः और कर्मतः सुव्यवस्थित कर इसका प्रसार किया। अन्य देशों में भी वर्ण हैं; वर्ण-व्यवस्था नहीं है। यह भारतीय आर्यों की ही प्रातिस्विक वस्तु हो गयी। परन्तु वर्ण प्रकृतिसिद्ध है इससे अन्यान्य पाश्चात्य देशों में भी इसका प्रभाव पड़ा ही और जन्मतः न मान कर कर्मतः उसका विभाग प्रचरित हो ही गया। प्राकृतिक विधान का प्रकारान्तर से वहाँ भी प्रचार अब भी चल ही रहा है। इतना ही नहीं। पाश्चात्य दार्शनिक प्रवर प्लैटो ने जन्मतः वर्ण-विभाग का अत्यन्त स्पष्ट अक्षरों में प्रतिपादन किया है।[१] उनके

Republic of plato :—

"But when the cobbler or any other man whom nature designed to be a trader, having his heart lifted up by wealth or strength or

मत का समुचित प्रचार नहीं हुआ और परवर्ती विचारकों ने उसे मान्यता देकर उसका समादर नहीं किया, यह भिन्न बात है।

३-४. महाभारत के वनपर्व से उद्धृत युधिष्ठिर के वाक्यों में ब्राह्मण के वृत्त का महत्त्व अवश्य बताया गया है परन्तु उससे जन्मतः वर्ण का प्रत्याख्यान नहीं होता। जन्मना ब्राह्मण होने पर स्वाभाविक ही इन गुणों का विकास होगा। इन वचनों का यह आशय नहीं है कि केवल वृत्त ही वर्ण का नियामक है। यह अवश्य ही है कि जन्मतः ब्राह्मण होने पर भी उचित संस्कार के अभाव से अथवा किसी प्रबल प्रतिबन्ध के कारण इन ब्राह्मणोचित आचरणों का समुचित विकास न होगा तो वह जात्या ब्राह्मण होते हुए भी ब्राह्मणोचित पद का अधिकारी न होगा। वह नाम मात्र का ब्राह्मण होगा जैसा कि मनु स्वयं कहते हैं कि जिस प्रकार काठ का बना हुआ हाथी अथवा चर्ममय मृग नाम मात्र के हाथी और मृग कहे जाते हैं उसी प्रकार अध्ययन हीन (आचरण हीन) ब्राह्मण भी नाम मात्र का ब्राह्मण होगा।

'यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नामधारकाः॥'—मनु० २।१५७

यह भी वृत्त की प्रशंसा में कहा गया है। जैसा कि अनुपद में कहा जायगा जन्मना ब्राह्मण मानने वालों को भी आचरण की महत्ता माननी ही पड़ेगी।

इसी प्रकार 'जन्मना जायते शूद्रः' इसका भी अभिप्राय यही है कि जब तक जात्या ब्राह्मण संस्कारों से संस्कृत होकर तदनुकूल आचरण न करेगा तब तक वह शूद्र के समान ही समझा जायगा। शूद्र के समान ही वह कामचार कामभक्ष है। इसी प्रकार 'शूद्रत्वमाशु गच्छति' इत्यादि जो मनु का वचन उद्धृत हुआ उसका भी यही आशय है कि ब्राह्मणो-

the number of his followers or any like advantage, attempts to force his way into the class of warriors or a warrior into that of legislators and guardians for which he is unfitted and either to take the implements or the duties of the other or when one man is trader, legislator and warrior all in one, then I think you will agree with me in saying that this interchange and this meddling of one with another is the ruin of the State. It is necessary for good administration in a state that all people should do their own business and they should not be allowed to inter-meddle with one another."

चित संस्कार के लोप से वह शूद्रवत् हो जायगा और ब्राह्मणत्व के गौरव से वंचित हो जायगा। ऐसे ही आचरणभ्रष्ट के लिए कहा गया है—'स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।' इन सबका अभिप्राय अवश्य ही वृत्त की महत्ता का प्रतिपादन करना है जो दोनों मतों में समान रूप से उपादेय है। केवल वृत्त के द्वारा ब्राह्मणत्वादि का यह पोषक नहीं है। जन्म और कर्म दोनों आवश्यक हैं।

इसी प्रकार जाति-परिवर्तन के सम्बन्ध में जो मनु का वचन उद्धृत है जिसके अनुसार शूद्र ब्राह्मण हो सकता है और ब्राह्मण शूद्र। इस सम्बन्ध में भी इसउ द्धृत श्लोक से अव्यवहित पूर्व के श्लोक में ही मनु ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि यह जाति-परिवर्तन उसी जन्म में नहीं होता; सातवें जन्म में होता है। यह जात्या वर्ण का ही पोषक है—

'शूद्रायां ब्राह्मणाज्जातः श्रेयसा चेत्प्रजायते।
अश्रेयान् श्रेयसीं जातिं गच्छत्यासप्तमाद् युगात्॥'—मनु० १०।६४

इससे स्पष्ट है कि 'शूद्रो ब्राह्मणतामेति' इत्यादि जो श्लोक उद्धृत हुआ है उसका प्रकरण भिन्न है। उस प्रकरण का भंग करके स्वतन्त्र रूप से इसका अर्थ करना उचित नहीं है। प्रकरण से तो प्रत्युत यही सिद्ध होता है कि ये वचन जाति का ही प्रतिपादन करते हैं। ऊपर के श्लोक में स्पष्ट शब्दों में '**श्रेयसीं जातिं** गच्छति' कहा गया है।

समन्वय

दोनों पक्षों क अनुसार ब्राह्मणादि कर्मों का समान रूप से महत्त्व माना जाता है इसमें सन्देह नहीं। संस्कार का महत्त्व भी दोनों पक्ष समान रूप से मानते हैं। जात्या ब्राह्मणादि न मानने वाले भी उपनयनादि संस्कार को आवश्यक समझते हैं। अन्तर इतना ही है कि द्वितीय पक्ष वाले शूद्र जाति में उत्पन्न व्यक्ति को भी उपनयनादि संस्कार से संस्कृत करके वेदाध्ययन तथा तत्प्रतिपादित यज्ञ आदि कर्मों का अधिकारी मानते हैं। इस सम्बन्ध में प्रथम पक्ष का आग्रह यह है कि संस्कार कोई नयी वस्तु उत्पन्न नही करता जो वस्तु पूर्व में विद्यमान है और उसमें दोषादि के संयोग से जो विकास अवरुद्ध हो रहा है संस्कार के द्वारा उस दोष का मार्जनादि किया जाता है जिससे वस्तु अपने स्वरूप से विकसित होती है। खान से निकाला हुआ हीरा अनेक भिन्न जातीय द्रव्यों से संयुक्त रहने के कारण अपने स्वाभाविक किरण विकास करने में समर्थ नही होता परन्तु विजातीय पदार्थों को संस्कार द्वारा पृथक् कर देने से उसका स्वाभाविक धर्म विकसित हो जाता है। साधारण प्रस्तर को प्रयत्न शत के द्वारा भी हीरक के समान कान्तियुक्त नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार जन्म के द्वारा जिसमें जो वर्ण होगा वही संस्कृत होकर अपने स्वरूप का विकास करेगा। संस्कार के शब्द में आगे पृथक् विवेचन होगा। यहाँ केवल यह कथन है कि जिस

प्रकार यथाजात हीरा आदि बिना संस्कार के स्वरूप के विकास करने में समर्थ नहीं होता उसी प्रकार ब्राह्मणादि वर्ण को भी स्वरूप विकास के लिए संस्कारों की अपेक्षा अवश्य रहती है। इतना ही नहीं। ब्राह्मण जाति में जन्म लेने पर भी यथाविधि संस्कार से संस्कृत होने पर भी यदि उसका ब्राह्मणोचित आचार-व्यवहार न होगा तो ब्राह्मणत्व से उसका पतन हो जायगा। अतः यथार्थ में ब्राह्मणादि वर्णों की स्वरूप रक्षा तथा उनके पूर्ण विकास के लिए जाति, संस्कार और कर्म तीनों समान रूप से आवश्यक हैं।

इसकी उपपत्ति का एक प्रकार यह कहा गया है[1]—ब्राह्मणों का जो ब्राह्मण्य है वह वेदनिबन्धन ही है। जो शब्द-ब्रह्म में निष्णात है वही परब्रह्म को जानने के योग्य है, इतर नहीं। वही अन्वर्थ ब्राह्मण है। शब्दब्रह्म की अवगति ही श्रुत विद्या आदि कही जाती है। परन्तु तप के अनुष्ठान के बिना यह विद्या कदापि आविर्भूत नहीं होती। तप एक क्रिया-विशेष है इसका अनुष्ठान भी देह विशेष से ही होता है इसलिए योनि या जाति भी ब्राह्मण्य की अवाप्ति में बीज मानी जाती है। क्रिया विशेष रूप तप यथेच्छ चाहे जिस यन्त्र से निष्पादित नहीं हो सकता। जैसे दर्शन क्रिया चक्षुरिन्द्रिय से ही सम्बद्ध है, श्रवण क्रिया श्रोत्रेन्द्रिय से ही। दर्शन क्रिया श्रोत्रेन्द्रिय से अथवा श्रवण क्रिया चक्षुरिन्द्रिय से नहीं होती। इसी प्रकार देह विशेष के द्वारा साध्य क्रिया विशेष (तपोरूप) चाहे जिस देह से सम्भव नहीं है। इसी ब्राह्मण के स्वरूप प्रदर्शन के लिए महाभाष्यकार पतंजलि कहते हैं कि तप, श्रुत (विद्या) और योनि ये तीन ब्राह्मण-कारक हैं। तप और श्रुत से जो हीन है वह केवल जाति ब्राह्मण है—

> 'तपः श्रुतं च योनिश्च त्रयं ब्राह्मणकारकम्।
> तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥'—म० भा० २।२।६

महाभारत शान्ति पर्व में भी (२३१।५६) मिलता है 'ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवा-निशम्।' इस प्रकार वेद के स्वरूप ज्ञान के लिए पूर्वाचार्यों ने यह क्रम बताया है—

(क) सबसे पूर्व द्विजकुल में जन्म। जिससे इस प्रकार के देह की प्राप्ति हो सके जिससे तपोऽनुष्ठान हो सके और ब्रह्म बीज व्यक्त हो। सब ही देह पांचभौतिक हैं। तो सूक्ष्म संस्थान (सूक्ष्म देह) के कारण एक दूसरे से विशेषता रखते हैं। रजोवीर्य का परिणाम रूप षाट्कौशिक देह तो वस्तुतः बिन्दु विकार है। उस बिन्दु की नाभिप्रदेश से नीचे या ऊपर अवस्थिति के तारतम्य से औपाधिक अनेकता हो जाती है। ऊर्ध्व (नाभि से

१. सं० र० वेदाङ्क—म०म० पं० गोपीनाथ कविराज।

ऊर्ध्व अवस्थित) बिन्दु के अधःपात से रज से संसृष्ट होने पर जो देह उत्पन्न होता है उसमें प्रत्यक्षतः बिन्दु यद्यपि अधोदेशवर्ती होता है तथापि पूर्व में उसकी नाभि से ऊपर जो अवस्थिति थी उसके प्रभाव से इस आपाततः अधःस्थित बिन्दु में नाभिचक्र को भेदन करके ऊर्ध्व स्थान करने की स्वरूप योग्यता रहती है। इसलिए संस्कारादि के द्वारा उसके ऊपर उठने के मार्ग का उद्घाटन करना सम्भव होता है। जो बिन्दु पूर्व में ही नाभि से अधोभाग में अवस्थित था उसके द्वारा निर्मित देह में उस बिन्दु का उन्नयन (ऊपर ले जाना) दुःशक है।

इस प्रकार सर्वप्रथम बीज शक्ति का होना परम आवश्यक है। संस्कार के द्वारा उसी बीज शक्ति का समुचित विकास होता है। आम के बीज के संस्कार से ही आम्रवृक्ष सम्पन्न होगा। हजारों संस्कार करने पर भी कपित्थ से आम न होगा। आम्र के बीज की शक्ति के विकास के लिए दूसरा क्रम है, संस्कार है। अनुकूल सोम और वह्नि का संयोग-रूप संस्कार होने से ही आम्र बीज की शक्ति विकसित होगी। संस्कार न होने पर वह शक्ति कुण्ठित दशा में स्थित रह कर कालान्तर में वह सर्वथा क्षीण हो जायगी।

(ख) अतः दूसरा क्रम संस्कार है। ऊर्ध्वगति उसके ही अधीन है। नाभिग्रन्थि के उन्मोचन के अनन्तर रेतस् का ऊपर की ओर जो प्रसर्पण है वही ब्रह्ममार्ग मे चेतः का संचार है। तत्त्वदृष्टि से वही वेद मार्ग में प्रस्थान है, वही स्वाध्याय अथवा वेदपाठ है। उपनयन के अनन्तर यही प्रयत्नपूर्वक किया हुआ तपोऽनुष्ठान है। इसी परिकर्म के द्वारा ब्रह्म बीज का क्रमशः विकास होता है। संचार शब्द से यहाँ शब्द ब्रह्म में गति ही अभीष्ट है। शब्द ब्रह्म की ओर संचार होता है, इसी से यह दशा **ब्रह्मचर्य** कहलाती है।

(ग) अन्ततः आवृत्ति (स्वाध्याय) के कारण मनन आदि के द्वारा नादात्मक शब्द ही चिदात्मक ज्योति में प्राप्त होता है। पश्यन्ती रूप से स्वात्म साक्षात्कार के रूप में आविर्भूत होता है। यही वेदस्वरूपोपलब्धि वास्तव में ऋषित्व का आपादन करने वाली है। इस दशा में आत्मा का आवरण सदा के लिए नष्ट हो जाता है। सब अधिकारों की निवृत्ति हो जाती है। चिद् रूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके जीव यथार्थ ब्राह्मण होता है। यह वास्तविक ब्राह्मणत्व है। इसीलिए यास्क ने कहा है कि जो तपस्वी नहीं है, जो ऋषित्व को प्राप्त नहीं हुआ है, उसके लिए वेद प्रत्यक्ष नहीं होता—'न ह्येषु प्रत्यक्षमस्ति—अनृषेरतपसो वा।'

यह प्रक्रिया वेद तत्त्व को साक्षात्कार करने वाले वेदद्रष्टा महर्षियों के सम्बन्ध में बतायी गयी है। इन्हीं महर्षियों के द्वारा उपदिष्ट बिल्म रूप वेदग्रन्थों के आधार पर ही इसी क्रम को लक्ष्य में रख कर आर्य वर्ण-व्यवस्था सम्पन्न हुई है। इसमें भी बीज रूप से

जाति प्रथम है तथापि संस्कार के बिना वह कार्यक्षम नहीं होती, कुण्ठित रहती है, अतः संस्कार परम आवश्यक कोटि में आता है । परन्तु जाति और संस्कार होने पर भी यदि तदनुरूप आचरण न हो तो वे दोनों भी (जाति और संस्कार) व्यर्थ हो जाते हैं, अतः तीनों का समन्वय आवश्यक है । इसीलिए मनु आदि स्मृतियों में तीनों का समान रूप से महत्त्व माना गया है और जो वचन एक-दूसरे से विरुद्ध से प्रतीत होते हैं वे एकदेशीयता का प्रत्याख्यान करते हैं । इसी दृष्टि से वशिष्ठ स्मृति का वाक्य है—'प्रकृति विशिष्टं चातुर्वर्ण्यं संस्कारविशेषाच्च ।' इसी दृष्टि से मनु कहते हैं कि जाति की विशेषता से, प्रकृति की श्रेष्ठता से, नियम के धारण करने के कारण तथा संस्कार की विशेषता से ब्राह्मण सब वर्णों का प्रभु है—

'वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात् ।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः ।।'—मनु० १०।३

अभिप्राय यही है कि ये सब गुण ब्राह्मण में अपेक्षित हैं। और भी स्मृतियों में मिलता है कि[१] जो जाति कर्म आदि संस्कारों से संस्कृत है, शुचि है, वेदाध्ययन सम्पन्न है; यजन याजन आदि षट्कर्म में अवस्थित है; सत्य वाक् है; विघसाशी है[२]–विप्र आदि को भोजन कराने के बाद जो बचे उसका भोजन करने वाला—; शीलवान् है; गुरुप्रिय है, सत्यवाक् है, सत्यव्रत है, सत्यपर है—(सत्य के महत्त्व द्योतक ये शब्द हैं) वह ब्राह्मण कहा जाता है । इस सबका निष्कर्ष यही है कि जब तक ब्राह्मण में जाति संस्कार और वृत्त ये तीनों न होंगे तब तक उसका ब्राह्मणत्व सम्पन्न नहीं हो सकता । तीनों में से एक का भी अभाव होने से वह ब्राह्मणत्व के महत्त्व का अधिकारी न होगा । जाति मात्र से जो ब्राह्मण है वह 'ब्राह्मण ब्रुव' कह कर शूद्र कोटि में रखा गया है। ब्राह्मण ब्रुव, ब्रह्मबन्धु, ब्राह्मण नाम धारक ये शब्द निन्दा के द्योतक हैं। इन्हीं निन्दनीय ब्राह्मण को शूद्र कोटि में रखते हुए व्यास कहते हैं—'स्त्री शूद्र द्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा ।'

इसी प्रकरण में यह भी उल्लेखनीय है कि प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि ब्राह्मणों के हाथ में सत्ता थी। वही श्रुति, स्मृति के कर्ता थे और इसलिए उन्होंने अपना महत्त्व सर्वोपरि

१. 'जातिकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचि : ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ।।
सत्यवाक् विघसाशी तु शीलवांश्च गुरुप्रियः ।
सत्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ।।"

२. 'विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं वाऽमृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथाऽमृतम् ।।'—मनु० ३।२८५

रखा और स्त्री, शूद्र आदि को निम्न कोटि में रख कर उनके साथ अत्याचार किया। ब्राह्मणों को राजदण्ड से भी बचाने का प्रबन्ध रखा। सभी स्मृतियों में ब्राह्मणों का पद-पद पर प्रशंसात्मक यशोगान मिलता है। मनु ने दण्ड-विधान में ब्राह्मण वर्ण के साथ पूर्ण पक्षपात प्रदर्शित किया है। ब्राह्मण के थोड़े-से अपमान में शूद्र वर्ग के लिए कठिनतम दण्ड विहित है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि ब्राह्मण वर्ण समाज का मूर्धन्य अंग है; ज्ञानप्रद है। यदि इससे कोई अपराध बन भी जायगा तो वह क्षम्य माना जायगा या स्वल्पदण्डभाक् होगा। प्रथम तो ब्राह्मण के द्वारा सदाचार के कारण तथा विवेकशील होने के कारण अपराध होने की सम्भावना ही कम है यदि अनवधानता से कोई अपराध हो जाय तो वह क्षम्य इसलिए हो सकताहै कि वह असावधानी से हुआ है, बुद्धिकृत नहीं है। वर्तमानकालीन दण्ड-विधान में भी अनिच्छाकृत अपराध के लिए स्वल्प दण्ड विहित है। ब्राह्मण वर्ण समाज कल्याण के लिए ऐहलौकिक समस्त सुख-साधनों का परित्याग कर काय-क्लेश सहता हुआ अनन्य भाव से यावज्जीवन ज्ञान चर्या में निमग्न रहता है। वह समाज की एक अमूल्य निधि है। इसका अपमान जहाँ अक्षम्य माना जायगा वहीं इसका अपराध सह्य माना जायगा। साथ ही शास्त्रकारों ने स्वयं ब्राह्मण वर्ण के लिए ही कतिपय स्थलों में कठोरतम दण्ड का विधान किया है—यदि ब्राह्मण मद्यपान कर ले तो उसके गले में तब तक गरम किया हुआ मद्य डाला जाय जब तक उसका मरण न हो जाय। प्रायश्चित्त प्रकरण में ब्राह्मण के लिए चतुष्पाद दण्ड का विधान है; क्षत्रियादि के एक पाद कम होता हुआ शूद्र के लिए एक पाद (चतुर्थांश) दण्ड विहित है।

ब्राह्मण की महत्ता का जो पद-पद पर उल्लेख मिलता है उस पर विचार करने के लिए यह देखना आवश्यक है कि ब्राह्मण पर समाज कल्याण का कौन-कौन-सा भार निहित है। राष्ट्र पर अथवा राष्ट्रीय मानव वर्ग पर क्या आक्रमण हो सकते हैं इसका विचार करने पर यह देखा जाता है कि मनुष्य अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत भावों की समष्टि है। इन्हीं तीनों में दोषों का आक्रमण हो सकता है। कारण शरीरोपलक्षित मनः प्रधान ज्ञान मय आत्मग्राम अध्यात्म है। सूक्ष्म शरीरोपलक्षित प्राण प्रधान क्रियामय देवग्राम आधि-दैविक है। इसी प्रकार स्थूल शरीरोपलक्षित वाक् प्रधान अर्थमय भूतग्राम अधिदैवत है। इन तीनों संस्थाओं में दोषों का संक्रमण होता है। अविद्या अस्मिता आदि क्लेश प्रवर्तक पाँच दोष कारण शरीरपर आक्रमण करते हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि छः दोष सूक्ष्म शरीर पर आक्रमण करते हैं। इन दोषों के कारण शरीरदेवताओं की (पंचेन्द्रियों की) दिव्य कर्म शक्ति विलुप्त रहती है। प्रज्ञापराध के कारण हीनयोग, अतियोग तथा मिथ्या-योग से स्थूल शरीर में रोग का आक्रमण होता है। मनुष्यता के विकास के लिए इन तीनों के

दोषों का निरोध अपेक्षित है। इन तीनों प्रकार के रक्षा कर्म का भार ब्राह्मण वर्ग पर ही सब प्रकार निहित है। वही अपने ज्ञान-बल के प्रभाव से इन दोषों से मानव-समाज की रक्षा कर सकता है। रक्षा के अधिकरण तीन हैं इसीके अनुसार उपाय प्रदर्शक तीन प्रकार के शास्त्र हैं। स्थूल शरीर का चिकित्सक आयुर्वेद शास्त्र है; सूक्ष्म शरीर की रक्षा का उपाय बताने वाला धर्मशास्त्र है यथा कारण शरीर की रक्षा के लिए दर्शन शास्त्र है। दर्शनशास्त्र आत्म प्रपंच की रक्षा करने वाला ज्ञानप्रधान शास्त्र है। धर्मशास्त्र क्रियाप्रधान दव प्रपंच की रक्षा करने वाला कर्मप्रधान शास्त्र है। इसी प्रकार भूतप्रपंच की रक्षा करने वाला आयुर्वेद शास्त्र अर्थप्रधान शास्त्र है। इन तीनों शास्त्रों के प्रवर्तक तथा उपदेशक ब्राह्मण ही हैं। इस प्रकार शिक्षक होने के साथ ही ब्राह्मण रक्षक भी है।

उक्त तीनों आक्रमणों का तीनों शरीर सम्बन्धिनी अंतरंग संस्था से सम्बन्ध है। बहिर्जगत् की दृष्टि से स्थूल शरीर संस्था भी अन्तरंग मानी जाती है। इस अंतरंग संस्था पर बाहर की ओर से दो प्रकार के आक्रमण और होते हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध केवल स्थूल शरीर के साथ है। ये दोनों बाहरी आक्रमण आधिदैविक और आधिभौतिक हैं। भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि आक्रमणों का प्रकृति तन्त्र के साथ सम्बन्ध है। इनके सम्बन्ध में राजतन्त्र कुछ नहीं कर सकता। प्रकृति तन्त्र का संचालन करने वाले प्राण देवताओं की विषमता से प्रकृति मण्डल क्षुब्ध हो जाता है और यह क्षोभ आधि-दैविक आक्रमण का कारण बनता है। राष्ट्र का पाप, अनाचार, आदि राष्ट्र के कुकृत्य ही प्राकृतिक प्राण देवताओं को क्षुब्ध करने के कारण हैं। ब्राह्मण विद्वान् का यह कर्तव्य होता है कि वह उन कारणों का अन्वेषण करता है और वैज्ञानिक परिवर्तनों की परीक्षा करके यह पता लगाता है कि किस दोष से प्रकृति का कौन प्राण देवता विकृत हो गया है। पता लगा कर उसका उपाय करता है। इस प्राकृतिक चिकित्साका प्रधान साधन वेद-सिद्ध **यज्ञ कर्म** है। प्राकृतिक यज्ञों के आधार पर ही वैध यज्ञ पद्धतियों का आविष्कार हुआ है, यह यज्ञ प्रकरण में उल्लिखित है। यज्ञ रहस्योंका प्रतिपादक वेदशास्त्र है। वेद शास्त्र विज्ञान प्रधान है यह कहा जा चुका है। वैध यज्ञों के द्वारा आधिदैविक क्षोभ की शान्ति वेदविद्वान् ब्राह्मण ही कर सकता है। ये चारों ही—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा दो प्रकार के आधिदैविक (१. सूक्ष्मशरीर सम्बन्धी २. प्राकृतिक देवताओं का क्षोभ) अन्तरंग ही माने जायँगे और इनका प्रभु एकमात्र वेदवित् कर्मठ ब्राह्मण है। इसी से वह शर्म्मा कहा गया है।

अब आधिभौतिक के भी दो भेद हो जाते हैं। प्रथम का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है जिसकी चिकित्सा आयुर्वेद शास्त्र में निहित हुई है। दूसरा प्रकार आधिभौतिक का समाज-

व्यवस्था से सम्बद्ध है। किसी ने किसी दूसरे की सम्पत्ति अपहरण कर किसी का वध कर दिया इत्यादि जो उच्छृंखलता समाज में होगी उसका शास्ता दण्डधारी राजा है। उसका यह कर्तव्य है कि समाज की व्यवस्था को अस्त-व्यस्त न होने दे। इन क्षत भावों से समाज की रक्षा करने के कारण ही वीर भाव प्रधान राजा क्षत्रिय होता है। क्षत्रिय का निर्वचन है—'क्षतात् त्रायते।'

इनसे यह सिद्ध हो जाता है कि राष्ट्रीय मानव समाज पर होने वाले उक्त पाँचों आक्रमणों में पूर्व के चार आक्रमणों का प्रतीकार ब्राह्मण का कर्तव्य है। केवल एक पाँचवें (सामाजिक अव्यवस्था) का निरोध क्षत्रिय के कर्तव्य में आता है। इस प्रकार ब्राह्मण वर्ग शिक्षण कर्म के अतिरिक्त इन चार रक्षा कर्मों का अधिष्ठाता है, इसीलिए केवल एक आधिभौतिक आक्रमण की रक्षा करने वाले क्षत्रिय की अपेक्षा उसका स्थान अत्युच्च हो जाता है। इतना ही नहीं। क्षत्रिय का यह वाह्यरक्षा कर्म में भी ब्राह्मण पुरोधा का सहयोग अपेक्षित होता है। बिना ब्राह्मण के सहयोग के क्षत्रिय न्याय-दण्ड-संचालन में भी समर्थ नहीं होता। वैश्य वर्ग की कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य आदि वृत्ति तथा शूद्र की शिल्प-वृत्ति भी परम्परया ब्राह्मण के उपदेश पर ही निर्भर रहती है। उन्हें उपदेश के द्वारा स्व स्वकर्म में प्रोत्साहन देना; उत्पादन कर्मों के हानि-लाभ बताना, देश, काल, पात्र, द्रव्यानुसार इन्हें विभक्त करना ब्राह्मण के उपदेश से ही होता है। स्व स्वकर्म में प्रतिष्ठित रहते हुए पारमार्थिक निःश्रेयस के पथ में उनकी प्रवृत्ति तो सर्वथा ब्राह्मण वर्ग के उपदेश पर ही निर्भर है।

ब्राह्मण वर्ग की इसी महत्ता को लक्ष्य करके मनु ने ब्राह्मण वर्ग की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनमें से निदर्शन के लिए यहाँ दो तीन श्लोक उद्धृत करना प्रसंग प्राप्त है—

'भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥'—मनु० १।९६
'ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥'—मनु० १।९७
'सर्वं स्वं ब्राह्मणस्येदं यत् किंचिज्जगतीगतम्।
श्रेष्ठचेनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥'—मनु० १।१०० इत्यादि

इसी आशय के अनेक वचन अन्य स्मृतियों में तथा महाभारत आदि में भी मिलते हैं। तथापि धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण वर्ग के साथ पक्षपात किया गया है यह आक्षेप क्षोदक्षम नहीं है। ऊपर ब्राह्मण की संक्षेप में जो महत्ता दिखायी गयी है उसके अनुसार समस्त राष्ट्र के मानव समाज की सब प्रकार की रक्षा में दक्ष ब्राह्मण को यदि विशेष सम्मान-भाजन माना

गया है तो इसमें पक्षपात का लेश भी नहीं है। सब प्रकार की सत्ता रखते हुए भी त्याग का आदर्श भी ऐसा अन्यत्र मिलना सुलभ नहीं है। अन्यत्र कहा जा चुका है कि अश्वरतनिक को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। अतः देवयुग में ब्राह्मणों में विज्ञान की शक्ति वेदानुशीलन से प्रतिष्ठित थी उसके द्वारा उनका सर्वोच्च स्थान निस्संन्देह सर्वथा उचित था। यह अवश्य है कि वर्तमान काल में ब्राह्मणों की जो दशा हो रही है; उनमें जो सब प्रकार की समर्थता लुप्त-प्राय हो रही है उसे देखते हुए प्राचीनकालीन सर्वथा समर्थ ब्राह्मण से तुलना करना कहाँ तक उचित होगा। यह तो मानना ही पड़ेगा कि ब्राह्मणों पर—प्राचीन काल में—राष्ट्र रक्षा का जो गुरुतम भार था; जिसके कारण उनका इतना गौरव-गान था वह सब शनैः-शनैः लुप्त होता गया और आज उस गौरव का नाम शेष भी नहीं है। यह कालचक्र का प्रभाव है। इसके लिए किसी व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष को दोषी ठहराना उचित नहीं है। जो वर्णाश्रम व्यवस्था हजारों वर्ष से चली आ रही है और जिसे सब प्रकार के झंझावातों का सामना करना है वह यदि अभी तक श्वास ले रही है तो उसकी प्राण-शक्ति प्रशंसनीय है। आज के दिन में यदि वह अपनी क्षीण दशा में पूर्व के समान समाज के उपकार में समर्थ नहीं हो रही है इससे उस व्यवस्था के सिद्धान्तों को ही दोषपूर्ण और हेय मानना अन्याय है। दोषों का संक्रमण सर्वत्र समय-समय पर होता ही रहता है। विज्ञ पुरुष का कर्तव्य है कि दोषों को दूर कर, प्रतिबन्ध को हटा कर, वस्तुशक्ति से लाभ उठाये। मत्कुण के उद्भव से कन्था का प्रक्षेप करना कहाँ तक युक्तियुक्त है। शरीर के किसी अंग में सामान्य व्रण हो जाने पर शल्य-क्रिया के द्वारा उस अंग का समूल उच्छेद करना कौन उचित समझेगा। अतः वर्तमान समाजशास्त्रियों को उचित है कि सम्यक् परीक्षा करके राष्ट्र और समाज की परमोपकारक इस व्यवस्था में आये हुए दोषों का निराकरण करके उसके स्वरूप की रक्षा का प्रयत्न करें।

वर्णों के अन्तर्गत अवान्तर जाति श्रेणी विभाग आदि की व्यवस्था पर विस्तार भय से यहाँ विचार नहीं किया गया है। मूल सिद्धान्तों की ही समीक्षा हुई है।

समाज और व्यक्ति का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। समाज-व्यवस्था से सम्बद्ध व्यक्ति विकास है और इसका सम्बन्ध आश्रम-व्यवस्था से है। अतः आगे आश्रम-व्यवस्था पर विचार करना सुसंगत होगा।

आश्रम-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था का वर्णन ऊपर हो चुका है। वर्ण-व्यवस्था से अनुशासित एक स्वतन्त्र समाज की, स्वतन्त्र राष्ट्र की स्वरूप रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उस राष्ट्र के व्यक्ति

पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित तथा सब प्रकार से विकसित हों। अप्रतिष्ठित, अयोग्य, मर्यादा हीन व्यक्तियों का समष्टि रूप समाज कभी समाज सापेक्ष वर्ण धर्म का पालन नहीं कर सकता। व्यक्तियों का समूह ही राष्ट्र है, अतः राष्ट्र या समाज में जिस प्रकारके व्यक्तियों का प्राधान्य होगा उसी के अनुसार समाज या राष्ट्र का स्वरूप निर्माण होगा। इसी दृष्टि से उपनिषद् में एक राजा की उक्ति मिलती है कि हमारे राज्य में कोई चोर नहीं है, कोई कदर्य नहीं है और न कोई मद्य पान करने वाला है, इत्यादि। इसी दृष्टि से आर्य महर्षियों ने समाज के स्वरूप की रक्षा करने वाली वर्ण-व्यवस्था के साथ-साथ ही व्यक्ति स्वरूपकी रक्षा करनेवाली आश्रम-व्यवस्था का नियन्त्रण भी आवश्यक समझा। आश्रम-मर्यादा का अनुगमन किये बिना वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप रक्षित नहीं रह सकता। यह आश्रम-व्यवस्था ही राष्ट्रीय प्रजावर्ग के व्यक्ति स्वातन्त्र्य का कारण बन रही है।

वर्ण विभाग महायज्ञ है समस्त राष्ट्र का उससे सम्बन्ध है वह एक-एक व्यक्ति द्वारा साध्य नहीं है इस दृष्टि से उसके संगठन के लिए कर्ता चार विभाग में विभक्त हुए। वहाँ चारों वर्ग मिलकर एकही समय में भिन्न-भिन्न कार्यों के द्वारा राष्ट्र को समृद्ध बनाते हैं। आश्रम का सम्बन्ध व्यक्ति से है। एक ही व्यक्ति को चार स्वतन्त्र कर्म करने हैं। परन्तु इन चारों के उद्देश्य भिन्न हैं, अतः इन सबका एक साथ साधन होना सम्भव नहीं है। इसलिए अपनी व्यक्तिगत आत्म-शक्तियोंके विकास के लिए उसे जो अनुष्ठान करना पड़ता है उसका अपने जीवन के चार काल विभागों में विभक्त करके अपने जीवन-काल में ही क्रमशः चारों शक्तियों का विकास करता है। जहां वर्ण विभाग एक ही कालमें सम्पन्न होता है वहां आश्रम विभाग समय विभाग पर प्रतिष्ठित है। एक ही व्यक्ति समयानुसार चारों आश्रमों का पालन करता है।

मनुष्य ईश्वर प्रजापति का ही अंश है, यह कहा गया है। हम अंश हैं ईश्वर अंशी है। फलतः उसके स्वरूप में जो शक्तियाँ हैं वे अंश रूप से हम में भी अवश्य हैं। इनकी मात्रा अवश्य ही क्षुद्रातिक्षुद्र है। ईश्वर प्रजापति में ज्ञान और कर्म दो विभूतियाँ प्रतिष्ठित हैं। ईश्वर संस्था में ब्रह्मकर्म दोनों पूर्ण समृद्ध हैं, वीर्ययुक्त हैं, विकसित हैं। परन्तु गुणमयी योगमाया के प्रभाव से अविद्या प्रधान जीव में दोनों ही अपूर्ण हैं, अविकसित हैं। जीवात्मा उस आनन्दघनका अंश है, अतः आनन्द की इच्छा रखना इसकी स्वाभाविक वृत्ति होती है। परन्तु आनन्द विकास के हेतुभूत ज्ञान कर्म विभूतियों के अविद्याग्रस्त रहनेसे सतत आनन्द की कामना करता हुआ भी यह जीवन शान्ति-लक्षण इस ईश्वरीय आनन्द से वंचित रहता है। ईश्वरवत् यह भी नित्यानन्दमूर्ति बन जाय, कभी इसकी शान्ति प्रतिष्ठामें कोई बाधा उपस्थित न हो यही इसका परम पुरुषार्थ है।

इस पूर्णशक्ति लाभ के लिए पूर्ण शक्तिशाली पूर्ण ईश्वरकी शरण इसे लेनी पड़ेगी। इसे ईश्वर प्रजापति की ही उपासना करनी पड़ेगी। शक्तियाँ दो हैं—ज्ञान और कर्म। दोनों के आगमन के बिना पूर्णता सम्भव नहीं है। अतः अपने कर्म-भाग से इसे ईश्वरीय कम भाग की उपासना करनी पड़ेगी एवं ज्ञान भाग से ईश्वरीय ज्ञान भाग का आश्रय लेना पड़ेगा। यद्यपि ईश्वर की इन दोनों शक्तियों का सर्वत्र सदा समरूप से आगमन होता रहता है तथापि अविद्या के प्राबल्य के कारण उसका लाभ यथेष्ट रूप में नहीं मिलता। अतः श्रद्धा, उपनिषद्, विद्या (शम दम आदि षट् सम्पत्ति) के द्वारा आवरणों को हटा कर उन शक्तियों का अनुगमन करना पड़ेगा। इन मध्यस्थ अन्तरायों का आवरण हटने पर ही उन शक्तियों का स्रोत हमारी अल्प शक्तियों में प्रवाहित हो सकेगा।

इस प्रकार जीवात्मा को अपने इसी जीवन में दो पुरुषार्थ सिद्ध करने हैं। कर्म-पुरुषार्थ पहला है और ज्ञानपुरुषार्थ दूसरा। पुरुषार्थ का स्वरूप क्रत्वर्थ से बना करता है। क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ एक-दूसरे से सम्बन्ध है। विवेक यह है कि जो कर्म साक्षात् रूप से पुरुष का हित साधन करे वह पुरुषार्थ कर्म कहा जाता है, वही क्रतु है। अब इस कर्म को सम्पन्न करने के लिए जो अनेक अवान्तर कर्म हैं वे क्रतु का साक्षात् उपकार करते हैं इससे क्रत्वर्थ कहे जाते हैं। परम्परया ये पुरुष के भी उपकारक अवश्य हैं परन्तु क्रतु के द्वारा; साक्षात् नहीं। उदाहरण के लिए पुरुष की तृप्ति साधन करने वाली पाक क्रिया पुरुषार्थ है। परन्तु इस पाक क्रिया के सम्पन्न करने के लिए घृत, तन्दुल, दाल, ईंधन आदि सामग्री का संग्रह अग्नि प्रज्वालन इत्यादि जो अनेक अवान्तर क्रिया हैं वे साक्षात् रूप से पाक क्रिया का स्वरूप सम्पादन करती हैं, अतः ये क्रत्वर्थ हैं। इसी नियम के अनुसार जीवात्मा को कर्मज्ञान लक्षण दो पुरुषार्थ सिद्ध करना है। दोनों के स्वरूप सम्पादन के लिए क्रत्वर्थ लक्षण कर्म और क्रत्वर्थ लक्षण ज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है।

कर्म का स्वरूप ज्ञान से बनता है एवं कर्म से ज्ञान का उदय होता है। पुरुषार्थ कर्म का मूल आधार ज्ञान होता है; पुरुषार्थ ज्ञान का मूल आधार कर्म होता है। इस प्रकार जीवात्मा को कर्मलक्षण पुरुषार्थ के स्वरूप सम्पादन के लिए ज्ञानलक्षण क्रत्वर्थ का आश्रय लेना पड़ेगा तथा ज्ञान लक्षण पुरुषार्थ के स्वरूप सम्पन्न करने के लिए कर्म लक्षण क्रत्वर्थ का अनुगमन करना पड़ेगा। इस प्रकार क्रत्वर्थलक्षण ज्ञान, पुरुषार्थलक्षण कर्म ये दो पूर्वांग हो जाते हैं और जीवनके के पूर्व भाग में एक ही पुरुष इन दोनों का ही क्रमशः आश्रय लेगा। जीवन के उत्तरार्ध में उसे पुरुषार्थलक्षण ज्ञान की सिद्धि करनी है उसके स्वरूप की सिद्धि के लिए क्रत्वर्थलक्षण कर्म का समाश्रय आवश्यक होगा। सरल शब्दों में क्रत्वर्थ साधन है और पुरुषार्थ साध्य है। पूर्वार्ध में ज्ञान साधन और कर्म साध्य है। कर्म की

यथाविधि निष्पत्ति के लिए ज्ञानार्जन साधन होता है। उत्तरार्ध में ज्ञान की सिद्धि के लिए साधन रूप कर्म अपेक्षित है। अपनी इसी आयु में पुरुष को इन चारों कर्तव्यों का पालन करना है। इन विभिन्न इतिकर्तव्यता रखने वाले चारों कर्तव्यों का अनुष्ठान एक ही समय में संभव नहीं है। इसलिए आयुकाल को चार सम भागों में विभक्त करके चारों का पृथक् अनुष्ठान करने का विधान है। 'शतायुर्वै पुरुषः', 'शतं वर्षाणि जीव्यासम्' 'जीवेम शरदः शतम्' इत्यादि श्रौत वचनों के अनुसार साधारण रूप से मनुष्य का आयु-काल सौ वर्ष माना गया है। इससे न्यून होना आयु प्रतिबन्धक दोषों के कारण नियत होता है। अधिक आयु का जहाँ उल्लेख मिलता है वह भी अपवाद स्वरूप ही समझा जा सकता है। जहाँ हजारों वर्ष की तपश्चर्या का उल्लेख मिलता है वहाँ वर्ष को अहोरात्र परक माना गया है। मीमांसा शास्त्र में यह प्रश्न उठाया गया है कि सहस्र संवत्सर पर्यन्त यज्ञ का जो उल्लेख मिलता है वह कैसे सम्भव हो सकता है क्योंकि मनुष्य की इतनी आयु तो असम्भव है। फिर कहते हैं कि यहाँ संवत्सर शब्द विचाली है। संवत्सर शब्द सौर, चान्द्र, गुरु, पृथ्वी के भ्रमण के अनुसार अनेक प्रकार का माना गया है। उस दृष्टि से पृथ्वी के स्वाक्ष-भ्रमण के कारण अहोरात्र भी संवत्सर कहा जा सकता है।[1] इस विषय का यहाँ पल्लवित करना अभीष्ट नहीं है। वेदोक्त सौ वर्ष की आयु को माध्यम मान कर प्रथम कर्म और ज्ञान के लिए पचास-पचास वर्ष नियत हुए। प्रथम पचास वर्ष में कर्म साध्य है; पुरुषार्थ है। उसके लिए साधन रूप क्रत्वर्थ ज्ञान का सम्पादन पचीस वर्ष की आयु तक किया जाता है। उसका साध्य पुरुषार्थ कर्म दूसरे चतुर्थांश में––२५ से लेकर पचास की आयु तक निर्दिष्ट है। उत्तरार्ध में मोक्ष-ज्ञान पुरुषार्थ है उसके सम्पादन के लिए साध्य रूप में क्रत्वर्थ में ७५ की आयु तक और अन्तिम आयु का चतुर्थांश ज्ञान को साध्य (पुरुषार्थ) मान कर मोक्ष पथ का अनुगमन किया जाता है। साधन रूप ज्ञान प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है। साध्य रूप पुरुषार्थ कर्म गृहस्थाश्रम है। उत्तरार्ध में ज्ञान पुरुषार्थ साधन का क्रत्वर्थ तृतीय वानप्रस्थ और चतुर्थ संन्यास आश्रम है। इस प्रकार समय विभाग के द्वारा एक ही व्यक्ति चारों आश्रमों के द्वारा कर्म और ब्रह्म रूप पुरुषार्थ सम्पन्न कर लेता है। ज्ञान ही ब्रह्म है। पचीस वर्ष की आयु पर्यन्त क्रत्वर्थ इस ज्ञान की चर्चा होती है, इसीलिए यह ब्रह्मचर्याश्रम कहा जाता है। द्वितीय गृहस्थाश्रम एक प्रकार से

१. जैमिनि मीमांसा सूत्र––'सहस्रसंवत्सरं, तदायुषामसंभवान्मनुष्येषु। संवत्सरो विचालित्वात्। अहानि वाऽभिसंख्यत्वात्।'

मुख्य कर्म क्षेत्र है। इसमें ब्रह्मचर्याश्रम में समाज के व्यय से जो उसका पोषण हुआ है उसका तो प्रतिशोध होता ही है। देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण आदि के शोध के लिए इसी आश्रम में इसे अवसर मिलता है। गृहस्थाश्रम ही ऐसा कर्मक्षेत्र है जहाँ रह कर मनुष्य समाज का उपकारक होता है तथा तीन आश्रम वालों के योग-क्षेम का भार उसी पर रहता है। वानप्रस्थ आदि वैयक्तिक हैं। गृहस्थाश्रम ही सामाजिक है।

पुरुषार्थ—जो कर्म पुरुष का उपकार करते हैं उन्हें पुरुषार्थ कर्म कहा जाता है यह पूर्व में उल्लिखित हो चुका है। आर्य साहित्य में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। इन चारों में धर्म और अर्थ साधन कोटि में होने से करवर्थ कहे जा सकते हैं एवं काम और मोक्ष ये दो कर्म साध्य कोटि में आते हैं। काम सुख समृद्धि का द्योतक वैभव ऐश्वर्य आदि इसी के अन्तर्गत हैं। निःश्रेयस शान्ति मोक्ष का द्योतक है। धर्म और अर्थ इन दोनों साधनों में से धर्म का विशेष महत्त्व है क्योंकि धर्म से अर्थ, काम, मोक्ष तीनों सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। यह तीनों का साधन है। अर्थ के द्वारा काम का साधन होता है। मोक्ष का वह साक्षात् साधन नहीं हो सकता परन्तु उसके द्वारा मोक्ष के साधन रूप धर्म का साधन अवश्य हो सकता है और इस प्रकार परम्परया मोक्ष का साधन माना जाता है। इसीलिए धर्म को अधिक महत्त्व दिया गया है। व्यास का वचन है—

'ऊर्ध्व बाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥'

अर्थात् हम बाहु ऊपर उठा कर चिल्ला रहे हैं परन्तु हमारी बात कोई नहीं सुनता, धर्म के द्वारा अर्थ और काम दोनों सम्पन्न होते हैं क्यों नहीं उसका सेवन करते। उक्त चारों पुरुषार्थों में काम (सुख) पुरुषार्थ ऐहिक और आमुष्मिक भेद से दो भागों में विभक्त है। लौकिक वैषयिक सुख ऐहिक काम है; पारलौकिक स्वर्ग-सुख आमुष्मिक काम है। मोक्ष रूपी आनन्द इन दोनों से पृथक् है—वह निःश्रेयस कहा जाता है। काम (सुखेच्छा) युक्त मनुष्य धर्माचरण करता हुआ भी इस निष्काम लक्षण मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता। मोक्ष प्राप्ति का प्रधान हेतु तो निष्काम धर्माचरण ही माना गया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है। उसे लेकर चारों पुरुषार्थ **चतुर्वर्ग** कहलाते हैं। साक्षात् या परम्परया मोक्ष के साधन रूप पूव के तीन—धर्म, अर्थ और काम **त्रिवर्ग** कहे जाते हैं। इनमें परम पुरुषार्थ की प्राप्ति का प्रधान साधन होने के कारण धर्म को मुख्य माना गया है। धर्म को लक्ष्य में रख कर यथानियम चारों आश्रमों के द्वारा व्यक्ति अपना पुरुषार्थ साधन कर सकता है।

छांदोग्य उपनिषद् में चारों आश्रमों का उल्लेख इस प्रकार है[1]—तीन धर्मस्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान (ये तीनों कर्म गृहस्थाश्रम से सम्बद्ध हैं) प्रथम हैं। द्वितीय तप है—तप से अभिप्राय यहाँ वानप्रस्थ आश्रम से है। क्योंकि तप का एक यह भी मुख्य लक्षण माना गया है—'एतद्वै तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति।' इसके अनुसार वानप्रस्थ आश्रम में जो शरीरशोषण के द्वारा प्राण शक्ति का व्यय किया जाता है वह प्राण दान रूप तप है और उसका परिणाम है कर्म के द्वारा ज्ञान शक्ति (परम पुरुषार्थ) का उपार्जन। अन्यत्र भी तप का यह लक्षण घटित होता है परन्तु उन स्थलों में प्राण व्यय जो होता है वह दूसरे प्राणों के आदान से पूर्ण होता रहता है। यहाँ वानप्रस्थ में तप निष्काम होने से प्राणशक्ति का यह व्यय अन्य प्राणों का आकर्षण न करके आत्मा के मुख्य ज्ञान भाग के द्वार का उद्घाटन करता है और परम पुरुषार्थ मोक्ष के लिए पुरुष को योग्य बनाता है। मोक्ष कोई आगन्तुक पदार्थ नहीं है। वह तो आत्मा का स्वरूप है और सर्वदा एक रूप से उपस्थित रहता है। जिस प्रकार दीप ज्योति मलिन काच के भीतर भी अपने स्वरूप से यथावस्थित रहती है परन्तु काच की मलिनता के कारण उसका बाह्य प्रकाश अवरुद्ध प्रतीत होता है। आवरण के हटने से स्वयं ज्योति आत्मा स्वरूप से प्रकट होता है। इसी के लिए चतुर्थ आश्रम के लिए कहा गया है 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।' यह अमृतत्व प्राप्ति प्रधान पुरुषार्थ है। पूर्व के तीन धर्म स्कन्ध द्वार मात्र हैं। छां०उ० में क्रम का निर्देश किसी विशेष उद्देश्य से नहीं दिखता; परिगणन मात्र है। प्रथम गार्हस्थ्य, द्वितीय वानप्रस्थ इन दो धर्मों के स्कन्धों के बाद ही तीसरे ब्रह्मचर्य का उल्लेख है। इसमें भी दो भेद हैं। जहाँ ब्रह्मचारी अध्ययनावधि गुरुकुल में वास करता है और अध्ययन समाप्त करके गुरु की आज्ञा पाकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है यह प्रथम प्रकार है। इस ब्रह्मचारी को 'उपकुर्वाण' कहा जाता है। जो ब्रह्मचारी यह नियम कर लेता है कि वह यावज्जीवन गुरुकुल में ही वास करेगा और गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करेगा वह 'नैष्ठिक ब्रह्मचारी' कहलाता था। चतुर्थ आश्रम को ब्रह्मसंस्था कहा गया है। उससे अमृतत्व की प्राप्ति होती है।

जाबाल उपनिषद् में अधिक स्पष्ट शब्दों में आश्रमों का उल्लेख मिलता है—

'स होवाच याज्ञवल्क्यः—ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्,

१. छां० उप० (२।२३)—'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः। तप एव द्वितीयो, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्; सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।'

वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ।' अर्थात् याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ हो; गृहस्थ होने के बाद वनी (वनवासी, वानप्रस्थ) हो। वनी होने के अनन्तर प्रव्रजन करे—चतुर्थ आश्रम संन्यास का आश्रयण करे ।

इस उपनिषद् में इन चारों आश्रमों की आवश्यकता बतायी गयी है । ब्रह्मचर्याश्रम में गार्हस्थ्य धर्म के यथाविधि पालन करने की योग्यता का सम्पादन होता है। पुरुषार्थ कर्म गृहस्थाश्रम ही माना गया है । गृहस्थाश्रम के द्वारा ही पुरुष अपने देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण से मुक्त हो सकता है । पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए सन्तानोत्पादन आवश्यक है—इसका अन्यत्र उल्लेख हुआ है । पुत्रोत्पादन एक आवश्यक कर्तव्य माना गया है । पुत्र में वह व्यक्ति अपना ऋण संक्रान्त करता है, यह कहा गया है । ऐतरेय ब्राह्मण में (३३।२) यह आख्यान है कि इक्ष्वाकुवंशीय हरिश्चन्द्र अपुत्र थे । उनकी सौ स्त्रियाँ थीं परन्तु इनमें सन्तान की प्राप्ति नहीं हुई। एक बार पर्वत और नारद ऋषि उनके घर आये । उन दोनों से राजा ने प्रश्न किया कि पुत्र से क्या प्राप्त होता है, यह बताइए। इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर नारद ने दस गाथाओं के द्वारा पुत्र प्राप्ति की प्रशंसा की ।[1] इस आख्यान से यह स्पष्ट होता है कि आर्य समाज में पुत्रोत्पादन एक आवश्यक कर्म समझा जाता था और उसके लिए गृहस्थाश्रम भी आवश्यक कोटि में माना जाता था और सामान्य रूप से पुरुष को इन चारों आश्रमों में प्रवेश करना पुरुषार्थ साधन के लिए अत्यन्त आवश्यक था। परन्तु इसका अपवाद भी था । जाबाल उपनिषद्[2] में ही इन चारों के उल्लेख के बाद ही मिलता है कि इससे अन्यथा भी हो सकता है । ब्रह्मचर्य से ही अथवा गृह (गृहस्थाश्रम) से अथवा वानप्रस्थ से संन्यास आश्रम में प्रव्रजन कर सकता है । इससे सिद्ध होता है कि जिन व्यक्तियों के पूर्व संचित संस्कार इतने प्रबल होते थे कि उन्हें ऋण शोधन के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आवश्यकता न रहती थी; यह ऋण शोधन कार्य पूर्व जन्म में ही जिनका

१. ऐतरेय ब्रा०—"हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजाऽपुत्र आस । तस्य ह शतं जाया बभूवुः । तासु पुत्रं न लेभे । तस्य ह पर्वतनारदौ गृह ऊषतुः। स ह नारदं पप्रच्छ—
यं न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये चन ।
किंस्वित् पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व नारद ।।
स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच— ऋणमस्मिन् संनयति अमृतत्वं च गच्छति । पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम् ।।" इत्यादि ।

२. जाबाल उप०—'यदि वेतरथा । ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा ।'

सम्पन्न हो गया था और योगभ्रष्ट होने के कारण जिन्हें पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ा है वे ब्रह्मचर्याश्रम से सीधे प्रव्राजक हो सकते हैं । गीता के छठें अध्याय में मिलता है—

'प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। ४१ ।।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। ४२ ।।
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। ४३ ।।

सामान्य रूप से आश्रम कर्म विद्या की उत्पत्ति में सहायक होते हैं; जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है[1]—उस आत्मा को ब्राह्मण वेदानुवचन, यज्ञ, दान, तपः, उपवास के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं । इसी को ज्ञात करके मुनि होता है । इसी आत्म लोक (जो संन्यासी का लोक है) की इच्छा करते हुए संन्यास ग्रहण करते हैं । इस प्रकार परम ज्ञान (विद्या) की उत्पत्ति के लिए यज्ञ, दान, तप आदि आश्रम धर्मों को साधन बताया गया है । इस परम ज्ञान के साधन होने के कारण इन आश्रम धर्मों का अनुष्ठान आवश्यक कोटि में माना गया है; जैसा कि श्रुतियों में अनेक स्थानों में मिलता है ।[2] परन्तु ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर इनका प्रयोजन नहीं रहता है । ज्ञान-प्राप्ति के फल में इनकी कोई अपेक्षा नहीं है । यह ज्ञान-प्राप्ति इन आश्रमान्तरों के कर्मानुष्ठान से भी सम्भव है; पूर्वजन्म कृत कर्मों के संस्कार से अथवा योगाभ्यास आदि के द्वारा भी साध्य है उस दशा में गार्हस्थ्य आदि के द्वारा ऋण का शोधन आवश्यक नहीं रह जाता। बृहदारण्यक उपनिषद् में ही जहाँ गृहस्थादि धर्म का अनुष्ठान आवश्यक बताया गया है उसके बाद ही यह भी कहा गया है कि पूर्व के विद्वान् प्रजा (संतान) की कामना नहीं करते थे । प्रजा से हमें क्या प्रयोजन; हमारा यह आत्मा ही लोक है । वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा से ऊपर उठ कर भिक्षाचर्य

१. बृह० उप०—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति, एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। (४।४)

२. 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते'; 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'—(तै० १।११।१); 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत् सर्वे पशवो विदुः' —(ऐत० ब्रा० ३३।२); 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये'—इत्यादि ।

करते थे ।[१] इस प्रकार विशेष अवस्था में पूर्व के सब आश्रमों के धर्मों का अनुष्ठान यद्यपि आवश्यक न था तथापि सामान्य रूप से व्यक्तिगत पुरुषार्थ के साधन के लिए इन चारों आश्रमों की व्यवस्था आवश्यक समझी गयी थी। व्यक्ति से समाज और राष्ट्र बनता है। व्यक्तिगत चरित्र शुद्धता से ही राष्ट्र की शुद्धता सम्भव है। एक ही समय में अनेक व्यक्तियों के द्वारा राष्ट्रोपकारक कार्यों में जहाँ वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व था वहीं काल भेद से एक ही व्यक्ति की उपकारिका आश्रम संस्था थी। सिद्धान्त रूप से इन दोनों व्यवस्थाओं का विधान आर्य महर्षियों की विलक्षणता थी। काल दोष से इधर इनका स्वरूप विकृत हो रहा है, यह भिन्न बात है।

प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि भारत वर्ष की अवनति का मुख्य कारण वर्णाश्रम व्यवस्था है। वर्ण-व्यवस्था के कारण ही जाति-पाँति के झगड़े उत्पन्न हुए और उनसे परस्पर मनोमालिन्य और द्वेष का प्रादुर्भाव हुआ और वही भारतवर्ष के विदेशियों के आक्रमण में सहायक हुआ। यह आक्षेप भी प्रबल है कि भारतवर्ष ने आध्यात्मिक उन्नति को अनावश्यक महत्त्व दिया जिसके परिणामस्वरूप भौतिक उन्नति का मार्ग सर्वदा अवरुद्ध रहा। स्थूल दृष्टि से देखने पर ये आक्षेप अवश्य ही हृदयग्राही प्रतीत होते हैं परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि ये आक्षेप सर्वथा निराधार हैं। भौतिक उन्नति में, शिल्पविज्ञान आदि में भारत भूमण्डल में मूर्धन्य रहा है। वर्णाश्रम धर्म के परिपोषक मनु ने लिखा है कि इस देश (भारत) में उत्पन्न हुए अग्रजन्मा ब्राह्मण से पृथिवी में समस्त मानव अपने-अपने चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें।

'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ॥'—मनुस्मृति।

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि यहाँ ब्राह्मण के लिए अग्रजन्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है जो पुरुषसूक्त के 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' के आधार पर अवस्थित है।

यह तो हुई चरित्र-शिक्षा की बात। कुछ समय पूर्व यह उक्ति प्रचरित थी कि ब्रिटिश साम्राज्य का इतना विस्तार है कि उसमें सूर्य कभी अस्त नहीं होता; साम्राज्य के किसी न किसी भाग पर वह उदित रहता है। परन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में मान्धाता सप्त समु-

१. 'एतद्ध स्म पूर्वे विद्वांसः प्रजा न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा अयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च, लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।'—बृ० उ० (४।४)

द्वान्त पृथ्वी का शासन करते थे । विष्णु पुराण में मिलता है कि सूर्य जहाँ तक उदित होता है जहाँ तक प्रतिष्ठित रहता है वह सब यौवनाश्व मान्धाता का क्षेत्र कहा जाता है --

'यावत्सूर्य उदेति स्म यावच्च प्रतितिष्ठिति ।
सर्व तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ।।'--वि० पु०, अ० २१।६५

अमरीका, अफ्रिका, यूरोप, एशिया सर्वत्र मान्धाता का शासन था। पाताल लोक में नाग जाति के वीर जब गंधर्वों के द्वारा पीड़ित किये गये थे तब वे मान्धाता की शरण में आये और मान्धाता ने उनकी रक्षा की । यह पाताल अमरीका ही है । इसी प्रकार इक्ष्वाकु, ययाति, शशबिन्दु, हैहय, सगर इत्यादि कभी सूर्यवंशीय और कभी चन्द्रवंशीय सम्राट् हो गये हैं । इन इतिहासों को अप्रामाणिक मानना कहाँ तक युक्तियुक्त है । धन-धान्य, सुवर्ण आदि से भारतवर्ष कितना समृद्ध था इसके अनेक उदाहरण प्राचीन देवयुग के तो मिलते ही हैं-- महाभारत काल में युधिष्ठिर के यज्ञका जो वर्णन उपलब्ध है वह भौतिक उत्कर्ष का ज्वलन्त उदाहरण है । युधिष्ठिर की सभा का जो वर्णन है वह शिल्प कला के उत्कर्ष का द्योतक है । यह सब समृद्धि वर्णाश्रम व्यवस्था के उत्कर्ष काल में ही थी । इससे वर्ण-व्यवस्था को भारत की अवनति का कारण मानना असंगत है । काल दोष से उसका स्वरूप अवश्य क्रमशः विकृत हो गया और वर्तमान काल में वह अकिंचित्कर हो रही है, इससे वह प्राचीन व्यवस्था हेय नहीं हो सकती ।

धर्म

धर्म के सम्बन्ध में विचार करने से पूर्व विषय प्रवेश की दृष्टि से भूमिका रूप में कुछ तत्त्वों पर प्रकाश डालना आवश्यक है । यह अन्यत्र अनेक स्थानों में निर्दिष्ट हुआ है कि रस अखण्ड, एक, सर्वव्यापी है; स्वतः वह निष्क्रिय है; ज्ञान स्वरूप है । परन्तु वह निर्बल नहीं है, वह सर्वशक्तिसम्पन्न है । परात्पर के वर्णन में कहा गया है कि इसके आधार पर अनन्त बल उद्भूत और विलीन होते रहते हैं, वे सहचर हैं परन्तु उनसे सृष्टि नहीं होती। परन्तु महामाया के प्रभाव से रस सीमित-सा हो जाता है। महामाया पारमेश्वरी शक्ति है । शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है । इसके द्वारा अद्वैत तत्त्व का खण्डन नहीं होता क्योंकि शक्ति का आधार, उसे सत्ता देने वाला एकमात्र रस माना गया है । सत्ता के दो होने पर ही द्वैत सम्भव है । रस के द्वारा ही शक्ति सत्तान्वित होती है; उसकी सत्ता पराश्रित है इस दृष्टि से मुख्य तत्त्व अद्वैत ही माना जायगा। परन्तु रस की सत्ता से सत्ता-युक्त होकर शक्ति ही समस्त विश्व का कारण है । समस्त विश्व शक्ति का ही विजृंभण है । महामाया के द्वारा सीमाबद्ध-सा होकर भी रस स्वरूप से सर्वथा निर्लिप्त रहता है ।

तब माया से मित होने पर रस रूप जो अव्यय और उसके आधार पर अक्षर और क्षर की सृष्टि होती है वह महामाया के प्रभाव से ही है। मायामित अव्यय भी स्वरूप से यद्यपि परात्पर ही है और सीमित दशा में मायी कहा जाता है। इसमें विवक्षा ही कारण है। रस और बल के प्रथम योग होने पर रस की प्रधानता मानने पर अव्यय पुरुष रस रूप है और बल की प्रधानता में उसकी शक्ति प्रकृति महामाया आदि शब्दों से कही जाती है। अव्यय पुरुष और प्रकृति के योग से आगे रस की प्रधानता में अक्षर का और शक्ति की प्रधानता में महत् होता है। अक्षर पुरुष और महत् शक्ति के योग से रस रूप क्षर पुरुष और शक्ति रूप विशेष जो तत्त्व होते हैं इनके आगे इन्हीं क्षर और विशेष के द्वारा सृष्टिक्रम चलता है। आगे कोई नया तत्त्व नहीं बनता। इस प्रकार प्रधानता की दृष्टि से रस की प्रधानता में अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष कहे जाते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से सब महामाया के ही विजृंभण हैं और यह महामाया पारमेश्वरी शक्ति ही है, यह कहा जा चुका है। इस प्रकार क्रमशः असंख्य शक्तियाँ उद्भूत हो जाती हैं। परमेश्वर की इन असंख्य शक्तियों में मुख्य रूप से दो ही शक्तियाँ हैं—ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति। इन्हीं दोनों में प्रायः सभी शक्तियों का अन्तर्भाव हो जाता है, इनमें ज्ञान-शक्ति से वेदों का और क्रिया-शक्ति से धर्म का सम्बन्ध होता है। इन दोनों शक्तियों में भी ज्ञान-शक्ति प्रधानतम है। ज्ञान-शक्ति से शून्य जड़ विषयों में क्रिया-शक्ति के रहने पर भी ये ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न मनुष्य आदि के द्वारा उपभोग्य बनते हैं। ज्ञानशक्ति युक्त मनुष्य इनका यथेच्छ उपयोग कर सकता है। अतः क्रियाशक्ति सापेक्ष आर्य धर्मों पर ज्ञानशक्ति सापेक्ष वेद का पूर्ण अधिकार है। इसीलिए स्मृति कहती है—

'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।' इत्यादि।

जहाँ कहीं भी दृष्टि जाती है वहाँ सर्वत्र 'यह है' (इदमस्ति) यह बुद्धि होती है। इससे उस वस्तु की सत्ता सिद्ध होती है। साथ ही यह भी देखते हैं कि पूर्व क्षण में वह वस्तु जैसी थी उत्तर क्षण में उसमें विलक्षणता प्रतीत होती है। नदी स्रोत के समान उसमें प्रतिक्षण विलक्षणता होती रहती है। यह क्षोभ कहा जाता है जो सत्ता से सर्वथा विपरीत भाव है। अब जिससे सत्ता की अनुवृत्ति होती है, वह ज्ञानशक्ति है। जिससे क्षोभ की अनुवृत्ति होती है वह क्रिया है। प्रतिक्षण विलक्षण होने वाले, परिवर्तन होने वाले पदार्थ में बहुत समय तक एकल की प्रतीति होती है, वह सत्ता की अनुवृत्ति से है। तथा एक ही पदार्थ में अनेक अवस्था की जो प्रतीति होती है वह क्षोभ की अनुवृत्ति से होती है। सत्ता और क्षोभ एक दूसरे से अत्यन्त विपरीत हैं। सत्ता क्षोभरूपा नहीं है। अनेकत्व की प्रतीति क्षोभ के द्वारा होती है, अतः उससे विपरीत ज्ञानशक्ति एक है। क्षोभ रूपा क्रिया

शक्ति अनेक है । ज्ञानशक्ति नित्य है; क्रिया शक्ति अनित्य है । सत्तात्मिका ज्ञानशक्ति एक, नित्य, निरवच्छिन्न और व्यापक है । इसमें जो अनेकता या अनित्यता दिखाई पड़ती है वह उसमें क्षोभ के समन्वय से है । इसलिए यह क्षुब्धात्मक जगत् अथवा क्षोभ ही जो कुछ है सबमें व्यापक सत्ताभाव अनुवृत्त होता है । इस तरह क्रियाशक्ति जन्य क्षोभ की अनुवृत्ति से जैसे एक ही ज्ञान शक्ति अनेक रूप में भासित होती है वैसे ही ज्ञानशक्ति की सत्ता की अनुवृत्ति से असती क्रियाशक्ति सती प्रतीत होती है । मुख्य सत्ता एक है वही क्रिया में संक्रान्त होती है उसी सत्ता की संक्रान्ति से वह क्षोभरूप क्रिया का समुच्चय सत्प्रतीत होता है । इसी से द्वैत की प्रसक्ति नहीं मानी जाती । ज्ञानशक्ति में क्रिया समन्वित रहती है; दोनों का अविनाभाव है, इसलिए एक सत्ता दोनों में मानी जाती है । एक में सत्ता मुख्य है दूसरे में संक्रान्त । रस्सी को देख कर उसमें सर्प का अध्यास होता है । रज्जु की सत्ता है वही सत्ता संक्रान्त होकर सर्प के अस्तित्व की भ्रान्ति में कारण है । यदि रज्जु की ही सत्ता न हो तो 'सर्प है' यह अध्यास भी नहीं हो सकता । इसे 'प्रातिभासिकी सत्ता' कहते हैं ।

तूल (कपास) की सत्ता से तन्तु (सूत) की सत्ता है; तन्तु की सत्ता से वस्त्र की सत्ता, उससे उष्णीष (शिरोवेष्टन) की सत्ता है । इस प्रकार एक ही सत्ता उत्तरोत्तर अनुवृत्त होती है । उस सत्ता के भीतर अनेक क्षोभ अवस्था के रूप में स्थित रहते हैं परन्तु उन सबमें सत्ता एक ही है । यदि वस्त्र में तन्तु की सत्ता से पृथक् सत्ता मानी जाय तो तन्तु के नष्ट हो जाने पर वस्त्र की सत्ता बनी रहनी चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं होता । तन्तु की सत्ता नष्ट हो जाने पर वस्त्र की सत्ता भी न रहेगी । परन्तु पट की सत्ता नष्ट हो जाने पर भी तन्तु की सत्ता बनी रह सकती है । इससे सिद्ध है कि तन्तु की सत्ता मुख्य और वस्त्र की सत्ता तन्तु से संक्रान्त है । यह व्यावहारिकी सत्ता—दूसरा प्रकार है ।

इसी तरह सत्ता का तीसरा भेद है पारमार्थिकी सत्ता, मक्षिका है (अस्ति) इससे मक्षिका की प्राण क्रिया भी है । रथ का अश्व है इससे रथाश्व की क्रिया है । इसी प्रकार यह जो अनादि, अनन्त जगत् की उत्पत्ति स्थिति संहृति लक्षणा विश्वव्यापिनी कोई एक स्रोतोरूप धारा जो महामाया के रूप में महाक्रिया अनुभूत होती है वह भी परम सत्ता से ही सत्तावती है, यह निश्चय होता है । जिस सत्ता से यह सत्तावती होती है वह कोई एक ही अर्थ है जो सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य है । वह सद्रूप होने से सत्य (परम सत्य) कहा जाता है । इस सत्ता के सम्बन्ध से तीन रूप सम्भव हैं । जिसमें सत्ता कभी भी पृथक् नहीं होती, जिसे अपनी सत्ता के लिए निमित्त रूप से किसी अन्य सत्ता की बिलकुल अपेक्षा नहीं रहती वह नित्य सत्ता वाला तत्त्व **स्वतः सत्त** कहा जाता है । जिसमें

यदा-कदा सत्ता आती-जाती रहती है; अपनी सत्ता के लिए निमित्त के रूप में जिस पर सत्ता की अपेक्षा रहती है; जो पहले असत् रहता है फिर सत्तावान् से समवेत होकर कुछ काल तक उस सत्ता से सत्तावान् हो जाता है; और फिर उस सत्ता का परित्याग करके असद् रूप में हो जाता है अनित्य सत्ता वाला वह **परतःसत्त** कहलाता है। यह दूसरा भेद है। तीसरा भेद नहीं के बराबर है। उसमें कभी सत्ता का स्पर्श ही नहीं होता, अतः वह कभी किसी दशा में भी सत् नहीं होता। जैसे आकाशकुसुम अथवा शशशृंग। इनके अस्तित्व का सर्वथा अभाव है। केवल शब्द द्वारा इसका अभिनय अभाव द्योतन के लिए होता है। इस तरह मुख्य दो ही भेद हैं। इनमें भी सत्ता एक ही है। जिसमें स्वतः सत्ता है जो मुख्य है वह सत्य है। जहाँ सत्ता अन्य से संक्रान्त होती है वह उपसंक्रान्ता सत्ता गौण है। वह मिथ्या कही जाती है। जो सत्य है वह ज्ञान-शक्ति है। ज्ञान-शक्ति में सत्ता मुख्य है। क्रियाशक्ति में सत्ता उपसंक्रान्त है, गौण है, मिथ्या है। जिसकी स्वतः सत्ता नहीं है दूसरे के योग से जिसमें सत्ता आती है उसे मिथ्या कहा जाता है। मिथ्या से सत्ता का सर्वथा अभाव का अर्थ नहीं है। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानशक्ति 'अस्ति' ही है वह कभी भी 'नास्ति' नहीं हो सकती। इसके विपरीत क्रिया-शक्ति स्वतः 'नास्ति' है परसत्ता से 'अस्ति' है। इस प्रकार परस्पर दो विरुद्ध तत्त्वों का अविरोध रूप से एकत्र समावेश है।

इन्हीं दोनों (सत्, ज्ञानशक्ति और असत् क्रियाशक्ति) का सम्मिलित रूप--सदसत्--यह जगत् है। सती ज्ञानशक्ति अपने से उत्पन्न क्रियाशक्ति का सत्ता प्रदान के द्वारा उपकार करती है जिससे असती क्रिया भी सती होती है। यह ज्ञानशक्ति क्रिया को सत्ता प्रदान करती है उसी प्रकार चेतना और आनन्द भी देती है। यह ज्ञानशक्ति सच्चिदानन्द रूप है इसमें संक्रान्त होने से विश्व भी वास्तव में सच्चिदानन्द रूप है। विश्व का यह रूप अज्ञान से आवृत होने के कारण स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, यह भिन्न बात है। इसी प्रकार असती क्रिया-शक्ति भी ज्ञान की उपकारक है। इसी के द्वारा एक ही ज्ञानशक्ति अवस्था भेद से अनेक रूप में प्रतीत होती है। इस प्रकार इन दोनों में परस्पर उपकार्य उपकारक भाव है। किन्तु क्रियाशक्ति का स्वरूप ज्ञानशक्ति के बिना सम्पन्न नहीं होता, अतः अद्वैत तत्त्व में बाधा नहीं पड़ती।

क्रियाशक्ति से धर्म का सम्बन्ध है, यह पूर्व में कहा गया है। यह क्रियाशक्ति मुख्यतः दो प्रकार की है--सांसिद्धिकी और नैमित्तिकी। सांसिद्धिकी वह है जिसमें उसका आश्रय कभी भी पृथक् नहीं होता। धर्म रूप में यह धर्मी (स्वाश्रय) में अव्यभिचरित रूप से रहती है। यही धर्म वस्तु की स्वरूप रक्षा करता है। यह धर्म जब तक उस वस्तु में रहेगा तभी तक उस वस्तु की सत्ता रहेगी। इस धर्म के नष्ट होने से वह वस्तु नष्ट हो जायगी,

उसका वह स्वरूप न रहेगा। दूसरे धर्मों के आ जाने से वह दूसरी वस्तु कहलाने लगेगी। दाहकत्व शक्ति अग्नि का धर्म है। जब तक अग्नि में यह धर्म रहेगा तभी तक अग्नि अग्निशब्द वाच्य होगी। दाह्यशक्ति के नष्ट हो जाने पर अग्नि स्वरूप से नष्ट हो जायगी। वह राख या कोयला के रूप में परिणत हो जायगी। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु का जो नियत धर्म है जो उसकी शक्ति है वही उसके स्वरूप की रक्षा करती है। इसी दृष्टि से धर्म की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गयी है—'यो धृतः सन् धारयते स धर्मः।' इसी को और भी स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार कहा जाता है—'ध्रियमाणः सन् धरति, स्वयं धर्मिणा ध्रियते, धर्मिणं च स्वस्वरूपेऽवस्थापयति स धर्मः।' अर्थात् जो धृत होकर धारण करता है। धर्मी के द्वारा स्वयम् धृत होकर धर्मी को स्वस्वरूप में अवस्थित रखता है, वह धर्म है। यही लक्षण धर्म का महाभारत में भी मिलता है—'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः। यत्स्याद्धारण-संयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।' इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि व्यावहारिक देह, इन्द्रिय, अन्तः करण से विशिष्ट चैतन्य की जिनके द्वारा रक्षा हो वे धर्म हैं। प्रत्येक व्यक्ति के, प्रत्येक पदार्थ के देहादि में विभिन्नता देखी जाती है, अतः उनके रक्षक धर्म भी भिन्न होंगे। वर्तमानकालीन विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि प्रत्येक पदार्थ के स्वरूप निर्माण करने वाले उनके धर्म रूप जो एलेक्ट्रोन की संख्या निर्धारित है उसमें परिवर्तन करने से वह पदार्थान्तर में परिणत हो जाता है। ये सांसिद्धिक धर्म पदार्थ के निर्माण करने वाले तथा रक्षा करने वाले हैं। इनके अभाव में पदार्थ का स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता। ये उसके स्वरूप में, आत्मा में प्रविष्ट हैं।

दूसरा भेद है नैमित्तिक। इसे आगन्तुक भी कहा जाता है। सांसिद्धिकी क्रिया अधिक समय तक रहती है, अतः उसे गुण भी कहा जाता है। पदार्थ का धर्म या गुण ही उसकी शक्ति है। आगन्तुक धर्म एक वस्तु में दूसरी वस्तु के सम्बन्ध से आते और जाते हैं इसीलिए इन्हें आगन्तुक (आने वाले) कहा जाता है। ये व्यभिचारी हैं, स्थायी नहीं हैं। ये भी उस वस्तु से ध्रियमाण होते हैं। इनमें स्वभावभूत (सांसिद्धिक) मुख्य हैं। आगन्तुक गौण हैं। विशेषता यह है कि स्वभावभूत धर्म सदा धर्म ही रहेगा; वह सदैव पदार्थ का उपकारक ही रहेगा। किसी भी दशा में वह पदार्थ के प्रतिकूल नहीं होता क्योंकि वह स्वधर्म है और स्वधर्म स्व का अपकारक नहीं हो सकता। परन्तु आगन्तुक धर्म स्वभाव के अनुकूल भी हो सकता है प्रतिकूल भी। अनुकूल होने पर वह धर्म ही कहा जायगा; वह गौण धर्म होगा। यदि वह स्वभाव धर्म के प्रतिकूल हो उसके स्वरूप की हानि करने वाला हो तो वह अधर्म कहा जायगा, उदाहरण के लिए नैयायिकों के अनुसार जल में जो द्रवत्व है वह उसका स्वरूप धर्म है, सांसिद्धिक है। इसके अनुसार जब तक उसमें द्रवत्व

रहेगा तभी तक वह जल कहा जायगा। अग्नि के संयोग से उसमें उष्णता होगी परन्तु जब तक वह उष्णता द्रवत्व का नाश न करेगी तभी तक वह आगन्तुक—अग्नि संयोग गौण धर्म कहा जा सकेगा। अग्नि का परिताप इतना बढ़ जाय जिससे जल बाष्परूप में परिणत होकर स्वरूप से सर्वथा च्युत हो जाय तो वह आगन्तुक अग्नि संयोग अधर्म ही कहा जायगा। यहाँ अधर्म से अभिप्राय धर्म के अभाव से है। इसी प्रकार मनुष्यों में जो स्वरूप संसाधक धर्म हैं; जिन व्यापारों से जिस प्रकार के द्रव्य-सम्बन्ध से मनुष्यत्व की रक्षा बनी रहेगी वे धर्म होंगे। जिनके द्वारा मनुष्यत्व का पतन होगा वे अधर्म होंगे। सभ्यता का अभिमान करने वाले लोगों में जिस रीति से सभ्यता की रक्षा बनी रहेगी वह रीति, वह व्यवहार धर्म है उससे विपरीत व्यवहार अधर्म है। यही लक्षण ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णाश्रम धर्म में भी लागू होगा। वर्णाश्रम पर पृथक् विचार होगा।

सांसिद्धिकी क्रिया (स्वरूप धर्म) के पाँच भेद कहे जाते हैं। इनमें मुख्य और प्रथम उद्भूत स्वरूप धर्म है। परन्तु नैमित्तिकी (आगन्तुक) क्रिया के सम्बन्ध से वह दोषाक्रान्त हो जाती है। दोष के संसर्ग से उसका स्वरूप यथावत् भासित नहीं होता। उस दोष को दूर करने पर जब वह अपने स्वरूप में दीखने लगती है तब 'उद्भाविता' कही जाती है। चन्द्रिका जिस प्रकार रात्रि में अपने स्वरूप से प्रकाशित होती है वही उसका स्वरूप दिन में भी रहता है परन्तु बलवान् सूर्य के तेज से जब वह अभिभूत रहती है तब उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता; सूर्य के तेज के प्रभाव के हटने पर स्वस्वरूप में उसका आना उद्भाविता क्रिया है। तीसरा प्रकार है संक्रान्त क्रिया। जैसे जपाकुसुम (लाल गुड़हल फूल) के सन्निधान मात्र से स्फटिक जो श्वेत होने पर भी तत्काल लाल दिखता है। चौथा प्रकार है—प्रतिबन्धक अतिशय रूप दोष के संयोग से अन्तर्हिता। पाँचवाँ प्रकार है जहाँ परस्पर विरुद्ध तुल्य बल के संयोग से उसका स्वरूप तिरोहित रहता है। ये क्रमशः—उद्भूता, दोषमार्जनात्मक संस्कारोद्भाविता, संक्रान्ता (विषयान्तरे दृष्टा), प्रतिबन्धक अतिशय दोष के संयोग से अन्तर्हिता तथा विरुद्ध तुल्य बल के संयोग से तिरोभूता हैं। सूर्य में या अग्नि में प्रकाशकत्व उद्भूत प्रथम क्रिया है। अग्नि के संयोग से जल में उष्णता हो जाती है। उष्णता के दूर होने पर जल का स्वाभाविक शैत्य प्राप्त करना उद्भावित क्रिया है। चन्द्रमणि के सन्निधान से अग्नि की उष्णता प्रतीत नहीं होती। चन्द्रमणि के हट जाने पर अग्नि की उष्णता का स्वरूप में भासित होना भी उद्भावित क्रिया है। अग्नि के समीप में स्थित दूसरे पदार्थों में जो उष्णता संक्रान्त होती है वह तृतीय संक्रान्त क्रिया है। उष्ण जल में वर्तमान शैत्य अथवा चन्द्रमणि के सन्निधान में अग्नि में उष्णत्व वर्तमान रहते हैं; नष्ट नहीं होते, अन्तर्हित रहते हैं। यह चतुर्थ अन्तर्हित क्रिया है। जल में बहुत कम मात्रा

में अग्नि के संयोग से जल उष्णता को प्राप्त नहीं होता परन्तु शैत्य भी नहीं प्रतीत होता यह पाँचवी तिरोभूता क्रिया है। यह पाँचवी क्रिया नैमित्तिक पक्ष में भी देखी जाती है। समान बल वाले दो बली पुरुषों के द्वारा विरुद्ध दशा में खींचे जाने वाले रस्से में गति विद्यमान रहती है परन्तु प्रतीत नहीं होती है। यहाँ भी क्रिया तिरोहित है। इन सांसिद्धिक पाँचों भेदों में मुख्य उद्भूत क्रिया है। अन्य चार में वह कुर्वद्रूप प्रतीत नहीं होती। उस प्रतीत न होने में जो प्रकार भेद हैं उससे उसके भेद हो जाते हैं। वास्तव में दो ही भेद हैं—जहाँ कुर्वद्रूपता स्पष्ट दिखे वह उद्भूत क्रिया है और जहाँ उसकी कुर्वद्रूपता स्पष्ट प्रतिभासित न हो वह तिरोहित, अनुद्भूत क्रिया है।

नैमित्तिक क्रिया के तीन भेद हैं। प्रथम आधिकारिकी क्रिया है। जैसे राजा या राज-मन्त्री आदि कर्माधिकारियों के अधिकार की सिद्धि करने वाला स्वरूप संस्करण संस्कार है। यह अधिकारिकी नैमित्तिकी क्रिया है। यह शरीर के जन्म के साथ उत्पन्न नहीं होती; मनुष्यत्व के स्वरूप में वह प्रविष्ट नहीं होती। उसके न रहने पर भी मनुष्य का मनुष्यत्व अक्षुण्ण रहेगा। परन्तु जिस अधिकार रूप में वह आगन्तुक क्रिया प्रविष्ट होती है उस अधिकार के स्वरूप की रक्षा तभी तक रहती है जब तक अधिकार समर्पक, अधिकार के स्वरूप का समर्पक धर्म रहेगा तभी तक वह अधिकारी स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहेगा। उस धर्म के न रहने पर उस धर्मी का स्वरूप नष्ट हो जायगा। प्रजापालन, प्रजा का रंजन राजा का स्वरूपधर्म है। इस धर्म के निकल जाने पर राजा का राजत्व भी नष्ट हो जायगा और वह सामान्य मनुष्य मात्र रह जायगा। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्वादि के सम्बन्ध में समझना चाहिए। दूसरी नैमित्तिकी क्रिया वह है जहाँ आगन्तुक बल के द्वारा किसी पदार्थ में बल का आधान किया जाता है। प्रस्तर आदि पार्थिव पृथ्वी के आकर्षण से बद्ध हैं। उनमें आगन्तुक बल के आधान द्वारा ऊपर या तिरछे गमन की क्रिया के रूप में अतिशय का आधान होता है। इस अतिशय के दूर होते ही वह प्रस्तर आदि अपनी पूर्व दशा में आ जाते हैं। यह अतिशय आगन्तुक है—स्वरूप धर्म नहीं। तीसरी आगन्तुक क्रिया है—क्रियावत्संसर्गापतिता—दूसरी क्रिया के संसर्ग से आयी हुई। यह दो प्रकार की है—आश्रित-मूला और आश्रयमूला। वायु में जलीय परमाणु आश्रित होते हैं, इनके संयोग से वायु में शैत्य की प्रतीति होती है। आग्नेय परमाणु के आश्रित होने पर वायु में उष्णता की प्रतीति होगी। यह आश्रित मूला है। रथ, नौका आदि गतिशील यान में स्थित शरीर में अथवा चलते हुए पिंजरे में शुक के शरीर में जो गति होती है वह आश्रयमूला है। रथ आदि की क्रिया का रथ आदि के संसर्ग के अनुरोध से रथादि में स्थित क्रिया संक्रान्त होती है। सांसिद्धिकी क्रिया का (सबका) धर्म शब्द से ही व्यवहार होता है उन-उन धर्मियों के द्वारा

वे धर्म सर्वदा धृत रहते हैं। नैमित्तिकी क्रिया नित्य नहीं रहती उसके न रहने पर भी वस्तु के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं होता, अतः वह स्वरूप में प्रविष्ट नहीं है इससे उसे वास्तव में धर्म नहीं कहा जा सकता, अतः धर्म का अभाव रूप वह अधर्म कहा जायगा। अधर्म से यहाँ धर्म का विपरीत भाव अभिप्रेत नहीं है——अभाव मात्र है। वह रथादि स्थित मनुष्य का धर्म नहीं है तो भी रथयान के सम्बन्ध से रथारूढ़ पुरुष का तात्कालिक धर्म कहा जा सकता है। इन सबका विशेष विवेचन संस्कार प्रकरण में द्रष्टव्य है।

यह जो अन्तिम आगन्तुक क्रिया कही गयी है इसी के अनुबन्ध से आर्यों के लिए निकृष्ट वृत्ति वाले, दुराचारी, म्लेच्छ आदि के साथ सहवास आदि संसर्ग का निषेध किया गया है। इसी के सम्बन्ध से बीभत्स देश में निवास का प्रतिषेध, कुत्सित मांस आदि भक्षण का निषेध इत्यादि कतिपय आहार-विहार आदि व्यवस्था के प्रकार विधि-निषेध की प्रवृत्ति हुई है। जिस प्रकार जल आदि के परमाणु के संसर्ग से वायु में शैत्य आदि की प्रतीति होती है उसी प्रकार अनिष्ट के संसर्ग से अनिष्ट धर्म संक्रान्त न हों ऐसा आचरण विहित हुआ है। विद्या के द्वारा उस इष्ट अथवा अनिष्ट की सम्यक् परीक्षा करके आहार विहार आदि में प्रवृत्त या निवृत्त होना चाहिए। देश, काल, पात्र आदि का सम्यक् विचार किये बिना वहाँ सहसा प्रवृत्त नहीं होना चाहिए यही आर्यों का अभिप्राय है। देश, काल और पात्र आदि के अनुसार विचार करने पर यदि यह प्रतीत हो कि उस संसर्ग से जो अतिशय होगा वह स्वरूप धर्म में सहायक होगा, प्रतिकूल न होगा वहाँ संसर्ग की प्रवृत्ति समीचीन है। यदि वह अतिशय प्रतिकूल होगा तो अवश्य ही स्वरूपधर्म को विकृत करके हानिकारक होगा। प्रत्येक दशा में देश कालादि का विचार आवश्यक है। रुग्ण के लिए स्वस्थ पुरुष का भोजन अथवा स्वस्थ पुरुष के लिए रुग्ण का भोजन हितकर नहीं हो सकता। पित्त प्रकृति वाले को जो भोजन अनुकूल होगा श्लेष्म प्रकृति वाले के लिए वही हानिकर होगा। शीतकालिक वस्त्र शीत काल में तथा उष्ण काल के उष्ण काल में ही अनुकूल होंगे। शीतप्रधान देश के निवासियों के शीतप्रधान देशोपयुक्त वेषभूषा, विहार आदि उष्ण देश के अनुकूल न होंगे। इसी प्रकार उष्णदेश वालों के आहार-विहार शीतप्रधान देशवासियों के अनुकूल नहीं हो सकते। इसलिए सर्वत्र अपने-अपने देशकाल, कुल, पात्र आदि का विचार करके जो कार्य किये जायँगे वे हितकर होंगे। विपरीत कर्म निस्सन्देह अहित करने वाले होंगे। जहाँ तक भौतिक स्थूल दृष्टि का सम्बन्ध है सामान्य जन भी इन तथ्यों का अनुभव कर लेते हैं। अनेक रोग संक्रामक होते हैं उनके संसर्ग से बचना चाहिए यह सामान्य नियम सभी जानने लगे हैं। परन्तु आर्यों की दृष्टि इससे सूक्ष्म तत्त्व तक पहुँची थी। स्थूल शरीर में जिस प्रकार इष्टानिष्ट संसर्ग का परिणाम अनुकूल या प्रतिकूल होता है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर पर भी

अवश्य प्रभाव पड़ता है, अतः आर्यगण सूक्ष्म शरीर के इष्टानिष्ट परिणाम के विचार को अधिक महत्त्व देते थे। इस अदृष्ट शक्ति के ज्ञान के लिए शास्त्रमात्र प्रमाण माना जाता था, जैसा कि गीता में कहा गया है—'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।' महर्षियों ने आर्षदृष्टि से सूक्ष्म तत्त्वों को प्रत्यक्ष करके सर्व सामान्य के हित के लिए जो आदेश दिये हैं वही नियामक हैं। जैसा कि कहा गया है—'अतीन्द्रियानसंवेद्यान् पश्यन्त्यार्षेण चक्षुषा। ये भावान् वचनं तेषां नानुमानेन बाध्यते।'

कुछ महानुभाव यह आक्षेप करते हैं कि आर्यों की बुद्धि स्पर्शास्पर्श की द्वेषमूलक थी। अनार्यों से द्वेष के कारण उन्हें अस्पृश्य माना जाता था। परन्तु यह आक्षेप क्षोदक्षम नहीं है। आर्यगण अपनी अर्धांगिनी, सहधर्मिणी, को यज्ञ में भी विशेष अवस्था में अस्पृश्य मानते थे। प्रसव के बाद एक मास तक वह अस्पृश्य मानी जाती थी और उसके द्वारा स्पर्श किया हुआ अन्न जल भी ग्राह्य न होता था। रजस्वला की दशा में तीन दिन तक वह अस्पृश्य तो रहती ही थी। उसके शरीर से एक प्रकार का विष निकलता है वह संक्रामक होता है इस दृष्टि से उसे एकान्त में जनसम्पर्क से पृथक् रहने का स्मृतियों में विधान है। जिस तथ्य का ऋषियों ने इतने वर्षों पूर्व ज्ञान प्राप्त कर लिया था इसे वर्तमान कालीन वैज्ञानिकों ने भी अपनी परीक्षा में सत्य सिद्ध किया है।[1]

भारतीय धर्मशास्त्रों में शवदाहकर्ता को दस दिनों तक अस्पृश्य माना जाता है। वह अन्य लोगों से सम्पर्क नहीं कर सकता। उसका आसन, शयन सबसे पृथक् रहता है।

1. Marshall—Introduction to Sexual Physiology:—

In support of this contention Macht and Lorbin have recently obtained evidence to the existence in the blood of a menstrual toxin, which exudes in the sweat and other secretions and has deleterious effect on living plant tissues. Thus they state that a flower held in the hand of a menstruating woman will wither more rapidly than otherwise, owing to the action to this toxin substance, which is not present excepting at this stage in the cycle. The menstrual toxin is believed to affect the milk in lactating women, children sucking as such times, being liable to slight digestive disturbances.

भोजन भी उसका विशेष प्रकार से सात्त्विक होता है। वर्तमान काल में भी संक्रामक रोगों से आक्रान्त स्थानों से आने वाले नीरोग व्यक्तियों के लिए भी दस दिनों के पृथक् करने का (quarantin) का विधान है। यह समझा जाता है कि यदि उस व्यक्ति में संक्रामक कीटाणु गुप्त रूप से प्रविष्ट होंगे तो दस दिनों की अवधि में उनका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। इस प्रकार इस अंश में भी प्राचीन आर्य सिद्धान्त विज्ञानानुमोदित सिद्ध होता है।

स्पर्शास्पर्श व्यवस्था के समान ही आर्यों के खान-पान के सम्बन्ध में आक्षेप किया जाता है। 'सात कनौजिया और नौ चूल्हा' यह प्रायः परिहास के रूप में प्रयुक्त होता है। आज कल यह विश्वास वृद्धि पर है कि खान-पान का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यथेच्छ आहार-विहार का प्रचार हो रहा है। भोजनादि में नियन्त्रण व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का हनन माना जाता है। परन्तु स्थूल शरीर की दृष्टि से ही देखा जाय तो सबका खान-पान एक-सा नहीं हो सकता। स्थूल शरीर के चिकित्सक डाक्टर, वैद्य इस बात में एकमत हैं कि रोग की दशा में रोग की दृष्टि से तो आहार की विशेषता होती ही है, स्वस्थ पुरुष के सम्बन्ध में भी आहार सबके लिए समान नहीं हो सकता। वात, पित्त, कफ की प्रधानता के अनुसार स्वस्थ पुरुष में भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुकूल ही अन्नादि का ग्रहण हितकर हो सकता है। इसका विवेक चिकित्सा शास्त्र में विशेष रूप से किया गया है। पित्त प्रकृति प्रधान पुरुष के लिए जो आहार अनुकूल होगा वह कफ प्रकृति वाले के प्रतिकूल पड़ेगा। इसी प्रकार प्रकृति के तारतम्य से आहार की व्यवस्था में अन्तर होना स्वाभाविक है। दुग्ध के समान हितकर पदार्थ भी कुछ लोगों के अनुकूल नहीं होता यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। घृत के सदृश पुष्टिकर पदार्थ भी मन्दाग्नि वालों के लिए अहितकर होता है। इस प्रकार स्थूल शरीर में भी भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले के लिए भिन्न आहार की ही व्यवस्था होती है। परन्तु आर्यों की दृष्टि में आहार का प्रभाव स्थूल शरीर के परिपोष तक ही सीमित नहीं रहता। स्थूल शरीर के पोषण के अतिरिक्त वह सूक्ष्म शरीर का भी सूक्ष्म रूप में आहार बनता है। छान्दोग्य श्रुति कहती है कि जो अन्न खाया जाता है वह तीन रूप में परिणत होता है। उसका जो सबसे स्थूल भाग है वह पुरीष (मल) बनता है। जो मध्यम भाग है वह मांस बनता है (जो स्थूल शरीर का पोषक है) और जो सबसे सूक्ष्म भाग है वह मन बनता है (मन को शक्ति प्रदान करता है)। इसी प्रकार जो जल पिया जाता है उसकी भी शरीर के भीतर तीन अवस्थाएँ होती हैं। स्थूल भाग से मूत्र बनता है; मध्यम भाग से लोहित बनता है और सूक्ष्मतम भाग से प्राण बनता है। तेजः पदार्थ (आग्नेय प्रधान पदार्थ) के भी तीन रूप होते हैं। स्थूल से अस्थि का निर्माण होता है; मध्यम से मज्जा। सबसे सूक्ष्म तेजः पदार्थ का परिणाम वाक्-शक्ति का पोषक बनता है।

मन अन्नमय है; प्राण आपोमय है और वाक् तेजोमयी है ।[1] आत्मा मनः प्राण वाङ्मय है जैसा कि बृहदारण्यक श्रुति कहती है—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः ।' इस प्रकार यह त्रिविध आहार अत्यन्त सूक्ष्म रूप से आत्मा का परिपोष करता है । छांदोग्य उपनिषद् में आचार्य ने छात्र से इसका प्रयोग कराके भी दिखाया है, उसको आदेश दिया कि पन्द्रह दिन तक भोजन न करो; इच्छानुसार जल पियो । पानी पीते रहने से प्राण का विच्छेद न होगा क्योंकि प्राण आपोमय है । छात्र पन्द्रह दिन बिना भोजन के व्यतीत करके आचार्य के समीप पहुँचा । आचार्य ने कहा—ऋक्, यजुः और साम बोलो । छात्र ने उत्तर दिया कि ये प्रतिभान नहीं होते, स्मरण पथ में नहीं आ रहे हैं । इस प्रकार के प्रयोग के द्वारा आचार्य ने छात्र को प्रत्यक्ष परीक्षा द्वारा सिद्ध करा दिया कि मन अन्नमय है ।[2]

इस आख्यान के द्वारा भोजन और पान का आत्मा के मनः प्राण भाग से सम्बन्ध बताया गया है । जैसा भोजन होगा तदनुरूप मन बनेगा और तदनुसार ही मन के धर्म-ज्ञान का विकास होगा । इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रख कर भिन्न-भिन्न प्रकृति वालों के लिए भिन्न प्रकार के भोजन-पान का विधान शास्त्रों में किया गया है । ज्ञान सत्त्व प्रधान है । ज्ञान चर्या की प्रधानता वाले व्यक्ति के लिए सात्त्विक भोजन का विधान है । इस प्रकार उनके कार्य-परिणाम के अनुसार भोजन को भी सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन भागों में विभक्त किया गया है —

"आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।
कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्ण रूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।

१. 'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः । आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते । तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं, यो मध्यमस्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः । तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते । तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि, यो मध्यमः स मज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक् । अन्नमयं हि सौम्य ! मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाक् ।—छां० उप० ६।५।१,२,३,४ ।

२. 'पंचदशाहानि माशीः काममपः पिब, आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति । स ह पंचदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य ! यजूंषि सामानि इति स होगच न वै मा प्रनि भान्ति भो इति ।—छां० उ० ६।७ ।१–२।

"यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।"—गीता १७।८, ९, १०

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के गुणशील स्वभाव के अनुसार अनुकूल आहार-विहार से ही आत्मोन्नति सम्भव है। प्रतिकूल आहार-विहार निश्चय ही हानि करेंगे।

निष्कर्ष:—इन सबका निष्कर्ष यह है कि आर्यधर्म आत्मा के आवरण को हटा कर उसे स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखने के उद्देश्य से ही विहित था। वह आध्यात्मिक था। चारों पुरुषार्थों में (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष) परम ध्येय, परम पुरुषार्थ मोक्ष ही था। धर्म साधनों में मुख्य था और धर्मानुकूल होने से ही अर्थ और काम भी अन्तिम साध्य मोक्ष के साधन हो सकते थे। इसी दृष्टि से कहा गया है—

"परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ।।"—मनु० ४।१७६

इस श्लोक में ऐसे धर्म का भी परित्याग विहित है जिसका परिणाम असुख हो तथा जो विहित होते हुए भी लोक में निन्दनीय हो।

सामान्य:—अवान्तर धर्मों के भिन्न-भिन्न होने पर भी भारतीय सभी धर्मों के आचार-विचार में आध्यात्मिक की सर्वमान्यता समान है। अध्यात्म को लक्ष्य में रख कर समस्त व्यवहारों का विधान सब धर्मों में समान रूप से पाया जाता है। आत्मा की प्रधानता भारतीय सभी धर्मों में मानी गयी है। पंचभूतों से रजोवीर्य के संसृष्ट होने से पाँच भौतिक स्थूल शरीर के अतिरिक्त एक आत्मा का अस्तित्व सभी मानते हैं। स्थूल शरीर के नश्वर होते हुए भी आत्मा नष्ट नहीं होता और वह स्वकर्मानुरूप पुनर्जन्म ग्रहण करता है इस पुनर्जन्मवाद में भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आने वाले बौद्ध, जैन आदि सभी सम्प्रदायों का ऐकमत्य है। शरीर के अतिरिक्त आत्मा है। जिस प्रकार शरीर आदि के धारण के लिए भोजन, आच्छादन आदि धर्म माने गये हैं उसी प्रकार आत्मा के आवरण को दूर करके उसे स्वरूप में प्रतिष्ठित करने वाले कर्म-कलाप आत्मा के धर्म हैं। इस आत्मा का कषाय दूर होने से ही उसका मोक्ष स्वतःसिद्ध है, स्वाभाविक है। उसमें सहायक होने वाले, उसके उपकारक सर्व कर्म धर्म हैं उसके विपरीत कर्म अधर्म हैं। यह संक्षेप में धर्म का लक्षण है। धर्म और अधर्म को क्रमशः पुण्य और पाप भी कहा गया है। जिससे अभ्युदय, निःश्रेयस की सिद्धि हो वह धर्म है ऐसा कहा गया है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' अभ्युदय का अर्थ है—अभि + उत् + अय, सम्मुख ऊपर की ओर गमन—उत्थान। भौतिक उत्थान को अभ्युदय ही कहा जाता है तथा आत्मा के अभ्युदय को यहाँ निःश्रेयस कह कर विशेषित किया है। जिससे यह सिद्ध होता है कि आर्यधर्म आध्यात्मिक होते हुए

भी भौतिक अभ्युदय का विरोधी न था। धर्म शब्द के द्वारा दोनों प्रकार की अभ्युन्नति प्रदर्शित होती है। इसके विपरीत शब्द हैं—'प्रत्यवाय' और 'पातक या पाप।' प्रत्यवाय का अर्थ है—प्रति + अव + अय—अर्थात् विपरीत दिशा में नीचे की ओर जाना। यही अर्थ पातक और पाप का है। अभ्युदय उत्कर्ष कारक है; प्रत्यवाय गिराने वाला है। पुण्य और पाप का संक्षेप में लक्षण बताते हुए व्यास कहते हैं कि करोड़ों ग्रन्थों में जो बात कही गयी है उसे हम आधे श्लोक में बता रहे हैं—परोपकार पुण्य है; पर पीड़न पाप है।

'श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥'

पुण्य और पाप—धर्म और अधर्म का यह संक्षिप्त लक्षण अत्यन्त व्यापक है। यह ऐसा लक्षण है जिसे संसार का प्रत्येक साम्प्रदायिक धर्म ग्रन्थ मान्यता देता है। मनु ने कुछ अधिक विस्तार करते हुए सामान्य रूप से सबके पालन करने योग्य दस धर्मों का उल्लेख किया है वे भी द्रष्टव्य हैं। वे भी सभी सम्प्रदायों में समान रूप से स्वीकृत हैं। बौद्ध और क्रीष्ट (ईसाई) धर्म में उनका स्पष्ट उल्लेख है ही। अन्य सब भी मान्यता देते हैं।

"अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥'—मनु० १०।६३

इसी प्रकार षष्ठ अध्याय में दस सामान्य धर्मों का मनु ने उल्लेख किया है—

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥'—मनु० ६।९२

इस प्रकार सामान्य धर्म जो यहाँ उल्लिखित हैं वे सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मान्य हैं और इनके अनुष्ठान में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है। स्त्री, शूद्र, आर्य, अनार्य सभी समान रूप से इनका पालन करके अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। इनके पालन से अन्तरात्मा का अवश्य शोधन होता है; आत्मा का कषाय—आवरण दूर होता है और यही आत्मा का मोक्ष है।

विशेषः—प्रातिस्विक रूप से समाज और व्यक्ति के लिए वर्ण और आश्रम धर्मों का विधान है। वर्णाश्रम पर पृथक् विचार किया गया है। यह वर्णाश्रम व्यवस्था आर्य संस्कृति की बहुत बड़ी विशेषता है। यह व्यवस्था यद्यपि भारतवर्ष में ही मुख्य रूप से प्रचलित है तथापि जैसा वर्ण विभाग प्रकरण में स्पष्ट किया गया है यह वर्ण अन्य देश के मानवों में भी विद्यमान है। आत्म धर्म होने के कारण सर्वत्र ही वह अव्यभिचरित रूप से अपना अस्तित्व रखती है। अन्य देशों में इस वैज्ञानिक तथ्य को व्यवस्थित रूप नहीं प्राप्त हुआ,

यह भिन्न बात है। अब भी यदि वह सुचारु रूप से व्यवस्थित की जाय; संस्कारों के द्वारा उनका दोषमार्जन किया जाय, उनमें अतिशयाधान किया जाय और तदनुकूल आचरण किया जाय तो कोई कारण नहीं है कि यह व्यवस्था वहाँ भी क्यों न अभ्युदय और निः-श्रेयस में सहायक होगी।

प्रातिस्विक धर्मों में यज्ञ, तप और दान विशेष रूप से विहित हैं। वे यद्यपि सब द्विजातियों के लिए समान रूप से आचरणीय हैं तो भी यह विशेषता रखी गयी है कि यज्ञ कार्य मुख्यतः ब्राह्मण के द्वारा सम्पन्न होगा। उसकी ज्ञान प्रधानता ही इसका हेतु है। तपः कर्म क्षत्रिय का विशेष क्षेत्र है उसमें प्रताप होता है, वह विशिष्ट प्राण शक्ति से सम्पन्न रहता है। दान कर्म अर्थ से सम्बद्ध है, अतः अर्थ प्रधान वैश्य का वह क्षेत्र हो जाता है। यह प्राधान्य के अनुरोध से है।

कर्तव्य

इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के आधिकारिक धर्म भिन्न होते हैं। एक ही व्यक्ति में अधिकार भेद से अनेक धर्मों का समावेश देखा जाता है। राजशासन में अधिकृत राजा जहाँ प्रजा पालन, उनके रंजन में रत होता है उसी प्रकार गृहस्थ होने के अधिकार से वह अपनी पत्नी का पति; पुत्र का पिता आदि भी होता है। इस प्रकार प्रातिस्विक धर्मों की संख्या असंख्य हो सकती है। उन सबका समन्वय करते हुए आधिकारिक कर्मों का यथाविधि पालन करना कर्तव्य कोटि में आता है। कर्तव्य-पालन भी मुख्य धर्म है। वर्ण आदि के लिए विहित धर्म भी कर्तव्य कोटि में हैं। संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि अधिक स्थलों में—अधिकांश में—शब्द के निर्वचन मात्र से अधिकृत कर्तव्य का बोध हो जाता है।

यास्क ने निरुक्त में प्रत्येक शब्द का निर्वचन करके शब्द-शक्ति का विस्तृत विवेचन किया ही है; यहाँ निदर्शन के लिए दो-एक उदाहरण दिये जाते हैं।

१. क्षत्रिय शब्द में रक्षा करने का भाव निहित है यह पूर्व में कहा गया है; इसी प्रकार प्रजा के रंजन करने के धर्म के कारण राजा शब्द; पृथ्वी के पालन रूप धर्म से भूप शब्द चरितार्थ होते हैं।

२. अनेक स्थलों में दिखाया गया है कि श्रुतियों में देवताओं के गुण-धर्म उनके विशेषणों के द्वारा व्यक्त किये गये हैं। अग्नि के विशेषण पुरोहित, होता आदि का उल्लेख अन्यत्र हुआ है। अग्नि को **भरत** भी कहा गया है—'अग्निर्वै भरतः। स वै देवेभ्यो हव्यं भरति'—(कौषी० ब्रा०)। यही आशय वाजसनेय ब्राह्मण में भी मिलता है—'एष हि

देवेभ्यो हव्यं भरति ' इत्यादि । हव्य वहन करने के कारण ही वह्नि शब्द भी अग्नि के लिए प्रयुक्त होता है ।

३. भारत वर्ष के लिए **भारत** शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसके सम्बन्ध में पुराणों में अनेक मत हैं । कोई नाभि के पौत्र ऋषभ के पुत्र भरत नाम के राजा से भारत का नामकरण मानते हैं, कोई दुष्यन्त पुत्र भरत के नाम से । वैदिक मत से मनुष्य लोकेश अग्नि के भरत नाम होने से **भारत** संज्ञा हुई है । लोक मत से **भारत** की व्युत्पत्ति यह की जाती है कि यह देश (भारत) अन्न और धन के द्वारा इससे देश और अन्य देश के निवासियों का उदर भरण करता है इसलिए यह भारत नाम से प्रसिद्ध है।[१] इस प्रकार **भारत** भी अन्वर्थ नाम है। प्रागैतिहासिक अथवा भारत के वैभव काल की बात छोड़ भी दी जाय तो भी अंग्रेजी राज्य के प्रारम्भ में भारतवर्ष से कितना अन्न रैली ब्रदर्स के द्वारा विदेश को भेजा जाता था इस आधुनिक भारत की अन्न सम्पत्ति का प्रत्यक्ष देखने वाले व्यवित अभी भी भारत में विद्यमान हैं । इस समय भारत को अन्न के लिए भी परमुखापेक्षी होना पड़ रहा है यह दुर्दान्त काल की महिमा है ।

अस्तु । प्रकृत यह है कि शब्द के निर्वचन के द्वारा ही उसके धर्म का बोध हो जाता है– पिता, पुत्र, भार्या आदि शब्द भी इसी प्रकार अपने निर्वचन के द्वारा धर्मों का बोध कराते हैं । इन धर्मों के द्वारा **धर्म** शब्द कर्तव्य कर्म के लिए भी प्रयुक्त होता है । इस प्रकार धर्म शब्द का व्यापक स्वरूप सिद्ध होता है ।

इस व्यापक स्वरूप के होते हुए भी धर्म ऐहलौकिक और पारलौकिक––अभ्युदय और निःश्रेयस का प्रधान साधन है । यह धर्म मनुष्य की यदृच्छा से कल्पित नहीं है । यह प्राकृतिक विज्ञान की भित्ति पर प्रतिष्ठित है, अतः शाश्वत है । उसके उपाय भेद बहुत हैं––चातुर्वर्ण्य, चातुराश्रम्य, चतुर्वर्ग, यज्ञ, दान, तप, इष्ट आपूर्त, दत्त, देवताओं की, गुरुओं की तथा तीर्थ श्रेष्ठों की आराधना आदि धर्म भेद कर्तव्य दृष्टि से प्राचीन वेदवेत्ता महर्षियों के द्वारा विहित हुए । इनके अनुष्ठान से सब प्रकार की ऐहिक तथा पारलौकिक सुख सम्पत्ति होती है । इन सबका वैज्ञानिक विवेचन भारतवर्षीय आर्यों के द्वारा होने से, भारतवर्ष में इनके प्रचार बाहुल्य से ये भारत की प्रातिस्विक सम्पत्ति माने जाते हैं । भारतीय वैदिक संस्कृति के ये उत्कर्षाधायक हैं । भारतवर्ष में ही इनके अनुष्ठान की

१. **'अन्नैर्धनैर्यतोऽयं देशस्त्वेषां परेषां च। उदरं भरति ततोऽयं देशो भारत इति प्रथितः।।'**

––इन्द्रविजय०, पृ० ९

सुविधा होने के कारण पुराणों में भारतवर्ष की महिमा का गुण-गान किया गया है। ब्रह्मपुराण में मिलता है[१] कि पृथिवी में भारत के समान कोई दूसरा वर्ष नहीं है; जहाँ विप्र आदि वर्ण अपना अभिवांछित प्राप्त करते हैं। जो नरश्रेष्ठ भारत में उत्पन्न होते हैं वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का महाफल प्राप्त करते हैं। जहाँ पर देवगण भी हृष्ट होकर शोभन जन्म की वाञ्छा करते हैं। ब्रह्मचर्यादि का फल यहीं प्राप्त करते हैं। भारत के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन करने में कौन समर्थ है।

संस्कार

प्रकृति से उत्पन्न होने वाली वस्तु प्राकृत कहलाती है। 'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा स्रजति कौतुकी' इसके अनुसार सर्वत्र गुण-दोषों का सम्मिश्रण देखा जाता है। प्रकृति से जो वस्तु जिस रूप में उत्पन्न हुई हैं उनमें से कुछ तो ऐसी हैं जिनका उपयोग मनुष्य उसी रूप में करता है—उदाहरण के लिए—जल या वायु अथवा दुग्ध। परन्तु अनेक ऐसे पदार्थ हैं जो प्राकृत रूप में उपयुक्त नहीं होते और उपयोग योग्य बनाने के लिए उनका संस्कार किया जाता है; संस्कृत होकर ही वे काम में आती हैं। संस्कार का अर्थ है सम्यक् करना, ठीक करना, उपयुक्त बनाना। इस क्रिया का परिणाम तीन प्रकार का होता है। प्राकृतिक पदार्थ में जिन अनुपयोगी तत्त्वों का समावेश हो गया है उन दोषों को दूर करना, मार्जन करना 'दोषमार्जन' संस्कार कहलाता है। इसके बाद उसके स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए उसमें 'अतिशय'—विशेषता का आधान करना 'अतिशयाधान' दूसरा संस्कार है। इन दोनों के अतिरिक्त उपयोग में लाने के लिए उसमें **अंगहीनता** (कमी) दिखती है उसकी पूर्ति करना 'हीनांग पूर्ति' तीसरा संस्कार है। इन तीनों संस्कारों से संस्कृत होकर वह पदार्थ सर्वथा उपयोग्य बनता है। उदाहरण के लिए लौकिक दृष्टि से **अन्न** को लिया जाय।

१. न भारतसमं वर्षं पृथिव्यामस्ति किंचन। यत्र विप्रादयो वर्णाः प्राप्नुवन्त्यभिवांछितम्॥
धन्यास्ते भारते वर्षे जायन्ते ये नरोत्तमाः। धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्नुवन्ति महाफलम्॥
यत्र देवाः सदा हृष्टा जन्म वांछन्ति शोभनम्। ब्रह्मचर्यफलं यत्र स्वाध्यायेन च यत्फलम्।
प्राप्यते भारते वर्षे न चान्यत्र क्वचिद् भुवि। कः शक्नोति गुणान् वक्तुं भारतस्याखिलानपि॥—ब्रह्मपुराण, अ० २५।

प्राकृतिक रूप से खेत से जिस प्रकार अन्न पैदा होता है वह उसी रूप में ग्रहण नहीं किया जाता। तुष, भुस आदि जो अनुपयुक्त अंश उसमें सम्मिलित हैं उनको दूर करके शुद्ध दाने के रूप में उनका तैयार करना प्रथम दोष मार्जन संस्कार है। वह दोष ही अन्न में कूट-पीसकर अग्नि पाक आदि के द्वारा जो विशेषताएँ की जाती हैं वह अतिशयाधान संस्कार हुआ। उसके बाद रुचि के मधुर, लवण, शाक आदि के द्वारा उसकी कमी को दूर करके संस्कार करना हीनांग पूर्ति है। इन तीनों संस्कारों से संस्कृत अन्न शरीर का पोषण करते हैं और रुचिवर्धक होते हैं। दूसरा उदाहरण कपास को लिया जाय। खेत में उत्पन्न होने पर उसमें जो बीज (बिनौला) मिश्रित रहता है उसे दूर करना मिट्टी आदि का उसमें जो संसर्ग है उसे दूर करना प्रथम दोष मार्जन संस्कार है। फिर स्वच्छ रूई तैयार होने पर उससे सूत, कपड़ा कोट आदि बनाना अतिशयाधान है। कोट आदि बनने पर बटन आदि लगा कर उसे सम्पूर्ण करना हीनांग पूर्ति है। यही स्थिति लोहा, सुवर्ण आदि धातुओं की है।

इसी प्रकार मनुष्यों के संस्कार भी तीन प्रकार के होते हैं। पूर्व में ईश्वर प्रजापति का वर्णन हो चुका है। प्रजापति के ही अंशभूत मनुष्य है। प्रजापति शब्द में, प्रजा, उनका पति और सम्बन्ध सूत्र तीन भाव समाविष्ट हैं। स्वयं प्रजापति एक पर्व है। प्रजापति की प्रजा दूसरा पर्व है। जिस बन्धन सूत्र से प्रजापति अपनी प्रजा के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बनाये रखता है वह सूत्र तीसरा पर्व है। स्वयं प्रजापति आत्मा है, मुख्य है। पाश इसका **प्राण** है। प्रजावर्ग पशु भाग है। इस प्रकार पशु, पाश और पशुपति इन शब्दों का भी व्यवहार होता है। 'आत्मा प्राणाः पशवः' यह भी कहा जाता है। उक्थ, अर्क और अशिति भी इसी अर्थ में आते हैं। आत्मा मनः प्रधान होने से ज्ञानप्रधान है। प्राणरूप पाश प्राणप्रधान बनता हुआ क्रियाप्रधान है। पशु वाक् प्रधान, अर्थ प्रधान है। ज्ञान प्रधान आत्म वर्ग आध्यात्मिक प्रपंच है। क्रियात्मक पाशवर्ग आधिदैविक प्रपंच है एवं अर्थरूप पशु वर्ग आधिभौतिक प्रपंच है।

'ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा (शत० ६।१।१८) के अनुसार सप्तपुरुषकृत मूर्ति यह उक्थ आत्मा ब्रह्म है। इसका वर्णन प्रजापति प्रकरण में हुआ है। यह क्षर ब्रह्म है। यही व्यावहारिक आत्मा है और विधि-निषेध संस्कार आदि इसी से सम्बद्ध हैं। विशुद्ध निर्गुण आत्मा तो निर्लिप्त निर्दोष है। वह संस्कार मर्यादा से सर्वथा बहिर्भूत है। ईश्वर के समान ही तदंशभूत मनुष्य में भी इन तीनों पर्वों की सत्ता सिद्ध होती है। प्रथम जीव संस्था के आत्मा और शरीर दो विभाग हैं। इन दोनों के मध्य में दोनों का सम्बन्ध कराने वाला तीसरा विभाग **देवता** का है। इसका सम्बन्ध मध्यस्थ होने के कारण आत्मा से भी है

और शरीर से भी । भूतयुक्त वागग्नि प्रपंच स्थूल शरीर है । मनोयुक्त देवप्रपंच (इन्द्रिय प्रपंच) सूक्ष्म शरीर है—इसे सत्त्व भी कहते हैं । एवं प्रज्ञानादि से सहित प्राणात्मा कारण शरीर है इसे ही आत्मा कहते हैं । आत्मा, सत्त्व और शरीर तीन पर्वों में से प्रधानतया शरीर की चिकित्सा करने वाला आयुर्वेद शास्त्र है। धर्मशास्त्र का मुख्य लक्ष्य सत्त्व भाग है । एवं दर्शन शास्त्र का मुख्य ध्येय आत्म भाग है ।

'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शत० २।५।१।१) के अनुसार अन्यान्य प्राणियों की अपेक्षा पुरुष प्रजापति का नेदिष्ठ (समीपतम) माना जाता है । इस नेदिष्ठ पुरुष में 'ब्रह्म देवता भूत' तीनों भाग गुण-दोष युक्त हैं । पुरुष के पुरुषत्व-विकास के लिए तीनों पर्वों का संस्कार आवश्यक हो जाता है । भूत संस्कार के द्वारा शरीर शुद्धि होती है । देव संस्कार के द्वारा देवभाग शुद्ध होता है एवं ब्रह्म संस्कार के द्वारा ब्रह्म भाग (आत्मा) निर्दोष बनाया जाता है । इन तीनों में भूत संस्कार का प्राधान्य नहीं माना जाता । ब्रह्म देव संस्कारों में ही उसका अन्तर्भाव हो जाता है । अतएव धर्मशास्त्रों में ब्राह्म संस्कार और दैव संस्कार दो की ही प्रधानता मिलती है ।

दोषों का सम्बन्ध पुरुष संस्था के आत्मलक्षण, ब्रह्म पर्व तथा प्राणलक्षण, देव पर्व दोनों के साथ है, इसलिए यह संस्कार प्रक्रिया भी दो भागों में विभक्त हो जाती है—ब्राह्म-संस्कार प्रक्रिया और दैव संस्कार प्रक्रिया । इन दोनों के तीन-तीन अवान्तर भेद हो जाते हैं । ब्राह्म के—गर्भ संस्कार, अनुव्रत संस्कार तथा धर्म शुद्धि संस्कार, एवं दैव के पाकयज्ञ संस्कार, हविर्यज्ञ संस्कार तथा सोम यज्ञ संस्कार भेद हैं । इन छः प्रकार के संस्कारों से सुसंस्कृत द्विजाति प्रजा के ब्रह्म देव भाग निर्मल हो जाते हैं, पूर्ण बन जाते हैं, अतिशय से युक्त हो जाते हैं ।

ये शास्त्रीय संस्कार श्रौत और स्मार्त भेद से दो भागों में विभक्त माने गये हैं । इनमें श्रौत और स्मार्त प्रत्येक के इक्कीस प्रभेद भिन्न हैं। ब्राह्म संस्कार (आत्म संस्कार) स्मार्त कहलाते हैं । इन संस्कारों का मूल तो श्रुतियों में ही है किन्तु इनकी पद्धति (कर्तव्य विधि) स्मार्त ग्रन्थों में है इससे इन्हें स्मार्त संस्कार कहा जाता है । दैव संस्कार की इतिकर्तव्यता श्रुतियों में ही विशदतया विहित है, अतः ये **श्रौत** कहे जाते हैं ।

स्मार्त :—स्मार्त संस्कारों के २१ भेदों में अवान्तर तीन भेद कहे गये हैं । इनमें प्रथम गर्भ संस्कार के अन्तर्गत आठ, अनुव्रत के अन्तर्गत आठ तथा धर्मशुद्धि के अन्तर्गत पाँच अवान्तर भेद हैं । इनमें अन्तिम पाँच आगे जाकर दैव (श्रौत) संस्कार की मूल प्रतिष्ठा बनते हैं, इसलिए इनका श्रौत संस्कार में अन्तर्भाव मान लिया जाता है । इस प्रकार स्मार्त संस्कार के षोडश भेद ही अवशिष्ट रहते हैं ।

गर्भसंस्कार:—गर्भ संस्कार के अन्तर्गत आठ भेद ये हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त (ये तीन अन्तर्गर्भ संस्कार हैं) ; जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन और चौल कर्म । (ये पाँच बहिर्गर्भ संस्कार हैं) । ये संस्कार शोधक, दोषमार्जक हैं । ब्रह्म (आत्म) भाग गत दोषों का इनके द्वारा मार्जन होता है । ये पिता के द्वारा किये जाते हैं ।

अनुव्रत:—दूसरे अनुव्रत संस्कार के अन्तर्गत ये आठ भेद हैं—कर्णवेध, उपनयन, व्रतादेश, वेद-स्वाध्याय, केशान्त, स्नान, विवाह और अग्नि-परिग्रह। ये आठों ब्रह्मभाग में अतिशयाधान करते हैं, विशेषक हैं तथा आचार्य कर्तृक हैं ।

तीसरे धर्मशुद्धि संस्कार के अन्तर्गत—शरीर शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, अघ शुद्धि, एनः शुद्धि और भाव शुद्धि ये पाँच प्रभेद हैं । इन्हें भावक भी कहा जाता है । ये ब्रह्मभाग के हीनांग की पूर्ति करते हैं । इन्हें स्वयम् किया जाता है ।

इन अन्तिम पाँच धर्म शुद्धि संस्कारों को छोड़ कर अवशिष्ट षोडश संस्कारों का संक्षिप्त परिचय देना उचित है ।

गर्भाधानादि षोडश संस्कार निरूण

(१) गर्भाधान:—माता-पिता के रजोवीर्य में (शुक्रशोणित) रहने वाले योषावृषा प्राणों के मिथुन भाव से सन्तान स्त्रीगर्भ में आता है। पुरुष के शुक्र में जीव अन्नादि के द्वारा पूर्व से प्रविष्ट रहता है यह अन्यत्र कहा गया है । अनेक प्राकृतिक तथा आगन्तुक दोषों से यह ब्रह्मभाव आवृत रहता है । आठों संस्कारों में सबसे प्रथम दोषमार्जक संस्कार ही गर्भाधान संस्कार है । प्राकृतिक दोष के अतिरिक्त देश सम्बन्धी, खान-पान सम्ब-न्धी दोष भी आते रहते हैं उन सब आगन्तुक दोषों के निवारण के लिए गर्भाधान संस्कार के द्वारा बल मिलता है । योग्य सन्तान उत्पन्न करके पितृ ऋण का अपाकरण करना आवश्यक माना जाता था । यह कार्य आर्य संस्कृति में कामुकता की दृष्टि से न होकर अवश्य कर्तव्य कर्म समझा जाता था । बृहदारण्यक उपनिषद् में (६।४) किस उपाय से किस गुणयुक्त पुत्र को उत्पन्न किया जाय विशेष रूप से दिया गया है। वर्तमान काल में सन्तति-निरोध के लिए अनेक प्रकार के कृत्रिम उपायों के आविष्कार हो रहे हैं । परन्तु इसी उपनिषद् में सन्तति निरोध के उपाय का उल्लेख है । जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यथेच्छ सन्तान का उत्पन्न करना अथवा सन्ततिनिरोध करना ये दोनों ही समान रूप से परिज्ञात थे। गर्भाधान के अनेक मन्त्रों का उल्लेख अथर्व वेद में (५।२५) मिलता है । उनमें से एक मन्त्र यह है—'प्रजायते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः । पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ।' इसमें प्रजापति से प्रार्थना की गयी है जिसका भाव यह है

कि दशम भाव में प्रसव पर्यन्त गर्भ में कोई व्यापत्ति न हो। अन्य मन्त्रों में भी गर्भ के साथ उसकी रक्षा के लिए अनेक देवताओं का सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

गर्भ में जो जीव आता है वह अपने पूर्व संस्कारों को साथ लेकर आता है। उसके ये संस्कार पूर्वकृत कर्मों के आधार पर ही निश्चित होते हैं। सुश्रुत--शारीर स्थान में मिलता है कि पूर्व देह में भावित शास्त्र बुद्धि सत्त्व भूयिष्ठ और जातिस्मर नर होते हैं। जो गुण पूर्व जन्म में अभ्यस्त होते हैं उन्हीं गुणों को पुनर्भव में प्राप्त करता है।[१]

सामान्य रूप से पाश्चात्य देशवासी पुनर्जन्मवाद नहीं मानते। परन्तु उनमें जो विवेकशील वैज्ञानिक हैं उनके मत अक्षरशः भारतीय पुनर्जन्म का समर्थन करते हैं।[२] इन वैज्ञानिकों के मत का यहाँ उद्धरण टिप्पणी में दिया जाता है। यह केवल यह दिखाने के लिए है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक की सूक्ष्मेक्षिका दक्षता किस प्रकार भारतीय तथ्यों के तह तक पहुँच सकी है। इसका अभिप्राय भारतीय तत्त्व का परिपोष करने की दृष्टि से नहीं है।

१. सुश्रुत, शारीर स्थान—'भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः। भवन्ति सत्त्व-भूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः। कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे। अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान्।'

2. (i) Sir oliver Lodge : I am, for personal purposes, convinced of the persistance of human existance beyond bodily death.

(ii) W. Tudor jones : We conclude, then, that our death is our birth to a life beyond.

(iii) E. D. Walker's Re-incarnation : Re-incarnation teaches that soul enters this life, not as a fresh creation but after a long course of previous existences on this earth and elsewhere. The ancient doctrine of transmigration seems the most rational and most consistent with God's wisdom and goodness.

(iv) Problem of Re-birth by Hon. Ralf Shirley :

It is not unreasonable conclusion to arrive at that the bodies which parents supply by their own sexual intercourse are tenanted in the first instance by spirits from another world, attracted to them by some form of spiritual sympathy and that accordingly the parents of the physical form can not, strictly speaking, be regarded as the originators of the consciousness which inhabits it. × × ×

(२) पुंसवन:—पुंसवन (पुमान् का उत्पन्न करना) उस संस्कार का नाम है जिसके द्वारा गर्भस्थ जीव पुरुष रूप में परिणत होता है। यह सामान्य नियम है कि रज और रेत के संयोग में यदि पुरुष का रेतो भाग अधिक प्रबल हो तो पुरुष, इसके विपरीत स्त्री के शोणित भाग के प्रबल होने से स्त्री सन्तति का जन्म होता है। गर्भाधान काल से आरम्भ कर दूसरे-तीसरे महीने तक भ्रूणों में (स्त्री और पुरुष के) परस्पर स्पर्धा चलती रहती है। जब तक यह स्पर्धा रहती है गर्भ का स्पन्दन नहीं होता। अन्त में जो भ्रूण प्रबल होता है उसके अनुसार निर्णय होता है। अतः यह संस्कार गर्भ स्पंदन से पूर्व ही सम्पन्न किया जाता है। पुंसवन कर्म का उद्देश्य यह है कि कन्या के चिह्नों के बल को क्षीण करना (स्त्री भ्रूण को निर्बल बनाना), एवं पुत्र-चिह्नों को बल प्रदान करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्त्री (गर्भिणी) को ऐसे पदार्थ देने पड़ेंगे जिनमें शुक्र सजातीय, शुक्रवर्धक, सौम्य भाव की प्रधानता रहेगी। बट शुंग (कलिकाकार), कुश, दूर्वा आदि पदार्थ इसी सौम्य भाव से युक्त है। इनका रस निकाल कर गर्भिणी की दक्षिण नासिका रंध्र के द्वारा नस्य दिया जाता है। आधिभौतिक रूप में ओषधियों का प्रयोग होता है साथ ही मन्त्रों के द्वारा देव भाग और मनोभाव का पोषण होता है। इस संस्कार के द्वारा पुंभ्रूण सबल होता है। आयुर्वेद शास्त्र ने भी इस संस्कार का उल्लेख किया है तथा उपाय भी दिये हैं।

चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि वेदोक्त कर्म के द्वारा उन दोनों (पुत्र और कन्या) का विवर्तन उपदिष्ट है यदि गर्भ के व्यक्ती भाव से पूर्व उस संस्कार का ठीक तरह से प्रयोग किया जाय। इसलिए स्त्री को आपन्नगर्भा देख कर गर्भ के व्यक्ती भाव से पूर्व पुंसवन देना चाहिए। व्यक्ति दूसरे महीने में होती है। जैसा कहा गया है द्वितीय मास में घनता होती है इत्यादि। अथवा तृतीय मास में अंग-प्रत्यंग की अभिव्यक्ति को व्यक्ती भाव समझना चाहिए।[१]

वाग्भट्ट के टीकाकार अरुणदत्त ने यह प्रश्न उठाया है[२] कि यदि पुराकृत कर्म के द्वारा स्त्रीगर्भ निर्दिष्ट है तो पुरुष के प्रयत्न करने पर भी पुंगर्भ नहीं किया जा सकता, अतः

१. चक्रपाणिः—तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक्। तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद् गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्। व्यक्तिस्तु द्वितीये मासे भवति—यदुक्तम् द्वितीये मासे घनः सम्पद्यते इत्यादि। किं वा तृतीये मासे अंग प्रत्यंगाभिव्यक्तेर्व्यक्तीभावो ज्ञेयः।

२. अरुणदत्तः—तत्र यदि प्राक्कृतेन कर्मणा स्त्रीगर्भः कर्तुमाक्षिप्तस्तदा पुरुषप्रयत्ने

पुंसवन अनर्थक ही है । इस शंका का समाधान मूल ग्रन्थ में किया गया है कि पुरुषकार (पुरुष प्रयत्न) यदि प्रबल हो तो वह दैव (पुराकृत कर्म) को दबा देता है । आशय यह है कि दैव भी तो पुरुषकार ही है जो पूर्व जन्म के कर्म का परिणाम है । यदि इस जन्म का कर्म अधिक बलशाली होगा तो अवश्य दैव अकिंचत्कर होगा ।

मनु आदि का जो विधान है कि 'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः ।' यह साधारण नियम है । पश्चिमीय वैज्ञानिक भी इसकी परीक्षा कर चुके हैं ।[1] परन्तु विशेष प्रक्रिया से पुंसवन संस्कार परिवर्तन करने में सहायक होता ही है ।

(३) सीमन्तोन्नयन :—इसे ही सीमन्तकरण भी कहा जाता है । 'सीमन्तः कथ्यते स्त्रीणां केश मध्ये तु पद्धतिः' इस अभिधान के अनुसार स्त्रियों के केशपाशों में मध्यभाग में दोनों भागों को विभाजन करने वाली जो पद्धति (रेखा) है वह सीमन्त है । उसे ही लोकभाषा में **मांग** कहा जाता है। गर्भपात को रोकने के लिए उस स्थान पर स्नुही कण्टक को स्पर्श कराया जाता है और मन्त्रों के द्वारा सोमस्तुति आदि से देवताओं का आनुकूल्य प्राप्त किया जाता है । यह कृत्य गृह्यसूत्रों के अनुसार चतुर्थ, षष्ठ अथवा अष्टम मास में विहित है । आयुर्वेद का मत है अष्टम मास में गर्भपात की अधिक सम्भावना रहती है अतः अष्टम में ही यह संस्कार होना चाहिए ।

(४) जातकर्म :—इससे पूर्व प्रसव काल में, बालक के जन्म से पूर्व और एक अवान्तर संस्कार का उल्लेख मिलता है । इसे **सोष्यन्ती** कर्म कहा जाता है । यह एक प्रकार का काम्य कर्म है । प्रसव काल होने पर भी यदि सुप्रसव नहीं होता, कोई प्रतिबन्ध रहता है तो उसकी शान्ति के लिए यह संस्कार किया जाता है । अतः इसको षोडश संस्कारों में नहीं लिया गया है । बृहदारण्यक उपनिषद् (६।४) में 'सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति'—प्रसव करने वाली को जल से सिक्त करता है इत्यादि में इस संस्कार का उल्लेख है ।

यहाँ तक के संस्कार 'अन्तर्गर्भ' संस्कार थे । उत्पन्न होने पर जात कर्म संस्कार होता है । मेधाबल और आयुर्बल की वृद्धि करना इसका उद्देश्य है । नालच्छेद से पूर्व सुवर्ण के द्वारा दधि, घृत और मधु मिलाकर उस नवजात को चटाये जाते हैं । बृ० उ० में लिखा है

सत्यपि पुंगर्भः कर्तुं न शक्यते । तस्मात् पुंसवनमनर्थकमेवेत्याशंक्याह—बली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्तते ।।

1. Esoteric Anthropology by Dr. Nicholas : 'The sex of the child is determined by the relative vigour of the parents'.

कि नवजात के दक्षिण कर्ण में तीन बार वाग् वाग् वाग् कह कर तब सुवर्ण के द्वारा दधि, घृत, मधु चटाये । यह मन्त्र भी पढ़ा जाता है—'भूरते दधामि' इत्यादि । सुवर्ण तेजोयुक्त पदार्थ है वह सूर्य का प्रतिनिधि है । सूर्य मेधाजनक प्रसिद्ध ही है । दधि, घृत और मधु तीनों क्रम से भूः, भुवः और स्वः से सम्बन्ध रखते हैं । कठिन पदार्थ दधि भूः है; अपेक्षाकृत तरल घृत, भुवः तथा सार रूप मधु स्वः का उपलक्षक है । इस प्रकार आधिभौतिक पदार्थों के प्रयोग से मन्त्रशक्ति के प्रभाव से तीनों लोकों के सारभूत बल का उसमें आधान किया जाता है ।

इसी प्रकरण में बृ० उप० में प्रसूता को सम्बोधन करता हुआ, उसके उत्साहवर्धन के अभिप्राय से, जिससे वह प्रसवजन्य कष्ट दौर्बल्य से अभिभूत न हो पति प्रशंसा करता हुआ कहता है तुम इला (पृथिवी) हो, तुम मैत्रावरुणी हो, तुम वीरा हो; तुमने वीर उत्पन्न किया है । तुम वीरवती होओ । तुमने हमें वीरवान् किया है ।[1] फिर नवजात को सम्बोधित करता हुआ आशीर्वाद रूप में कहता है कि[2] तुम अतिपिता अतिपितामह होओ; अर्थात् अपने गुण कर्म विद्या आदि के द्वारा पिता और पितामह से भी बढ़ जाओ । इसे दृष्टि से लोक में भी कहा जाता है—'सर्वतो जयमन्विच्छेत् पुत्राच्छिष्यात् पराभवम्' अर्थात् सर्वतः जय की इच्छा करे परन्तु पुत्र और शिष्य से पराभव की । इस प्रकार उत्पन्न होते हुए ही नवजात का भविष्य मंगलमय बने यह अभिप्राय जात संस्कार का है ।

(५) नामकरणः—जिस आत्मा का संस्कार किया जाता है उसके मन, प्राण और वाक् ये तीन पर्व माने गये हैं। इनसे ही क्रमशः रूप, कर्म और नाम का विकास हुआ है, यह अन्यत्र कहा गया है । वस्तु के नाम श्रवण से वस्तु का स्वरूप और कर्म दोनों स्मरण हो जाते हैं । रूप और कर्म की समष्टि **अर्थ**—नाम पद है । **पद** और अर्थ का समुच्चय पदार्थ है । अर्थ 'अर्थब्रह्म' है, पद 'नामब्रह्म' है । दोनों का नित्य सम्बन्ध है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' यह मीमांस सिद्धान्त है । श्रुतियों में मिलता है कि प्रजापति नाम को मूल बना कर ही अर्थ सृष्टि में समर्थ होते हैं । 'स भूरिति व्याहरत्' इत्यादि । बृह० उ० (१।४।७।) में मिलता है कि यह सब पूर्व में अव्याकृत था, वह नाम और रूप के द्वारा

१. 'इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत् । सा त्वं वीरवती भव यास्माद् वीरवतोकरदिति ।

२. 'अतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः' इत्यादि ।—बृ० उप०, ६।४

व्याकृत हुआ—यह इस नाम का है; इसका यह रूप है—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत—असौ नामायं, इदं रूपमिति।'

नाम का सम्बन्ध आत्मा से है। नाम का प्रभाव आत्मा पर पड़ता है, इसलिए इसको महत्त्व दिया गया है। महाभाष्यकार पतंजलि ने लिखा है कि दशम दिन के बाद (जननाशौच के निवृत्त होने पर) ग्यारहवें दिन नामकरण किया जाय। नाम में किस प्रकार के अक्षर हों उन्हें बताते हुए (आदि में घोषवत् मध्य में अन्तःस्थ) लिखते हैं कि जो शत्रु का नाम हो वह बालक का न हो क्योंकि शत्रु के नाम के प्रभाव से बालक में भी पिता के प्रति शत्रुभाव का प्रादुर्भाव सम्भव है। इससे स्पष्ट है कि वे नाम के प्रभाव का अनुमोदन करते हैं। देवता ऋषि आदि के नामों से उनके निरन्तर श्रवण से सात्त्विक भाव की अभिवृद्धि होना स्वाभाविक है। वर्ण प्रकरण में शर्म्म, वर्म आदि का नाम के साथ विधान होने का उल्लेख हुआ है। इन शर्म्म वर्म आदि के निरन्तर प्रयोग से उसे अपने वर्णगत कर्तव्य का सतत स्मरण होता रहेगा और अपने वर्ण के अनुकूल कार्य करने का उसे प्रोत्साहन मिलता रहेगा। कन्याओं के नामकरण के सम्बन्ध में स्मृतियों में विशेष विधान है, उन सबका वैज्ञानिक विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है।

(६) **निष्क्रमण :**—गृह से नवजात शिशु को प्रथम बार निकालने के समय जो संस्कार किया जाता है वह निष्क्रमण संस्कार है। नवजात शिशु की अवस्था अत्यन्त सुकुमार होती है उनके अंग प्रत्यंग अत्यन्त शिथिल होते हैं। बहुत थोड़े-से वायु आदि के आघात से तथा शीत या उष्ण के संयोग से उसके सुकुमार शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, अतः जब तक उसके शरीर में कुछ दृढ़ता न आये तब तक बाह्य आक्रमण से उसकी रक्षा का विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। यह संस्कार, इसी दृष्टि से, चतुर्थ मास में किया जाता है। प्रथम बार निष्क्रमण के समय 'रक्षाविधि' कर्म किया जाता है। सूर्य आत्मा की प्रतिष्ठा हैं, आसुर प्राण के नाशक हैं; चक्षुरिन्द्रिय के अधिष्ठाता हैं। इन सौर दिव्य भावों के सम्बन्ध के लिए इस संस्कार में मन्त्रोच्चारण करते हुए शिशु को सर्वप्रथम सूर्य का दर्शन कराया जाता हैं।

(७) **अन्नप्राशन :**—गर्भाशय में रहने की दशा में माता के द्वारा भोजनादि के रस से गर्भ का पालन-पोषण होता था। उत्पत्ति के अनन्तर मातृस्तन्य उसका आधार था। परन्तु अन्ततः अपने शरीर की रक्षा के लिए अन्न का आश्रय लेना ही पड़ेगा। यह कहा गया है कि अन्न के परिणाम से ही मन भाग की पुष्टि होती है। अतः प्राणी के जीवन में अन्न का बड़ा महत्त्व है। अन्न के गुण के अनुसार मनोभाग में अच्छे या विकृत अन्न का प्रभाव

होना स्वाभाविक है। इसलिए अन्न की व्यवस्था को सुसंयत रखने के लिए अन्नप्राशन संस्कार आवश्यक है। षष्ठ मास में अन्नप्राशन का विधान है; परन्तु विशेष अवस्था में यह अवधि बारहवें मास तक बढ़ायी गयी है। कन्याओं के लिए पंचम या सप्तम मास विहित किये गये हैं।

वर्णस्वरूप रक्षा का बहुत कुछ श्रेय अन्न मर्यादा पर निर्भर है। अतएव अनुरूप अन्न संग्रह कर उनका परिपाक कर सुवर्ण रजत आदि के खण्ड के सहारे मन्त्रपूर्वक बच्चे को प्रथम बार अन्न खिलाना ही 'अन्नप्राशन' संस्कार है। मन्त्रबल से होने वाला यह प्राथमिक अन्न संस्कार इस आत्मा में अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हो जाता है। इस संस्कार के प्रभाव से बड़े होने पर भी उसकी प्रवृत्ति सदन्न के लिए ही होती है। उसके वर्ण के अनुकूल ही वह अपना अन्न ग्रहण करता है। विपरीत प्रभाव डालने वाले असदन्न से अपनी रक्षा करता रहता है। इस बात को दृष्टि में रख कर जिस वर्ण के लिए जो अन्न अपेक्षित है उसी गुण वाले अन्न से यह संस्कार किया जाता है।

(८) **चूड़ाकरण** :—केशगुच्छ, केशपाश, जूटिका, चूड़ा आदि समानार्थक हैं। केश समूह ही चूड़ा है। शिखा भी इसी का अंश है, इसलिए शिखा भी चूड़ा कहलाती है। केश और लोम आदि शरीर के किट्ट (मल भाग जो बाहर निकलता है जो अनात्म्य भाग है वह किट्ट कहा जाता है, जैसे लोहे का आवरण करने वाला जंग) माने गये हैं। इनमें केश और लोम क्रमशः ओषधि और वनस्पतियोंके मल माने जाते हैं। अन्न आदि फल पाक के बाद नष्ट हो जाने वाले पौधे सोमप्रधान होते हैं, इन्हें ओषधि कहा गया है। आम्र आदि फल वाले बड़े वृक्ष वनस्पति हैं और अग्नि प्रधान हैं। अग्नि का मल केश है। आशौच आदि में केशों का वपन विहित है क्योंकि अशुचिता इनमें संक्रान्त रहती है। शरीर से बाहर आत्मा के द्वारा निस्सारित इन मलों पर आत्मा का जो पवित्रीकरण धर्म है वह पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँचता, इसलिए अघ से संक्रान्त इन मलों को हटाया जाता है। केशच्छेदन के बाद जितना अंश आत्म भाग में रह जाता है वह आत्मा के संसर्ग से पवित्र बना रहता है। केशादि में भी तारतम्य है। जब तक वे शरीर से सम्बन्ध रखते हैं तबतक उनमें अपेक्षाकृत पवित्रता रहती है। शरीर से पृथक् होने पर उनकी अपवित्रता सर्वथा हो जाती है। इसलिए भारतीय स्मृतियों में समय-समय पर केशवपन का विधान मिलता है। जीवन में इस बालक को असंख्य बार केशच्छेदन कराना पड़ेगा। इसलिए प्रारम्भ में ही इस संस्कार के द्वारा मन्त्रादि के द्वारा उसे आगे होने वाले केशवपन के लिए सन्नद्ध किया जाता है। इन मन्त्रों में यह तात्पर्य निहित है कि क्षुर आदि उसे कष्ट न दें—'स्वधिते मैनं हिंसीः'

इत्यादि मन्त्र के द्वारा क्षुर को सम्बोधित करके प्रार्थना की जाती है कि इस (बालक) की हिंसा न करें, क्षत न करें। यहाँ अचेतन क्षुर को सम्बोधित करके उससे प्रार्थना करने में कोई अनुपत्ति नहीं है क्योंकि जैसा अन्यत्र प्रतिपादित हो चुका है भारतीय आर्यों के सिद्धान्त के अनुसार जड़-चेतन का विभाजक निरिन्द्रियत्व और सेन्द्रियत्व है। मनः प्राण वाक् रूप प्रजापति सर्वत्र समान रूप से व्यापक है, इसलिए उससे प्रार्थना करना सर्वथा निर्दोष है। एक बार यह संस्कार हो जाने के बाद मन्त्रादि के प्रभाव से आगे जीवन में सर्वदा क्षुर आदि की अनुकूलता मिलती है। केश अग्नि प्रधान है इससे अग्नि के किट्ट होने के कारण इनका वपन विहित है। लोम सोमप्रधान होने से सोम का कुछ अंश इसमें भी रहता है। सोम स्वयं पवित्र करने की सामर्थ्य रखता है यह वेद मन्त्रों में सोम की स्तुति में स्पष्ट रूप से मिलता है। इसलिए अपेक्षाकृत पवित्र होने के कारण लोम के वपन का विधान नहीं है। छन्दोग आदि कुछ शाखाओं को छोड़ कर चूड़ाकरण और उपनयन के केशवपन में शिखा के वपन का निषेध है। आगे सभी शाखाओं में शिखा रखने का विधान है। इसकी उपपत्ति यह कही जाती है कि शिर के ऊपरी मध्य भाग में जहाँ शिखा रखी जाती है एक अत्यन्त सूक्ष्म छिद्र रहता है जिसे ब्रह्मरंध्र कहा जाता है। सूर्य का प्राण इस ब्रह्मरंध्र के द्वारा हमारे शरीर के भीतर आता रहता है और भीतर के प्राण उसी रंध्र से सूर्य की ओर जाते रहते हैं। कर्म या उपासना के द्वारा मनुष्य जो अन्तःकरण में अतिशय उत्पन्न करता है वह यदि सूर्य के आकर्षण के द्वारा निकल जायगा तो सब परिश्रम व्यर्थ जायगा। वहाँ उस रंध्र को आवृत करने के लिए केश रखे जाते हैं। केश विद्युत्प्रवाह को रोकने वाले हैं यह विज्ञानसिद्ध है। केश अग्नि के किट्ट हैं यह कहा गया है। अपने किट्ट का अतिक्रमण करके अग्निविद्युत् बाहर नहीं जाने पाती। यही केशों की महत्ता है। कर्म या उपासना के समय इसीलिए शिखा बन्धन का विधान है। उसके स्थापित रहने से अतिशय जो उत्पन्न होगा उसका बाहर संक्रमण रुक जायगा। यही शिखा रखने का रहस्य है।

इस प्रकार दोषमार्जक इन आठ संस्कारों का संक्षिप्त परिचय है। गौण संस्कारों में से **सोष्यन्ती** संस्कार का ऊपर में उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार इसी प्रकरण में और भी अवान्तर गौण संस्कारों का उल्लेख यत्र तत्र उपलब्ध है। जीवन में आगे होने वाले कार्यों का प्रारम्भ करते समय शुभ मुहूर्त में देवाराधन मन्त्रोच्चारण आदि के द्वारा भविष्य के लिए, एक प्रकार से, ये कवच का काम देते हैं। आन्दोलन शयन—(पालना, झूला में सुलाना), दुग्ध पान, ताम्बूल भक्षण, चन्द्रदर्शन, उपवेशन आदि संस्कारों का उल्लेख मिलता है। गौतम ने ४८ संस्कार गिनाये हैं। इनमें दया, क्षमा, अनसूया, अस्पृहा

आदि तक का उल्लेख है । परन्तु षोडश संस्कारों की मुख्यता सभी आचार्य मानते हैं । परन्तु दु:ख का विषय है कि ये सब संस्कार लुप्त होते जा रहे हैं । जहाँ कहीं जो संस्कार इनमें से होते भी हैं वहाँ वैदिक संस्कार तो तिरोहित हो गया है; उसका स्थान लोकाचार ने ले लिया है । गर्भाधान संस्कार की तो चर्चा भी विलुप्त है । पुंसवन, जातकर्म आदि भी उच्छिन्न हैं । महर्षि स्वामी दयानन्द जी ने इन संस्कारों की महत्ता को अवगत किया और इनके पुनरुद्धार में प्रचार प्रारम्भ किया जिसके फलस्वरूप उनके अनुयायी इधर ध्यान देने लगे हैं, अन्यत्र इनका आभास मात्र रह गया है ।

(९) **कर्णवेध** :—द्वितीय वर्ग में प्रथम संस्कार कर्णवेध माना जाता है । इसके सम्बन्ध में मतभेद हैं । गौतम ने ४८ संस्कार गिनाये हैं उनमें इसका उल्लेख नहीं है । पारस्कर, गोभिल, मनु, याज्ञवल्क्य, आश्वलायन आदि ने भी इसका उल्लेख नहीं किया है। कात्यायन ने 'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पंचमे वा' कह कर इसका उल्लेख किया है । श्रोत्रेन्द्रिय के संस्कारक होने के सम्बन्ध से इस संस्कार को यहाँ सम्मिलित करना उचित प्रतीत होता है । इस संस्कार में 'भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा:' इत्यादि मन्त्र के द्वारा देवताओं से प्रार्थना की जाती है कि कर्णों के द्वारा भद्रकल्याणमय मंगलमय वाणी का ही श्रवण हो—परनिन्दा, परीवाद, अश्लील आदि शब्द श्रवपथ में प्रविष्ट न हों। यह प्रार्थना समीचीन है । इसी अवसर पर कर्णवेध करने की भी प्रथा है जिसका वैज्ञानिक महत्व है ।

(१०) **उपनयन** :—इसे यज्ञोपवीत, मौंजीबंधन आदि के द्वारा भी अभिहित किया जाता है । यह संस्कार दोषमार्जन भी करता है और अतिशयाधान भी । विद्या पढ़ने का प्रारम्भ इसी संस्कार के अनन्तर होता है, इसलिए बुद्धि को पहले से सात्त्विक विद्या के प्रवेश के लिए विकसित कर देना और स्मरणशक्ति को बढ़ा देना आवश्यक है । इसमें सूर्य के उपस्थान—आराधना की प्रधानता रखी गयी है । शास्त्रों का सिद्धान्त है कि बुद्धि सूर्य का ही एक अंश है । इसका विकास सूर्य की आराधना से ही हो सकता है । अग्नि-हवन आदि भी इसमें प्रधान हैं जो बुद्धि को विशद रूप से परिमार्जित करते हैं । पलाश (वृक्ष) को स्मरणशक्ति को बढ़ाने तथा दृढ़ करने में सहायक माना गया है । इस संस्कार में पलाश-दण्ड धारण करने का विधान है तथा पलाश की समिधाओं के द्वारा आहुति की जाती है । इस प्रकार आधिभौतिक पदार्थ भी इसमें तदनुकूल होते हैं ।

इस संस्कार के बिना द्विजाति का द्विजत्व मुकुलित रहता है । इस संस्कार के प्रभाव से ही द्विजातिवर्ग गायत्री आदि स्व-छन्दों से युक्त होता है । इससे पूर्व जन्मदात्री माता

होती है, रेतोधा पिता रहता है; इस प्रकार उसका यह भौतिक जन्म प्रथम है।[१] उपनयन संस्कार के अनन्तर **सावित्री** माता होती है और आचार्य पिता होता है; यह उसका दूसरा जन्म है। इसी संस्कार के द्वारा वह द्विज कहलाने का अधिकारी होता है। इसी संस्कार से इसे यज्ञाधिकार प्राप्त होता है। यही इसका ब्रह्मचर्याश्रम नाम का प्रथम आश्रम है।

इसी संस्कार के द्वारा द्विजाति बालक को यज्ञोपवीत पहनाया जाता है। यज्ञोपवीत की उपपत्ति के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वेद प्रधान रूप से ईश्वर का वर्णन करता है। ईश्वर ने तेज, अप् और अन्न (पृथ्वी) इन तीनों तत्त्वों को सूक्ष्म रूप से उत्पन्न किया, फिर तीनों को आपस में मिला कर (त्रिवृत् करके) तीन लड़ कर दिया और उसमें प्रविष्ट हुए।[२] इसी तत्त्व का सतत स्मरण कराने के लिए यज्ञोपवीत धारण करने का विधान है। पहले तीन धागों (सूत्र) को लेकर त्रिवृत् किया जाता है फिर ऐसे तीन सूत्र लेकर ईश्वर की स्थिति का संकेत करने के लिए एक ब्रह्मग्रन्थि लगा दी जाती है। अपनी-अपनी शाखा के अनुसार तीन या पाँच ग्रन्थि लगाने का विधान है। यह एक प्रकार से दृष्ट फल कहा जा सकता है। अदृष्ट फल इस यज्ञोपवीत का अधिक गम्भीर है। परन्तु यहाँ पर उसका विवेचन सम्भव नहीं है।

उपनयन संस्कार के द्वारा माणवक में बल, तेज, वीर्य आदि का आधान होता है। आगे के महत्त्वपूर्ण कर्मों के सम्पन्न करने की शक्ति अधिकारिता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से यह संस्कार द्विजाति मात्र के लिए अत्यन्त आवश्यक संस्कार है और इसके न होने से द्विजत्व सम्पादन होना तो दूर रहा उसका जातिगत वर्ण भी तिरोहित हो जाता है। ब्राह्मण के लिए मुख्य उपनयन काल अष्टम (अथवा गर्भाष्टम) वर्ष है। विशेष अवस्था में विलक्षण मेधा सम्पन्न ब्राह्मण बटु का पंचम वर्ष में भी ब्रह्मवर्चस कामना से उपनयन संस्कार विहित है। ब्राह्मण बालक के उपनयन काल की परमावधि सोलहवें वर्ष तक है। इस अवधि के भीतर उपनयन होने से वह अपने वर्ण से च्युत हो जाता है; व्रात्य कहा जाता है; वह निन्दनीय माना जाता है और उसके साथ आपत्ति काल में भी ब्राह्म यौन (विवाहादि)

१. 'मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबंधने। तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्यश्रुतिचोदनात्॥ तत्र यद् ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीमबंधन चिह्नितम्। तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥'—मनु० २।१६९-१७०

२. छां० उप० ६।३

सम्बन्ध सर्वथा निषिद्ध किया गया है ।[1] क्षत्रिय के उपनयनकाल की परमावधि बाइसवें वर्ष तक है और वैश्य की चौबीसवें वर्ष तक । यह संस्कार हो जाने पर भी अपने विहित नित्य कर्मों के द्वारा यदि वह अपने संस्कार की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो तो भी वह सर्वधर्म वहिष्कृत होता है ।[2] इसलिए यह परम आवश्यक है कि वह आगे कहे जाने वाले व्रतादेश, वेदानुष्ठान, संध्योपासना आदि का अनुष्ठान करते हुए संस्कार का लोप न होने दे ।

(११) व्रतादेश :—उपनयन के वाद उसके लिए व्रतादेश होता है । आचार्य उसे व्रत (नियम) का पालन करने का आदेश देता है । उन नियमों का यथाविधि पालन करना उसका आवश्यक कर्तव्य होता है । उन सबके पालन न करने में प्रत्यवाय है ।

ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वाला युवा पुरुप 'स्नातक' कहलाता है । स्नातक के तीन प्रकार कहे गये हैं । अपनी शाखा के अनुकूल मन्त्र ब्राह्मणात्मक सांगवेदाध्ययन समाप्त कर लौटने वाला 'विद्या स्नातक' कहलाता है । द्वादशवर्षादिक व्रत को समाप्त करके वेद का कुछ भाग पढ़ कर ही लौटने वाला व्यक्ति 'व्रत-स्नातक' है । व्रत और वेद दोनों का यथाविधि पूर्ण करने वाला 'विद्याव्रतस्नातक' कहा जाता है । इनमें तृतीय का अधिक महत्त्व माना जाता है । व्रतादेश के विशेष विवरण के लिए यहाँ स्थान का अभाव है । दिवास्वाप निषेध, अधः शयन, लवणक्षार परित्याग, मधुमांस आदि का परित्याग, ब्रह्मचर्य, सत्य भाषण आदि इसमें आते हैं ।

(१२) वेदस्वाध्याय :—यह भी अत्यन्त आवश्यक कोटि में है । बिना इस संस्कार के दैव (श्रौत) संस्कारों का ब्राह्मण को अधिकार ही नहीं है । इसीलिए मनु ने स्वाध्याय-

१. 'आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात् क्षत्रबंधोराचतुर्विंशतेर्विशः ।।
अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ।।
नैतैरपूतैर्विधवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ।।'—मनु०, २।३८,३९,४०

२. 'न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद्द्विजकर्मणः ।।'—मनु०, २।१०३

हीन विप्र को नाम मात्र धारण करने वाला निष्फल कहा है।[1] ब्राह्मसंस्कार से शरीर को संस्कृत करने के साधनों में भी मनु ने स्वाध्याय को प्रथम स्थान दिया है।[2] वेद स्वाध्याय द्विजाति का मुख्य कर्तव्य है। मनु ने यह भी विधान किया है कि सब वेदों को, अथवा दो वेदों को, अथवा अन्ततः एक वेद को यथाक्रम पढ़कर ब्रह्मचर्य की रक्षा करने वाला गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।[3]

(१३) **केशान्त** :—यह भी चूड़ाकरण के समान है। विशेषता यह है कि चूड़ाकरण में केवल केशों का वपन होता था इसमें श्मश्रु का भी वपन होता है। वास्तव में यह संस्कार प्रथम श्मश्रुवपन की महत्ता की दृष्टि से विहित हुआ है। इसका समय ब्राह्मण के लिए सोलहवाँ वर्ष है; क्षत्रिय के लिए बाइसवाँ और वैश्य के लिए चौबीसवाँ।

(१४) **स्नान-समावर्तन** :—इस संस्कार से संस्कृत ब्रह्मचारी ही स्नातक कहलाता है। यही संस्कार इसके दूसरे आश्रम (गृहस्थाश्रम) का उपक्रम है। इस संस्कार में ब्रह्मचर्य सम्बन्धी मेखला, मृगचर्म, दण्ड आदि का परित्याग किया जाता है एवं गृहस्थ सम्बन्धी वस्त्र, उष्णीष, उपानह, छत्र, दर्पण, पुष्प, चन्दन आदि का उपयोग किया जाता है। ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतों की समाप्ति के ये सूचक हैं।

(१५) **विवाह** :—विवाह वह संस्कार है जिससे संस्कृत होकर द्विजाति वेद, लोक, प्रजा, धर्म इन चार भावों की कृतकृत्यता सम्पादन करने में समर्थ होता है। विना विवाह के न तो वह वेदमूलक यज्ञ का अधिकारी है, न उसकी लोकप्रतिष्ठा है, न प्रजा (सन्तान) समृद्धि है और न धर्म संग्रह है। इस प्रथा का उपक्रम स्वयं प्रजापति से हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद् में (१।४।३) मिलता है कि वह अकेला था। उसका रमण नहीं हुआ। उसने द्वितीय की इच्छा की। पहले वह जैसे स्त्री और पुरुष संपरिष्वक्त रहते हैं उस प्रकार (सम्मिलित रूप में) था। उसने अपने को ही द्वेधा किया, पति और पत्नी हुए। इसलिए

१. 'यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥'—मनु०, २।१५७

२. 'स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥'—मनु०, २।२८

३. 'वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम्।
अविप्लुत ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ॥'—मनु०, ३।२

हम लोग 'अर्धवृगल'—आधे भाग हैं। इसलिए यह आधा आकाश (अवकाश, स्थान) स्त्री के द्वारा पूर्ण किया जाता है।

'स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्, स हैतावानास यथा स्त्री-पुमांसौ संपरिष्वक्तौ; स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्, तस्मादिदमर्धवृगलमिव स्व इति स्माह याज्ञवल्क्यः, तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते।'

इसीका अनुवाद 'द्विधा कृत्वात्मनो देहम्' इत्यादि में मनु ने किया है। विना पत्नी के प्रजोत्पादन नहीं हो सकता, पितृऋण आदि का शोधन नहीं होता। इन सब प्राकृतिक कारणों के आधार पर इस संस्कार को महर्षियों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना है। यह संस्कार पुरुषार्थ कर्म है और यह अतिशयाधान भी करता है और हीनांग पूर्ति भी। भारतीय आर्यों की दृष्टि में यह संस्कार वैषयिक सुख का साधन लौकिक कृत्य नहीं माना जाता। यह एक अलौकिक सम्वन्ध है। जिन दो व्यक्तियों का यह संस्कार होता है उन दोनों का आत्मा एक बन जाता है, शरीर मात्र पृथक् रहते हैं। अतएव लोकान्तरों में भी यह अनुवृत्त रहता है। 'सह धर्मं चरताम्' के अनुसार दोनों का एक साथ धर्माचरण होता है। पत्नी के देह, प्राण, मन आदि का दृढ़ सम्वन्ध पति के देह, प्राण, मन से करा देना ही इस संस्कार का मुख्य लक्ष्य है। परस्पर मिलाने में जिन जल और अग्नि की शक्ति मानी जाती है उनका उपयोग इस संस्कार में पूर्ण रूप से किया जाता है। प्रारम्भ में ही कन्या प्रदाता वरवधू के हाथों को मिलाकर संकल्पोदक छोड़ता है। उस मिले हुए हस्त-युगल में जल की धार संश्लेषण का कार्य करती है। कन्या का पाणिग्रहण करता हुआ वर जो मन्त्र पढ़ता है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन मन्त्रों का उल्लेख ऋग्वेद के दशम मण्डल में मिलता है—

'गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥' ऋ० १०।७।८५।३६

इस मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि भग अर्यमा आदि देवों ने गार्हपत्य कृत्य के सम्पादन के लिए उसे इस वधू को प्रदान किया है। इसके आगे वधू को सम्बोधित करता हुआ वर कहता है कि तुम्हारे नेत्र घोर न हों; तुम पशुओं के लिए कल्याणकारिणी होओ सुमना सुवर्चा होओ; वीर सन्तान उत्पन्न करने वाली होओ। द्विपद (मनुष्य, सम्बन्धी, भृत्य आदि) के लिए तथा चतुष्पदों (पशुओं) के लिए मंगलकारक होओ।

'अघोर चक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥' ऋ० १०।७।८५।४४

इसके आगे आशीर्वादात्मक जो मन्त्र है वह विशेष रूप से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर

प्रकाश डालता है। नववधू को आशीर्वाद दिया जाता है कि तुम श्वशुर के सम्बन्ध में, श्वश्रू के सम्बन्ध में, ननान्दा (पति की भगिनी) तथा देवरों में सम्राज्ञी बनो अर्थात् आधिपत्य करो; वे सब तुम्हारी इच्छा के अनुकूल कार्य करने वाले रहें। पतिगृह में वधू का इससे अधिक महत्त्व और क्या हो सकता है। स्त्रियों का कितना सम्मान था इसका यह निदर्शन है,

'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥'—ऋ० १०।७।८५।४७।

वर-वधू दोनों के मनः प्राण के संधान के लिए भी मन्त्र निर्दिष्ट है—

'समंजन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥'—ऋ० १०।७।८५।४७

इस प्रकार देवताओं के अनुग्रह प्राप्त करके परस्पर ऐक्य सम्पादन किया गया है। इसी प्रकार 'मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनुचित्तते, मम वाचमेकमना जुषस्व' इत्यादि के द्वारा पत्नी को स्वचित्तानुवृत्तिकारिणी बनाकर परस्पर ऐक्य स्थापित करना ही इन सब मन्त्रों का उद्देश्य था। जिससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि विवाह कृत्य आध्यात्मिक माना जाता है। भौतिक पदार्थों के उपयोग से मन्त्र शक्ति के प्रभाव से वधू के चित्त को दृढ़ करने का उल्लेख है जिससे पत्नी किसी कारणवश पति के प्रतिकूल आचरण न करे। इसका निदर्शन **अश्मारोहण** है। वर वधू को अश्मा (शिलाखण्ड) का आरोहण कराते हुए मन्त्र पढ़ता है—'आरोहे मम श्मानमश्मेव त्वं स्थिरा भव' अर्थात् तुम इस अश्मा पर आरोहण करो और अश्मा के समान स्थिर रहो। यहाँ विस्तार अनावश्यक है। पूरी विवाह पद्धति में यही अभिप्राय निहित है। परन्तु इन सबमें **सप्तपदी** का महत्त्व अधिक माना गया है। भार्यात्व का आपादन सप्तम पद में ही होता है और पत्नी अपने पितृगोत्र का परित्याग करके पतिगोत्र में प्रविष्ट होती है। विवाहकृत्य की निष्ठा (समाप्ति) इसी में मानी गयी है। मनु कहते हैं—'पाणिग्रहणिका मन्त्रा नियतं दारलक्षणम्। तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥' ८।२२७।

स्त्रियों के अन्य संस्कार बिना मन्त्रों के सम्पन्न किये जाते हैं और केवल वैवाहिक संस्कार मन्त्र सहित होता है और उसे मन्त्र पाठ का भी अधिकार प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए लाजा होम के समय में यह विधान है :—

'इयं नारी ह्युपब्रूते लाजानावपन्तिका।
आयुष्मानस्तु मे पतिरेधन्तां ज्ञातयो मम स्वाहा।'

स्त्रियों का यह वैवाहिक संस्कार वर के उपनयन के स्थान में माना जाता है— इसमें पति सेवा ही गुरुगृहवास है तथा गृहकृत्य ही अग्निपरिचर्या है—

'वैवाहिको विधिः स्त्रीणामौपनायनिकः स्मृतः ।
पति सेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ।।'––मनु० २।६७

विवाह संस्कार के उपनयन स्थानीय होने से उपनयन पृथक् विहित नहीं है । विवाह बन्धन से मुक्त रह कर आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करने वाली स्त्रियों का भी उल्लेख मिलता है परन्तु वह सामान्य नियम के अन्तर्गत नहीं है ।

इस प्रकार संक्षेप में विवाह संस्कार के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसके आगे सोलहवें संस्कार में अग्नि-परिग्रह का प्रकरण क्रमप्राप्त है ।

(१६) **अग्नि-परिग्रह** :––विवाह-संस्कार के अनन्तर यह संस्कार किया जाता है । एक पक्ष यह भी है जब दायविभाग हो––पैतृक सम्पत्ति का विभाग होकर अपने पास स्वतन्त्र रूप से पंच महायज्ञादि के लिए द्रव्य का साधन हो जाय––तब करे । आत्म-संस्था ब्रह्मदेव भेद से दो भागों में विभक्त है, यह कहा गया है । आहित होने वाली अग्नि भी पार्थिव सौर भेद से दो प्रकार की है । पार्थिव गायत्राग्नि **गार्हपत्याग्नि** है । भूताग्नि है । घर (गृह) को आवसथ कहा जाता है । यह अग्नि आवसथ में––गृह में प्रति-ष्ठित होती है इससे इसे आवसथ्याग्नि अथवा गृह्याग्नि कहा जाता है । इसके आधान से आत्म संस्था का ब्रह्मभाग संस्कृत होता है और इसकी इतिकर्तव्यता स्मृतियों में मिलती है, इसे स्मार्त भी कहा जाता है । पंच महायज्ञादि तथा अन्य स्मार्त कर्म इसी अग्नि में सम्पन्न होते हैं । यह भौतिक अभ्युदय का साधन है इस दृष्टि से जिस वैश्य के यहाँ पशु सम्पत्ति बहुत हो ऐसे सम्पन्न वैश्य के यहाँ से यह अग्नि लायी जाती है। श्रौत अग्नि अरणि-मंथन के द्वारा उत्पन्न की जाती है। इस गृह्याग्नि को भी अरणिमन्थन के द्वारा भी निष्पन्न कर सकते हैं यह भी कुछ आचार्यों का मत है । इस संस्कार का मुख्य प्रयोजन कि ब्रह्मभाग में श्रौत अग्नि के आधान की योग्यता उत्पन्न हो । उसी पार्थिवाग्नि के संग्रह के लिए–– अध्यात्म संस्था में प्रकृति से ही प्रतिष्ठित पार्थिव अग्नि में अतिशयाधान करने के लिए यह अग्निपरिग्रह संस्कार आवश्यक समझा गया है । यज्ञाधिकार समर्पक, अतिशया-धायक कर्णवेधादि अग्नि परिग्रहान्त इन आठ अनुव्रत संस्कारों से ही तत्तद्वर्ण अपने अधिकृत कर्मों में प्रवृत्त हो सकते हैं ।

यह स्मार्त अग्न्याधान है । श्रौत अग्न्याधान पृथक् है । इसका सक्षेप में यज्ञप्रकरण में उल्लेख हुआ है । यह देवभाग का संस्कार है और इसका अन्तर्भाव श्रौत संस्कारों में हैं क्योंकि इसकी इतिकर्तव्यता ब्राह्मणादि श्रौत ग्रन्थों में ही प्रतिपादित है । दोनों के भेद बताने के लिए गार्हपत्याग्नि को भूताग्नि और श्रौत आहवनीयाग्नि को देवाग्नि कहा जाता है।

इस प्रकार इन षोडश स्मार्त मुख्य संस्कारों का संक्षिप्त परिचय हुआ। इनके बाद इसी प्रकरण में पाँच **धर्म शुद्धि** संस्कार आते हैं। सोलह स्मार्त संस्कारों से अपने ब्रह्मभाग को सुसंस्कृत बना कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वाले इन पाँच संस्कारों का भी महत्त्व माना गया है। जिन आठ गर्भ संस्कारों से दोषमार्जन हुआ है एवं जिन आठ अनुव्रत संस्कारों से अतिशय का आधान हुआ है उस दोषरहित परिस्थिति को तथा आहित अतिशय को सुरक्षित रखने के लिए इन संस्कारों की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि इन संस्कारों का अनुगमन किया जाय तो सतत आक्रमण करने वाले अघ आदि इसे दोषयुक्त बना देंगे और अतिशय को भी नष्ट कर देंगे। इसलिए इन आगन्तुक दोषों का निवारण भी आवश्यक है।

धर्म शुद्धि संस्कार :—ये पाँच प्रकार के माने गये हैं। इनमें सर्वप्रथम है—

(१) शरीर शुद्धि संस्कार—तमोगुण प्रधान पांचभौतिक शरीर में मलों का रहना स्वाभाविक है। मल, मूत्र, स्वेद इत्यादि प्रसिद्ध हैं। आत्मा का जब तक इनके साथ सम्बन्ध रहता है—अन्तर्यामि रूप में; तब तक आत्मा की पावन शक्ति से पवित्र दशा में माने जाते हुए ये मल हानि नहीं करते। आयुर्वेद तो कहता है कि मल का सर्वथा उच्छेद नहीं होना चाहिए क्योंकि शरीर में बल मल के अधीन है और बल के द्वारा ही जीवित है—'मलायत्तं बलं पुंसां बलायत्तं हि जीवितम्।' परन्तु जब ये आत्म मण्डल की सीमा से बाहर निकल जाते हैं तब आत्मा की पावन शक्ति से रहित होने के कारण ये दोषों के उत्पादक हो जाते हैं। इसलिए इन मलों का प्रतिदिन शोधन करना आवश्यक है। ब्राह्म मुहूर्त में उठकर मल-मूत्र त्याग, दन्तधावन, स्नान आदि कर्मों के द्वारा मलों का शोधन होता है। केश, नख, श्मश्रु आदि का कर्तन भी इसी अभिप्राय से होता है।

(२) दूसरा है द्रव्य शुद्धि संस्कार—जिस प्रकार पांचभौतिक शरीर की मलशुद्धि अपेक्षित है उसी प्रकार उपयोग में आने वाले द्रव्यों की शुद्धि भी आवश्यक है। वस्त्र, पात्र अन्न आदि को यदि स्वच्छ न किया जायगा तो मलिन अवस्था में आते हुए ये दोषयुवत हो जायँगे। इनके सम्पर्क से शरीर भी मलिन होगा। अतः द्रव्यशुद्धि भी आवश्यक है।

(३) तीसरा है—अघशुद्धि। जनन मरण सम्बन्धी आशौच से आत्मवीर्य में 'अशुचि' लक्षण, आशौच दोष का संक्रमण होता है। इसे ही अघ कहा जाता है। शुक्रगत पितर प्राण के सापिण्य भाव से अदृष्ट सूत्र के द्वारा आशौच सम्बन्धी दोष सम्पूर्ण कुटुम्बियों में व्याप्त हो जाता है। इसका तारतम्य अन्य स्मृतियों में मिलता है। इस दोष का आत्मा से सम्बन्ध है, अतः इससे आत्मा मलिन हो जाता है। इसी की शुद्धि अघशुद्धि है। इस शुद्धि का मुख्य साधन है कालयापन। नियत समय तक यह अघ रहता है, इसीलिए इसे 'काल-

याप्य' भी कहा जाता है। उदाहरण के लिए ब्राह्मण के लिए सपिण्ड के मरण में दस दिन के आशौच का विधान है—'दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते।' दस दिन तक यह अशुचिता रहेगी। इस काल में देव-पूजन, संध्या, तर्पण, विवाह, उपनयन आदि नहीं हो सकते।

(४) चौथा है—एनःशुद्धि संस्कार। 'अघ' उस दोष को कहते हैं जिसके निमित्त हम साक्षात् रूप से नहीं बनते। जनन मरण आदि अवसरों पर वह सम्बन्ध सूत्र के द्वारा प्राकृतिक रूप से आता है। परन्तु 'एनः' वह दोष है जो मनुष्यके अज्ञान से उत्पन्न होकर आत्मवीर्य पर आक्रमण करता है। अघदोष युक्त गृहस्थ अशुचि, अपवित्र, कहा जाता है परन्तु एनोदोष युक्त पुरुष पापी, प्रायश्चित्ती, आदि कहा जाता है। अघ दोष आत्म-वीर्य को आवृत मात्र करता है परन्तु एनोदोष उसे नीचे गिराता है इसे पाप, पातक आदि कहा जाता है। इन पापों के लिए स्मृतियों में प्रायश्चित्त का विधान है। तदनुसार यथा-विधि प्रायश्चित्त करने से उस दोष की निवृत्ति होती है। प्रत्येक गृहस्थ के घर में चुल्ली (चूल्हा), पेषणी (चक्की), उपस्कर (बुहारी), कण्डनी (इंधन आदि) तथा उदकुंभ (जल के घड़े) ये पाँच स्थान ऐसे हैं जिनमें ज्ञाताज्ञात रूप से प्राणिहिंसा होती रहती है। इस हिंसा कर्म से उत्पन्न पापातिशय का आत्मवीर्य के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है। इन पाँचों दोषों के परिहार के लिए 'पाँच महायज्ञों' का विधान हुआ है। संध्यावन्दन आदि के समान ये भी नित्य कर्म माने गये हैं। ये यज्ञ—भूतयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ नाम से कहे गये हैं। स्मृतियों में तो सर्वत्र इनका उल्लेख विशेष रूप से मिलता ही है शतपथ श्रुति में भी इसका विशेष रूप से परिचय दिया गया है।[1] पाँच ही महायज्ञ हैं, यह कह कर इन पाँचों के नाम गिनाये गये हैं। फिर लिखते हैं कि प्रतिदिन भूतों के लिए बलि दे। प्रतिदिन मनुष्य को कम से कम जल से तृप्त करे (शक्ति होने पर भोजन से) इससे मनुष्य यज्ञ को समाप्त करता है। प्रतिदिन पितरों के लिए कमसे कम जल के द्वारा स्वधा करे यह पितृयज्ञ है। प्रतिदिन (अन्न आदि से अथवा अभाव में)

१. 'पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि—भूतयज्ञो, मनुष्ययज्ञः, पितृयज्ञो, देवयज्ञो, ब्रह्मयज्ञ इति। अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत् तथैतं भूतयज्ञं समाप्नोति। अहरह-र्दद्यादोदपात्रात् तथैतं मनुष्ययज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वधा कुर्यादोदपात्रात् तथैतं पितृयज्ञं समाप्नोति। अहरहः स्वाहाकुर्यादाकाष्ठात् तथैतं देवयज्ञं समाप्नोति। अथ ब्रह्मयज्ञः। स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञः।'—शतपथ, ११।५।६

काष्ठ (समिधा) के द्वारा अग्नि में स्वाहा करे यह देवयज्ञ है। स्वाध्याय (वेदपाठ) ब्रह्मयज्ञ है। मनु ने भी लिखा है कि गृहस्थ के पाँच सूना (हिंसा स्थान) हैं।[१] इनका नामोल्लेख कर वे कहते हैं कि इनके उपयोग करने के करण पाप से सम्बन्ध हो जाता है। इनकी निष्कृति के लिए ही गृहस्थों के लिए प्रतिदिन पाँच यज्ञों का विधान किया गया है। इन्हीं पाँच यज्ञों के अनुष्ठान के कारण मनु ने गृहस्थ को ज्येष्ठाश्रम कहा है।[२]

(५) पाँचवाँ भाव शुद्धि संस्कार है—इसका कारण शरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध है। अन्य चारों शुद्धियों की प्रतिष्ठा यही भाव शुद्धि है। साथ ही अन्य चारों शुद्धियाँ भी इसका उपकार करती हैं। इस प्रकार इनमें परस्पर उपकार्य और उपकारक सम्बन्ध है। आत्मगुणों का अनुगमन करना ही भावशुद्धि है। धृति, क्षमा, दया, शौच आदि आठ आत्म-गुण कहे गये हैं।

इन पाँचों शुद्धि संस्कारों से षोडश संस्कार संस्कृत द्विजाति के हीनांग की पूर्ति होती है। अतएव इन्हें 'हीनांग पूरक' कहा जा सकता है।

दोषमार्जक शोधक आठ गर्भ संस्कार, अतिशयाधायक विशेषक आठ अनुव्रत संस्कार इस प्रकार प्रधान स्मार्त संस्कार सोलह कहे गये हैं। इनके बाद हीनांगपूरक भावक पाँच धर्म शुद्धि संस्कार हैं। इन स्मार्त संस्कारों से द्विजाति का ब्रह्मभाग सर्वथा सुसंस्कृत बन जाता है। इन्हीं संस्कारों के प्रभाव से 'ब्राह्मीयं क्रियते तनूः' के अनुसार इनकी तनू (शरीर) ब्राह्मी (ब्रह्म से सम्बद्ध) हो जाती है।

इनके अतिरिक्त दैव संस्कार है जिनसे आध्यात्मिक देव भाग का संस्कार होता है। इन संस्कारों की उपपत्ति यज्ञ-विज्ञान पर निर्भर है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तथा तदनुगत श्रौत सूत्रों में उनका विशेष विवरण उपलब्ध होता है। इस निबन्ध में यज्ञ प्रकरण में अत्यन्त संक्षेप में उनका उल्लेख है। हारीत का कथन है कि दो प्रकार के ही संस्कार हैं—ब्राह्म और दैव। ब्राह्मसंस्कार से संस्कृत (पुरुष) ऋषियों की समानता, सायुज्यता को प्राप्त

१. 'पंच सूना गृहस्थस्य चुल्लीपेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुंभश्च वध्यते यास्तु वाहयन्॥'
'तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृह मेधिनाम्॥'—मनु० ३।६८,६९

२. 'यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥'—मनु० ३।७८

होता है। दैव उत्तर संस्कार से अनुसंस्कृत देवों की समानता, सायुज्यता को प्राप्त होता है।[1]

यज्ञ-विज्ञान

षोडशी पुरुष का विवेचन अन्यत्र हो चुका है। ये षोडशी पुरुष अनन्त हैं। बड़े से बड़ा और छोटे से छोटा परमाणु षोडशी है। षोडशी पुरुष सर्वत्र व्याप्त है अतः वह परमाणु में प्राप्त ही है। इन षोडशी पुरुष रूप परमाणुओं के संयोग से अन्योन्य के भोग से जो एकात्मता होती है वह 'यज्ञ' कहा जाता है। अनेक परमाणुओं के योग से जो एक अणु बनता है जिसे त्रसरेणु कहते हैं वह यज्ञ पुरुष है। यहाँ कोई एक अणु दूसरे अणु को अपने में बद्ध कर लेता है और उन दोनों षोडशी के परस्पर योग से एक नया यज्ञ पुरुष बनता है और इस नये यज्ञ रूप में षोडशी पुरुष भी एक पृथक् हो जाता है। इस नये अव्यय के योग से वह यज्ञ रूप एक पृथक् पदार्थ कहलाता है। इस प्रकार सम्पन्न हुए यज्ञ पुरुषों के परस्पर सहयोग से नये-नये अनन्त यज्ञ पुरुष होते रहते हैं। और यज्ञ के नष्ट होने से उनका नाश भी होता रहता है। एक यज्ञ से दूसरे यज्ञ के मिलने से तीसरा यज्ञ सम्पन्न होता है जैसा कि पुरुष सूक्त में श्रुतिवाक्य है—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।' इन दो अथवा अनेक यज्ञों के द्वारा जो यज्ञ पदार्थ बनता है वह विराट् कहा जाता है। यह क्षुद्र विराट् (microcosm) कहलाता है। इसे ही क्षुद्र ब्रह्माण्ड भी कहा गया है। इस प्रकार एक यज्ञ से दूसरा उससे फिर तीसरा ऐसे जो क्रमशः बृहद् यज्ञ बनते जाते हैं और जहाँ जाकर यह यज्ञ प्रक्रिया समाप्त हो जाती है; जो यज्ञ की अन्तिम सीमा है वह ईश्वर है वह महाविराट् (macrocosm) कहा जायगा।

ऊपर के क्रम से देखा जाय तो सर्वप्रथम एकमात्र तत्त्व रस है उसे निर्विशेष कहा गया है। वही अपनी शक्ति (बल) से सम्पन्न होकर बल और रसयुक्त परात्पर परमेश्वर आदि शब्दों से कहा गया है। अनन्त और अखण्ड रस के आश्रय में वहाँ अनन्त और खण्ड खण्ड बल उद्भूत होते रहते हैं। उस परात्पर संस्था में अव्यय अक्षर आदि मायी षोडशी पुरुष स्थित हैं। एक-एक षोडशी पुरुष-अव्यय के आधार पर, अक्षर की प्रेरणा से क्षर को

१. 'द्विविध एव संस्कारो भवति ब्राह्मो दैवश्च। गर्भाधानादिस्नानान्तो ब्राह्मः। पाकयज्ञ,हविर्यज्ञ, सौम्यश्चेति दैवः। ब्राह्मसंस्कारसंस्कृतः ऋषीणां समानतां सायुज्यतां गच्छति, दैवेनोत्तरेण संस्कारेणानुसंस्कृतो देवानां समानतां सायुज्यतां गच्छति।'—हारीत

विकृत करके पुर का निर्माण करके, पुर से आवृत होकर देह धारण कर मूर्ति पुरुष बनता है और अन्त में परमाणु रूप तक पहुँचता है । परमाणु के क्रम से त्रसरेणु आदि के रूप में फिर बढ़ता जाता है। सबके अन्त में यज्ञ ही प्रतिष्ठित रहता है । यह तैत्तिरीय श्रुति में (१।८।१) कहा गया है ।

उस परात्पर से प्रारम्भ करके उत्तरोत्तर प्रजापति कहे जा सकते हैं । इनमें परम विराट् मुख्य है क्योंकि वही परात्पर है; वही पुरुष है, वही यज्ञ है, वही प्रजापति है ।

वैसे प्रजापति के दो मुख्य भेद हैं । एक माया से रहित और दूसरा मायाशवलित । अमाय (माया रहित) एक निस्सीम परात्पर कहा गया है । उसमें बल सहचर हैं परन्तु रस में बलों का चयन नहीं होता । एक महाबल में यदि अन्य बल हृदयग्रन्थ के कारण बंधन में आकर चित (संचित) हो जाते हैं, वही सृष्टि है । जो रस अनन्त बलों का आश्रय है वह माया (मिति) बल से परिच्छिन्न-सा हो जाता है और तब जिसमें बलों का चयन होने लगता है वह मायाशवलित है । मायाशवलित के गर्भ में अमाय (माया रहित) स्थित रहता है । याज्ञिक परिभाषा में उसे ही अनिरुक्त प्रजापति कहा जाता है । मायाशवलित सर्व प्रजापति कहलाता है । इन दोनों के मध्य में विवक्षा के अनुसार और भी संज्ञाएँ कल्पित हो गयी हैं ।

प्रकारान्तर से यज्ञ प्रजापति के पाँच भाग हैं । सब शरीरों के भीतर हृद्य प्रजापति है जिसे अनिरुक्त प्रजापति कहा गया है । इस अनिरुक्त का आवरण करने वाला शरीर कहा जाता है । हृदयग्रन्थि के भेद से इसमें भी तीन भेद हो जाते हैं । प्रथम कारण शरीर है । मध्यम सूक्ष्म शरीर है और उत्तम स्थूल शरीर है । इन तीन प्रकार के शरीर से आत्मा आवृत रहता है । ये तीनों शरीर आत्मा के प्रथम पद हैं । इनसे उत्पन्न और दो शरीर पश्चात्पद कहे जाते हैं । इस तीन शरीर वाली मूर्ति को आद्यपृष्ठ कहते हैं । आत्मा की व्याप्ति ३३ अहर्गण तक है । इसमें सत्रहवाँ मध्य पृष्ठ है । तैंतीसवाँ अन्तिम पृष्ठ है । इस प्रकार अन्तः पृष्ठ, मध्य पृष्ठ और बहिः पृष्ठ ये तीन पृष्ठों में अन्तःपृष्ठ वह मूर्ति है जिसका हाथ से स्पर्श किया जा सकता है । मध्य पृष्ठ को आहवनीय भी कहा जाता है । वहीं तक पदार्थ की आकर्षण शक्ति रहती है । मुख्यतः वही सोम की आहुति होती है इससे उसे आहवनीय कहा जाता है । बहिःपृष्ठ तक वस्तु दृष्टि पथ में आ सकती है । एक-एक यज्ञ पुरुष त्रिपृष्ठ है । इसमें अन्तः पृष्ठ में तीन शरीर होने से पाँच संस्थाएँ हो जाती हैं । इस प्रकार पाँच संस्थाओं के कारण श्रुति में यज्ञ को पाङ्क्त (पाँच भाग वाला) कहा गया है । इन पाँचों के पारिभाषिक नाम भी भिन्न हैं । कारण शरीर को उक्थ, सूक्ष्म शरीर को विराट्, स्थूल शरीर को वैराज, मध्यपृष्ठ को छन्दस्य और अन्तिम तैंतीस

को मिलाकर **सर्व** कहते हैं। इस प्रकार यह यज्ञ पुरुष पंचसंस्थ है। इस प्रकार पाँच प्रकार के पुर के समान शरीर में वास करने के कारण षोडशी नाम पुरुष कहलाता है।

प्रजापति प्रकरण में कहा गया है कि प्रजापति ने सर्वप्रथम वेदों का प्रादुर्भाव किया वह ही उसके स्वरूप थे। उसी स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर उन्होंने आगे सृष्टि का उपक्रम किया। वेदों से ही यज्ञ सम्पन्न होता है और यज्ञ के द्वारा सृष्टि होती है। यज्ञ के स्वरूप-निर्माण के समय क्रमशः पहले यजुः, फिर ऋक् और सोम अपना भाग ग्रहण करते हैं। ये ही तीनों वेद क्रम से अनुप्रविष्ट होकर यज्ञ के स्वरूप का निर्माण करते हैं। ये तीनों वेद वाक् रूप हैं (अन्नः और प्राण भाग भी इसमें अविनाभूत हैं परन्तु प्रधानता वाक् की है)। यज्ञ प्राणप्रधान है। वाक् और प्राण सदा मिले रहते हैं, इसलिए जहाँ वाक् है, वहाँ प्राण भी अवश्य साथ हैं परन्तु प्रधानता के अनुरोध से पृथक् संज्ञा होती है। वेद त्रिधातु हैं। इनके आशय (कार्यक्षेत्र) यज्ञ भी इसीलिए त्रिधातु हैं।

यज्ञ भेदों की सृष्टि में सर्वप्रथम स्वयंभू यज्ञ आता है। इस स्वयंभू यज्ञ से सम्बद्ध जो तीन वेद हैं उन्हीं में इस चर और अचर सम्पूर्ण जगत् की सत्ता है। इस यज्ञ में सतत हवन की क्रिया चलती रहती है। यह अपने को ही अपने में आहुत करता रहता है, इसके परिणाम से नये-नये ऋग्यजुःसाम की निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है। त्रिवेदी के उत्पन्न होने पर उससे संसर्ग रखने वाला जब नया यज्ञ उत्पन्न होता है तब नवीन वस्तु का निर्माण होता है। ये जो सूर्य, पृथ्वी, चन्द्रमा आदि ग्रह उपग्रह हैं ये यज्ञ के द्वारा नवीन उत्पन्न किये वेदों के द्वारा सम्पादित किये हुए यज्ञ स्वरूप ही हैं। तथापि इनका सम्बन्ध उस स्वयंभू यज्ञ से अवश्य है। यद्यपि इन समस्त यज्ञों का क्रम भी उसी स्वयंभू यज्ञ के क्रम से सर्वथा सम्बद्ध है तथापि भेद यह है कि इनका आश्रय पृथक् है और स्वयंभू यज्ञ का आश्रय पृथक्। स्वयंभू यज्ञ का आश्रय परमेष्ठी है। इस परमेष्ठी का अधिष्ठाता ईश्वर है। उसके तीनों वेद भी ईश्वर हैं तथा उन तीनों वेदों से सम्पाद्यमान यज्ञ भी ईश्वर है। उसी वेद से, उसी यज्ञ से अथवा उसी प्रजापति से यह समस्त चराचरात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है। यह सब विषय पुरुष सूक्त में संकेतित है।[१] वहाँ विराट् रूप क्षर पुरुष की उत्पत्ति

१. पुरुष सूक्त—ऋ०, १०।७।९०

"तस्माद्विराडजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ।।५।।

बता कर उसी के अवयवों से यज्ञ कहा है और उसी पुरुष के अवयव भूत देवताओं को यज्ञ का कर्ता बताया गया है। दूसरे मन्त्र में उसी सर्वहुद् यज्ञ से वेदों की उत्पत्ति कह कर आगे सब पदार्थों की उत्पत्ति बतायी गयी है। उसका विवरण ब्राह्मणों में भी मिलता है।

हमारे दृष्टिपथ में जो कुछ आता है वह सब प्राण है जैसा कि 'प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो' इत्यादि मन्त्र में प्रतिपादित हुआ है। इस प्राण का प्रकाशक मन है और तेज स्वरूप में दिखाई देने वाली वाक् इन प्राणों के आधार पर रहती है। इन प्राण, मन और वाक् का संकलन करने पर एक प्रजापति होता है। मन का प्राण में प्रविष्ट होना, उसका मनमें आना और वही क्रिया वाक् के साथ होना—इस प्रकार परस्पर गमनागमन क्रिया ही यज्ञ है। ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है—'वाचश्चित्तस्य उत्तरोत्तर क्रमो यज्ञः'—अर्थात् मन का प्राण में आकर वाक् बनना तथा वाक् का फिर मन में परिवर्तित होना—इस क्रम को यज्ञ कहते हैं। मन और वाक् के इस प्रकार एक दूसरे के रूप में परिवर्तन होने की क्रिया में प्राण ही कारण है। क्रियाशीलता प्राण में ही है। मन और वाक् स्वतः अक्रिय हैं। जहाँ कहीं मन या वाक् में क्रियाशीलता देखी जाती है वहाँ भी प्राण का सहयोग ही कारण है क्योंकि ये तीनों सर्वदा एक साथ रहते हैं। तीनों एक साथ मिलकर ही प्रजापति का स्वरूप बनते हैं। प्राधान्य की दृष्टि से पृथक् कहे जाते हैं। इस प्राण के द्वारा ही क्रिया होती है, अतः इसे ही यज्ञ कहना चाहिए। 'मनश्च वाक् च वर्तनी' यह श्रुति में मिलता है। मन और वाक् वर्तनी है उसके आधार हैं।

इसी प्रकार सोम को अमृत कहा जाता है क्योंकि वह कभी नष्ट नहीं होता। उसी के परस्पर आघात-प्रत्याघात से बल विशेष की उत्पत्ति होती है जिसे '**सहः**' कहा जाता है। इस सहः नामक बल से अग्नि की उत्पत्ति होती है जैसा कि ऋग्वेद में मिलता है।[२]

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म शरद्धविः ॥६॥
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥
तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥९॥" इत्यादि

२. ऋ० १०।११।१४०—'अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः सूनो न ह्यन्यदस्त्याप्यम् ॥१॥ पूर्वार्ध।

सोम से सहः के द्वारा अग्नि की उत्पत्ति क्रिया यज्ञ शब्द से कही जाती है। सोम अमृत है सोम के अंश से अग्नि की उत्पत्ति होती है और सोम के योग से ही अग्नि के स्वरूप की रक्षता है। सोम का जो अंश अग्नि में आहुत होता है वह अग्नि रूप में परिणत होता है। अग्नि विकासधर्मा है। विकसित होते हुए जब वह चरम सीमा में पहुँचता है तब अपने उद्भव सोम में परिणत हो जाता है। सोम अग्नि बनता है और अग्नि फिर सोम हो जाता है। यह प्रक्रिया यज्ञ है। सोम की अवस्था मात्र का परिवर्तन होता है, इसलिए उसे अमृत कहा गया है। यही सोम संसार के समस्त पदार्थों का उपादान कारण है। जब सोम सम्पूर्ण आकाश में व्याप्त रहता है तब उसमें रूप रस गन्ध आदि कुछ भी नहीं रहते परन्तु उसी सोम के संयोग से रूप रस गन्ध आदि से युक्त पदार्थों का निर्माण यज्ञ प्रक्रिया से होता रहता है।

सर्वादि प्रजापति का विस्तृत होना यज्ञ बताया गया है और सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति उस यज्ञ से निर्दिष्ट की गयी है उसी प्रकार प्रजाओं का निरन्तर प्रजनन जो अबाध गति से चल रहा है वह यज्ञ के द्वारा ही चल रहा है। यज्ञ से जिस प्रकार वस्तु के स्वरूप की रक्षा होती है उसी प्रकार वस्तु का समुत्पादन भी यज्ञ के ही द्वारा होता है। यज्ञ प्रक्रिया से ही वस्तु का उद्भव होता है, उस यज्ञ के निरन्तर चलते रहने पर वस्तु अपने स्वरूप में स्थित रहती है। यज्ञ के उच्छिन्न हो जाने पर वस्तु का नाश हो जाता है। प्रत्येक वस्तु का कुछ अंश प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है यह विशकलन अग्नि का धर्म है। बाहर से सोम आकर अग्नि रूप में परिणत होकर उस क्षीणता की पूर्ति करता है। बाल्यकाल में क्षीणता कम और सोम की आय अधिक होने से शरीर आदि का उपचय होता है। युवावस्था में आय व्यय समान होने से स्थिरता प्रतीत होती है। पश्चात् व्यय अधिक और आय कम होने पर वार्धक्य में क्रमशः क्षीणता बढ़ती जाती है और अन्त में यज्ञ उच्छिन्न होने से शरीर का नाश हो जाता है। इस प्रकार वस्तु का उत्पादन और रक्षण यज्ञ प्रक्रिया पर ही निर्भर है।

उत्पादन में अग्नि और सोम का संयोग किस प्रकार कार्य करता है इसके उदाहरण में एक सम्माननीय विद्वान् लिखते हैं[1] कि बीज से एक छोटा पौधा बनता है। इसमें आरम्भ से ही यज्ञ की प्रक्रिया चलती है। पृथ्वी में सर्वत्र अग्नि व्याप्त है। उस अग्नि पर थोड़ा-

'त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन्वृषेदसि।' १०।१२।१५४।१
यहाँ इन्द्र को भी 'सहोजात' कहा गया है। अग्नि का ही रूप इन्द्र भी माना गया है।

१. म० म० पं० गिरिधर शर्म्मा—वै० वि० और भारतीय संस्कृति–पृ० ९५।

सा आवरण है । आवरण को हटाते ही वह अग्नि अपना स्वरूप प्रकट कर देती है । श्रुतियों में जो 'त्र्यंगुला वेदिः' लिखा है उसका आशय यह है कि तीन अंगुल आवरण हटा देने से अग्नि अपना स्वरूप स्फुट कर देती है । जब कृषक नया अन्न उत्पन्न करने को अथवा माली नया पौधा लगाने को उद्यत होता है तब वह पहले भूमि को किंचित् खोदता है । उसका खोदना आवरण को हटाने के लिए ही है । आवरण हटाने पर उस अग्नि पर बीज डाल दिया जाता है । वह बीज सोमप्रधान है, उसकी अग्नि पर आहुति होती है । इसके साथ ही सोमप्रधान जल का भी सेक वहाँ आवश्यक है क्योंकि बीज में जितना सोम का अंश था उससे काम नहीं चल सकता था । जल में सोम की प्रचुर मात्रा है । इस प्रकार अग्नि पर सोम की आहुति से एक यज्ञ सम्पन्न हुआ और इसका फल हुआ एक अंकुर की उत्पत्ति । इसके आगे पुनः यज्ञ प्रक्रिया चलती रहती है। अग्नि के भीतर जो सोम का अंश आर्द्रता है, उसे सूर्य, मण्डली की अग्नि अपनी ओर ऊपर को खींचती है । किन्तु उसमें पार्थिव अंश भी है, इसलिए वह पृथ्वी से छूट नहीं सकता । पृथ्वी का अंश मृत्तिका उसके साथ ही खिचती चलती है। परिणाम यह होता है कि अंकुर क्रमशः ऊपर को बढ़ता जाता है । पृथ्वी और सूर्य के आकर्षण और विकर्षण से आगे चल कर उसमें अनेक शाखाएँ भी निकल आती हैं और यज्ञ प्रक्रिया से ही परिपाक होते-होते वहाँ पुष्प और फलों का भी प्रादुर्भाव हो जाता है । जब तक यह यज्ञ प्रक्रिया चलती रहती है तब तक पौधा हरा भरा रहता है । किन्तु इस यज्ञ प्रक्रिया का विच्छेदक भी एक प्राण आता है जिसे 'यमप्राण' कहते हैं । उस यमप्राण के द्वारा जब यज्ञ प्रक्रिया विच्छिन्न कर दी जाती है और पृथ्वी का रस ऊपर नहीं उठता तब पौधा नष्ट होने लगता है ।

यही स्थिति समस्त प्राणियों की भी है । स्त्री के गर्भाशय में स्थित अग्नि पर शुक्र रूप सोम की आहुति पड़ती है इस यज्ञ प्रक्रिया से एक नवीन प्राणि शरीर की उत्पत्ति का आरम्भ हो जाता है । क्रमशः यज्ञ प्रक्रिया से ही शरीर संगठित होता है और आगे जठर स्थित वैश्वानर अग्नि पर प्रतिदिन भोजन रूप सोम की आहुति से उसकी स्थिति बनी रहती है। जब वही यमप्राण इस सोमाहुतिरूप यज्ञ प्रक्रिया को विच्छिन्न कर देता है तब शरीर नष्ट हो जाता है । इस यज्ञ के द्वारा ही प्रसव होता है, यह आशय भगवद्गीता में भी मिलता है—

'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।।'

अर्थात् प्रजापति ने प्रजाओं के साथ ही यज्ञ को उत्पन्न किया और प्रजाओं को उपदेश दिया कि इसी के द्वारा तुम नये-नये पदार्थों को उत्पन्न करते रहोगे और यही तुम्हारी समस्त कामनाओं को पूर्ण करेगा ।

इस सबका निष्कर्ष यह है कि अग्नि के संस्कार को यज्ञ कहा जाता है। अग्नि के वैदिक, दैविक और भौतिक रूप से तीन भेद हैं। वैदिक अग्नि यजुः है जिसे याजुषाग्नि कहा गया है। इस यजुः अग्नि के रस से ही समस्त वस्तुओं का स्वरूप सुरक्षित रहता है। आगे वह यजुः ऋक् होता हुआ उत्क्रान्त होता है। वह फिर सोम के द्वारा सामरूप से आता है तथा पुनः अग्नि के रूप में परिणत होकर यजुः बन जाता है। यही वैदिक अग्नि का संस्कार है। यह प्राकृतिक रूप से चलती रहती है। दूसरी दैविक अग्नि वह है जिसका विस्तृत स्वरूप वसु, रुद्र और आदित्य के तारतम्य से बनता है जिसमें तैंतीस देवता संनिविष्ट होते हैं। उसके अन्न, ऊर्क् और प्राण के परस्पर परिग्रह द्वारा यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। तृतीय अग्नि भौतिक अग्नि है उसमें हवन हुआ करता है। इस आहुति से अग्नि का स्वरूप निष्पन्न होकर फिर सोम बन जाता है। अग्नि में अग्नि और सोम दो पदार्थों की आहुति होना इसकी विशेषता है।

अग्नि-चयन-यज्ञ उसे कहा जाता है जब अग्नि के संस्कार के लिए अग्नि में अग्नि की ही आहुति दी जाय। अग्नि में सोम की आहुति सोम यज्ञ है। चित्य और चितेनिधेय दो प्रकार की अग्नि कही गयी है। चित्य भूत है और चितेनिधेय प्राणाग्नि है, दैवत अग्नि है। इन भूताग्नि और दैवत अग्नियों के द्वारा अग्निचित्या यज्ञ कहलाता है। इसे भूत दैवत्य कहते हैं। जब अग्नि में अग्नि की आहुति से अग्नि का चयन किया जाता है तब अग्नि के बलवान् होने से आत्मा भी प्रबल हो जाता है। इसीलिए भूतों का सम्बन्ध उसमें निर्बल होकर टहनी से सूखे हुए पत्तों के अनुसार झड़ कर अलग हो जाता है। अतः आत्मा भूमि और चन्द्रमा दोनों को छोड़ कर शुद्ध अग्नि रूप से सूर्य में चला जाता है। उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। परन्तु अग्नि में यदि सोम की आहुति दी जाय तो आत्मा को यज्ञातिशय के द्वारा स्वर्ग-सुख का भोग होता है और अन्त में 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' के अनुसार जन्म-मरण के प्रवाह में पड़ना अनिवार्य होता है। जिस अग्नि में सोम की आहुति दी जाती है उसके ग्यारह भेद हैं। पृथ्वी से सम्बन्ध रखने वाली अग्नि गार्हपत्य कही जाती है। सूर्य से सम्बन्ध रखने वाली आहवनीय है। अन्तरिक्ष से सम्बद्ध धिष्ण्याग्नि कहलाती है इसके आठ भेद हैं। अन्तिम ग्यारहवीं नैर्ऋत्याग्नि कहलाती है। इनमें सोम की आहुति देना ही सोम यज्ञ है।

लोकव्यवहार में अग्नि में सोम की आहुति देने को ही यज्ञ कहा जाता है किन्तु ये अग्नि और सोम भी यज्ञ द्वारा ही उत्पादित हैं। ये नीचे की कक्षा के पदार्थ हैं। जब अग्नि और सोम नहीं थे तब भी यज्ञ होता था और उससे नये-नये तत्त्वों का आविर्भाव होता रहता था। उस समय के यज्ञपुरुष के अवयवों का ही परस्पर सम्मिश्रण रूप यज्ञ है।

जैसा कि पुरुष सूक्त में बताया गया है—'देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्' अर्थात् आरम्भ में यज्ञ करते हुए देवताओं ने पुरुष को ही पशु बनाया। वसन्त ही वहाँ आज्य (घृत) है ग्रीष्म इन्धन, शरद् हवि था। यह भी पुरुष सूक्त में मिलता है। इस प्रकार ऋतुओं से वह यज्ञ चला था अर्थात् काल के अवयव और पुरुष के अवयव उस यज्ञ का सम्पादन करते थे। इसी यज्ञ से ऋग्यजुः साम की उत्पत्ति बतायी गयी है। अर्थात् प्रकाश फैलना और मूर्ति बनना आदि जो ऋक् साम और यजुः के स्वरूप कहे गये हैं वे भी यज्ञ क्रिया से सम्पन्न होते हैं। निर्गुण, निष्क्रिय, निस्संग, निर्विशेष एक व्यापक तत्त्व से सृष्टि कैसे हुई इसकी उपपत्ति के लिए माया या प्रकृति नाम की शक्ति माननी पड़ी जिसके कारण असीम अखण्ड रस मित सीमित-सा हुआ और उसी के कारण रस और बल के सहयोग से रस के आधार पर शक्ति के विस्तार से सृष्टि होने लगी। अक्षर पुरुष तक केवल प्राण व्यापार ही चलता रहा। प्राण भी रूप, रस आदि गुणों से रहित है। वह स्थानावरोधक नहीं है, इसलिए एक बिन्दु पर भी बहुत-से प्राणों का समावेश हो जाता है। भूतों का यह स्वभाव है कि जहाँ एक वस्तु रहे वहाँ दूसरी नहीं आ सकती। एक भित्ति में एक छोटी-सी कील भी गाड़ी जायगी तो उस भित्ति से उतना अंश हट जायगा, तब उस कील का वहाँ समावेश हो सकेगा। भूत स्थानावरोधक हैं। अक्षर पुरुष की प्रेरणा से क्षर पुरुष के विकार से आगे की सृष्टि चलती है। यज्ञ-प्रक्रिया सर्वत्र अनुवृत्त होती रहती है।

यज्ञ के सम्बन्ध में श्रुति में मिलता है—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।' कर्म रूप इस यज्ञ शब्द का व्यापक प्रयोग पाया जाता है। भगवद्गीता चतुर्थ अध्याय में तेरह प्रकार के यज्ञों का उल्लेख किया गया है; [१]—यथा—ब्रह्मार्पण यज्ञ, दैव यज्ञ, ब्रह्माग्नि यज्ञ, संयमाग्नि यज्ञ, इन्द्रियाग्नि यज्ञ, योगाग्नि यज्ञ, द्रव्य यज्ञ, तपोयज्ञ, योग यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, प्राणायाम यज्ञ और प्राण यज्ञ। ये सब निष्काम होने के कारण बन्धनकारक नहीं होते। वहीं बत्तीसवें श्लोक में कहा गया है कि इस प्रकार बहुत प्रकार के यज्ञ वितत हैं।[२]

१. ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
श्रोत्रादीनिन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
इत्यादि (४।२४–२६)

२. एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

उन सबको कर्मजन्य समझो, इस प्रकार जान लेने से मुक्त हो जाओगे । इस श्लोक में **ब्रह्मणो मुखे** शब्द हैं इसमें ब्रह्म शब्द अखण्ड रस का बोधक है उसी के आधार कर्मजन्य (बल) ये यज्ञ हैं । रस और बल के विवेक ज्ञान होने से ही मोक्ष कहा गया है । यहीं पर तैंतीसवें श्लोक में द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ का श्रेयस्कर होना कहा गया है ।[1] अठारहवें अध्याय में अर्जुन को त्याग के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए भगवान् कहते हैं[2] कि कुछ मनीषी कहते हैं कि जैसे दोष का त्याग किया जाता है उसी प्रकार कर्म मात्र का त्याग कर देना चाहिए । परन्तु दूसरे कहते हैं यज्ञ, दान और तपः कर्म त्याज्य नहीं हैं । इस सम्बन्ध में तुम मेरा निश्चय सुनो । यज्ञ, दान और तपः इन कर्मों को नहीं त्यागना चाहिए । ये अवश्य कर्तव्य हैं । यज्ञ, दान और तप ये मनीषियों के अन्तःकरण को पवित्र करने वाले हैं । तथापि इन कर्मों को फल और आसक्ति छोड़ कर करना चाहिए यह हमारा निश्चित मत है।

इस प्रकार गीता में यज्ञ, तप और दान की महत्ता का प्रतिपादन हुआ है । यह कहा जा चुका है कि समस्त विश्व शक्ति का विजृंभण है, कर्म रूप है और वह ईश्वर का शरीर है । आदान और विसर्ग ही कर्म का स्वरूप है। अपने में से कुछ अंश का त्याग और अन्य पदार्थ से अपने अपेक्षित अंश का ग्रहण करना कर्म है । यह प्रक्रिया (आदान और प्रदान) बराबर होती रहती है। इन तीनों में (यज्ञ, दान, तपः—और तप) में तप उसे कहा जाता है जिसके द्वारा अपने में न रहने वाले अथवा न्यून रूप में रहने वाले अपेक्षित अंश का दूसरे से आदान करना तप है । परन्तु यह तप का फल है । तप की प्रक्रिया में अपने अंश को बाहर निकालने की प्रक्रिया पहले करनी पड़ेगी जिससे बाहर से आने वाले अतिशय का आकर्षण हो सके और आकृष्ट अतिशय तप के द्वारा रिक्त अंश में प्रविष्ट हो सके । इस प्रकार अपने में रहने वाले अपेक्षित अंश का ग्रहण करना जिस प्रकार तप है उसी तरह उस अतिशय के ग्रहण करने की योग्यता सम्पादन करना, क्षेत्र तैयार करना, भी तप है । जिस प्रकार अग्नि में तप्त करके सुवर्ण को शुद्ध किया जाता है इसी प्रकार यम, नियम आदि तप के द्वारा

१. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप । सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।।

२. त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः । यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।१८।३।। निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम । – १८।४ पूर्वार्ध ।

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।१८।५।। एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।१८।६।।

अध्यात्म का शोधन होता है जिससे आत्मा में जिन विरोधी पदार्थों का समावेश हो गया है उनका निराकरण होकर आत्मानुकूल संस्कारों के लिए शुद्ध क्षेत्र सम्पादित हो। जिस प्रकार चूल्हे में अग्नि पर रखे पाक-पात्र में जल, अन्न यदि डाला जाय तो उस अग्नि के प्रभाव से जल, तण्डुल आदि मुख्य रूप से परिपक्व होते हैं; पाक-पात्र का दाह अत्यल्प होता है। यदि पात्र में अन्न-जल न डाला जाय तो सम्पूर्ण अग्नि बल से प्रथम पाक-पात्र में प्रलिप्त पदार्थ का और फिर पाक-पात्र का ही प्रदाह प्ररम्भ हो जायगा। इसी प्रकार यदि नित्य भोजन किया जाता है तो जाठराग्नि उस भोजन के परिपाक में ही व्यापार करती है; शरीर का अत्यल्प शोष होता है। यदि भोजन न किया जाय तो जाठराग्नि के वल से शरीर के अन्तःकरण का ही शोष होगा और फलतः अन्तःकरण में लगे हुए मल का शोषण होगा जिससे अन्तःकरण शुद्ध होगा। इसलिए अनशन (भोजन न करना, उपवास) अन्तःकरण के शोधन करने का प्रधान उपाय है। यह तप है इसके द्वारा शुद्ध किये हुए अन्तःकरण में बाहर से अनुकूल पदार्थों का आकर्षण और आधान हो सकेगा। यह तप का कार्य है। यह तप अनेक-अनेक प्रकार का है और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार किया जाता है। बाल, वृद्ध, बीमार आदि के लिए कठोर चान्द्रायण आदि विहित नहीं हैं।

दानः—अपने में रहने वाले अर्थ को दूसरे उपयुक्त पात्र को जिसे उसकी आवश्यकता हो देना दान कहलाता है। यह तो स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक प्रतिक्षण कुछ आदान और विसर्ग करता रहता है। तब यदि अपने लिए अपेक्षित अर्थ का ग्रहण किया जाय और अपने में दूसरे को अपेक्षित अर्थ प्रदान किया जाय तो इस प्रक्रिया से जगत् का महान् उपकार होगा और साम्य बना रहेगा। एक स्थान में प्रचुर धन संचय निरर्थक पड़ा सड़ता रहे और अन्यत्र जन समूह दुःख दारिद्र्य भोजनाभाव से पीड़ित रहे तो इस विषमता का दुष्परिणाम समाज और देश के लिए घातक सिद्ध होगा। परन्तु यदि श्रीसम्पन्न व्यक्ति अपने सामान्य उपभोग से अतिरिक्त अर्थ को अन्य अपेक्षित व्यक्तियों में वितरण करते रहें तो संसार में सुख-शान्ति की समृद्धि होगी। चौर्य, दुराचार, साहस आदि अपराधों को अवकाश न मिलेगा। अधिकतर अपराध इस वैषम्य के कारण ही देखे जाते हैं। परस्पर उपकार्य और उपकारक भाव के बढ़ने से एकता होने से सभी का बल बढ़ेगा। अन्यथा कहीं अजीर्णता का दोष और कहीं दीनता का दोष होने से विप्लव होगा।

यह दान-क्रिया आपाततः देखने से केवल प्रदान करने का अर्थ द्योतित करती है परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर इसके द्वारा भी आदान होता है। पारिभाषिक रूप में प्राकृतिक यज्ञ के अनुकरण में जो वैधानिक यज्ञ किये जाते हैं उनमें जो दक्षिणा ऋत्विजों को दी जाती है उसे दान कहते हैं। इन यज्ञों के अकेले यजमान के द्वारा अनेक प्रकार के यज्ञ कार्य के

सम्पादन करने में सुविधा नहीं रहती इससे अपने यज्ञकर्म में सहायता देने के लिए उसे आवश्यकतानुसार एक या अनेक ऋत्विजों का वरण करना पड़ता है। इसका विशेष उल्लेख आगे वैधानिक यज्ञ के विवेचन में होगा। ये ऋत्विज यजमान के प्रतिनिधि होकर यज्ञकर्म सम्पादन करते हैं। इस कर्म के लिए उन्हें दक्षिणा देना अनिवार्य होता है। 'हतो यज्ञस्त्वदक्षिणः' के अनुसार बिना दक्षिणा दान के यज्ञ का पूर्ण फल यजमान को प्राप्त नहीं होता, अतः कर्म की दक्षिणा देकर ऋत्विज् से उस कर्म का फल खरीदा जाता है। यहाँ तो प्रत्यक्ष ही फल का आदान देखा जाता है। परन्तु यज्ञवेदी से बाहर जो दान दरिद्र, याचक दीन भिक्षुओं को दिया जाता है उसे दत्त शब्द से कहा गया है। उसमें पात्रता का विचार नहीं होता। ऋत्विक् कर्म के लिए वेद विद्या-सम्पन्न कर्मणाब्राह्मण का ही वरण होता है और उसे दक्षिणा दी जाती है। वहाँ यह देखना अनावश्यक है कि ऋत्विक् दरिद्र है अथवा वैभव सम्पन्न। वह तो कर्म दक्षिणा है। किन्तु बहिर्वेदि जो दरिद्रों को दान दिया जाता है वहाँ भी देने वाले को बदले में कुछ नहीं मिलता यह बात नहीं है। वह यद्यपि निस्स्वार्थ भाव से बिना फल की कामना के दरिद्र को दान देता है प्रतिफल रूप कुछ नहीं चाहता तथापि प्राकृतिक नियम के अनुसार उसे फल प्राप्त होता ही है। यह कहा गया है कि जहाँ तक वित्त का विस्तार है वहाँ तक उस पुरुष का आत्मा विस्तृत रहता है—— 'यावद् वित्तं तावदात्मा।' यहाँ वित्त शब्द से केवल अर्थ द्रव्य ही अभिप्रेत नहीं है प्रत्युत यावन्मात्र भोग्य पदार्थ जहाँ तक उसका ममत्व भाव है वहाँ तक उसका आत्मा फैला हुआ है। दरिद्र को अपने वित्त का दान करके दरिद्र के आत्मा तक उसके आत्मा का सन्तनन होता है उसके द्वारा——आत्मा के विस्तृत होने से आत्मा का मल भाग क्षीण होता है और आत्मा शुद्ध होता है। जिस प्रकार मैले पानी के गढ़े को शुद्ध जल में मिलाकर विस्तृत कर दिया जाय तो गढ़े का जल अपेक्षाकृत शुद्ध हो जायगा, इसी प्रकार इस दानके द्वारा आत्मा का विकास होता है और उस विकास से उसकी शुद्धि होती है।

सामान्य दान तीन प्रकार का कहा गया है। जिसमें दान करने वाला दातव्य पदार्थ से अपना स्वत्व हटा लेता है और जिस व्यक्ति को दान देता है उसका स्वत्व स्थापित करता है वह प्रथम प्रकार है। उसे दान ही कहते हैं। परन्तु जहाँ दाता देय वस्तु में से अपना स्वत्व निवृत्त नहीं करता स्वयं भी उसके उपभोग का अधिकार बनाये रखता है और साथ ही उसमें दूसरों के स्वत्व का भी स्थापन करता है वह **उत्सर्ग** कहा जाता है। जैसे कुआँ, बावली आदि में उसका भी स्वत्व रहता है और अन्य व्यक्ति भी समान रूप से उसका उपभोग कर सकते हैं। यह कूपोत्सर्ग है। तीसरा प्रकार त्याग कहलाता है। इसमें दाता देय पदार्थ से अपना सम्बन्ध निवृत्त कर लेता है, स्वयम् उसके उपभोग का अधिकारी नहीं

रह जाता परन्तु किसी व्यक्ति विशेष में उसका स्वत्व स्थापित न करके सामान्य रूप से सर्वसाधारण के उपभोग के लिए छोड़ देता है, वह **त्याग** है। जैसे बाग लगा कर सर्व-साधारण के उपभोग के लिए छोड़ दे और स्वयम् अपना स्वत्व उसपर से हटा ले। अथवा अतिथिशाला, धर्मशाला, पाठशाला आदि बनवा कर सर्वसाधारण के उपभोग के लिए दे दे। इन सब के द्वारा भी आत्मा का उत्कर्ष होता है, आत्मशुद्धि होती है।

यह दान और आदान की प्रक्रिया प्राकृतिक रूप से जड़-चेतन सभी में यावज्जीवन देखी जाती है। जड़ पदार्थों में भी अपने से इतर के धर्म का ग्रहण करना और अपने धर्म का दूसरे में संक्रान्त करने का अतिशय अधिकतर देखा जाता है। चेतनों में प्राकृतिक दान और आदान की प्रक्रिया भी चलती है तथा इच्छा के द्वारा दान-आदान के सम्बन्ध से विशेष रूप से प्रवृत्ति निवृत्ति के द्वारा होती है। इस प्रकार विनिमय से यह सब जगत् सम्पन्न और बलवान् होता है।

इस प्रकार सम्पन्न होकर सब निरपेक्ष होकर सब जगत् के आप्यायन के लिए प्रवृत्त हों। जगत् विश्वेश्वर का स्वरूप है उसके आप्यायन से विश्वेश्वर का प्रसाद प्राप्त होता है। यह जगत् के आप्यायन का कार्य यज्ञ है। समस्त जगत् अग्नि सोम से बना है यह श्रुतिसिद्ध है। सब जगत् के उपादान भूत देवता सोमा का आदान करते हैं और अपनी अग्नि को दूसरे में संक्रान्त करते हैं। सोम आदि हवि के भोजन के लिए अग्नि ही देवताओं का मुख है। जिस प्रकार भूख की (बुभुक्षा) अग्नि प्रज्वलित होने पर उसमें अन्न की आहुति की जाती है उसी प्रकार सभी पदार्थों में समिद्ध अग्नि में दूसरे अतिशय की आहुति होती है। इसलिए अग्नि में सोम की आहुति रूप यह यज्ञ भी सबका साधारण धर्म है। जहाँ जो कुछ दृष्टिगत होता है वहाँ सर्वत्र अग्नि में सोम की आहुति होती रहती है, इसलिए वह सब यज्ञ स्वरूप है। प्रजापति प्रकरण में कहा गया है कि प्रत्येक पदार्थ यज्ञ प्रजापति है। भोजन करना, अध्यापन करना या कोई भी कार्य करना सब यज्ञ है। इसी दृष्टि से गीता में पूर्वोक्त तेरह प्रकार के यज्ञ बताये गये हैं। वे उपलक्षण मात्र हैं। सब यज्ञ हैं उसी में सब कर्मों का अन्तर्भाव है, इसीलिए श्रुति में उसे श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है।

जहाँ कहीं श्रुतियों में सृष्टिप्रकरण का निर्देश होता है वहाँ सर्वत्र काम, तपः और श्रम के द्वारा सृष्टि का होना कहा जाता है। यह कहा गया है कि जब बल के द्वारा (महा-माया) रस सीमित-सा होता है तब उस सीमित रस को श्वोवसीयस् मन कहा जाता है। सीमाबद्ध होने से ही अखण्ड की अपेक्षा वह अपूर्णता का अनुभव करता है और पूर्णता प्राप्ति के लिए उसमें कामना उत्पन्न होती है। आत्मा का स्वभाव भूमा है। भूमत्व को प्राप्त करने के लिए मन का जो उत्थान होता है उस प्राण मात्रा के पर्याप्त रूप में

सहयोग न होने पर वाग्लक्षण अशिति (भोजन) यथेष्ट नहीं मिलता तब वाक् और प्राण से अपने को हीन मान कर वह अपूर्णता का अनुभव करता है। यद्यपि इन तीनों का (मन, प्राण और वाक्) अविनाभाव है, एक के बिना दूसरा नहीं रहता। मन स्वतः निष्क्रिय है किन्तु मन के उत्क्रमण के लिए मन में अन्तर्याम रूप से प्राण है ही। इसी प्रकार इच्छा के विषय में वाग् भी है। तथापि अशनाया में (अशन प्राप्त करने की इच्छा में) अशिति को प्राप्त करने का पर्याप्त बल नहीं है इससे वह अपूर्ण समझा जाता है। जो अपूर्ण है रिक्तोदर है उसमें अशिति प्राप्त करने के लिए बल ग्रहण करने के लिए जो इच्छा उत्पन्न होती है उसे **अर्क** कहते हैं। उस इच्छा का जो अर्थ विषय होता है मन में उसकी वासना (वसना) काम है। वाक् रूपी अर्थ का मानस रूप काम है। मन में प्राण के द्वारा वाक् का जो भोग है वह काम है। इच्छा के साथ ही उठता हुआ प्राण जिस अर्थ की इच्छा होती है उसकी ओर दौड़ता है। उस वस्तु को प्राप्त करने के लिए प्राण की जो वृत्ति होती है उसे प्रयत्न या तप कहते हैं। मन से प्रेरित अर्क (इच्छा) के द्वारा जब शरीराग्नि पर आघात होता है और उस कायाग्नि से ही प्राण में क्षोभ उठता है उस प्राण के क्षोभ को ही तप कहा जाता है। शरीराग्नि के सम्बन्ध के कारण ही (अग्नि की ऊष्मा के योग से) यह **तप** कहलाता है। उससे वाक् का सम्बन्ध होने पर वाक् में भी वह तप चला जाता है। यह तप ही प्रजा की सृष्टि होती है जैसा कि मैत्रायणी श्रुति में मिलता है—'प्रजापतिः प्रजा असृजत। ता वै तपसैवासृजत।' वहीं पर यह भी लिखा है–'तपसो वैताः प्रजाः प्राजायन्त। तपस्त्वं वा एतद् गच्छति, यच्छृतत्वं गच्छति। ततः प्रजायते।' अर्थात् तप से ही सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है। श्टृत होना (अग्नि का संयोग होना) ही तप है। तब उत्पन्न होना कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में फेन के दृष्टान्त से तप का स्वरूप बताया गया है—'एतद् वै फेनस्तप्यते यदप्स्वावेष्टमानः प्लवते। स यदोपहन्यते मृदेव भवति।' जल के भीतर वायु का प्रवेश होने पर बुद्बुद उठता है। वह वायु प्रबल होने के कारण धक्का देकर निकल जाता है। किन्तु जब वह चारों ओर जल के स्तर से घिरकर निकल नहीं पाता तो कुछ समय स्थायी होकर जल और वायु के परस्पर संघर्ष से फेन बन जाता है। इसी पर जब पुनः-पुनः वायु के आघात होने से और स्तर चढ़ते जाते हैं तब यह फेन ही मृत्स्ना बनता है। इस प्रकार यह फेन का तप होता है। जल और वायु के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न अग्नि का संयोग ही तप है। तैत्तिरीय श्रुति में कद्रूसुपर्णाख्यान में कहा गया है—'एतत् खलु वाव तप इत्याहुर्यत् स्वं ददाति।' यहाँ कहा जा चुका है कि यज्ञ, तप और दान तीनों में आदान और प्रदान क्रिया होती है। प्रदान क्रिया प्रथम है। अपना अंश जो दूसरे को दिया जाता है वह दान तप ही कहा जाता है। अपना अंश दूसरे को अर्पित करना ही दान है। यह दान

अवदान है । दान शब्द 'दो' धातु से भी निष्पन्न होता है । दो धातु का अर्थ है अवखंडन–(दो अवखंडने) । अवदान शब्द से इस अवखण्डन रूप दान को स्पष्ट किया जाता है । अवदान का अर्थ है काटना । यह दान भी उसी अर्थ में यहाँ प्रयुक्त है । आत्मा का अंश निकालकर दूसरे को देना ही दान है । इसी को ताण्ड्य श्रुति ने स्पष्ट कर दिया है—'आत्मदक्षिणं वा एतद् यत्सत्रम् । यदा वै पुरुष आत्मनोऽवद्यति यत्कामयते तमभ्यश्नुते ।' इसका भाव यह है कि यज्ञ में द्रव्यादि की जो दक्षिणा दी जाती है वह पुरुष के अपने अंश का खण्डन करके ही दी जाती है । अपने आत्मा का अंश देने से ही सब कामनाओं की प्राप्ति होती है । इस प्रकार ताण्ड्य श्रुति भी आत्मा के इस अवदान को तप कहती है । पूर्व में कहा जा चुका है जहाँ तक वित्त है वहाँ तक आत्मा का विस्तार है अतः वित्त का दान भी आत्मा के अंश का ही प्रदान है । ये जो यज्ञ तपोदान कहे गये हैं ये सब तप ही हैं । तत्र भेद इतना है कि जहाँ आत्मा वितायमान होकर आधिदैविक देवों से संयुक्त होता है; मानुष आत्मा में दैव आत्मा का उत्पादन करके दैव आत्मा को दिव्य देवों से संश्लिष्ट करता है वह आत्मांश समर्पण यज्ञ कहा जाता है । आत्मा का जो विराट् रूप शरीर है उसमें से बहुत-सा भाग काट कर अन्यत्र अर्पण किया जाता है वह तप कहलाता है । जैसे ऊपर में कहा गया है ध्यान या अनशन (भोजन परित्याग) यह तप है क्योंकि इन सबमें अन्तरंग आत्मांश का अन्यत्र समर्पण होता है। जहाँ आत्मीय वहिरंग अन्न, द्रव्य आदि के द्वारा आत्मांश का समर्पण होता है वह दान कहा जाता है। इस प्रकार यज्ञ में साक्षात् आत्मा का समर्पण होता है । तप में मन और शरीर का तथा दान में वित्त का । तप में आत्मा का सम्बन्ध कुछ दूर हुआ और दान में अधिक दूर । इस तारतम्य को दिखाने के लिए तीन पृथक् शब्दों का व्यवहार होता है परन्तु ये तीनों एक ही हैं। तीनों में ही आत्मा के अंश का अवदान होता है ।

इस प्रकार प्राण सहित वाक् की वाक् में ही जो वृत्ति होती है उसे श्रम कहते हैं । श्रम में वाक् पर ही वाक् का प्रयोग होता रहता है । इस प्रकार एक ही तत्त्व से नाना प्रकार के अर्थ की उत्पत्ति में तपोविशेष प्रवर्तक काम विशेष ही प्रधान हेतु है । सेन्द्रिय से अथवा निरिन्द्रिय से जहाँ जो कुछ उत्पन्न होता है सर्वत्र कामतपः श्रम के द्वारा ही सृष्टि होती है । यह सृष्टि मात्र का साधारण नियम है ।

संसार की प्रत्येक वस्तु में सतत क्रिया होती रहती है; बिना क्रिया के किसी भी वस्तु की स्थिति सम्भव नहीं । यह प्राकृतिक नियम है । इसी के लिए भगवान् ने गीता में कहा है—'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।' इसी दृष्टि से ईशोपनिषत् श्रुति कहती है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।' प्रत्येक पदार्थ में अनवरत

आदान-प्रदान क्रिया चलती है । रस के आधार पर क्रिया का विजृंभण ही संसार है । कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु यज्ञ प्रजापति है । यज्ञ को ही सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा गया है क्योंकि उससे आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध है । अन्य सब कर्म उसी के अन्तर्भूत हैं । यह यज्ञ-प्रक्रिया प्राकृतिक रूप से चलती रहती है । इच्छा करने पर, प्रयत्न करने पर भी उसका परित्याग सम्भव नहीं है, इसीलिए गीता में भगवान् ने यज्ञ, दान और तपः को अत्याज्य बताया है ।

वैधानिक यज्ञ

महामहिम आर्य महर्षियों ने आर्ष दृष्टि द्वारा यह अनुभव किया कि प्रकृति में पदार्थों की उत्पत्ति-रक्षण आदि प्राकृतिक यज्ञों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। प्राकृतिक शाश्वत हैं और उनमें नियमबद्धता है । इस अनुभव के अनुसार उसी प्राकृतिक यज्ञ-विज्ञान के आधार पर वैधानिक यज्ञों का विधान किया । 'यद्वै देवा अकुर्वस्तत् करवाणि' अर्थात् देवों ने (प्राकृतिक प्राण देवताओं ने) जो कुछ किया वही हम भी करें इत्यादि के अनु-सार प्राकृतिक यज्ञ के अनुसार ही इस वैध यज्ञ में वही क्रम, वही पद्धति, वही पदार्थ, वही मन्त्र, वही ऋत्विक् सम्पत्ति का विधान किया गया है। इसमें मनुष्य बुद्धि का समावेश नहीं क्योंकि वे जानते थे कि मनुष्य बुद्धि के समावेश से यज्ञ की ऋद्धि विगत हो जाती है— 'व्यृद्धं वैतत् तद्यज्ञस्य यन् मानुषम् । उन्होंने यह देखा कि मनुष्य प्रकृति का अंश अवश्य है परन्तु कुछ आगन्तुक प्रतिबन्धकों के कारण प्रकृति प्रदत्त स्वाभाविक ऐश्वर्य अवरुद्ध रहता है । उस प्रतिबन्ध की निवृत्ति हो जाय और आत्मा स्वप्रभव देवता के साथ सम्बद्ध हो जाय तो अवश्य ही उस देवता का विज्ञान स्रोत मनुष्य में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने लगे । इसी उपाय को यज्ञ कहा गया है । हमारे आध्यात्मिक प्राणाग्नि को आधि-भौतिक भूताग्नि के द्वारा उस आधिदैविक दैवाग्नि के साथ युवत करके उस प्रभूत दैव बल का प्रवाहित करना ही यज्ञ है । इस वैध यज्ञ कर्म में हमारी रुचि या कल्पना का सम्बन्ध नहीं है । केवल प्राकृतिक यज्ञ की यह प्रतिकृति है ।

प्राकृतिक यज्ञों में सर्वप्रधान यज्ञ है सूर्य में सोम की आहुति होना । उसी सोम की आहुति रूप यज्ञ से सूर्य की स्वरूप, रक्षा होती है और उसी यज्ञ के द्वारा सौर ब्रह्माण्ड में समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है । सूर्य मण्डल से जो अग्नि पृथ्वी पर निरन्तर आती रहती है उसे ही वैश्वानराग्नि या संवत्सराग्नि कहा जाता है। एक वर्ष के काल में जितनी मात्रा अग्नि की आती है वह एक संवत्सराग्नि है । हमारे शरीर में जो वैश्वानराग्नि कार्य करती है वह उसी सौर अग्नि का एक अंश है । यज्ञ के द्वारा यजमान के शरीर में स्थित वैश्वान-

राग्नि को संस्कृत कर सूर्य मण्डल की पृथ्वी व्याप्त संवत्सराग्नि के साथ मिला देना ही यज्ञ का उद्देश्य है । इस मेल से स्वाभाविक आकर्षण के प्रभाव से यह मानुष आत्मा अपने उद्भवस्थान सूर्यमण्डल या स्वर्गलोक में जाता है । सूर्य से यह सब उद्भूत है, यह अनेक स्थानों में कहा गया है—'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः;' 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि । इसी संस्कार के लिए सूर्य-यज्ञ के अनुसार मानुष वैश्वानर के आवरण हटाने के लिए वैध यज्ञ होता है ।

संवत्सर विभाग

यद्यपि त्रुटि, कला, विकला आदि काल के सूक्ष्म विभाग बहुत हो जाते हैं तथापि सूर्याग्नि से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण संवत्सर का सबसे छोटा विभाग 'अहोरात्र' माना जाता है । यज्ञ कर्ता यजमान का सूर्य सम्मुख भाग अहः कहलाता है और सूर्य के विरुद्ध भाग रात्रि । अहः में सूर्याग्नि व्याप्त रहती है; रात्रि में आसुर । अहः शुक्ल है, रात्रि कृष्ण है । एक संवत्सर में ३६० अहोरात्र होते हैं और ३६० अहः तथा ३६० रात्रि इस प्रकार शुक्ल, कृष्ण के अन्तर से ७२० भाग हो जाते हैं । यह अहोरात्र विभाग प्रथम है । आगे यज्ञ में इसका उपयोग होगा ।

दूसरा विभाग महीने का है । इसकी उपपत्ति चन्द्रमा से सम्बन्ध रखती है । चन्द्रमा की गति के कारण शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष होते हैं । इस प्रकार संवत्सर में शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के द्वारा चौबीस विभाग हो जाते हैं ।

तीसरा विभाग ऋतुक्रम से होता है । मुख्य तीन ही ऋतु हैं—ग्रीष्म, वर्षा और शीत । प्रत्येक ऋतु चार महीने की होती है । इस प्रकार तीन चातुर्मास्य एक संवत्सर में होते हैं ।

चौथा विभाग अयन के क्रम से होता है । प्रत्येक संवत्सर में छः महीने तक सूर्य विषुवद् वृत्त से उत्तर की ओर रहता है । दूसरे छः महीने में सूर्य विषुवद् वृत्त से दक्षिण की ओर रहता है । इसी गति के कारण संवत्सर के दक्षिणायन और उत्तरायण भेद से दो भाग हो जाते हैं ।

ये चार संवत्सर के अवान्तर विभाग हैं । पाँचवाँ स्वयं संवत्सर पूर्ण है, एक है ।

संवत्सर के पाँचों भागों में भिन्न-भिन्न रूपों की पाँच प्रकार की अग्नि हैं । भिन्न-भिन्न अग्नियों में भिन्न प्रकार से आहुतियाँ देकर सोम यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं ।

सौर संवत्सर के अनुसार ही शरीराग्नि वैश्वानर संवत्सर के भी ये ही चार अवान्तर विभाग हैं । पाँचवाँ स्वयम् वैश्वानराग्नि है । चार अवान्तर यज्ञों के अनुष्ठान से वैश्वानर के चारों विभागों का शोधन होता है उनमें शक्ति का आधान होता है और अन्तिम सोमयाग

करने की योग्यता सम्पन्न होती है। सोमयाग के द्वारा ही वैश्वानर का पूर्ण संस्कार होता है और उसके सब प्रतिबन्धों का नाश होता है; निरोध दूर हो जाता है और आत्मा शुद्ध संस्कृत होकर अपने प्रभव सौराग्नि में पहुँचने का अधिकारी होता है। इन श्रौत अवान्तर यज्ञों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

श्रौत यज्ञों के लिए श्रौत अग्नि का आधान आवश्यक है। उसके लिए भी समय का विधान है। ब्राह्मण को श्रौताग्नि का आधान वसन्त ऋतु में करना चाहिए। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत', इत्यादि। ग्रीष्म में राजन्य और वर्षा में वैश्य के अग्न्याधान का काल कहा गया है। त्रैवर्णिक ही इसके अधिकारी हैं। इसमें सपत्नीक का ही अधिकार है। 'जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' इस श्रुति के अनुसार पचीस वर्ष की अवस्था से लेकर चालीस वर्ष की अवस्था तक कभी भी अग्न्याधान किया जा सकता है। उसके बाद यावज्जीवन उसका धारण आवश्यक है।

१. इन्हीं आधानसिद्ध वैतानिक अग्नियों में अग्निहोत्रादि कर्मों का अनुष्ठान होता है। पूर्व में जो अहोरात्र विभाग कहा गया है उसके संस्कार के लिए जो होम विशेष होता है वह **अग्नि होत्र** कहलाता है। अग्नि के उद्देश्य से सायम् और प्रातः किया जाने वाला होम अग्निहोत्र हैं। इस होम के लिए अनेक द्रव्य वताये गये हैं उनमें पयः (दूध) मुख्य द्रव्य ऋत्वंग के रूप में विहित है। अन्य यवागू, तण्डुल, दधि, घृत आदि कामना विशेष को लक्ष्य में रखकर विहित हुए है। इसमें अग्नि मुख्य देवता है। इस अग्निहोत्र की बड़ी प्रशंसा की गयी है। यजमान स्वयं इसमें कर्ता होता है। ऋत्विक् की अपेक्षा नहीं है।

२. अग्निहोत्र के वाद 'दर्शपूर्णमास' याग है यह द्वितीय विभाग का संस्कार करता है। ये दोनों क्रमशः अमावास्या तथा पूर्णिमा को किये जाते हैं। वास्तव में अमावास्या या पूर्णिमा को व्रत दीक्षा आदि पूर्वांग कृत्य होता है और मुख्य होम दूसरे दिन प्रतिपदा में होता है। श्रौत सूत्रों में, ब्राह्मणों में इनका विस्तृत विवेचन है। यहाँ उन सब पद्धतियों का उल्लेख करना सम्भव नहीं है। पूर्णमास में तीन याग और अमावास्या में तीन याग होते हैं। ये छः याग सब अन्य यागों की प्रकृति माने जाते हैं। 'प्रकृतिवद् विकृतिः कार्या' इस सिद्धान्त के अनुसार विकृति याग में जिन कर्मों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता वे प्रकृति याग के अनुसार किये जाते हैं। इस दर्शपौर्णमास में सपत्नीक यजमान के अतिरिक्त यज्ञ कर्म में सहायता देने वाले चार ऋत्विक् होते हैं। यद्यपि चारों ऋत्विक् चातुर्विद्य ही होते हैं तो भी कर्मानुसार ऋग्वेद सम्बन्धी हौत्र कर्म करने वाला होता कहा जाता है। यजुर्वेद सम्बन्धी आध्वर्यव कर्म करने वाला अध्वर्यु तथा सामगान करने वाला उद्गाता अथवा अग्नीध्र होता है। इन तीनों के अतिरिक्त सब वेदों का जानने वाला—विशेष करके अथर्व वेद विहित

शान्ति पौष्टिक कर्म में पारंगत चौथा ब्रह्मा कहलाता है । यह साक्षी रूप में रहता है । सबके कार्यों का निरीक्षण करता है । वह कृताकृतावेक्षक होता है; त्रुटि होने पर उसके प्रायश्चित्तादि कर्मों का विधान करता है । वह प्रधान होता है । यह भी यावज्जीवन करना चाहिए । अशक्त होने पर तीस वर्ष के बाद बन्द किया जा सकता है ।

३. तीसरा ऋतुसम्बन्धी चातुर्मास्य याग है । इसमें चार पर्व हैं--वैश्वदेव, वरुण-प्रघास, साकमेध और शुनासीरीय । प्रथम पर्व का अनुष्ठान फाल्गुन मास की पूर्णिमा को होता है । उसके चार मास के बाद आषाढी पूर्णिमा को द्वितीय पर्व का फिर चार मास बाद कार्तिकी पूर्णिमा को तृतीय पर्व का अनुष्ठान विहित है । उसके बाद अन्तिम चतुर्थ पर्व फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को होता है । तीन ऋतु के अनुसार पूर्वोक्त तीन पर्व होते हैं । चतुर्थ पर्व एक प्रकार से न्यूनातिरिक्त दोष परिहारार्थ है । ये चारों भी यावज्जीवन विहित हैं अथवा इनका उत्सर्ग भी किया जा सकता है । इस याग में दर्शपौर्णमास के अनुसार सपत्नीक यजमान के अतिरिक्त चार ऋत्विक् होते हैं ।

४. चतुर्थ अयन सम्बन्धी याग निरूढ पशुबन्ध कहलाता है । यह या तो वर्षा ऋतु में प्रतिसंवत्सर किया जाता है अथवा विकल्प से उत्तरायण और दक्षिणायन के प्रारम्भ में वर्ष में दो बार । इसमें हवनीय द्रव्य छाग की वसा आदि है । इसी से इसे निरूढ पशुबन्ध कहा जाता है । यह अयन का संस्कार है । इसी प्रकरण में आग्रयणेष्टि भी है । नव अन्न की उत्पत्ति के अनन्तर शरद् और वसन्त में रस का विधान है । इसमें द्रव्य पुरोडाश और चरु हैं । इस दृष्टि के अनन्तर ही आहिताग्नि नवान्न भक्षण करता है । शरद् में व्रीहि (धान) से और वसन्त में यव से यह इष्टि होती है । इसी प्रकार सौत्रामणी नाम का पशु याग है । 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' इसके अनुसार इस याग में सुरा का विधान है । सुरा पान का निषेध होने के कारण कुछ आचार्यों के मत से यह याग कलि में वर्ज्य है । ताम्र पात्र में रखा गया गोदुग्ध सुरा के समान माना जाता है । इस अनुकल्प को लेकर इस गोदुग्ध को सोम में मिला कर याज्ञिक इसका अनुष्ठान करते भी हैं ।

इन चारों के अनुष्ठान के बाद सोमयाग संस्कार की योग्यता प्राप्त होती है । इसके अनुष्ठान में दो कल्प हैं । जब सोम के द्वारा याग करने की इच्छा यजमान में होती है तब किसी वसन्त में अग्नि का आधान करके उसके अनन्तर ही सोम से इष्टि करके दर्शपूर्णमा-सादि का अनुष्ठान करे यह एक पक्ष है । दूसरा पक्ष है कि आधान के अनन्तर दर्शपूर्णमास आदि का अनुष्ठान करने के बाद सोम याग करे । इस याग में सोम रस मुख्य द्रव्य है । सोम एक लताविशेष है । पूर्व काल में भी यह विशेष स्थानों में ही उपलब्ध होती थी । उसकी रक्षा के लिए अनेक उपाय किये जाते थे, इस सबका वर्णन वेदों में मिलता है।

आज कल यह सोम सर्वथा उच्छिन्न हो गया है। उसके अभाव में अनुकल्प रूप से पूती नाम की एक लता विशेष का याज्ञिक लोग उपयोग करते हैं। यद्यपि यह मुख्य याग एक ही दिन में सम्पन्न होता है तथापि अंग सहित इसके अनुष्ठान में पाँच दिन लगते हैं। ऋत्विजों की संख्या इसमें सोलह होती है। इनके चार गण हैं। १. अध्वर्यु गण में अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और नेता कहे जाने वाले चार ऋत्विक् होते हैं। २. होतृगण में—होता, मैत्रावरुण (अथवा प्रशास्ता), अच्छावाक और ग्रावस्तुत नाम के चार ऋत्विज् होते हैं। ३. उद्गातृ गण में उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता और सुब्रह्मण्य ये चार ऋत्विज् होते हैं।४. ब्रह्मगण में ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र और पोता ये चार ऋत्विज् होते हैं। इस प्रकार कुल सोलह होते हैं। प्रत्येक गण में प्रथम निर्दिष्ट प्रधान होता है अन्य तीन उसके सहायक रूप में रहते हैं। दक्षिणा का वितरण भी सहायकों का समान नहीं रहता। अध्वर्यु इत्यादि प्रधान ऋत्विजों को जो दक्षिणा मिलेगी उनके द्वितीय सहायकों को उससे आधी, तृतीय को प्रधान ऋत्विक् से तृतीयांश और चतुर्थ को चतुर्थांश दक्षिणा मिलती है। इसीलिए प्रत्येक गण के तीनों सहायक अर्धी, तृतीयी तथा पादी भी कहे जाते हैं।

सोम याग की मुख्य चार संस्थाएँ हैं। अग्निष्टोम उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र। इन्हीं चारों के आवाप उद्वाप के द्वारा तीन और संस्थाएँ हो जाती हैं जिन्हें अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम कहा जाता है।

सोम याग एकाह से लेकर सहस्र संवत्सर पर्यन्त विहित है। एक दिन में सिद्ध होने वाला क्रतु **एकाह** है। दो दिन में सम्पन्न होने वाला याग द्विरात्र है। इसी प्रकार द्विरात्र से लेकर ग्यारह रात्रि पर्यन्त क्रतु **अहीन** कहे गये हैं। त्रयोदश रात्रि से प्रारम्भ करके सहस्र संवत्सर पर्यन्त सब **सत्र** कहे जाते हैं। इनमें त्रयोदश रात्रि से शतरात्र पर्यन्त रात्रि-सत्र कहे जाते हैं, इसके बाद के सब केवल सत्र। द्वादशाह को उभयात्मक माना गया है; सत्रात्मक भी और अहीनात्मक भी। यह द्वादश ही अहीनों की और सत्रों की प्रकृति है। सहस्र संवत्सर पर्यन्त मनुष्य की आयु न होने से उसका अनुष्ठान सम्भव नहीं है इससे एक मत यह था कि पुत्र पौत्रादि परम्परा द्वारा उसका सम्पादन होना चाहिए परन्तु जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में इस प्रश्न को उठा कर यह समाधान किया है कि यहाँ संवत्सर को **दिन** मान कर व्यवहार करना चाहिए।

यज्ञों के अनेक प्रभेद हैं—गवामयन सूत्र, वाजपेय यज्ञ, राजसूय यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ, पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध इत्यादि। इन सबका विशेष विवरण इस क्षुद्र निबन्ध में सम्भव नहीं है; ब्राह्मणादि ग्रन्थों में तथा श्रौतसूत्रों में इनका विस्तार से वर्णन है। विशेष जिज्ञासा वाले उनका अध्ययन करें। श्रौत यज्ञों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के स्मार्त यज्ञ भी हैं

और उनका सम्पादन गृह्याग्नि के द्वारा होता है । इनका भी विशेष विवरण यहाँ सम्भव नहीं है। संस्कार प्रकरण में उनके सम्बन्ध में यत्किंचित् विवेचन किया गया है ।

दक्षिणा

यज्ञ, तप और दान इन तीन कर्मों में यज्ञ के सम्बन्ध से दिये गये दान को दक्षिणा कहते हैं । क्षत यज्ञ का पुनः संधान (दक्षता) इस कर्म के द्वारा होती है इससे उसे **दक्षिणा** कहना अन्वर्थ है। उसके बिना यज्ञ कर्म पूर्ण नहीं होता वह 'हत' रहता है इसीसे कहा गया है— 'हतो यज्ञस्त्वदक्षिणः।' उपपत्ति यह है—यज्ञकर्म एक महाकर्म है । केवल यजमान ही उस महाकर्म के स्वरूप निष्पन्न करने में समर्थ नहीं होता इसके लिए उसे ब्राह्मण ऋत्विजों का आश्रय लेना आवश्यक होता है । इन सबका सम्मिलित कर्म यजमान के यज्ञकर्म का स्वरूप सम्पादन करता है । कर्म द्वारा ऋत्विजों का आत्म प्राण भी इस यज्ञाग्नि में प्रविष्ट रहता है । यज्ञ कर्म से उत्पन्न होने वाला यज्ञातिशय तब तक यज्ञकर्ता यजमान की निजी सम्पत्ति नहीं बन सकता जब तक कि यह उन ऋत्विजों के कर्मानुगत अतिशय को यज्ञातिशय से बाहर न निकाल दे। उसके निकालने का उपाय ही 'दक्षिणा दान' है ।

वेदविद्वान् ऋत्विजों ने जितना श्रम किया है बदले में शास्त्रविहित 'गौ, वास, हिरण्य रजत' आदि देने से उनका स्वत्व इस यज्ञातिशय से निवृत्त हो जाता है और यज्ञातिशय एकमात्र यजमान की सम्पत्ति बन जाता है । यह प्रकार का क्रय विक्रय है । दक्षिणा दान शास्त्रीय कर्म है अतएव अधिकारि भेद से ही दान-पात्र की व्यवस्था है । यहाँ दरिद्र और सम्पन्न का प्रश्न नहीं है । दक्षिणा द्रव्यों में यज्ञकर्म के अधिष्ठाता प्राण देवताओं के भेद के अनुसार भेद रहता है; यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों की आवश्यकता के अनुसार दक्षिणा द्रव्यों की कल्पना नहीं की जाती । इसे लक्ष्य में रखकर ही भिन्न-भिन्न यज्ञों में भिन्न-भिन्न दक्षिणा विहित है । उदाहरण के लिए—वरुणप्रघास याग में दक्षिणा विहित है—धेनु, अश्व, छः या बारह गौ । द्वादशाह यज्ञ में एक हजार से कुछ अधिक गौओं की दक्षिणा श्रौतसूत्रों में विहित है । अश्वमेध यज्ञ की दक्षिणा के सम्बन्ध में मिलता है कि पूर्व में विजय के समय में पूर्व दिशाओं के राजाओं से जो धन प्राप्त हुआ है उसका तृतीयांश होता को दिया जाय। दक्षिण दिशा के राजाओं से लब्ध धन का तृतीयांश ब्रह्मा को, पश्चिम के राजाओं से प्राप्त धन का तृतीयांश अध्वर्यु को, उत्तर दिशा के राजाओं से प्राप्त धन का तृतीयांश उद्गाता को दे । अवशिष्ट जो दो-दो अंश (दो-दो तृतीयांश) वे भी इसी प्रकार सुत्या के दोनों दिनों में दे । इस प्रकार यज्ञानुसार दक्षिणा का विधान मिलता है । दक्षिणा के द्वारा ही यजमान ऋत्विज् आदि के कर्मों का क्रय लेता है, अतः वह स्वयं ऋषि ऋत्विज् आदि के समान हो जाता है । इसी आशय से दक्षिणा नाम की ऋषि का मन्त्र है—

'तमेव ऋषिं तमु ब्रह्मणमाहुर्यज्ञन्यं सामगमुक्थशासम् ।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध ।।' ऋ० १०।१०७।६

इसका आशय यही है कि जो मुख्य यजमान दक्षिणा के द्वारा ऋत्विगादि की आराधना करता है वह ही ऋषि ब्रह्मा आदि है । दक्षिणा दान के द्वारा तत्तत्कर्म उसके हो जाते हैं । दक्षिणा की प्रधानता बताने के लिए ही दक्षिणा को **यज्ञपत्नी** भी कहा गया है । जिस प्रकार पुरुष विना पत्नी के अर्ध रहता है यज्ञ का अधिकारी नहीं होता उसी प्रकार यज्ञ भी विना दक्षिणा के अपूर्ण रहता है और फलोत्पादन कार्य में सक्षम नहीं होता ।

यज्ञ के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षेप में लिखा गया है यद्यपि यज्ञ ही आर्यमहर्षियों की सर्वोत्कृष्ट देन है । इसी के द्वारा सर्वार्थसिद्धि होती थी । इसी के लिए कहा गया है— 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ।' उपासना और यज्ञ में यह विशेषता है कि उपासना में भक्त अपने इष्ट की सिद्धि के लिए उपास्य देवता के अनुग्रह की अपेक्षा रखता है । यज्ञ में प्राकृतिक विज्ञान के अनुसार यथाविधि कर्मों के द्वारा प्राण देवताओं की शान्ति करता हुआ यज्ञकर्ता उन्हें फलदान के लिए विवश करता है। फलाकांक्षा से किये गये यज्ञ कर्मों के द्वारा फलप्राप्ति अवश्यंभावी है । शान्ति पुष्टि तथा भौतिक सब प्रकार की सिद्धि के साधन भूत ये यज्ञ ही थे । वैदिक कर्म प्रवृत्त और निवृत्त भेद से दो प्रकार के कहे गये हैं । प्रवृत्त कर्म में कर्मानुसार फलप्राप्ति होती है । वहीं यदि फल की कामना से रहित होकर निष्काम भाव से कर्मानुष्ठान किया जाय तो उससे निःश्रेयस सिद्धि होती है । इस प्रकार ये वैदिक कर्म भोग और मोक्ष दोनों के साधक हैं । महाभारत में उल्लेख है कि युधिष्ठिर को वन में क्लेश पाते हुए देख कर द्रौपदी ने आक्षेप किया कि आप इतना धर्माचरण करते हैं तो भी उसका फल कुछ नहीं होता और आप को क्लेश सहना पड़ता है । इसके उत्तर में युधिष्ठिर ने जो उत्तर दिया वह मननीय है । हे राजपुत्रि ! मैं धर्म का आचरण फल की आकांक्षा से नहीं करता; देना चाहिए इसलिए दान करता हूँ । यज्ञ करना चाहिए इसलिए यज्ञ करता हूँ । 'नाहं धर्मफलाकांक्षी राजपुत्रि चरामि भोः । ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत ।।'' इति ।

शिक्षा

प्रारम्भ में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि वेदांग के अन्तर्गत जिस शिक्षा का समावेश है जिसके द्वारा वर्णों के स्थान, प्रकरण, प्रयत्न, उच्चारण आदि का विशेष विवरण किया गया है वह इस प्रकारण में अभिप्रेत नहीं है । उसका पृथक् विवेचन वेदांग प्रकरण में किया गया है । इस प्रकरण में सामान्यतः ज्ञान आदि की साधन भूत शिक्षा पर ही विचार उपस्थित किया जाता है ।

शिक्षा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार कही गयी है । धातुपाठ के भ्वादि गण में शिक्ष् धातु से भाव अर्थ में अप्रत्यक्ष से शिक्षा शब्द निष्पन्न होता है । यहाँ शिक्ष् धातु अभ्यास करने में प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त दिवादिगण की शक् धातु से——जिसका अर्थ मर्षण करना (सहन करना) है, तथा स्वादिगण की शक्तिकर्मक शक् धातु से भी इच्छागर्भित (सन्नन्त) अर्थ में शिक्षा शब्द बनाया जाता है । इस प्रकार से शिक्षा पद में तीन अर्थ सन्निविष्ट हैं । अभ्यास विशेष, मर्षणेच्छाविशेष और शक्तीच्छा विशेष ये तीनों भाव इसके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं । जो अनधिगत है, अनभ्यस्त है उस शब्द क्रिया आदि का अभ्यास करना शिक्षा है । जो ज्ञान आदि प्राप्त नहीं है उसे प्राप्त करके अपनी आत्मा में विवेक आदि शक्ति का——सामर्थ्य विशेष सम्पादन करने की इच्छा और इस प्रकार के सामर्थ्य का सम्पादन करने पर शीतोष्ण प्रियाप्रिय आदि पदार्थों की सहिष्णुता सम्पादनेच्छा शिक्षा शब्द के वाच्य हो जाते हैं ।

इन तीनों अर्थों में भी मुख्य स्थान है शक्ति सम्पादन करने की इच्छा का । क्योंकि यह समस्त जगत् अनन्त शक्तियों का ही विजृम्भण (विस्तार) है । छोटी या बड़ी जो भी वस्तु हमारी दृष्टि पथ में आती है उसमें साधारण या असाधारण अनेक प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं । ये शक्तियाँ ही निरन्तर क्रियारूप में परिणत होती रहती हैं इन्हीं क्रियाओं का समूह जगत् है । जो कोई क्रिया नहीं करता अथवा जिसमें किसी प्रकार की क्रिया करने की शक्ति नहीं है वह वस्तु, पदार्थ अथवा सत् पद से नहीं कही जा सकती । सत्त्व का लक्षण ही यह है कि उसमें क्रिया होनी चाहिए । 'अर्थ क्रियाकारित्वं' यह सत्त्व का लक्षण है । यही पारिभाषिक रूप में वाक्, प्राण और मन है जिसका उल्लेख प्रजापति प्रकरण में हुआ है । अर्थ वाक् का भाग है; क्रिया प्राण का विकास है और कारिता मन का । इन्हीं शक्तियों की विलक्षणता के कारण यह जगत् जड़-चेतन रूप दो भागों में विभक्त है । इन दोनों में ही दो प्रकार की शक्तियाँ हैं——एक स्वयम् आविर्भूत होने वाली है और दूसरी शक्ति की सहायता से विकसित होती है । ईख के रस में माधुर्य स्वतः है । गुड़ आदि के रूप में परिणत होने पर अन्य द्रव्य के संयोग से उसमें जो मादकता आविर्भूत होती है वह दूसरा प्रकार है । इसी प्रकार चेतन में शुकसारिका आदि में वाङ्माधुर्य जन्मतः सिद्ध है । स्फुट वाक् तथा मनोहर पदों का उच्चारण अभ्यासजन्य है । वृषभ आदि में बल स्वाभाविक है——शकट परिचालन, क्षेत्रकर्षण आदि अभ्यास कराने से होता है । चेतनों में ज्ञान होता है इससे उनमें जिस शक्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ है उसके प्रादुर्भाव करने की इच्छा होती है तथा दूसरे के द्वारा भी उस प्रकार की शक्ति के संग्रहण करने की इच्छा की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार शक्ति के उद्भावन का प्रयोग शिक्षा नाम से व्यवहृत

है । वैयाकरण शिरोमणि भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं– 'धनुषि शिक्षते—धनुर्विषये ज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छति ।' इसका अर्थ है धनु: के विषय के ज्ञान में शक्त होने की इच्छा करता है, यह 'धनुषि शिक्षते' का अर्थ है । इस प्रकार की इच्छा से उत्पन्न कार्य—गुरु के समीप जाना, उनकी शुश्रूषा करना आदि भी कार्यकारण की एकता के कारण शिक्षा के अर्थ में आते हैं । पूर्व में जिस शक् धातु से शिक्षा की व्युत्पत्ति बतायी गयी है उसी में करण व्युत्पत्ति मानने से—जिसके द्वारा अभ्यास की इच्छा का विधान हो, जिसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान आदि की विशेष शक्ति पुरुष में उत्पन्न हो अथवा जिसके द्वारा तितिक्षा (द्वंद्व—सुख दुःखादि) की शक्ति उत्पन्न हो—ये सब भी शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं ।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि शक्ति सम्पादन करना ही शिक्षा है । शिक्षा के द्वारा सामर्थ्य का सम्पादन होता है । जिस कर्म के द्वारा मनुष्य शक्त हो—सामर्थ्य-युक्त हो, वह शिक्षा है । अपने में इस सामर्थ्य को लाने में दो उपाय हैं । प्रथम है स्वानुभव और दूसरा है दूसरे के अनुभव का ग्रहण करना । इन दोनों प्रकारों में शिक्षा शब्द रूढ है । दूसरे के अनुभव को ग्रहण करने के अर्थ में शिक्षा शब्द विशेष रूप से प्रचलित है इसमें सन्देह नहीं परन्तु स्वानुभव से भी शिक्षा होती है यह भी देखा जाता है । जैसे कोई पुरुष किसी कार्य के अनुभव के लिए यत्न करे और उसमें उसे सफलता न मिले तो भी वह यह अनुभव करने लगता है कि इससे मुझे यह शिक्षा मिल गयी कि यह कार्य इस प्रकार से करना था । परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो प्रधानता स्वानुभव की ही है । दूसरे के द्वारा दिया गया उपदेश भी जब तक स्वानुभव में न लाया जायगा तब तक वह सफल न होगा । यह स्वानुभव भी व्यक्ति विशेष के पूर्व संस्कार पर निर्भर रहता है । इसीलिए श्रुति कहती है—

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ।।" (ऋ० १०।७१।४)

भाव यह है कि एक व्यक्ति वाक् को देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता तथा दूसरे के लिए वह वाक् स्वयम् अपना स्वरूप दिखाती है। इसका अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति पूर्वाजित संस्कार, विद्या को ग्रहण करने की विशेष क्षमता, रखते हैं उन्हें अपेक्षाकृत स्वानुभव करने में सरलता होती है । महाभाष्यकार पतंजलि ने भी यही आशय प्रकट किया है–'समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिद् अर्थैर्युज्यन्ते अपरे न।' भाव यह है कि समान रूप से उद्योग करने वाले और अध्ययन करने वालों में कुछ तो अर्थों से युक्त हो जाते हैं और दूसरे नहीं । भवभूति ने इस विषय को और भी स्पष्ट किया है—गुरु जिस प्रकार प्राज्ञ छात्र को विद्या वितीर्ण करता है उसी प्रकार मन्द बुद्धि को भी।

परन्तु दोनों के ग्रहण करने में भेद हो जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शिष्यगत प्रज्ञा ही नियामिका है ।

मुख्य रूप से स्वतः अनुभव प्राप्त करके ज्ञान का विकास करना व्यक्तिगत था और अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार अनुभव किये हुए ज्ञान का अन्य सामान्य व्यक्तियों में वितरण करना कर्तव्य कोटि में समझा जाता था। एक के अनुभव से दूसरा लाभ उठा सके उसे उतना आयास न करना पड़े यह परोपकार-बुद्धि प्रबल थी। एक व्यक्ति ने अपना हाथ जला कर यह अनुभव किया कि आग में हाथ डालने से अग्नि की दाहिका शक्ति के कारण हाथ जल जाता है यह उपदेश परम्परा द्वारा सामान्य व्यक्तियों तक पहुँच गया। अब इस उपदेश की सत्यता सिद्ध करने के लिए छात्र या पुत्र जो परीक्षा स्वानुभव के लिए करेंगे उन्हें अपेक्षाकृत सरलता होगी और वे शनैः-शनैः अग्नि की दाहिका शक्ति का अनुभव करेंगे, सहसा उसमें हाथ डालने में प्रवृत्त न होंगे। यही गुरु-शिष्य परम्परा का बीज है। परन्तु यह निर्विवाद है कि गुरु के उपदेश से शिष्य का कार्य अपेक्षाकृत सरल हो जाता है तो भी बिना स्वानुभव के ज्ञान की पूर्णता नहीं होती। इस तथ्य को उपनिषद् में उदाहरण देकर बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त किया गया है—

'अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥'—मैत्रेय्युपनिषद्, २।२२

अर्थात् मूढ़ पुरुष बिना अनुभूति के ब्रह्म का उसी प्रकार आनन्द लेता है, जैसे कोई व्यक्ति जल में प्रतिबिम्बित शाखा के अग्र भाग में लगे हुए फलों का आस्वाद करने का आनन्द ले।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि गुरु के उपदेश द्वारा शक्तिलाभ करने की आकांक्षा में सहायता अवश्य मिलती है परन्तु स्वानुभव अत्यन्त आवश्यक है। इसके सहस्रों उदाहरण प्राचीन समय से लेकर अर्वाचीन समय तक में मिलते हैं। रामकृष्ण परमहंस के समान लोकोत्तर गुरु के द्वारा उपदेश ग्रहण करने के बाद भी स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी ब्रह्मानन्द प्रभृति ने स्वानुभव के लिए कितनी कठोर तपस्या की थी यह बहुत पुरानी घटना नहीं है।

प्राचीन वैदिक काल के महर्षियों ने तपोयोग के द्वारा विशुद्ध किये गये अन्तःकरण में जिन अतीन्द्रिय पदार्थ धर्मों का साक्षात्कार किया था उनका स्वयं जो अनुभव था वह उपदेश द्वारा उन योग्य शिष्यों में संक्रान्त किया था जो स्वतः उन धर्मों के साक्षात् करने में समर्थ न थे। इसका उल्लेख यास्क के निरुक्त में स्पष्ट है। परन्तु ऋषियों के स्वानुभूत ये उपदेश मंच पर खड़े होकर सर्वसाधारण जनता में भाषण देने के लिए न थे। ये उपदेश उन्हीं सत्पात्र शिष्यों को दिये जाते थे जिनमें उन उपदेशों के ग्रहण करने की योग्यता थी और

साथ ही उनका आचरण इतना पवित्र था कि वे उस अमूल्य उपदेश को ग्रहण करके उसका दुरुपयोग न करेंगे । ऋषियों पर इस सम्बन्ध में संकीर्णता का दोषारोपण किया जाता है, वह निराधार है । वर्तमान काल के वैज्ञानिक युग में भी उच्च वैज्ञानिक तत्त्वों के ग्रहण करने की शक्ति का सम्पादन जब तक न होगा तब तक उसके उपदेश का कोई फल होना सम्भव नहीं है । शक्ति प्राप्त होने पर उसके दुरुपयोग के उदाहरणों की कमी नहीं है ।

यही कारण था कि छात्र कोटि में प्रविष्ट होने वाले की योग्यता की परीक्षा की जाती थी और उस परीक्षा में सफल होने वाला छात्र ही प्रवेश पा सकता था । छात्र की योग्यता की परीक्षा का उल्लेख श्रुति में भी मिलता है । यास्क ने निरुक्त में निम्नलिखित श्रुति उद्धृत की है :—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ।।
य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदु:खं कुर्वन्नमृतं संप्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह ।।
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।।"

इनका भाव स्पष्ट है । विद्या ब्राह्मण के पास आकर कहती है कि मेरी रक्षा करो मैं तुम्हारी निधि (कोष, ख़ज़ाना) हूँ । तुम उस व्यक्ति को मेरा ज्ञान न कराना जो असूया करने वाला (दोषदर्शी) हो, जो कुटिल प्रकृति का हो और आत्मसंयम से रहित हो । जिसमें आत्मसंयम नहीं है उसके द्वारा आवेश में आकर विद्या के दुरुपयोग का अवसर सरलता से आ सकता है इससे जो अयत है जिसमें संयम नहीं है वह विद्या का अधिकारी नहीं है । विद्या कहती है कि इस प्रकार अयोग्य व्यक्ति से हमारी रक्षा होगी तो हमारा वीर्य (शक्ति) अक्षुण्य बना रहेगा । आगे शिष्य के लिए उपदेश है कि वह गुरु को अपना पिता और माता समझे और उससे कभी द्रोह न करे । तीसरे मन्त्र में यह वर्णित है कि किस प्रकार का छात्र उत्तम अधिकारी होगा । जो शुचि हो (जिसका वाह्य और अन्तः पवित्र हो), जो प्रमत्त न हो, असावधान होकर विद्या का दुरुपयोग करने वाला न हो, जो मेधावी हो—दिये हुए उपदेश को सम्यक् प्रकार से धारण करने की मेधा से सम्पन्न हो, ब्रह्मचर्य से सम्पन्न हो और जो तुम्हारे साथ कभी द्रोह न करे, ये गुण गण जिसमें हों उसी को विद्या प्रदान करना । अन्त में छात्र के लिए एक और विशेषण है जो महत्त्वपूर्ण है । उसे निधि का पालन करने वाला, रक्षा करने वाला, होना चाहिए । प्रथम मन्त्र में जिस अनधिकारी छात्र को विद्या प्रदान न करके विद्यारूपी निधि की रक्षा करने का उल्लेख है वह निधि

की रक्षा करने वाला गुण छात्र में होना भी आवश्यक है। अन्यथा यद्यपि वह छात्र स्वयं विद्या का दुरुपयोग न करेगा तो भी यदि किसी कारणवश किसी अयोग्य छात्र को विद्या प्रदान कर देगा और उसके द्वारा उस विद्या का दुरुपयोग होगा तो वह दोष परम्परया उसके प्रदान करने वाले को भी प्राप्त होगा। इसलिए ऐसे सच्छात्र को विद्या प्रदान की जाय जो अपने गुरु के ही समान विद्यारूपी निधि की रक्षा कर सके और अच्छी तरह परीक्षा करके ही सच्छात्र का चयन करे। यद्यपि ये नियम सभी शास्त्रों के लिए समान रूप से निर्दिष्ट हैं तथापि विद्या के महत्त्व के अनुसार तारतम्य होता ही है। ब्रह्म विद्या ही सर्वोपरि है, अतः उसके प्रदान करने में सच्छात्र की परीक्षा अधिक अपेक्षित है।

अध्ययन-अध्यापन के प्रारम्भ में गुरु और छात्र जिस शान्ति-पाठ-मन्त्र का प्रयोग करते थे वह भी महत्त्वपूर्ण है :—

'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु, सहवीर्यं करवा वहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।'

भाव यह है कि छात्र और गुरु मिलकर प्रार्थना करते हैं कि हम लोगों की एक साथ वह (अधीत) रक्षा करे; साथ ही उसका उपभोग हो। हम दोनों मिलकर अध्ययन के लिए वीर्य प्राप्त करें। इस प्रकार हम दोनों का अध्ययन तेजस्वी हो। हम लोग आपस में विद्वेष न करें। कितने उदात्त विचार हैं। गुरु-शिष्य के परस्पर सम्बन्ध का यह आदर्श था।

इतना ही नहीं। तैत्तिरीय उपनिषद् में ही यह मिलता है कि गुरु यह प्रार्थना करता है कि ब्रह्मचारी (छात्र) मेरे पास आवें। मेरे पास से पृथक् न हों। इत्यादि 'आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा; वि मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।' इसी प्रकार और भी इसी सम्बन्ध की प्रार्थना है जिनसे सिद्ध होता है कि गुरु अपने अध्यापन कार्य की सफलता के लिए देवानुग्रह प्राप्त करने की प्रार्थना करते थे।

वेद प्रवचन समाप्त करनेके बाद आचार्य अपने अन्तेवासी छात्र को जो अन्तिम अनुशासन करते थे वह भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसका कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा —

'वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' इत्यादि।

गुरु और शिष्य के इस सम्बन्ध का यदि दुराग्रह छोड़ कर प्रसार किया जाय; यदि अध्यापक और अध्येता अपने पवित्र कर्तव्य का यथाविधि अनुष्ठान करें तो निस्सन्देह वर्तमानकालीन अनुशासनहीनता थोड़े ही समय में तिरोहित हो जायगी। इस युग में भी जहाँ इस प्रकार की कर्तव्यपरायणता गुरु और शिष्यों में देखी जाती है वहाँ अनुशासन-हीनता का उदय ही नहीं होने पाता । इसमें प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव ही प्रमाण है।

शिक्षा का विषय

महर्षियों के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मविद्या ही सर्व विद्या है । ब्रह्मविद्या में सब विद्याओं का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः अध्ययन का वही मुख्य विषय है। अन्य सब एक-देशीय विद्याओं का उल्लेख जो अथर्ववेद अथवा उपनिषदों में मिलता है वे सब ब्रह्मविद्या के ही अंग या उपांग हैं । छांदोग्य उपनिषद् में सप्तम अध्याय में उल्लिखित है कि नारद ने सनत्कुमार के समीप जाकर प्रार्थना की कि आप मुझे पढ़ावें । सनत्कुमार ने उन्हें उत्तर दिया कि तुम कितना जानते हो यह बताओ तब उसके आगे तुम्हारा पाठक्रम का निर्धारण हो । तब नारद ने बताया कि भगवन्; मैंने निम्नलिखित विद्याओं का अध्ययन किया है :—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद चौथा अथर्वणवेद, इतिहास, पुराणादि । इसी प्रकार अथर्ववेद में भी अनेक विद्याओं का उल्लेख है :—'इमे सर्वे वेदा निर्मिताः सकल्पाः सरहस्याः सब्राह्मणाः सोपनिषत्काः सेतिहासाः सान्वाख्यानाः सपुराणाः सस्वराः ससंस्काराः सनिरुक्ताः सानुशासनाः सानुमार्जनाः सवाकोवाक्यानि ।' वेदों के साथ में ये तेरह विद्याएँ यहाँ पृथक् गिनायी गयी हैं इससे सिद्ध होता है कि ये तेरह विद्याएँ यज्ञ के अंगों के रूप में हैं । ये अंग हैं, वेद प्रधान है । अन्यत्र श्रुति में कहा गया है कि 'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति । सा परा यया तदक्षरमधिगम्यते ।' इससे यह ध्वनित होता है कि ऋग्वेदादि ये दस विद्याएँ पर विद्या के अंगभूत हैं । इससे यह आशय निकलता है कि जिस प्रकार प्रधान वेदों के शिक्षा कल्प आदि छः वेदांग माने जाते हैं उसी तरह दूसरे वेदों के उपकारक होने के सम्बन्ध से उपकारक वेद भी अंग हो जाते हैं। यह अन्यत्र कहा गया है कि वेद अनन्त हैं । उसी अनन्त वेद के उपकारक अंग भी अनन्त हैं और इस प्रकार इन्हीं दोनों के (वेद और वेदांग) अन्तर्गत समस्त विद्याओं का समावेश हो जाता है ।

इस प्रकार वेदांग विद्याओं के अनन्त होने पर भी संकलित रूप में छः अंग विद्याओं का उल्लेख हुआ है। वेद को पुरुष रूप में मानकर—पुरुष के छः मुख्य अंगों के समान उसके भी छः अंग माने गये हैं। 'छन्दःपुरुष इति यमवोचाम वर्णसमाम्नाय एषः' इस प्रकार इस

श्रुति के द्वारा छन्दः (वेद) को वेद कहा गया है। पुरुष शरीर के छः अंगों के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध सुश्रुत में मिलता है—'शरीरमिति संज्ञां लभते। तच्च षडंगम्—शाखाश्चतस्रः, मध्यं पंचमम्, षष्ठं शिरः।'

अन्यत्र यह भी स्पष्ट उल्लिखित है कि शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष और छन्दः इन छः अंगों वाला वेद होता है इनमें छन्द वेद के दोनों पाद हैं, कल्प दोनों हाथ हैं, ज्यौतिष नेत्रस्थानीय है, निरुक्त श्रोत्र है। शिक्षा घ्राण है और व्याकरण मुख है।[१] इस स्मृति के अनुसार यद्यपि घ्राण आदि भी अंग माने गये हैं परन्तु यह अर्थवाद मात्र है। मुख्य अभिप्राय छः संख्या से है। इन छः संख्याओं के भी अनेक अवान्तर भेद हो जाते हैं उनका विवेचन आगे होगा। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि वेदस्वरूप निरूपण में शब्दवेद और अर्थवेद ये दो भेद कहे गये हैं उसी के अनुसार इन वेदांगों के भी दो भेद होंगे। शब्द-वेद की दृष्टि से छन्द आदि वेद प्रयुक्त मन्त्र राशि के सम्बन्ध में उपकारक होंगे तथा अर्थवेद की दृष्टि से अर्थवेद के स्वरूप निर्धारण में इन वेदांगों का उपयोग होगा जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट किया जायगा।

छन्दः—जिस पदार्थ के विज्ञान का साधन करना है उसके अन्तर्गत कितने पदार्थ हैं; किस प्रकार से उनका उसमें अन्तर्भाव है इसका यथावद् उल्लेख छन्द है। यजुर्मन्त्र में मिलता है—'मितिश्छन्दः प्रमितिश्छन्दः'। ऐतरेय श्रुति कहती है—'शिल्पं छन्दः।' इन दोनों से अनुगत छन्द का यह लक्षण होता है जो पदार्थ को सीमित करे, सीमाबद्ध करे; दूसरे पदार्थ से उसका पार्थक्य करे वह छन्द है। रीतिबन्ध (arrangement) छन्द है। छन्द को पाद कहा गया है। जिस आधार पर शरीर अवस्थित है, जिसके आधार से वह देश विशेष में जाता है वह पाद भाग है। रीतिबन्ध (मर्यादा) के आधार पर ही पदार्थ की अवस्थिति है। छन्दः से सीमित न रहने पर उस पदार्थ का स्वरूप ही न रहेगा। इसी मर्यादाबद्धता के द्वारा वह पदार्थ बुद्धि देश में जाता है—जैसा कि छन्दोवेद के प्रकरण में कहा गया है। इन दोनों के कारण छन्दः को पादस्थानीय कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। इस प्रकार रीतिबन्ध छन्द है; अन्तरंग पदार्थ छन्द है; अवयव-

१. शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां चितिः।
छन्दो विचितिरित्येष षडंगो वेद उच्यते॥
छन्दःपादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्। तस्मात्सांगमधीत्यैव ब्रह्म लोके महीयते॥

सन्निवेश, स्वरूप सन्निवेश छन्द है। स्वरूप को आरम्भ करने वाले अवयवों का जिस-जिस रूप से अवस्थान है उसका उल्लेख छन्दःशास्त्र है। शब्दवेद के लिए अक्षर, मात्रा आदि के नियन्त्रण करने वाले नियम छन्दः हैं।

निरुक्त—वेद पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का निर्वचन करना निरुक्त है। इन सभी अर्थसमूहों में उत्पत्ति, स्थिति और नाश होते हैं। इनमें मध्य की जो स्थिति होती है वह तीन प्रकार की है—उपचय (वृद्धि), अपचय (ह्रास) और साम्य। स्वरूप की हानि न होते हुए किसी प्रकार पदार्थों के धर्मों का उपचय हो तो उसे उत्कर्ष कहते हैं—उसी को लक्ष्मी, सौभाग्य आदि कहा जाता है। जहाँ स्वरूप तो बना रहे परन्तु धर्मों का अपचय हो, ह्रास हो, वह निर्ऋति, दरिद्रता, क्षीणता आदि कहलाती है। जहाँ समानता होती है; हानि-लाभ बराबर हो, आय-व्यय बराबर हो— योग-क्षेम मात्र हो वह साम्यावस्था है। यहाँ उपचय और अपचय परस्पर एक दूसरे का नियन्त्रण करते हैं। वृद्धि भी उसी सीमा तक वृद्धि कही जायगी जब तक पदार्थ के स्वरूप की रक्षा बनी रहेगी। उसी सीमा से अधिक वृद्धि होने पर वह पदार्थ स्वरूप में स्थित न रह सकेगा। इसी प्रकार अपचय भी उसी सीमा तक माना जायगा जब तक उस पदार्थ का स्वरूप सर्वथा नष्ट न हो जाय। उस स्वरूप सीमा से वहिर्भूत होने पर वह पदार्थ स्वस्वरूप से च्युत होकर दूसरा पदार्थ हो जायगा। यह निरुक्ति भी शब्द ब्रह्म और अर्थ ब्रह्म के अनुरोध से दो प्रकार की होगी। अनिरुक्त प्रजापति के सम्बन्ध में निरुक्त शब्द स्पष्ट हो जाता है। केन्द्रस्थ प्रजापति में आयाम-विस्तार नहीं है, वह अनिरुक्त है। मनः, प्राण और वाक् ये तीनों उसके स्वरूप में अनिरुक्त दशा में है। उसी में जब वाचोविकार विकसित हो जाता है तब वह निरुक्त होता है। वाक् की उन्मुग्ध अवस्था अनिरुक्त है। उसी वाक् की उद्‌बुद्ध अवस्था निरुक्त कही जायगी। पद के सम्बन्ध में भी यही बात है उस पद की सिद्धि का प्रकार बताना उसका निर्वचन है।

व्याकरण—निर्वचन शब्द की सिद्धि का विवेचन करता है। व्याकरण सिद्ध शब्द में कतिपय धर्मों के संयोग से सामान्य या विशेष बुद्धि का उत्पादक है। इसमें एकत्व से ग्रहण किये हुए पदार्थ का अनेकत्व प्रतिपादन होता है। इस प्रकार एक का विविध आकार का सम्पादन करना व्याकरण है। जो अव्याकृत दशा में एक है उसी में कुछ और धर्मों के समावेश होने से अनेकत्व होना व्याकरण है। एक के अनेक होने पर भी उसके तत्त्व की हानि नहीं होती। विविधाकार होने पर जैसे घट या पट का घटत्व या पटत्व सबमें अनुवृत्त हो जाता है और उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता। सभी पदार्थों में दो प्रकार के धर्म होते हैं—आत्म-धर्म और अनात्म-धर्म। आत्म-धर्म के नष्ट होने से उस पदार्थ का

स्वरूप नष्ट हो जाता है । छन्दः प्रकरण में जो धर्म कहे गये हैं वे आत्म-धर्म हैं । अनात्म-धर्मों के आने या चले जाने से उसके स्वरूप में हानि नहीं होती । अनात्म-धर्मों के द्वारा अनेक प्रकार के होने का जो ज्ञान कराता है वह व्याकरण है। उदाहरण के लिए घट धातु से घट (कलश) की निष्पत्ति निरुक्त के द्वारा हुई । घट शब्द के सिद्ध हो जाने पर—घट: घटौ घटा: इत्यादि द्विवचन या बहुवचन के द्वारा जो विविधरूपता होती है यह व्याकरण का कार्य है । यह शब्द व्याकरण हुआ । इसी प्रकार अन्य पदार्थों का भी व्याकरण समझा जा सकता है । फलतः समस्त का व्यास (विस्तार) व्याकरण है । संक्षिप्त का विवरण (फैलाव) व्याकरण है । एक का अनेकत्व प्रतिपादन करना व्याकरण है और उसका उल्लेख व्याकरण शास्त्र है। ये वेदांग प्राय: संकीर्ण रूप में पाये जाते हैं। एक में दूसरे का भी प्राय: समावेश रहता है, अत: व्याकरण शास्त्र में जहाँ शब्द-सिद्धि का प्रकरण उपलब्ध होता है, वह निरुक्त का ही अंश है ।

गणित—व्याकरण के द्वारा जो अनेकत्व से ग्रहण किया जाता है उसका विज्ञान की सुविधा के लिए संकलन करके एकत्व प्राप्त कराना गणित है । यह सर्वथा व्याकरण का विपरीत भाव है । व्यवकलन–विस्तार व्याकरण है । संकलन–संक्षिप्त करना गणित है । व्याकरण से विकास और गणित से संकोच होता है । विवृति (फैलाव) व्याकरण है; संवृति गणन है । समस्त का व्यास व्याकरण है; व्यस्त का समास गणन से होता है । यह शंका उठायी जाती है कि गणित में गुणन कर्म भी तो सम्मिलित है, वह गुणन तो एक का अनेकत्व प्रतिपादन ही है, संक्षेप नहीं है । अत: गणन का यह लक्षण उचित नहीं है । इसका समाधान यही है—जैसा कि ऊपर में कहा गया है एक अंग में दूसरे अंग का भी समावेश पाया जाता है । इसी दृष्टि से गणित भाग में भी गुणन सन्निविष्ट हो गया है जो वास्तव में व्याकरण का ही अंश है । सभी वेदों में षडंगता होती है इस तरह गणित वेद में भी षडंग के सम्बन्ध से व्याकरण का संनिवेश अप्राप्त नहीं है । इससे मुख्य गणित के लक्षण में कोई अनुपपत्ति नहीं होती । इससे गणित के वैपुल्य (विस्तार) का समर्थन नहीं होता । यह संक्षेप प्रकार प्रदर्शन गणित शास्त्र है ।

शिक्षा—इस प्रकार छन्द, निरुक्त, व्याकरण और गणित के द्वारा, स्वरूप सत्ता विशेष और सामान्य के द्वारा गृहीत पदार्थ की प्रवृत्ति के लिए और जो अन्य पदार्थ अपेक्षित होते हैं जो उस पदार्थ के स्वरूप में प्रविष्ट न होने के कारण बहिरंग हैं और जो उपकरण कहलाते हैं उन उपकरणों का प्रदर्शन शिक्षा है । अवश्य ही सब ही पदार्थ किसी एक अथवा अनेक पदार्थ से संसृष्ट होकर प्रवृत्त होते हैं, इसलिए उसके द्वारा साध्य क्रिया में वे बाह्य अंग हैं; उपकरण हैं इनका उपन्यास शिक्षा है । जिस प्रकार अन्य अर्थ का दूसरे अर्थ के

प्रति उपकरणत्व है इसी प्रकार अन्य वेद (विज्ञान) का भी अन्य वेद के प्रति उपकरणत्व होता है। इस दृष्टि से उपकरण भूत यह वेद भी प्रधान वेद के प्रति शिक्षा कहा जायगा। उसका पृथक् रूप से उल्लेख प्रायः सम्भव नहीं होता। दूसरे में वह उपयुक्त होता है, अतः उसी दूसरे के साथ उसका उल्लेख हो जाता है। जहाँ कहीं कुछ अधिकता बताने की दृष्टि से पृथक् उल्लेख किया जाता है तब वह 'शिक्षा-शास्त्र' कहलाता है। जैसे पाणिनीय व्याकरण के उपयुक्त उपकरण के प्रतिपादन करने के पाणिनीय शिक्षा अथवा यजुर्वेदीय कर्मों के उपयुक्त शब्दोच्चारण रूप उपकरण का प्रतिपादन करने के लिए याज्ञवल्क्य-शिक्षा अथवा सामवेदीय श्रौत के उपकरण प्रदर्शन के लिए नारदीय शिक्षा है। ये शिक्षा शास्त्र हैं और शब्द के उच्चारण आदि उपकरण के नियम बताते हैं। इसी प्रकार पदार्थ वेद के उपकरण भी शिक्षा शब्द से व्यवहृत होते हैं। प्रकरण के प्रारम्भ में जिस शिक्षा का उल्लेख हुआ है वह सामान्य है और वेदांग रूप यह शिक्षा विशेष है।

कल्प—इस प्रकार पाँच अंगों के द्वारा प्रतिपन्न अर्थ की उपयोगिता कहाँ है; उसके द्वारा क्या साधन करना शक्य है, इस कर्तव्यता का समर्थन कल्प कहता है। यह प्रयोग विधि है। इसी के लिए ही पूर्व के अंगों के द्वारा वेद सिद्ध किया जाता है। उन पूर्वांगों के बिना पदार्थ शक्ति के ज्ञान के अभाव में उपयोगिता का ज्ञान दुर्बल रहेगा। प्रत्येक पदार्थ की उपयोगिता ज्ञानपूर्वक उसकी इतिकर्तव्यता श्रेयस्कर होती है। इस पदार्थ ज्ञान के द्वारा क्या सिद्ध किया जा सकता है; किस प्रकार से वह अर्थ सिद्ध होगा, उसके करने से क्या फल-प्राप्ति होगी; इन सबके विज्ञान से विज्ञाता स्वतन्त्र होकर यथेष्ठ सुख का साधन करता है। सुख-साधन ही पुरुषार्थ है। इसलिए सब पदार्थों की व्यष्टि या समष्टि के रूप में उपयोगिता इतिकर्तव्यता का ज्ञान साधन किया जाता है। इसका उपन्यास कल्प शास्त्र है। शब्दवेद में मंत्रों का विनियोग प्रयोग इतिकर्तव्यता फलश्रुति आदि कल्प के अन्तर्गत हैं।

इन छः अंगों के द्वारा एक शास्त्र सांग होने से सम्पूर्ण होता है। इन छः अर्थों का उपन्यास उसका वेद कहा जायगा जिसके सम्बन्ध से इनका उल्लेख हुआ है। शास्त्र, तन्त्र, वेद ये समानार्थक हैं। वचन की प्रधानता में शास्त्र, क्रिया की प्रधानता में तन्त्र तथा विज्ञान की प्रधानता में वेद शब्द का व्यवहार है। यह प्रधानता के अनुरोध से है; वास्तव में तीनों एक ही हैं।

कुछ लोगों का मत है कि वेदांग शब्द में अंग शब्द का अर्थ है—उपकारक। मन्त्र को वेद, ब्रह्म कहा गया है। उसके उपयुक्त अर्थ का संग्रह **ब्राह्मण** है। इनमें (ब्राह्मणों में) मन्त्रों में उपयुक्त होने वाले छः विषय हैं—शिक्षा आदि। मन्त्र के अन्तर्गत वर्णों

के उच्चारण के प्रकार का प्रदर्शन शिक्षा है । मन्त्र के अन्तर्गत उन-उन पदों का क्या अर्थ है; जिस प्रकार यह अर्थ हुआ, इस अर्थ के निर्वचन का प्रकार बताना निरुक्त है । मन्त्र के पदों के स्वर संस्कार के प्रकार का प्रदर्शन व्याकरण है। ऋग्, यजु:, साम रूप मन्त्रों के छन्द के प्रकार का प्रदर्शन छन्द है । मन्त्र के द्वारा स्मरण कराये गये कर्मों का काल भेद से किये जाने वालों का उपयुक्त काल का विवेचन करने वाला प्रकार ज्यौतिष है । इन मन्त्रों का उन-उन कर्मों में विनियोग बताना—किस कर्म में किस मन्त्र का उपयोग होता है—यह कल्प है । ये मन्त्र के उपकारक हैं, अत: वेदांग हैं । यह माना ही गया है कि ब्राह्मण भाग भी वेद है । इसका अन्यत्र निरूपण हुआ है । ये शिक्षा आदि छ: पदार्थ समुदित रूप में ब्राह्मण हैं क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में इन्हीं का उल्लेख है । अत: शिक्षा आदि वेदांगों का समुच्चय रूप ब्राह्मण ग्रन्थ वेद ही है, वेदांग नहीं । उसके अवयवभूत ये छ: पदार्थ वेदांग हैं । सबका समूह अवयवी ब्राह्मण वेद है । वर्तमान काल में शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त आदि के जो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं वे तो अर्वाचीन हैं और अत: स्मृति कोटि में आते हैं । वास्तव में ये वेदांग नहीं हैं क्योंकि अंग और अंगी, अवयव और अवयवी इनमें भिन्नता नहीं होती । वेदांग वेद का ही अंग हो सकता है और अंग होने से वह भी वेद ही कहा जायगा । अत: अर्वाचीन शिक्षा, व्याकरण आदि के ग्रन्थों में न वेदत्व है और न वेदांगत्व । तब यह अवश्य है कि स्मृति ग्रन्थों का मूल स्रोत ब्राह्मण भाग में विवेचित वेदांग भाग ही है इस दृष्टि से इन्हें भी वेदांग कहा जाता है । यह उल्लेख हो चुका है कि उपलब्ध ऋक् प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों में ही स्पष्ट उल्लेख है कि इनका आधार ब्राह्मण भाग ही है; वही उपजीव्य है। वही सब का (छ: अंगों का) बीज है, उसीको आधार मान कर पृथक् संकलन करके अर्वाचीन ग्रन्थों का निर्माण हुआ है यह स्पष्ट है ।

एक दृष्टि यह भी है कि ये षडंग भी ऊँचे-नीचे पदार्थ हैं इनका भी विज्ञान सामान्य रूप से ज्ञातव्य है । लोकशिक्षा, भाषा-साहित्य, ज्यौतिष, संप्रदाय, व्यवस्था और शिल्प ये छ: मुख्यत: ज्ञातव्य विषय हैं इनका सामान्य ज्ञान सबको होना चाहिए तभी वैदिक विज्ञान में उसका प्रवेश सम्भव है इनमें भी प्रत्येक के अनेक भेद हैं । लोकशिक्षा के अन्तर्गत लोकस्थिति है । सृष्टि विद्या, इतिहास, धातु मूल जीव सम्बन्धिनी विद्या, भूगोल विद्या, देशों के आचार-व्यवहार, देश की भाषाओं की उच्चारण विद्या, धर्मनीति, राज-नीति, समाजनीति, इत्यादि लोकशिक्षा के भेद हैं। किसी देश की भाषा का वर्णत:, पदत:, वाक्यत: जिसमें निरूपण हो, वर्ण वाक्छन्द, पदकोश, पदसंस्कार, पदार्थ व्यवस्था, अलंकार, व्युत्पत्ति, तर्कन्याय, इत्यादि भाषा-साहित्य के अन्तर्गत आते हैं । ज्योतिष सम्बन्ध से अपेक्षित ज्ञान भी तीन प्रकार का है—गणित, संहिता और जातक । इनके भी अनेक

अवान्तर भेद हैं। सम्प्रदाय, आम्नाय, पद्धति, कल्प ये समानार्थक हैं। यह भी तीन प्रकार का है। श्रौत, गृह्य और सामयाचारिक। श्रौत में यज्ञ का विषय है। गृह्य में, जिसे स्मार्त भी कहते हैं, संस्कार विधि का विवेचन है। सामयाचारिक में प्रकीर्ण धर्म निधियों का उल्लेख है। इसके बाद जो भेद है वह व्यवस्था है, उसे ही निरुक्त कहते हैं। वह निर्वचन शक्ति है। यह चार प्रकार की है—पदार्थ निरुक्ति, वाक्यार्थ निरुक्ति, प्रमाण निरुक्ति और तत्त्व निरुक्ति। पदार्थ निरुक्ति के लिए निरुक्त शब्द ही प्रयुक्त होता है। उसके भी निघण्टु, निगम और दैवत ये तीन भेद हैं। वाक्यार्थ निरुक्ति को कर्म मीमांसा कहा जाता है। वह भी धर्म मीमांसा, भक्ति मीमांसा और ब्रह्म मींमासा भेद से तीन प्रकार की है। प्रमाण निरुक्ति को व्युत्पत्ति कहा गया है वह भी शाब्दिकी, मैमांसकी और तार्किकी भेद से तीन प्रकार की है। तत्त्व निरुक्ति दर्शन शब्द से कही जाती है। वह भी अणुवाद, प्रधानवाद और चिद्‌वाद भेद से तीन प्रकार की है। अन्तिम छठा शिल्प है यह कौशल भी कहा जाता है। वह भी तीन प्रकार का है। आकृति नियत बन्ध—इसके अन्तर्गत क्षेत्र व्यवहार-विद्या, चित्रकला आदि हैं। द्वितीय प्रकृति बन्ध है जिसके अन्तर्गत विश्वकर्म विद्या आदि हैं। तृतीय वाग्बन्ध है जो पिंगल सूत्र आदि में निर्दिष्ट है और जिसे छन्दः कहा जाता है। इस प्रकार अवान्तर भेद सहित ये छः अंग हैं और इनका सामान्य ज्ञान वैदिक विज्ञान में प्रवेश की योग्यता के लिए आवश्यक है, इसलिए ये वेदांग हैं।

मुख्य ज्ञातव्य विषय वेद-विज्ञान है और उसमें निष्णात होने के लिए इन अंगों की शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य था। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में शिक्षा का क्षेत्र कितना विस्तृत था; उसकी सर्वतोमुखी गति थी। परन्तु सबका अन्तिम लक्ष्य वैदिक विज्ञान था। क्योंकि जैसा अन्यत्र कहा गया है समस्त विश्व शक्ति का ही विजृम्भण है। यह जो कुछ जगत् प्रपंच दृष्टिगोचर होता है सबका उपादान शक्ति है जिसे देव कहा जाता है। यह कहा गया है कि देवों में अवम (अन्त में) और विष्णु परम हैं इन्हीं दोनों के मध्य में अन्य सब देवता हैं। ये दोनों (अग्नि और विष्णु) दोनों छोर के यज्ञ के तनु (शरीर) हैं। इसलिए यज्ञ-विद्या के द्वारा समस्त जगत् का विज्ञान हो जाता है। यज्ञ की सम्पन्नता हौत्र, आध्वर्यव और औद्‌गात्र से होती है। हौत्र का साधन ऋग्वेद है, आध्वर्यव का यजुर्वेद और औद्‌गात्र का साम वेद। इन तीनों वेदों के मण्डल का समवाय यज्ञ हैं। यह आधिदैविक है। आधिभौतिक विद्या भी तीन प्रकार की है—भूर्विद्या, भुवर्विद्या और स्वर्विद्या। इनमें चर-अचर सब ज्योतिः पदार्थों का अन्योन्य सम्बन्ध उनकी स्थिति गति आदि के द्वारा काल विज्ञान, दैव योग विज्ञान स्वर्विद्या है। अग्नि,

वायु, पर्जन्यादि अन्तरिक्षस्थ देवों के सम्बन्ध से वृष्टि आदि का विज्ञान भुर्वविद्या है। भूमि में स्थित धातु जीव मूल आदि के तथा प्रादेश सामाजिकों के सम्बन्ध से आयुर्वेद, समाज शास्त्र, नीति शास्त्र आदि सब अर्थों का ज्ञान भूविद्या है। इसी प्रकार आध्यात्मिक भी तीन प्रकार का है––शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक। इनमें से शरीर सम्बन्धी कर्मजात यज्ञादि कर्मकाण्ड प्रतिपादक ब्राह्मण भागों में वर्णित है। मानसी शक्ति के प्रबल करने वाले कर्मों का योग धर्म के द्वारा सम्पादन करने का विधान आरण्यक काण्ड के उपासना का विषय है। आत्मा के सम्बन्ध का वर्णन विज्ञान रूप उपनिषत्काण्ड में विस्तृत विवेचन है। इस प्रकार वेद और वेदांग आदि के द्वारा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समस्त विद्या का अनुशीलन करके ऐहिक समस्त वैभव के उपभोग के अनन्तर इनसे विरक्त होकर अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष का सम्पादन करना प्राचीन वैदिकी शिक्षा का प्रधान लक्ष्य था। अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को मानते हुए भी धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग की यहाँ कभी उपेक्षा नहीं की गयी। प्रत्युत अन्तिम लक्ष्य को ध्यान में रख कर धर्म के सहयोग से अर्थ और काम का उपभोग होता था जिससे ये अर्थ और काम अन्तिम पुरुषार्थ में बाधक न होकर सहायक ही होते थे। भौतिक वैभव भी प्राचीन काल में भारत में चरम उत्कर्ष पर था, यह इतिहास ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता है। इस पुरुषार्थ चतुष्टय का सुन्दर वर्णन कविवर कालिदास ने रघुवंश के सम्बन्ध में किया है––

'शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥'

इस प्रकार सर्वथा सिद्ध है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा सर्वतोमुखी थी; सर्वांगीण थी। इहलोक और परमार्थ दोनों का साधन करने वाली थी।

आचार

वैदिक काल में अनेक प्रकार के आचारों का संकेत मिलता है जो परवर्ती आचार-संहिता के मूल हैं। यहाँ संक्षेप में दो-चार निदर्शन देना अप्रासंगिक न होगा।

वीरपान महोत्सव––दस्युनिग्रह के लिए कुत्स की प्रार्थना पर जब इन्द्र अपने दल-बल के साथ आये तब उनका आवास निषध पर्वत पर नियत किया गया था। उनके निवास के कारण पर्वत का नाम निषद––निषध हो गया। वे (इन्द्र) कुत्स के अतिथि थे अतः उनके आतिथ्य का भार कुत्स पर था। उन सबके लिए भोजन सामग्री का संग्रह करने के लिए अनेक विज्ञ पुरुष नियुक्त हुए थे। उन सबके अध्यक्ष विश्वामित्र थे। विश्वामित्र स्वागताध्यक्ष थे। इन्द्र के भोजन का समय दिन में तीन बार होता था;

उन्हें क्रमशः प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन, तृतीय सवन कहा जाता था। प्रातः सवन में इन्द्र के साथ भोजन करने वाले देवों में अश्विद्वय देवता प्रधान थे। माध्यन्दिन सवन में अग्निदेव प्रमुख थे तथा तृतीय सवन में ऋभुगण प्रधान रहते थे। यह अन्यत्र लिखा गया है कि अपने शिल्प कौशल के द्वारा इन्द्र का अनुग्रह प्राप्त करके देवत्व तथा सहभोजित्व प्राप्त किया था। अथर्ववेद में नवम काण्ड में तीन सहभोजी देवों का उल्लेख मिलता है–

'यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः।
एवा मे अश्विना वर्चं आत्मनि ध्रियताम् ॥––अथर्व, ९।१।११
'यथा सोमो द्वितीये सवने इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः।
यथा सोमस्तृतीयसवने ऋभूणां भवति प्रियः ॥'––अथर्व, ९।१।१३

यहाँ सोमपान भोजन पदार्थों का भी उपलक्षक है। स्वागताध्यक्ष विश्वामित्र का भोजनकालीन भाषण का भी (dinner speech) का वर्णन भी ऋग्वेद में मिलता है––

१. 'धानावन्तं करंभिणमपूपवन्त मुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः।'
२. 'माध्यन्दिनस्य सवनस्य धानाः पुरोडाशमिन्द्र कृष्वेहचारुम्।
प्रयत् स्तोता जरिता तूर्ण्यर्थो वृषायमाण उपगोर्भिरीट्टे ॥'
३. 'तृतीये धानाः सवने पुरुष्टुत पुरोडाशमाहुतं मामहस्व नः।
ऋभुमन्तं वाजवन्तं त्वा कवे प्रयस्वन्त उपशिक्षेम धीतिभिः ॥' ऋ० ३।५२

इसी तृतीय सवन में इन्द्र के साथ ऋभुगण प्रधान देवता थे इसलिए उनकी भी स्तुति की गयी है। उनके कार्यकलाप का भी संक्षिप्त परिचय दिया गया है। विशिष्ट महापुरुषों के माहात्म्य प्रदर्शन करने के लिए जो उत्सव किया जाता था वह प्रमह अथवा महः कहा जाता था। इस महोत्सव में सोमपान, भोजन और स्तुति वाक्य मुख्य थे। यह उत्सव युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व विषधगिरि के शिविर में हुआ था। समस्त दस्युओं का समूल उन्मूलन करके जब अपनी राजधानी के लिए इन्द्र प्रस्थान करने लगे उस समय विजय के उपलक्ष्य में अभिनन्दन करने के लिए फिर से उत्सव का विधान हुआ था। इसमें सभी आर्यराजाओं तथा ऋषियों के द्वारा इन्द्र के पराक्रम का वर्णन करके उनकी स्तुति की गयी है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में विशेष रूप से तथा तृतीय और चतुर्थ मण्डलों में इन्द्र के इस युद्ध का स्तुति रूप में सविस्तार वर्णन है। यह महः सूर्य सदन में हुआ था, यह इस मन्त्र में स्पष्ट होता है––

'युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सं पतिश्चर्षणिप्राः।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ।।''
—ऋ०, ३।३४।७

'न्यूषु वाचं प्रमहे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः।'—ऋ० १।५३।१ पूर्वार्ध । इस सूर्य-सदन का वर्णन अनेक मन्त्रों में आया है । सूर्य की किरणों की परीक्षा के लिए जो विज्ञान भवन (प्रयोगशाला) था उसी को नष्ट करने के लिए दस्युगण का आक्रमण होता था। इस सूर्य-सदन की प्रतिष्ठा सिंधु नद से पूर्व सरस्वती के तट पर हुई थी। विजयाभिनन्दन इसी स्थान में हुआ था।

ऋग्वेद के मन्त्रों का संकलन ऐतिहासिक क्रम से नहीं किया गया था। इसलिए क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं होता है। अनेक मण्डलों में मन्त्र फैले हुए हैं उनका संकलन करने से ऐतिहासिक तथ्य पर प्रकाश पड़ता है। कुत्सादि राजगण जो सूर्यसदन की रक्षा करने के लिए नियुक्त थे जब दस्युओं के आक्रमणों से त्रस्त हो गये और इन्द्र से सहायता के लिए प्रार्थना की, उसका भाव इन्द्र को आह्वान करने के लिए प्रार्थना पत्र रूपी स्तुति वाक्यों से स्पष्ट हो जाता है। उन सभी मन्त्रों में प्रायः 'इन्द्र आयाहि'' इन्द्र आइए, यह स्पष्ट उल्लिखित है। निषध पर्वत में इन्द्र के विश्राम के लिए जो व्यवस्था की गयी थी वहाँ भी मन्त्र में स्पष्ट मिलता है कि हे इन्द्र ! आपके लिए निषद में स्थान किया गया है आप उसमें बैठें और अश्वों को खोल कर विश्राम करावें—

'योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमानिषीद स्वानोर्नावा ।
विमुच्यावयोऽवसायाश्वान् दोषावस्तोर्वहीयसः प्रपित्वे ।।' ऋ०, १।१०४।१

विश्वामित्र के स्वागत भाषण में वर्तमान काल का प्रयोग स्पष्ट है। उसी समय विश्वामित्र ने जो प्रार्थना की है उसमें भी स्पष्ट उल्लेख है कि पुरुहूत इन्द्र की वृत्र को हनन करने के लिए स्तुति करते हैं—'इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुपब्रुवे। भरेषु वाजसातये।'—ऋ० ३।३७। इसी प्रकार विजयाभिनन्दन के लिए जो उत्सव हुआ है उसमें जो मन्त्र प्रयुक्त हैं उनमें दस्युओं का दमन करने में इन्द्र ने पराक्रम किया था। उसका स्पष्ट उल्लेख भूत काल में है। ऊपर में 'युधेन्द्र' इत्यादि मन्त्र में भूतकाल का द्योतक 'चकार' क्रिया पद है। अन्यान्य राजाओं ने और ऋषियों ने जो अभिनन्दन मन्त्र कहे हैं उनमें भी इन्द्र के अद्भुत पराक्रम का भूतकाल में निर्देश है। दस्युओं का दमन करने के बाद इन्द्र जब अपने निवास में गये हैं तब उनके साथ कुत्स तथा अन्य राजगण और ऋषिगण अमरावती गये थे। वहाँ भी देवों ने इन्द्र के अभिनन्दन में प्रमह का आयोजन किया था। वहाँ भी उनके अतीत अवदान का उल्लेख ऋषियों की स्तुति में स्पष्ट रूप से मिलता है। उन सबके उत्तर में

इन्द्र का जो भाषण हुआ है उसमें इन्द्र ने स्वयं अपने जीवन चरित (autobiography) पर प्रकाश डाला है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का अड़तालीसवाँ सूक्त सम्पूर्ण इसी रूप में है। यहाँ विस्तार करना अपेक्षित नहीं है।

प्रत्युत्थान और अभिवादन—ऐतरेय ब्राह्मण (२।३।२) में मिलता है—'प्रति वै श्रेयांसमायन्तमुत्तिष्ठन्ति।' इस पर सायणाचार्य लिखते हैं—अपने से श्रेयान् अतिप्रशस्त आचार्य, पिता आदि को सम्मुख आते हुए देख कर शिष्य, पुत्र आदि खड़े ही हो जाते हैं। मनु संहिता में भी मिलता है—'शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्' अर्थात् शय्या या आसन पर बैठा हुआ शिष्य आदि हो तो नीचे खड़े होकर अभिवादन करे। मनु में ही इस प्रत्युत्थान क्रिया की उपपत्ति भी दी हुई है—'ऊर्ध्वमुत्क्रामन्ति प्राणा यूनः स्थविर आयति। प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते।' अर्थात् वृद्ध पुरुष के आने पर युवा पुरुष के प्राण उद्वेजित होकर ऊपर उत्क्रमण करने लगते हैं और प्रत्युत्थान और अभिवादन करने से फिर यथास्थान स्थित हो जाते हैं। अभिवादन करने में भी यह नियम रखा गया है कि सम्मुख स्थित करके गुरु आदि के दक्षिण पैर का दक्षिण हाथ से तथा वाम पैर का वाम हस्त से स्पर्श करे।' यह भी विहित है कि प्रणाम करते समय शिष्यादि अपना नाम निवेदन करे। यह सम्भवतः इस दृष्टि से रखा गया है कि वृद्ध पुरुषों को शिष्य आदि के पहचानने में प्रयास न करना पड़े। चरण स्पर्श करने में तो प्रशस्त पुरुष के सम्पर्क में आने से समीकरण सिद्धान्त के अनुसार उनकी शक्ति का शिष्य में संचार होता है और इस प्रकार प्रणाम करने वाले शिष्यादि की शक्ति वृद्धि होती है।

सम्मर्शन—सामश्रमी लिखते हैं—एक दूसरे के दोनों हाथों को ग्रहण करके एक दूसरे की कुशल जिज्ञासा करना सम्मर्शन नाम का शिष्टाचार था जैसा कि ऐतरेय ब्राह्मण (३।४,१६–१७) में उल्लिखित है।[१] वे यह भी लिखते हैं कि वर्तमानकालीन इंग्लैण्ड आदि देशों में भी यह सम्मर्शन प्रचलित है। अन्तर केवल इतना है कि वहाँ एक ही कर का ग्रहण होता है, भारतीय आधार में दोनों करों का।

इस हस्त पादादि स्पर्श की क्रिया में वैज्ञानिक हेतु है। प्रत्येक व्यक्ति के शरीर से विद्युत् का संचार होता रहता है। हाथ और पैर के तल से विद्युत् का संचार अधिक मात्रा में होता है जिसके तेज से उन स्थानों में रोम का उद्गम नहीं होने पाता। समान

१. 'अथाध्वर्युश्च यजमानश्च सम्मृशेते' इत्यादि।

शक्तिवालों के परस्पर हस्तस्पर्श से प्राण रूप विद्युत् के आदान-प्रदान से दोनों में प्राणों की एकता होने से सौहार्द की वृद्धि होती है । युवा पुरुष गुरुजनों के पादस्पर्श के द्वारा उनसे विशेष शक्ति का ग्रहण करता है । समीकरण का यह सिद्धान्त है कि अधिक शक्ति न्यून शक्ति में संचरित होती है । इस प्रकार शिष्यादि गुरुजनों के चरणस्पर्श के द्वारा शक्ति-लाभ करता है। विशेषकर अध्ययन से पूर्व गुरु के चरणस्पर्श से गुरु प्रदत्त उपदेश को ग्रहण करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है । दक्षिण हाथ से दक्षिण चरण का और वाम हस्त से वाम पाद का स्पर्श भी समान विद्युत् प्रवाह की दृष्टि से प्रतीत होता है ।

अच्छे वस्त्रों का पहनना पुरुष और स्त्री दोनों के लिए वैदिक युग में आचारप्राप्त था। 'जायेव पत्य उशती सुवासाः' यह अन्यत्र उद्धृत हुआ है । पुरुष के लिए भी सुवासा होने का उल्लेख मिलता है ।[१] इसी के आधार पर मनु का विधान है कि सामर्थ्य रहने पर निकृष्ट या मलिन वस्त्र न पहने––'न हीनमलवद्वासा भवेच्च विभवे सति ।' आत्मा स्वच्छ है, स्वच्छ वस्त्र परिधान से आत्म प्रसार होता है ।

वर्तमानकालीन 'बेल्ट' के स्थानापन्न मेखला का प्रचार भी था । उसकी अधिक प्रशंसा की गयी है । उसे सुभगा स्वसा (भगिनी) कहा गया है । वह प्राण और अपान के द्वारा बल का आधान करती है । दुरुक्ति को बाधित करती है । पवित्र वर्ण को और भी पवित्र करती है ।[२]

सिले हुए कपड़ों का उल्लेख भी ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है––'सूच्या वासः सन्दधदियात् ।' (ऐत० ३।२।७) । यहाँ सूची शब्द का स्पष्ट उल्लेख है । ऐतरेय ब्रा० में ही स्यूम (सिला हुआ) शब्द का भी पृथक् उल्लेख है––'तद्धापि **स्यूमेव** मध्ये शीर्ष्णो विज्ञायते ।'

पुत्रोत्पादन की प्रशंसा तो श्रुतियों में अनेक स्थलों में प्रचुरता से प्राप्त होती है । बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तिम अध्याय में गर्भाधान से लेकर जातकर्म, नामकरण संस्कारों तक का सविस्तर है। वहाँ पुत्र को अभिमन्त्रित करते हुए पिता कहता है कि तुम अपने पिता

१. युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त ।।

२. इयं दुरुक्तोः परिबाधमाना वर्णं पवित्रं पुनती म आगात् ।
प्राणापानाभ्यां बलमादधाना स्वसा देवी सुभगा मेखलेयम् ।।

और पितामह से भी बढ़कर होओ। श्री, यश की परम काष्ठा को प्राप्त होओ।[1] ऐतरेय में मिलता है—'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति।' वहीं ७।३।१ में यह भी लिखा है—'ऋणमस्मिन् संनयति अमृतत्वं च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।' अर्थात् पिता उत्पन्न जीवित पुत्र का मुख देख ले तो वह उसमें ऋण संक्रान्त कर देता है और अमृतत्व को प्राप्त होता है। इसका अभिप्राय यह है कि पिता ही पुत्र रूप से उत्पन्न होता है इसके अनुसार वंश परम्परा के जीवित रहने के कारण पिता का भौतिक शरीर नष्ट हो जाय तो भी पुत्र के रूप में अवस्थित रहने से उसका अमृतत्व सिद्ध होता है। उसमें ऋण संक्रान्त करता है यह गम्भीर विषय है इसके विवेचन का अवसर नहीं आया है यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उसका निदर्शन करना अप्रासंगिक न होगा। इस प्रकरण में जो ऋण शब्द प्रयुक्त हुआ है वह द्रव्य आदि का ऋण नहीं है, वह ऋण तो उसके अन्य बन्धुओं के द्वारा भी पटाया जा सकता है। यहाँ पितृ ऋण से अभिप्राय है। उसके पूर्वजों का—पिता-पितामह आदि का—उस पर जो ऋण है उसका शोध पुत्र के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। वह पितृ ऋण क्या है और वह कैसे पुत्र में संक्रान्त होता है उसका संक्षिप्त रूप से यह प्रकार है :—

यह अन्यत्र लिखा गया है कि किस प्रकार चन्द्रलोक से लौट कर जीव गर्भ में प्रविष्ट होता है। चन्द्रमण्डल में स्थित आप् को श्रद्धा कहा गया है उसी आप् की पंचमी आहुति में पुरुष संज्ञा होती है और वह महान् नाम का आत्मा बनता है। वह चन्द्र का अंश सोलह वर्ष पूरे होने पर सम्पूर्ण कलाओं से युक्त होता है। महीने में प्रतिदिन एक नक्षत्र का चन्द्र द्वारा भोग होने से नक्षत्र मास अट्ठाइस दिन का होता है। प्रतिदिन उदय और अस्त के बीच चन्द्र का एक आह्निक अंश शुक्र रूप में पुरुष में स्थित होता है। इस प्रकार अट्ठाइस दिन के एक मास में अट्ठाइस विन्दु बनते हैं फिर इसी प्रकार अन्य महीनों में भी अट्ठाइस अंश आकर पूर्व के अट्ठाइस अंश में संचित होते रहते हैं। शुक्र के ये अट्ठाइस अंश उस पुरुष के अपने अंश हैं। स्त्री की योनि में शुक्र का निषेक होने पर उसके इन अट्ठाइस अंशों से २१ अंश गर्भ के लिए संक्रान्त हो जाते हैं और अवशिष्ट सात अंश उसके बच रहते हैं जो फिर क्रमशः पूर्ण होते रहते हैं। इस प्रकार गर्भस्थ जीव में २१ अंश पिता से प्राप्त होते हैं इसी अंश के प्रदान से, कहा गया है, वह पुरुष अपनी जाया के गर्भ में प्रविष्ट होकर फिर से उसमें जन्म लेता है—'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वेह मातरम्। जायायास्तद्धि

१. बृहदा०—'तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं विदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥'

जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ।' इसी सूत्र सम्बन्ध से पिता का वह बालक उत्तराधिकारी होता है । वह पिता का ही आत्मा माना जाता है ।' 'अंगादंगात्प्रभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्र नामासि त्वं जीव शरदः शतम् ।' यह कहा गया है कि जीव सर्वप्रथम पिता के शरीर में ही आता है तत्पश्चात् माता के गर्भ में । इस प्रकार शुक्र रूप में अवस्थित वह जीव पिता के सब अंगों में व्याप्त रहता है । इस प्रकार इस पुत्र को अपने पिता से इक्कीस अंश मिले । पिता को भी अपने पिता से २१ अंश मिले थे । इन अंशों में दो भाग होते हैं । एक जो सन्तान में सन्तानित होते हैं, सुत होते हैं वे सक्नीय भाग हैं और अवशिष्ट दूसरा आत्म-भाग है। पिता से जो इक्कीस अंश प्राप्त हुए हैं उनमें कुछ अंश पुत्र का अपना आत्म-भाग बनेगा और बाकी वह फिर अपने सुत में पुत्र में संक्रान्त करेगा । जैसा कि पूर्व में कहा गया है अट्ठाइस अंश उसके अपने हैं प्रातिस्विक हैं और पिता के तथा पितामह प्रभृति छः पुरुषों के अंश—पिता के द्वारा उसे जिनकी संख्या छप्पन होती है—अपने और पूर्वजों के अंशों के योग से कुल ८४ अंश होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक पुरुष में सन्तानोत्पादन की शक्ति रखने वाला जो शुक्र धातु है उसमें चौरासी अंश होते हैं । इन्हें वैदिक विज्ञान में सहः नाम से कहा जाता है । इनमें निज के २८ अंश अपने अन्न-पान आदि के द्वारा उपार्जित हैं । बाकी ५६ अंश जो पूर्वजों के हैं उनमें पिता के २१, पितामह के१५, प्रपितामहके १०, चतुर्थ पुरुष के ६, पंचम पुरुष के ३, और छठे पुरुष का १ इस प्रकार ५६ अंश दाय में प्राप्त होते हैं । अब चौरासी सहः वाला पुरुष ५६ अंश का शुक्र-निर्वाप करेगा । इनमें से अपने २८ में से२१ वह पुत्र में निर्वाप करेगा और पूर्वजों से प्राप्त ५६ में से ३५ का वह निर्वाप कर देगा । अर्थात् उसे अपने पिता से जो २१ अंश मिले हैं उसमें से सवनीय १५ अंश निर्वाप करके और क्रमशः १०, ६, ३, और १ अन्य पूर्व पुरुषों के अंशों का निर्वाप करेगा । अपने से पूर्व षष्ठ पुरुष का जो एक मात्र अंश इस व्यक्ति में था वह सूक्ष्म होने के कारण इसकी सन्तान में नहीं जायगा । यही क्रम आगे पौत्रादि में भी चलेगा । इसी कारण शास्त्रों में एक व्यक्ति को मध्यमें रख कर उसका छः पूर्व पुरुषों से और छः आगे की सन्तति से सापिण्ड्य माना जाता है । अपने आप एक और आगे के छः सन्तान यों सात पुरुष में सपिण्डता होती है । 'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ।' इनमें भी दस या इससे अधिक अंश जिन सन्तानों में गये हैं या जिन पूर्व पुरुषों के अपने आप में हैं वे ऊपर और नीचे के तीन-तीन पुरुष मुख्य सपिण्ड हैं । अर्थात् प्रपितामह, पितामह और पिता ऊपर के तीन, मध्य का स्वयम्, तथा नीचे के पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र मुख्य सपिण्ड हैं । ये दाय सपिण्ड भी कहलाते हैं । श्राद्ध में भी पिण्ड तीन ही पुरुषों को दिया जाता है क्यों कि दस अंश तक धनीभूत होने के कारण पिण्ड नाम पड़ता है । किन्तु विवाह सम्बन्ध पर विचार करते समय ऊपर और नीचे दोनों

ओर की सपिण्डता का परिहार किया जाता है। यह सब सूत्र सम्बन्ध की महिमा है। इसी सूत्र के प्रभाव से श्राद्ध की उपपत्ति होती है। श्राद्ध में पिण्ड तीन ही पुरुषों (पिता, पितामह, प्रपितामह) को दिया जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने से सप्तम पुरुष तक साक्षात् सम्बद्ध रहता है। सप्तम पुरुष भी इस व्यक्ति तक सम्बद्ध सूत्र से बद्ध रहता है। परन्तु जब यह व्यक्ति सन्तान उत्पन्न कर लेता है और अपने सहित पूर्व के पाँच पुरुषों का सहः पुत्र में संक्रान्त कर देता है तो इसके छठे पुरुष के सहः का आगे सन्तनन न होने से वह एकबीजी पुरुष इस सूत्र बन्धन से मुक्त हो जाता है क्योंकि इस सप्तम सन्तान तक उसका एक ही अंश रह गया था अन्य अंश उसे प्रत्यर्पित हो चुके थे। वह अब इस बन्धन से मुक्त हो जाता है। परन्तु उससे नीचे के व्यक्तियों के अंश में ऋण रूप में—प्रत्यर्पण करने के लिए—जो उसमें थे जिनके द्वारा वह पूर्वपुरुषों का ऋणी था वह सब ऋण का भार पुत्र उत्पन्न करने पर उसमें संक्रान्त हो जाता है। इसी के लिए कहा गया है—'ऋणमस्मिन् संनयति।' इस प्रकार सन्तनन के द्वारा क्रमशः ऊपर के सप्तम (सन्तान के अष्टम) के इस सूत्र सम्बन्ध का विच्छेद होता रहता है। उसे दूर करने के लिए और अन्य उपाय नहीं है। इसीलिए कहा गया है—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति।' गति उसकी स्वतन्त्र रूप से हो नहीं सकती क्योंकि वह इस सम्बन्ध सूत्र से बद्ध है। ज्ञानाग्नि के द्वारा ऊर्ध्वरेता महापुरुषों का मोक्ष प्राप्त करना अपवाद रूप है, सर्व साधारण के लिए वह सुलभ नहीं है। अपनी सन्तानों में पित्र्य सहः (पिता पितामह आदि का अंश) जो तन्तु रूप में आतत किया जाता है इसका संकेत ऋग्वेद में प्राप्त होता है। यहाँ जो **सहः** शब्द आया है वह पारिभाषिक है, यह भी स्पष्ट है—

"द्विधा सूनवो असुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तंतुमाततम्।।' ऋ० १०।४।५७।६

तृतीय कर्म की व्याख्या में सायणाचार्य लिखते हैं कि तृतीय कर्म प्रजोत्पादन है। तैत्ति० संहिता (६।३।१०।५) में मिलता है—'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' अर्थात् ब्रह्मचर्य के द्वारा ऋषियों के, यज्ञ के द्वारा देवों के, प्रजा के द्वारा पितरों के ऋण का अपाकरण होता है। यहाँ तीसरा ऋण पितरों का है वह तृतीय कर्म प्रजोत्पादन के द्वारा प्रत्यर्पित होता है। इसी दृष्टि से स्मृति में भी मिलता है—'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।' देव ऋषि ऋण के सम्बन्ध में कहा ही गया है—'जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्यो देवताभ्यः।' उल्लिखित मन्त्र में पितर पित्र्य सह (पितृ शब्द यहाँ लक्षण के द्वारा अन्य उक्त पूर्वजों का भी द्योतक है।) का अवरों में सन्तान में आधान करते हैं। यह आतत, फैलाया हुआ तन्तु (सूत्र) है। इसीलिए पुत्र के लिए सन्तान शब्द

का प्रयोग सार्थक है। सहः सुत होता है, इसी से पुत्र को सुत भी कहा जाता है। इसी सूत्र सम्बन्ध के कारण जिस प्रकार सन्तान अपने पिता आदि का ऋण अपने ऊपर लेता है उसी प्रकार सम्पत्ति के भाग का अधिकारी भी होता है। सम्पत्ति में भी उसका भाग न्यायप्राप्त है। ऐतरेय ब्रा० (५।२।९) में मिलता है कि मनु पुत्र नाभानेदिष्ठ जब गुरुकुल में ब्रह्मचर्य का पालन कर रहता था उस समय उसके भाइयों ने पितृसम्पत्ति का विभाजन आपस में कर लिया और उसका भाग नहीं निकाला। लौटने पर उसने पूछा कि मेरा भाग कहाँ है ? इत्यादि से पुत्र का दाय भाग न्यायप्राप्त सिद्ध होता है। इस पुत्र की शास्त्रों में इतनी महिमा है कि पुत्र के अभाव में पुत्रिका पुत्र, दत्तक आदि गौण पुत्रों को पुत्र कोटि में प्रविष्ट किया गया है। परन्तु सर्वत्र प्रधानता औरस पुत्र की ही है। पिता पुत्र का यह सम्बन्ध सभी देशों में, सभी समाजों में अविच्छिन्न रूप से देखा जाता है। वेदों में इसकी उपपत्ति पर भी प्रकाश डाला गया है। धर्मशास्त्रों में उसका विस्तृत बिवेचन उपलब्ध होता है। ऊपर में प्रमाण रूप से जो ऋग्वेद का मन्त्र उद्धृत हुआ है उसी से मिलता हुआ वहीं एक मन्त्र और है, वह भी द्रष्टव्य है।[1]

वैदिक युग में अक्षक्रीड़ा का भी प्रचार था और उसके दुष्परिणामों का प्रभाव भी प्रत्यक्ष था। ऋग्वेद में महर्षि कितव (द्यूतरत) पुरुष को सम्बोधित करते हुए उसके दुष्परिणामों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करते हैं। इस सम्बन्ध के अनेक मन्त्रों में से यहाँ केवल दो मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं। प्रथम मन्त्र है——

'जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ।।' १०।३।३४।१०

कितव की पत्नी पति से हीन होकर परित्यक्त होकर सन्ताप करती रहती है। उसकी माता पुत्र के इधर-उधर घूमते रहने से पुत्र शोक से व्याकुल रहती है। इधर कितव ऋणग्रस्त होकर डरता हुआ धन की इच्छा करता हुआ रात्रि में दूसरे के घर में चौर्य वृत्ति के लिए जाता है। इस प्रकार कितव की नष्टता का चित्रण किया गया है। पौराणिक काल के नल और युधिष्ठिर के समान परम प्रतापी धार्मिक राजाओं को द्यूत का दुष्परिणाम भोगना पड़ा है, यह सर्वविदित है। इसके आगे महर्षि कितव को उपदेश देते हुए कहते हैं——

१. ऋ०, १०।४।५७——'सहोर्भिर्विश्वं परिचक्रमू रजःपूर्वाधामान्यमिता मिमानाः।
तनूषु विश्वा भुवनानि येमिरे प्रासारयन्त पुरुध प्रजा अनु ।।५।।

'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ।।' १०।३।३४।१३

भाव स्पष्ट है—हे कितव ! हमारे वचन में विश्वास करते हुए तुम अक्षक्रीड़ा न करो। कृषि कार्य ही करो। कृषि के द्वारा उत्पादित वित्त का उपभोग करो। उस कृषि में गौएँ होंगी, वहीं स्त्री होगी। यही धर्म-रहस्य सविता आर्य अनेक प्रकार से बता रहे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि द्यूत के व्यसन को समाज से दूर करने के लिए विशेष रूप से प्रयास किया जाता था।

अतिथि को भोजन कराने का आचार भी वैदिक युग में विशेष रूप से प्रचलित था। केवल अपने लिए अन्न पका कर खाने की स्पष्ट शब्दों में निन्दा की गयी है। ऋग्वेद (१०।१०।११७) में मिलता है—

"मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ।।"

इसकी व्याख्या में सायणाचार्य कहते हैं—इस मन्त्र में न देने वाले को दूषित किया गया है। दान देने में जिसका मन नहीं है वह व्यर्थ ही अन्न पाता है। यह हम (ऋषि) सत्य कहते हैं कि यह अन्न का लाभ केवल व्यर्थ ही नहीं है किन्तु वह उस अदाता का वध रूप ही है। न तो वह देवताओं को हविर्दान के द्वारा पोषित करता है और न अभ्यागत अतिथि अथवा मित्रवर्ग का पोषण करता है, अतएव वह अकेला भोजन करने वाला केवल पापवान् ही होता है। इसी को आधार मान कर स्मृति में इसका अनुवाद मिलता है—'अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्।' अतिथि सत्कार का यह वैदिक सिद्धान्त भारत में इस समय भी अविच्छिन्न रूप से प्रचलित है।

इस प्रकार निदर्शन के रूप से कतिपय आचारों का यहाँ उल्लेख किया गया है। विस्तार भय से इसे अधिक पल्लवित नहीं किया जा रहा है।

भारतीय लिपि-ज्ञान

भारतीय शास्त्रों की शिक्षा मौखिक हुआ करती थी, इस पर अनेक विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि भारतीयों को लिपिज्ञान अपेक्षाकृत बहुत बाद में हुआ, वेदों का निर्माण तो पाश्चात्य संस्कृत पण्डितों के मत से ईसवी पूर्व १५००–२००० माना जाता है (इसका निरूपण दूसरे प्रकरण में किया गया है) परन्तु लिपिज्ञान के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि यह ज्ञान उन्हें ५०० वर्ष अथवा अधिक से अधिक ८०० वर्ष ईसा से पूर्व हुआ था। श्री मैकडानल ने अपने प्रसिद्ध संस्कृत के इतिहास में लिखा है कि अशोक

के शिलालेख भारतीय लेखन प्रणाली के सर्वप्रथम प्रमाण पाये जाते हैं। आगे वे लिखते हैं कि महान् विद्वान् बूलर ने सिद्ध किया है कि खरोष्ठी और ब्राह्मी ये लिपियों के भेद भारत में मिलते हैं। इन में से खरोष्ठी गान्धारदेश में ईसवीय पूर्व चतुर्थ शतक से ईसवीय २०० तक उपयुक्त होती थी। वह सेमिटिकि लेख प्रणाली की आरमाइक प्रकार की लिपि से—जो ५०० वर्ष ईसा से पूर्व प्रचलित थी—ली गयी थी। यह दक्षिण से वाम भाग की ओर लिखी जाती थी (जैसा कि आजकल फारसी लिपि में मिलता है) दूसरी भारतीय लिपि ब्राह्मी—बूलर के अनुसार वास्तविक भारतीय राष्ट्रीय लिपि थी। यह बराबर बाँयें से दक्षिण की ओर लिखी जाती थी। परन्तु यह उसका असली लेखनक्रम था यह इससे द्योतित होता है कि ईसवी पूर्व ४०० का एक सिक्का मिला है उसमें जो लेख है वह दक्षिण से वाम की ओर है। डा० बूलर ने यह दिखाया है कि यह लेखक्रम उत्तरीय सेमिटिक अथवा फीनिसियन ढंग पर आधारित है जो असीरिया के बाँटों में तथा मेबाइट प्रस्तरों पर पाये जाते हैं जिनकी तिथि ८९० ई० पू० है। इनका (बूलर का) तर्क यह है—जो कि अधिक सम्भव प्रतीत होता है—कि यह मैसापोटेमिया के मार्ग से व्यापारियों के द्वारा लगभग ८०० वर्ष ई० पू० भारत में आयी।[१]

I. A History of Sanskrit Literature by A. macdonnel Edn. April, 1917. P. 15. These Asoka inscriptions are the earliest records of Indian writing. That great scholar (Professor Bihler) has shown that of the two kinds of script known in ancient India, the one called Kharoshthi employed in the country of Gandhara (Eastern Afghanistan and Northern Punjab) from the fourth Century B. C. to 200 A. d. was borrowed from Armaic type of semitic writing in use during the fifth century B. C. It was always written from right to left, like its original. The other ancient Indian script called Brahmi, is, as Bihler shows the true national writing of India, because all later Indian alphabets are descended from it, however dissimillar many of them may appear at the present day. It was regularly written from left to right, but that this was not its original direction is indicated by a coin of the fourth century B. C, the inscription on which runs from right to left. Dr. Bihler has shown that this writing is based on the oldest Northern Semitic or Phoe-nician type, represented on Assyrian weights and on

इसी प्रकरण में वे यह भी लिखते हैं कि अशोक के शिलालेखों से यह सिद्ध होता है कि भारतीय लेख प्रणाली तृतीय सदी पूर्व में ही——अर्थात् शिलालेखों के ही समय में——उद्‌भूत नहीं हुई थी क्योंकि इन लेखों में बहुत-से अक्षरों के——अनेक और प्रायः परस्पर भिन्न रूप पाये जाते हैं——कहीं-कहीं तो नौ अथवा दस प्रकार के आकार मिलते हैं। सेमिटिक चिह्नों के बाइस अक्षर जो इनके मूल थे (अर्थात् इस मत में सेमिटिक बाइस अक्षरों को लेकर भारतीय वर्णमाला का विकास हुआ था) इनसे भारतीय वर्णमाला——ब्राह्मी लिपि के छियालीस अक्षरों के विकास होने में अवश्य ही पर्याप्त समय लगा होगा। यह सम्पूर्ण वर्णमाला जो कि प्रत्यक्ष ही विद्वान् ब्राह्मणों के द्वारा उच्चारण के सिद्धान्त पर विकसित की गयी थी और यह प्रोफेसर बूलर के प्रबल तर्कों के द्वारा जैसा सिद्ध किया गया है ५०० वर्ष ई० पू० अवश्य ही प्रचलित रही होगी। यह वही वर्णमाला है जिसे पाणिनि ने महान् संस्कृत व्याकरण में स्वीकार किया गया है। पाणिनि का समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० था तब से यह अब तक बिना किसी परिवर्तन या संशोधन के चली आ रही है। वह संस्कृत भाषा की सम्पूर्ण ध्वनियों को ही केवल प्रकाशित नहीं करती प्रत्युत वह पूर्ण रूप से वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्थित हुई है। सरल स्वर (ह्रस्व और दीर्घ) पहले आते हैं उसके बाद मिश्रित स्वर (ए-ओ आदि) और अन्त में व्यञ्जनों का सन्निवेश है। और कण्ठ, तालु आदि स्थानों से जहाँ से उच्चरित होते हैं तदनुसार इनका वर्गीकरण हुआ है। इतना लिखने के बाद श्री मैकडालन महोदय अपनी विशाल हृदयता का परिचय अंग्रेजी की वर्णमाला पर आक्षेप करते हुए देते हैं, वह भी इस प्रकरण में द्रष्टव्य है। वे लिखते हैं कि इसके विपरीत हम यूरोप वाले २५०० वर्ष के बाद भी और इस विज्ञानविकास के युग में भी अभी तक उसी वर्णमाला का प्रयोग कर रहे हैं जो कि हमारी भाषाओं की सब ध्वनियों को प्रकाशित करने में तो अपर्याप्त है ही साथ ही वह (वर्णमाला) उसी भद्दे क्रम को अपनाये हुए है जिसमें स्वर और व्यंजन उसी प्रकार अस्तव्यस्त हैं जैसे कि वे तीन हजार वर्ष पूर्व थे जब ग्रीक लोगों ने प्रारम्भिक सेमिटिक क्रम को अपनाया था।[1]

यह उद्धरण अवश्य बड़ा हो गया है परन्तु इससे यह पता चलता है कि पाश्चात्य संस्कृत विद्वानों ने घोर परिश्रम करके संस्कृत भाषा का अध्ययन करके विलक्षण योग्यता

the Moabite stone, which dates from about 890 B. C. He argues, with much pro-bability that it was introduced about 800 B. C. into India by traders coming by way of Mesopatamia.

I. Macdonnel—History of Sanskrit Literature, PP. 16–17.

प्राप्त करते रहे तथा अधिकांश में उदार भाव से अपने-अपने मत का यथासमय प्रदर्शन करते रहे। अतः ये मनीषिगण अवश्य ही स्तुत्य हैं। जहाँ इनसे भारतीय दृष्टि से वैमत्य होता है वहाँ यह मानना पड़ेगा उन्हें जो सामग्री उपलब्ध होती गयी तदनुसार ही उन्हें अपने सिद्धान्त स्थिर करने में सहायता मिली और निष्पक्ष भाव से उन्होंने अपनी समझ के अनुसार उन्हें प्रकाशित किया। परन्तु उनके मार्ग में जो बाधाएँ थीं, उन्होंने उन्हें यथार्थ सिद्धान्त में पहुँचने से वंचित किया। एक तो भारतीय नीति-रीति परम्परा से वे सर्वथा अपरिचित थे, दूसरे ब्राह्मण पुराण आदि ग्रन्थों की ओर––जो वास्तव में वेदों के ही उपबृंहण थे––इन लोगों की उपेक्षा थी। तथा तीसरा मुख्य कारण यह था कि प्रारम्भ में जो यह भ्रान्त धारणा बद्धमूल हो गयी थी कि आर्य लोग बाहर से भारत में आकर यहाँ के मूल निवासियों को युद्ध में परास्त कर के यहाँ अधिष्ठित हुए, इस पर वे लोग बराबर दृढ़ रहे और इसके विपरीत विचार करने की भी उन्होंने कभी चेष्टा न की। वेदों का समय निर्धारण अपने अध्ययन के आधार पर इन लोगों ने ई० पू० १५०० वर्ष अथवा अधिक से अधिक २००० वर्ष जो निर्धारित किया उसी के अनुसार उनकी काल गणना संकुचित होती गयी। फिर भी इन लोगों ने जिस अध्यवसाय का परिचय दिया है उससे वे प्रशंसा के ही पात्र हैं।

भारतीय वर्णमाला को बहुत बाद में सेमिटिक वर्णमाला के आधार पर विकसित किया गया, उसका एक प्रधान कारण यह दिया जाता है कि वेद ग्रन्थों के मौखिक पढ़ाने की परम्परा थी तथा वेदों में लेखन सामग्री––कागज, कलम, मसी आदि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उल्लेख न मिलना कारणकोटि में नहीं आता, यह श्री मैकडानल ने ही स्पष्ट कर दिया है। वे यह भी लिखते हैं कि वर्तमान काल में जब कि लेखन-कला का बहुत समय से प्रचार चला आ रहा है तब भी अर्वाचीन भारतीय की अपनी शिक्षा मौखिक परम्परा पर ही आधारित है।[१]

1. Macdonnel–History of Sans. Lit.
P. *16*–Little weight, however, can be attached to the Argumentum ex Silentio in this instance. For though writing has now been extensively in use for an immense period, the native learning of the modern Indian is still based on oral traditions.

The Palcographical evidence of the Asoka inscriptions, in any case, clearly shows that writing was no recent invention in the third

परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि वेदों में लेखन-कला-का अस्तित्व स्पष्ट दृष्टि पथ में आता है । यह अवश्य है कि कागज, मसी आदि साधनों का संकेत नहीं है क्योंकि जैसा अन्यत्र लिखा जा चुका है वेदग्रन्थ मुख्य रूप से आधिदैविक तथा यज्ञ प्रक्रिया को लक्ष्य में रखते थे, अतः इन सबका उल्लेख होना यहाँ अनुपपन्न था । परन्तु जैसा वेद प्रकरण में विस्तृत रूप से विवेचित हुआ है ऋषियों की शैली यह थी कि स्तुति वाक्यों में भी—तथा जहाँ आधिदैविक अर्थ की प्रधानता रहती थी वहाँ भी आधिभौतिक विज्ञान का संकेत कर दिया जाता है । इसी प्रकार का लेखन-कला का उल्लेख संकेत रूप से निम्नलिखित प्रकरणों में प्राप्त होता है ।

१. यजुः संहिता, पन्द्रहवें अध्याय में छन्दों के प्रकरण में मिलता है :—

'अक्षरपंक्तिश्छन्दः, पदपंक्तिश्छन्दो, विश्ष्टारपंक्तिश्छन्दः, क्षुरोभ्रजश्छन्दः ।' किसी-किसी शाखा में 'क्षुरश्छन्दः, भ्रजश्छन्दः' यह पृथक् रूप से आम्नात है । यहाँ अक्षर

century B. C, for most of the letters have several, often very divergent forms, sometimes as many as nine or ten. A considerable length of time was, moreover, needed to calaborate from the twenty-two borrowed semitic symbols the full Brahmi alphabet of forty-six letters. This complete alphabet, which was evidently worked out by learned Brahmanas on phonetic principles, must have existed by 500 B. C. according to the strong arguments adduced by Professor Bihler. This is the alphabet which is recognised in Paninis great Sanskrit grammar of about the fourth century B C. and has remained unmodified ever since. It not only reprsents all the sounds of the Sanskrit language but is arranged on a thoroughly scientific method, the simple vowels (short and long) coming first, then the dipthongs and lastly the consonants in uniform groups according to the organs of speech with which they are pronounced. We Europeans, on the other hand, 2500 years later and in a scientific age, still employ an alphabet which is not only inadequate to represent all the sounds of our langueges but even preserves the random order in which vowels and consonats are jumbled up as they were in the Greek adaptation of the primetive semitic arrangement of 3000 years ago.

पद के साहचर्य से लोहनिर्मित पूर्वकालीन लेखनी ही क्षुर शब्द से व्यवहृत प्रतीत होती है। प्राचीन काल में सूक्ष्म खोदने वाले सूची के आकार के साधन से अक्षर लिपि का होना सम्भावित है। भ्रज से भी यह प्रतीत होता है कि पत्र में उल्लिखित वाक् को ही वह प्रकाशित करता है। जिस प्रकार अक्षरपंक्ति, वर्णों के द्वारा पदपंक्ति तथा पदों के, द्वारा वाक्यों के द्वारा विष्टारपंक्ति उसी प्रकार क्षुरोभ्रज लिपिकृत थे यह सम्भव है। सब छन्द वाङमय अक्षर पद वाक्य के साहचर्य के कारण अक्षर लेखन के बिना विलिखित हो नहीं सकते। अतः यहाँ लेखन-साधन का संकेत अवश्य माना जा सकता है।

२. ऋक् संहिता में निम्नलिखित मन्त्र पाया जाता है :—

'उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥'—(ऋ० १०।७१)

इसके पूर्वार्ध का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति वाक् को देखते हुए भी नहीं देखता है; एक व्यक्ति वाक् को सुनते हुए भी नहीं सुनता है। यहाँ जिस प्रकार मुखसे उच्चारण की गयी वाणी के लिए कान से सुनना कहा गया है उसी प्रकार वाक् को दृष्टि द्वारा देखना कहा गया है। देखना किसी मूर्त पदार्थ का ही सम्भव हो सकता है, अतः यहाँ वाक् की मूर्ति लिखी हुई ही हो सकती है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में भी लिपि का अस्तित्व अवश्य था। यहाँ श्रवणेन्द्रिय से सुनने का और नेत्रेन्द्रिय से देखने का दोनों इन्द्रियों की पृथक् पृथक् वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख है। केवल दृष्टि का उल्लेख होता तो यह कहा जा सकता था कि लक्षणावृत्ति के द्वारा दृष्टि का अर्थ श्रवण रूप से मान लिया जाता परन्तु श्रवण का साथ ही उल्लेख होने से लक्षणा के लिए अवकाश नहीं रह जाता और देखने का वाच्य अर्थ ही सुसंगत होगा। जो अर्थ का संकेत नहीं जानता वह सुनते हुए भी उसे नहीं सुनता इसी प्रकार जो लिपि के संकेत को नहीं जानता वह उसे देखते हुए भी नहीं देखता। यह प्रमाण इतना प्रबल है कि इसके समक्ष अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रह जाती। तथापि कुछ और संकेत इस प्रकार के उपलब्ध हैं उनका भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

३. प्राचीन वैदिक काल में कुत्स नामक राजा का राज्य दस्युओं ने हरण कर लिया था और जब वे चिन्तित हो रहे थे उस समय काण्व महर्षि (घोर प्रगाथ) उन्हें कह कर सान्त्वना दी कि हे मित्र गण! (सखायः) अन्य और कोई प्रस्ताव मत करो और न इस राज्य-हरण आदि दुःख से, चिन्ता से, विह्वल होओ। सब लोग एक साथ संघ बना कर सोम के अभिषेक में सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले ऐश्वर्यशाली इन्द्र का आश्रय लो। स्तुति-

वाक्यों के द्वारा उन्हीं से प्रार्थना करो । इन इन्द्र के लिए गायत्र (अर्थात् प्राणत्राण करने वाला प्रार्थना पत्र) विशेष रूप से भेजो । काण्व महर्षि के द्वारा कुत्स के हाथ से पत्र इन्द्र के पास भेजा गया था । काण्व के परामर्श के ये मन्त्र हैं :--

'माचिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचासुते मुहुरुक्था च शंसत ।।'—(ऋ० ८।१।१)

'याभिः काण्वस्योपबर्हिरासदं यासद् वज्री भिनत् पुरः ।
प्रास्मै गायत्रमर्चत वावातुर्यः पुरन्दरः ।।'—(ऋ० ८।१।८)

इस प्रकार काण्व से आदिष्ट होकर इन्द्र के सखा काण्वों के द्वारा रचे गये इन्द्र के आह्वान के मन्त्र ले जाकर कुत्स ने इन्द्र के पास पहुँचाया । काण्व द्वारा भेजे गये मन्त्रों में से कुछ इस प्रकार हैं :--

'एन्द्र याहि मत्स्व चित्रेण देवराधसा ।
सरो न प्रास्तुदरं सपीतिभिरासोमेभिरुरुस्फिरम् ।।'—(ऋ० ८।१।२३)

'एन्द्र याहि हरिभिरुपकण्ठस्य सुष्ठुतिम् ।
दिवो अमुष्य शासतो दिवं यय दिवावसो ।।'—(ऋ० ८।३४।१)

काण्व ऋषियों के स्वर्गगमन का कहीं उल्लेख नहीं है, अतः पत्र के द्वारा ही उनकी प्रार्थना इन्द्र के पास भेजी गयी थी । यह तर्क नहीं हो सकता कि कुत्स ने काण्व के मन्त्रों को कण्ठस्थ कर लिया और मौखिक रूप से इन्द्र को सुना दिया क्योंकि काण्वों के साथ इन्द्र का परिचय था और उन्हीं के द्वारा वह आह्वान हुआ है इसका प्रमाण मौखिक सन्देश द्वारा सम्भव नहीं । अवश्य ही वह लिपिबद्ध था । इस प्रकरण में यह ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है कि यहाँ अभिप्राय वैज्ञानिक आधिदैविक स्वर्ग से नहीं है । भूमिस्थ स्वर्ग में ही इन्द्र का निवास था और वहीं यह प्रार्थना पत्र भेजा गया था । भूमिस्थ त्रैलोक्य का विवरण अन्यत्र किया गया है ।

४. यह पूर्व में लिखा जा चुका है कि पश्चिम भारत में ऋज्राश्व नाम के एक ऋषि थे । उनका दौहित्र जरदस्त्र हुआ जो ब्राह्मण-द्वेषी था और उसने इसी द्वेष के कारण इन्द्र की महत्ता को मिटा कर इनके स्थानमें वरुण को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया था और जिसके कारण कलह उत्पन्न हो गया था । उसी जरदस्त्र ने ब्राह्मण विद्वेष के वश ब्राह्मी लिपि के—जो पूर्व में प्रचलित थी और ब्राह्मणों की लिपि मानी जाती थी--विपरीत खरोष्ठी लिपि का प्रचार किया । ब्राह्मी लिपि वाम से दक्षिण की ओर लिखी जाती थी उससे विपरीत अपनी आविर्भूत लिपि को उसने दक्षिण से वाम की ओर प्रवृत्त किया ।

शाकद्वीप में तथा अन्यत्र खरोष्ठी लिपि प्रचलित हो गयी। विपरीत आचरण के कारण जरदस्त्र के मतानुयायी—वामग और वाकेहट जाने से 'मग' कहे जाने लगे। कुछ शाकद्वीपी मग पणियों के साथ पूर्व भारत में आकर कोकट देश में बस गये और उस देश का नाम मगध हो गया। उन्हीं के प्रसंग से खरोष्ठी लिपि भी मगध में पहुँच गयी। पहले केवल ब्राह्मी लिपि यहाँ थी,बाद में खरोष्ठी के आ जाने पर दो प्रकार की लिपियों का प्रचार हो गया। ब्राह्मी और खरोष्ठी दोनों के ही अनेक भेद प्रभेद हो गये। और वामवर्ती या दक्षिणावर्ती ये दोनों प्रकार प्रचलित हुए। मगध के पाटलिपुत्र के सम्राट् अशोक ने अपने राष्ट्र में दोनों लिपियों को आश्रय दिया। ब्राह्मी लिपि के विरोध में जरदस्त्र ने खरोष्ठी को जन्म दिया था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उससे पूर्व ब्राह्मी लिपि सर्वत्र प्रचरित थी। पूर्व में मैकडानल के इतिहास का जो उद्धरण दिया गया है उसमें प्रोफेसर बूलर के तर्क के अनुसार यह सिद्ध किया गया है कि ब्राह्मी लिपि के मूल में सेमिटिक वर्णमाला के २२ अक्षर थे जिन्हें वैज्ञानिक रूप से विकसित करके ब्राह्मणों ने ब्राह्मी लिपि का निर्माण किया। पाणिनि के वर्णसमाम्नाय की उन्होंने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा भी की है। परन्तु यह पाश्चात्य धारणा कि ब्राह्मी लिपि सेमिटिक लिपि से उद्भूत है, निर्मूल है।

विधि

प्रथम तो वेद मन्त्रों के द्वारा ही लिपि की सत्ता के कारण ऊपर में उद्धृत किये जा चुके हैं। इस पर प्रोफेसर बूलर अथवा मैकडानल का ध्यान आकृष्ट न था इससे उन्हें यह कल्पना करनी पड़ी। पाणिनि के समय को वे चतुर्थ शताब्दी पूर्व में मानते हैं। पाणिनि के समय में भारतीय वर्णमाला पूर्ण विकसित हो गयी थी, यह भी वे मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि सेमिटिक के बाइस अक्षरों के विकसित होने के लिए पर्याप्त समय अपेक्षित था। तो भी इस पर्याप्त समय को संकुचित करके वे सौ वर्ष का ही मानते हैं और यह मत दिया है बूलर के तर्क के अनुसार ५०० वर्ष ई० पू० उसके विकास का समय अधिक सम्भव प्रतीत होता है। एक तो पाणिनि का समय चतुर्थ शताब्दी ई० पू० से बहुत पहले था, यह सिद्ध हो चुका है। यास्क (निरुक्तकार) उनके भी पूर्ववर्ती थे। उन्होंने भी लिपि की सत्ता का प्रमाण उपस्थित किया है—जैसा कि अभी अनुपद में कहा जायगा। इन सब बातों पर ध्यान देने से यह अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि पूर्व में अत्यन्त प्राचीन काल से ब्राह्मी लिपि का ही प्रचार था। वह पूर्ण समृद्ध थी। वह सेमिटिक के आधार पर नहीं विकसित हुई, प्रत्युत इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि समृद्ध लिपि से ही कुछ अंश लेकर सेमिटिक लिपि सम्पन्न हुई। ब्राह्मी अक्षरों के उच्चरणों में जो कौशल और विज्ञान था उस मर्म

को हृदयंगम न करके उसके सब अंशों से लाभ उठाने में समर्थ न होने के कारण अपनी उच्चारणशक्ति की सामर्थ्य के अनुसार वे अपनी सुविधानुसार केवल बाइस अक्षरों की वर्णमाला ही बना सके ।

५. यास्क ने निरुक्त में कहा है कि पहले ऋषि लोग धर्म का साक्षात्कार करके प्रवचन के द्वारा शिक्षा देते थे । बाद में उपदेश द्वारा शिक्षाग्रहण में ग्लानि देख कर बिल्म (भिन्न-भिन्न खण्ड) के रूप में इन ग्रन्थों का—वेद वेदांग आदि का——निर्माण किया । भिन्न खण्डों का पृथक्करण लिपि द्वारा ही सम्भव हो सकता है, अतः उनके समय में भी लिपि की सत्ता अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी, यह सिद्ध होता है ।

६. यह प्रसिद्ध ही है कि हिमालय के वदरी वन में रह कर कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेदों का संग्रह करके वेद संहिताओं का संकलन किया था । मन्त्रों का संकलन, उनकी अनेक संहिताओं की रचना, एक पुरुष के द्वारा विना लिपि की सहायता लिये सम्भव नहीं हो सकती । इससे महर्षि व्यास के समय में लिपि की सत्ता सर्वथा प्रमाणित हो जाती है । यह समय भी ५०० ई० पू० से बहुत प्राचीन है ।

७. वाल्मीकि रामायण में मिलता है कि हनुमान् ने अभिज्ञान के रूप में सीताजी को रामचन्द्रजी की अंगूठी दी थी उसमें राम का नाम अंकित था ।

'वानरोऽहं महाभागे ! दूतो रामस्य धीमतः ।
रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम् ।।' (वा० रा०, सुन्दरकाण्ड, ३६।२)

वाल्मीकि का समय भी अत्यन्त प्राचीन था यह भी सिद्ध है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि भारतीयों का लिपि-ज्ञान अनादि काल से अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है और इसके लिए परमुखापेक्षा नहीं थी ।

दर्शन-शास्त्र

जो कुछ दृष्टिगत होता है, वह क्या है, कब उत्पन्न हुआ; इसका कारण क्या है, यह जिज्ञासा मनुष्य के मन में स्वतः उत्पन्न होती है इसके समाधान के लिए सृष्टिप्रकरण के निरूपण करने का शास्त्र 'दर्शन' नाम से अभिहित है । प्रथम दर्शन युक्ति आदि के द्वारा होता है। उसके बाद तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है और अन्त में ज्ञान का फल चरित्र होता है । दर्शन-शास्त्र के मनन से ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार आचरण किया जाता है । यदि वह ज्ञान आचरण में न लाया गया तो वह शुष्क ज्ञान निष्फल समझा जायगा । इस प्रकार दर्शन, ज्ञान और चरित्र में प्रथम स्थान दर्शन का है । आधुनिक काल में षड् दर्शन प्रचलित

हैं और इन्हें क्रमशः न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा कहा जाता है। ये वेद मूलक हैं, अतः ये आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। परन्तु इस आस्तिक षड्दर्शन में ऐकमत्य नहीं है। न्याय वैशेषिक का युग्म एक है। इनमें दर्शन की परिभाषा केवल वशेषिक में घटित होती है। न्यायशास्त्र दर्शन के अन्तर्गत नहीं आता। इसमें सृष्टि प्रकरण का अत्यन्त सूक्ष्म रूप से गौण रूप से संकेत हुआ है। इसी प्रकार सांख्य और योग का एक युग्म है। इनमें सांख्य ही यथार्थ में दर्शन है। योग सांख्य का ही परिशिष्ट है। सांख्य में कपिल के द्वारा तत्त्व ज्ञान का विवरण किया गया है। पतंजलि ने योगसूत्रों में उसी तत्त्व ज्ञान के आधार पर विस्तार से क्रिया योग का प्रतिपादन किया है। अतः यह पृथक् दर्शन नहीं है। इस प्रकार वैशेषिक और सांख्य दो दर्शन ही सिद्ध होते हैं। तीसरा वर्ग पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा का है। ब्राह्मण वेद में कर्म और ब्रह्म (यज्ञपरक विधि काण्ड तथा उपनिषद्, ज्ञान काण्ड) जो दो काण्ड हैं उन दोनों में जो वाक्य आये हैं उनके अर्थ पर विचार के नियमों का विधान षोडश लक्षणी मीमांसा है। इनमें यज्ञ सम्बन्ध की द्वादश लक्षणी पूर्व मीमांसा है और उपनिषद् के वाक्यों का समन्वय करने वाला चतुर्लक्षण उत्तर मीमांसा है। यथार्थ में ये दोनों भी दर्शन कोटि में नहीं आते। तत्रापि उत्तर मीमांसा में (ब्रह्म सूत्रों में) विश्व मूल ब्रह्माद्वैत उपदिष्ट है इस दृष्टि से जगन्मूलक विचार होने के कारण उसे भी दर्शन कोटि में मान लिया जाता है। इस प्रकार भौतिक पदार्थों का विवेचन वैशेषिक शास्त्र, उससे भी सूक्ष्मतर सांख्य और अन्त में सूक्ष्मतम ज्ञान का प्रतिपादक ब्रह्मसूत्रों को कहा जाता है। वेद (ज्ञान) का उसमें अन्त है, उसके आगे और कोई ज्ञान सम्भव नहीं है, अतः उसे 'वेदान्त दर्शन' कहा जाता है। ये तीनों वेद-प्रामाण्यवादी हैं, अतः आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। 'वेदाः सत्यम्', 'ब्रह्म सत्यम्' के अनुसार सद् ब्रह्म के प्रतिपादक होने के कारण इन्हें 'सद्वाद' भी कहा जाता है।

ईश्वर के ज्ञान और कर्म दो स्वरूप हैं, इनमें ज्ञान सत् है। ज्ञान की सत्ता से ही कर्म सत् होते हैं उनकी स्वतः सत्ता नहीं है, अतः वे असत् कहे जाते हैं। जिस प्रकार ऊपर सत्प्रतिपादक तीन आस्तिक दर्शन कहे गये उसी प्रकार कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाले तीन ही 'असद्वाद', नास्तिक दर्शन हैं। वेद को न मानने के कारण ही इन्हें नास्तिक दर्शन कहा जाता है। ये क्रमशः लोकायतिक (चार्वाक), वैनाशिक (बौद्ध) और आर्हत कहे जाते हैं। वैनाशिक माध्यमिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और वैभाषिक इन चार प्रभेदों से विभक्त हैं। आर्हत (जैन) भी श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद से दो प्रकार के हो जाते हैं।

इस प्रकार तीन आस्तिक दर्शन और तीन नास्तिक दर्शन हैं। ये छः दर्शन अद्वैत

प्रतिपादक हैं। आस्तिक दर्शन ब्रह्माद्वैत प्रतिपादक हैं, नास्तिक दर्शन कर्माद्वैत का प्राधान्य मानते हैं।

इन छः के और भी अनेक प्रभेद हो गये हैं। इनके अतिरिक्त ब्रह्म और कर्म का समन्वय (सदसत्) करने वाला भक्तिशास्त्र है वह भी दर्शन कोटि में आता है। यह दोनों तत्त्वों का समन्वय करता है, इसलिए यह **द्वैत** माना जाता है। इस प्रकार कर्मवाद, ब्रह्मवाद और उभयवाद तीन प्रकार के ये शास्त्र हो जाते हैं।

इन आस्तिक और नास्तिक दर्शनों में स्थूल दृष्टि से देखने पर परस्पर भेद प्रतीत होता है परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह परस्पर विरोध दूर हो जाता है। कर्मवाद में प्रथम लोकायतिक (चार्वाक) दर्शन है। यह भौतिक पदार्थों को ही ब्रह्म मानता है। प्रजापति प्रकरण में यह प्रतिपादित हुआ है कि प्रत्येक पदार्थ प्रजापति है और उसमें सर्वव्यापक षोडशी पुरुष प्रविष्ट है। लोकायतिक यदि इसे ही ब्रह्म मान कर सन्तोष कर लेते हैं तो इनका विश्वास आक्षेप योग्य नहीं है। आत्म संस्थाएँ अनेक प्रकार की बतायी गयी हैं। 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' के अनुसार ये सब पदार्थ हैं। सामान्य शिक्षित के लिए स्थूल दृष्टि से यह प्रथम दर्शन है और मिथ्या नहीं है। इसके आगे की संस्थाओं का जब वह खण्डन करने में प्रवृत्त होता है तब वह अपनी अधिकृत सीमा से बाहर चला जाता है। परन्तु जहाँ तक भौतिक पदार्थों को ही ब्रह्म मानना है वहाँ वह सत्य है। इसी प्रकार सर्व-शून्यतावादी बौद्ध भी कर्माद्वयवादी हैं। कर्म असत् है; शून्य है, क्षणिक है पर सत्ता से सत्तान्वित है इस दृष्टि से यह मत भी द्वितीय कक्षा का है। इसके बाद आर्हत मत भी अपनी सीमा में उचित ही है। भिन्न-भिन्न मतों को देख कर परस्पर विरोधों का परिहार करने में असमर्थ होकर 'यह भी हो सकता है, वह भी हो सकता है' अनिश्चय दशा में स्याद्वाद की कल्पना हुई है वह भी यथार्थ ही है। यद्यपि जैन शास्त्र वेदमूलकता स्वीकार नहीं करते तथापि उनके इस संशयवाद का मूल वेद मन्त्रों में पृथक् भी अनेक स्थलों में मिलता है।[1] साथ ही साध्यकालीन दस वादों के अन्तर्गत भी इस मत का उल्लेख नासदीय सूक्त में मिलता है जैसा कि अनुपद में ही विवेचित होगा।

आस्तिक दर्शनों की वेदमूलकता सिद्ध है ही। आत्म संस्थाओं में अन्तिम भूतात्मा को ही सब कुछ मानने वाला वैशेषिक शास्त्र है। वाक् ही भूत है उसके अन्तः प्राण है

१. 'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेऽनाथाः को वेद यत आबभूव ॥' इत्यादि।—ऋ०

और उसके अन्त: में मन है । इन सब में व्याप्त चित् है । अत: भूतात्मा में इनका समावेश है ही, अत: भूतात्मा को ही आत्मा मानना वैशेषिक मत सर्वथा समीचीन ही है । परन्तु आत्म संस्था के ऊपर के अन्य विभागों के खण्डन करने में वह प्रवृत्त होने लगे तो अनौचित्य होगा । सांख्य शास्त्र प्रवर्तक कपिल ने सत्त्व रज: तमोगुण युवत महान् को प्रकृति रूप में और क्षेत्रज्ञ को पुरुष रूप में इस प्रकार पुरुष और प्रकृति में सबका समन्वय कर लिया यह भी सर्वथा समीचीन ही है । यहाँ प्रधानता का अनुरोध है । अन्य सब आत्माएँ भी इसमें सन्निविष्ट हैं ही । परात्पर सत्य का भी सत्य है वह स्वभावत: द्विविध हो गया । माया-मृत्यु बहिर्भाग आधा है उसके भीतर अचिन्त्य अमृत तत्त्व ब्रह्म है । बाहर का आधा-भाग (माया) मन, प्राण और वाग् भेद से तीन प्रकार का है । वाक् के विकार ही विश्व है इससे पर कुछ नहीं है । मायामय ब्रह्म ही सब कुछ है इस प्रकार उपनिषद् के रहस्य को ज्ञात कर कृष्ण द्वैपायन ने यदि भिन्न-भिन्न आत्माओं को पृथग् रूप में स्वीकार नहीं किया तो यह पक्ष भी सर्वथा अनाक्षेप्य है । इस प्रकार प्रधानता के अनुरोध से आत्म संस्थाओं के अनुसार पृथक्-पृथक् आचार्यों के द्वारा इन दर्शनों की कल्पना हुई है । आचार्य पार्थक्य के कारण ये पृथक् शास्त्र माने जाते हैं परन्तु इन सबका समूह **एक शास्त्र** है और भिन्न-भिन्न आत्माओं के प्रतिपादन करने वाले एक ही शास्त्र के पृथक् अध्याय हैं । सूक्ष्म से स्थूल की सृष्टि हुई है । ज्ञान क्रम में प्रथम स्थूल पदार्थ दृष्टि में आता है और फिर क्रमश: सूक्ष्मतर की ओर बढ़ती हुई बुद्धि सूक्ष्मतम तत्त्व तक पहुँचने में समर्थ हो सकती है । इन सबका अपने-अपने क्षेत्र में समान रूप से प्रामाण्य है और सब का लक्ष्य एक ही मुख्य ब्रह्म तत्त्व है । इनमें परस्पर विरोध जो दिखाई देता है वह कल्पित है और प्रज्ञा प्रदर्शन मात्र है; इनमें वास्तविक भेद नहीं है । परन्तु ये सब अर्वाक्कालिक हैं । बहुत बाद में ये प्रचार में आये हैं । प्राचीन वैदिक काल में इनके स्थान में **दस वाद** प्रचलित थे जिनका संकेत ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में हुआ है । उन्हीं के आधार पर इन अर्वाचीन दर्शनों की कल्पना हुई है ।

वैदिक दस वाद

ऋग्वेद दशम मण्डल के १२९ वें सूक्त में इन दस दार्शनिक विचारों का संकेत मिलता है । सृष्टि के कारण का विचार उपस्थित करते हुए यह कहा गया है कि उस समय न सत् था और न असत् । इन दस वादों में सर्वादि सदसद्वाद का उल्लेख करके और अन्य वादों का उल्लेख है इस कारण इस सूक्त को **नासदीय** सूक्त कहा जाता है । इन दसों वादों के सम्बन्ध में वेदों में अन्य भी उल्लेख मिलते हैं उन सब का संग्रह करके प्रत्येक दस वादों पर

स्व० गुरुवर पण्डित मधूसूदन ओझा जी ने दस ग्रन्थ पृथक्-पृथक् लिख कर उनका विवरण किया है । इसी सूक्त में यह स्पष्ट है कि ये दस वाद पूर्व पक्ष के रूप में उल्लिखित हैं । आदि ब्रह्मा के काल में ये दसों वाद उसी प्रकार प्रचार में थे जिस प्रकार अर्वाचीन दर्शन आजकल प्रचलित हैं ।[1] इन दसों वादों में प्रत्येक में पूर्णता नहीं थी; ये सब एकदेशीय थे, अतः इनका निराकरण वहीं करके ब्रह्म सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है । उसी को मूल लेकर 'ब्रह्म सिद्धान्त' नाम से उक्त गुरुवर ने एक पृथक् ग्रन्थ लिखा है ।[2] विशेष जिज्ञासा वालों को मूल ग्रन्थ देखकर लाभ उठाना चाहिए । यहाँ उन सब का विशेष विवरण देना सम्भव नहीं है । केवल संकेत किया जाता है ।

टिप्पणी में जो मन्त्र उद्धृत हुए हैं उनमें प्रारम्भ में 'सदसद्वाद' आदि आठ वादों का निषेध किया गया है। उसके बाद द्वितीय मन्त्र के उत्तरार्ध और तृतीय आदि मन्त्रों में सिद्धान्त प्रदर्शित किया गया है । आगे छठे मन्त्र के उत्तरार्ध में दैववाद और संशयवाद का संकेत है । सब मिला कर दस मत जो साध्य काल में प्रचलित थे उन पर पूर्ण विचार के साध्य-जाति में ही उत्पन्न आदि ब्रह्मा ने यह सिद्ध किया ये जो दस वाद उस समय प्रचलित थे उनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता था इसका प्रधान कारण यह था कि इन मतों में किसी एक मूल तत्त्व का आधार न था । यद्यपि इन सब में ही आंशिक सत्यता अवश्य थी तथापि

१. नासदीय सूक्त, ऋ० मं० १०।१२९—

"नासदासीन्नो[1] सदासीत्तदानीं नासीद्रजो[2] नो व्योमा[3]परो[4] यत् ।
किमावरीवः[5] कुह कस्य शर्मन्नम्भः[6] किमासीद् गहनं गभीरम् ।।१।।
न मृत्यु[7]रासीदमृतं न तर्हि न राज्या[8] अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ।।२।।
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाम्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ।।३।।
× × ×
को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग् देवा[9] अस्य विसर्जनेऽनाथा को वेद यत आबभूव[10] ।।६।।"

२. ब्रह्मसिद्धान्त—म० म० पं० मधुसूदन ओझा, विद्यावाचस्पति ।

मूलाधार के अभाव में ये असंगत हो रहे थे । उन सबका समन्वय करने के लिए ही इन्होंने ब्रह्म तत्त्व का (एक अद्वितीय) सिद्धान्त किया और उसके आधार पर इन सब मतों का समन्वय हो जाता है । इन दसों मतों के समर्थन में वेदों में बहुत-से वचन मिलते हैं उन सब का समन्वय भी इसी मूल तत्त्व के सिद्धान्त से हो जाता है ।

१. इन दसों में प्रथम—'**सदसद्वाद**' है । इसके अन्तर्गत तीन भेद हो जाते हैं । सद्वाद—अर्थात् सृष्टि का आदि कारण सत् था—भाव रूप था । उसी से सद्रूप यह सृष्टि हुई । यह सद्वाद आगे जाकर सांख्य का आधार बना है । वैदिक मतानुसार ब्राह्मणों को भी यह सद्वाद स्वीकृत था परन्तु अन्तर यह था कि साध्य मत में यह सत् केवल भाव रूप में माना जाता था । सत्, चित् और आनन्द स्वरूप ईश्वर के लिए वहाँ स्थान था । दूसरा भेद असत् का था । यह विश्व कर्म रूप है; क्षणिक है, शून्य है; इसका आधार भी असत् ही था । इसी के आधार पर बाद में 'क्षणिकं दुःखं शून्य' इत्यादि को मूल मान कर श्रमणक मत पल्लवित हुआ । तीसरा पक्ष सत् और असत् दोनों को मानता है; सत् के आधार पर ही असत् की सत्ता है । यह सदसद्वाद है; दोनों मतों का समन्वित रूप ।

२. दूसरा है—**रजोवाद** । इस मत के प्रतिपादकों का यह कथन है कि विश्व सृष्टि क्रियारूप है । क्रियासापेक्ष विश्व की मूल प्रकृति का भी वही गुण हो सकता है जो क्रियाशील हो । त्रिगुणात्मक प्रकृति का रजोगुण ही एकमात्र क्रियामय है, वही सृष्टि का मूल कारण है ।

३. तीसरा—**व्योमवाद** है । इस मत का यह अभिप्राय है कि यह दृश्यमान भूत भौतिक प्रपंच आकाशगुणक शब्दतन्मात्रा की ही राशि है । सभी भूतों का मूल उपादान आकाशात्मक शब्द तत्त्व ही है, अतः यह व्योम (आकाश) ही सृष्टि का मूल है ।

४. चौथा—**अपरवाद** है । पर शब्द से अव्ययय, पुरुष, आत्मा अभिप्रेत हैं । **अपर** शब्द से क्षरवाद प्रकृतिवाद अनात्मवाद माने गये हैं । अव्यय पुरुष आदि पर तत्त्व को मूल न मान कर इस मत के प्रतिपादक क्षर प्रकृति रूप अपर को ही मूल कारण मानते हैं ।

५. पाँचवाँ है—**आवरणवाद** । इस मत में आवरण को ही मूल माना गया है । सम्पूर्ण विश्व के जितने भी कार्य रूप भूत भौतिक पदार्थ हैं उन सबका बाह्य रूप तमोगुणप्रधान हैं । तमोगुण से आच्छन्न होने पर छन्द से छन्दित—सीमित होने पर ही पदार्थ का स्वरूप बनता है इस दृष्टि से इस आवरण करने वाले तत्त्व को ही मूल कारण माना गया ।

६. छठा है—**अम्भोवाद** । इस मत में अम्भः से ही सब सृष्टि हुई है । लोकसृष्टि का

निर्माण अप् तत्त्व से ही होता है। पृथ्वी ही पानी का भी रूपान्तर है। पानी ही वायु के प्रवेश से क्रमशः घन होता हुआ कालान्तर में पृथ्वी रूप में परिणत होता है। चन्द्रमा, नक्षत्र आदि जलमय प्रसिद्ध ही है। सूर्य लोक भी तेजोमय मरीचि नामक पानी का संघात है। परमेष्ठी की अब्रूपता प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार समस्त विश्व का मूल कारण अप् तत्त्व ही है।

७. सातवाँ है—**अमृत मृत्यु वाद**। सृष्टि के समस्त पदार्थों में दो विरुद्ध भाव देखे जाते हैं। एक प्रतिक्षण परिवर्तन होने वाला भाव वह मृत्यु है। दूसरा उसका आधार एक स्थिर तत्त्व जिसे अमृत कहा जाता है। देवदत्त का शरीर प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है, अतः वह मृत्यु है। इस परिवर्तन के होते रहने पर जिस बालक को देवदत्त माना गया था; प्रौढ़ अवस्था में भी 'यह वही देवदत्त है' यह जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह स्थिर भाव अमृत है। यही दो भाव अमृत मृत्यु सब पदार्थों में दृष्टिगोचर होते हैं, अतः इनका कारण भी अमृत मृत्यु तत्त्व ही हो सकता है।

८. आठवाँ है—**अहोरात्रवाद**। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप तेज और स्नेह नाम के दो तत्त्वों का सम्मिश्रण है। तेज अग्नि है; स्नेह सोम है। अग्नीषोमात्मकं जगत् है। अग्नि का प्रतीक तेजोमय सूर्य अहः का प्रवर्तक है। सोम का प्रतीक चन्द्रमा रात्रि का उपलक्षक है। जब समस्त पदार्थ स्नेह तेजोमय हैं तो उनका मूल कारण भी स्नेह और तेज के प्रतीक अहोरात्र ही हैं।

९. नवाँ—**दैववाद** है। पूर्व के वादों में मूल कारण दो से अधिक नहीं हैं। दैववाद के पक्षपाती कहते हैं विश्व गर्भ में प्रतिष्ठित असंख्य जाति के पदार्थ हैं। कार्यरूपा सृष्टि असंख्य विचित्र भावों से युक्त है, अतः इन कार्यों के मूल भी असंख्य होने चाहिए। इन्हीं असंख्य कारणों की समष्टि को देवता कहा जाता है। यह प्राण शक्ति है। इन देवताओं की जातियाँ ऋषि, पितर, देव, असुर, गंधर्व और पशु हैं। इनमें भी प्रत्येक के अनेक भेद प्रभेद हैं। रुद्र प्राण के ही असंख्य भेद माने गये हैं—'असंख्याता' सहस्राणि ये रुद्रा अधि-भूम्याम् (यजु,:–१६।५४)। इन्हीं सब प्राण रूप देवता तत्त्वों से समस्त सृष्टि हुई है, यह दैववाद का सारांश है।

१०. दसवाँ भेद है—**संशयवाद**। ऊपर के अनेक मत-मतान्तरों से विक्षुब्ध होकर किसी एक मत को निर्धारण करने में असमर्थ होकर साध्यों का एक वर्ग संशयवाद का पक्षपाती हो गया है। यह भी हो सकता है, वह भी हो सकता है—निश्चयात्मक कुछ नहीं कहा जा सकता, यही संशयवाद है। अर्वाचीन आर्हत मत 'स्याद्वाद' का यही आधार है।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप में साध्ययुगीय दस मतों का परिचय दिया गया है। ब्रह्मा

के प्रादुर्भाव के बाद उनके द्वारा प्रचारित 'ब्रह्म सिद्धान्त' सब का मूर्धन्य बना और उसमें साध्ययुगीय सब वादों का समन्वय हो गया। अतः देवयुग में ब्रह्मसिद्धान्त ही सर्वत्र अव्याहत रूप से माना गया है।

यह संक्षेप में दर्शन शास्त्र का परिचय हुआ। अर्वाचीन दर्शनों पर संस्कृत में बहुत से ग्रन्थों का निर्माण हो चुका है और उनके अवान्तर भेदों को लेकर बहुत सूक्ष्म विचार विद्वानों के द्वारा उपस्थित किये गये हैं। उन पर विस्तृत विचार करना यहाँ सम्भव नहीं है।

विज्ञान और शिल्प

वेदों में अनेक स्थलों में विज्ञान पर प्रकाश डाला गया है और जहाँ तहाँ अनेक प्रकार के वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। यह कहा जा चुका है कि वैज्ञानिक विवेचक प्राचीन आचार्यों में यास्क अन्तिम थे। उनके बाद समय के प्रभाव से विज्ञान की ओर से दृष्टि हटकर यज्ञों को (वैधानिक) महत्त्व दिया जाने लगा और वैज्ञानिक तथ्य अर्थवाद की कोटि में विक्षिप्त होकर विस्मृति गर्त में विलीन हो गये। यही कारण है कि यास्क के परवर्ती वेद भाष्यकारों ने यज्ञपरक ही वेदों की व्याख्या की है। विज्ञान पक्ष सर्वथा उपेक्षित हो गया। वर्तमान युग में पश्चिम के विद्वानों ने जो आविष्कार किये उनके द्वारा भारतीय वेदज्ञों की दृष्टि भी वैदिक विज्ञानों की ओर आकृष्ट हुई और इस प्रकार वेदों की विज्ञान चर्चा का पुनरुद्धार प्रारम्भ हुआ। इस प्रकरण में वेद ग्रन्थों में प्रतिपाद्य कुछ महत्त्वपूर्ण विज्ञानों का निरूपण किया जा रहा है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि जिन मन्त्र या ब्राह्मण भागों को इस प्रकरण में उद्धृत किया जायगा उनके वैज्ञानिक अर्थ पर ही ध्यान दिया जायगा। उनके यज्ञ परक या आत्मपरक अर्थ भी हो सकते हैं परन्तु उन अर्थों का यहाँ प्रयोजन न होने से उनका ग्रहण उचित न होगा।

विद्युद् विज्ञान

यास्क निरुक्त (७।४।४) में लिखते हैं—यह न समझना चाहिए कि यही एक (अग्नि) है। इससे उत्तर (ऊपर) भी दो ज्योतियाँ (अग्नि) हैं ये भी अग्नि कहलाती हैं। इनमें मध्यम (आन्तरीक्ष्य) के लिए यह मन्त्र है :—"अभिप्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्यः स्मयमानासो अग्निम्। घृतस्य धाराः समिधो नसन्त तातृषाणो हर्यति जातवेदाः ।। इसका अर्थ भी वहाँ दिया गया है। अच्छे मन वाली मुस्कराती हुई ललनाओं के समान घृत (जल) की धाराएँ समिध के रूप में अग्नि के पास आती हैं और जातवेदा अग्नि तृष्णायुक्त होकर उनकी कामना करता है। सूर्यरश्मि से लायी गयी उदकधारा ही माध्यमिक विद्युद्अग्नि की समिध है, प्रदीप्त करने वाली है, यह विज्ञान स्पष्ट है। उदक् (जल) से

विद्युद् उत्पन्न होती है यह भी द्योतित होता है जैसा कि 'आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम् । परो यदिध्यते दिवि ।' (८।६।३०) से स्पष्ट है । इसी प्रकार यजुर्वेद का एक मन्त्र है––'अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे । गर्भे सन् जायसे पुनः ।' (यजुः, १२।३६) इसका भाव है––हे अग्ने जल में तुम्हारा स्थान है । तुम ओषधियों में भी व्याप्त रहते हो और गर्भ में रहते हुए भी फिर प्रकट होते हो । इसमें अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है कि तुम ओषधियों में और जल में रहते हो । जल में रहने वाला अग्नि विद्युत् को ही लक्षित करता है और ऊपर लिखे यास्क के वचन से इसकी एकवाक्यता है । ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र और भी अधिक स्पष्ट अक्षरों में विद्युद् विज्ञान का प्रतिपादन करता है। (ऋ०, १०।३०।४)––

"यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं यं विप्रास ईकत अध्वरेषु ।
अपां न पान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय ।।"

इसका भाव यह है––जो बिना इन्धन की अग्नि जल के भीतर दीप्त हो रही है, यज्ञ में विप्रगण जिसकी स्तुति करते हैं वह 'अपां न पात्' रस हमें देवे । जिस रस से इन्द्र वृद्धि को प्राप्त होते हैं और बल के कार्य करते हैं । इस मन्त्र में बिना इन्धन के जल के भीतर प्रदीप्त होने वाली जो अग्नि कही गयी है वह विद्युत् के अतिरिक्त नहीं हो सकती । यह संदेह उत्पन्न न हो कि जल के भीतर रहने वाली समुद्र के गर्भ में स्थित वाडवाग्नि को भी लिया जा सकता है तो उसे व्यावृत्त करने के लिए यहाँ 'अपां न पात्' शब्द प्रयुक्त हुआ है । अपां न पात् शब्द निघण्टु में अन्तरिक्ष के देवताओं के लिए कहा गया है, इससे स्पष्ट ही यह अन्तरिक्षस्थ अग्नि विद्युत् का विज्ञान ही प्रकट करता है । इसके अतिरिक्त पूर्वोल्लिखित 'अस्य वामस्य' इत्यादि में इस विद्युत् को सूर्य का मध्यम भ्राता कहा गया है, इससे यह भी सिद्ध होता है कि विद्युत् का उद्भव सूर्य से होता है । निरुक्त (७।२।१) के अनुसार अन्तरिक्ष के देवता इन्द्र कहे गये हैं । इन्द्र ही विद्युत् है । 'या काचिद् बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत्' इसके अनुसार इन्द्र रूप यह विद्युत् शक्तिरूप (energy) ही है । वह भूत पदार्थ (matter) नहीं है, यह भी स्पष्ट हो जाता है ।

आकर्षण विज्ञान

आकर्षण विद्या का श्रुतियों में इतना स्पष्ट विवरण मिलता है कि उसे देख कर सन्देह का विलकुल अवकाश नहीं रहता । तैत्तिरीय आरण्यक में मिलता है :––

"अनवर्णे इमे भूमी इयं चासौ च रोदसी ।
किंस्विदत्रान्तरा भूतं येनेमे विधृते उभे ।।

विष्णुना विधृते भूमी इति वत्सस्य वेदना ।।
इरावती धेनुमती हि भूतं सूयवसिनी मनुष्ये दशस्या ।
व्यस्तभ्नाद् रोदसी विष्णवेते दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः ।।'' (१।८।५।६)

यहाँ प्रश्न उठाया गया है कि पृथ्वी-मण्डल और सूर्य-मण्डल का किस प्रकार समानान्तर धारण होता है और फिर उत्तर में विष्णु कर्तृक धारण स्पष्ट अक्षरों में कहा गया है। यहीं पर ऋक् संहिता का मन्त्र (७।८८।३) 'इरावती आदि, प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है। इसमें यह बताया गया है कि पृथ्वी विष्णु के आकर्षण से स्थित है, विष्णु ने इसे धारण कर रखा है। विष्णु शब्द निघण्टु में आदित्य के बारह नामों में से एक है। ब्राह्मण आदि श्रुतियों में भी विष्णु शब्द आदित्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः दोनों मण्डल (सूर्य और पृथ्वी) सूर्य मण्डलान्तर्गत आदित्यप्राण से विधृत हैं इससे सूर्याकर्षण विज्ञान यहाँ प्रत्यक्ष है। यही आदित्य प्राण इन्द्र शब्द से भी कहा गया है—'यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।' इन्द्र केवल पृथ्वी का धारण करने वाला मात्र नहीं है प्रत्युत पृथ्वी की दैनंदिन गति भी उसी की प्रेरणा से होती है। 'यज्ञ इन्द्रमवर्धयत्, स भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि।' सूर्य की किरणें पृथ्वी पर आहत होकर प्रतिफलित होकर जब परावर्तित होती हैं तब उनका लौटने का मार्ग आने वाले मार्ग से कुछ टेढ़ा रहता है वही ऊपर जाती हुई किरणें ओपश शृंग के रूप में दिखाई देती हैं। सूर्य की किरणों के आघात से ही पृथ्वी में गति उत्पन्न होती है, यह स्पष्ट है।

जिस प्रकार चन्द्रसहित पृथ्वी सूर्य से आबद्ध है; उसी के आकर्षण में है और उसकी परिक्रमा करती है उसी प्रकार सूर्य भी परमेष्ठिमण्डल के अधीन है। वह परमेष्ठिमण्डल के वरुण की परिक्रमा करता है, यह 'उरुं हि राजा वरुणः' इत्यादि मन्त्र में स्पष्ट है। यह परमेष्ठि-मण्डल भी स्वयंभू-मण्डल के अधीन है, यह भी अन्यत्र प्रतिपादित हुआ है।

और भी अनेक मन्त्रों में यह आकर्षण विज्ञान संकेतित होता है। ऋग्वेद का (१।१६४।१०) एक मन्त्रांश है—'तिस्रो मातृस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेममवग्लापयन्ति' अर्थात् तीन माताएँ और तीन पिताओं को धारण करता हुआ वह ऊर्ध्व में अवस्थित है और इन सबसे उसे कोई भी आयास नहीं होता। यह सर्वोपरि स्थित स्वयंभू-मण्डल का संकेत करता है जिसके आकर्षण पर अन्य सब मण्डल यथास्थान अवस्थित हैं। श्रुतियों में अनेक स्थलों में द्यावापृथिवी को पिता और माता कहा गया है। ''द्यौः पिता पृथिवी माता' यह सिद्ध है। 'तिस्रो भूमीर्धारयन् त्रीँरुत द्यून' यह मन्त्रांश भी इसी आशय का है। (ऋ० २।२७।८)। ऋक् संहिता (४।५३।५) का एक और मन्त्रांश है—'तिस्रो दिवः पृथिवीस्तिस्व इन्वति, त्रिभिर्व्रतैरभि नो रक्षति त्मना।' इसका भी यही

आशय है। ये तीन-तीन पृथिवी और द्यौ तथा अन्तरिक्ष (ऊपर के ऋ० ४।५३।५ में तीन अन्तरिक्ष का भी उल्लेख है) के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है। सामश्रमी ने ऐतरेयालोचन (पृ० २१५) में लिखा है कि सूर्य से नीचे बुध प्रथम भूलोक है, उसके नीचे शुक्र द्वितीय भूलोक है। उसके नीचे यह पृथ्वी तीसरा भूलोक है। परन्तु यह कष्टकल्पना प्रतीत होती है। वस्तुतः इन तीन-तीन पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु का सम्बन्ध भूः भुवः स्वः आदि सात लोकों से अधिक हृदयंगम प्रतीत होता है जैसा कि स्वर्गीय पण्डित मधुसूदन ओझा ने अनेक स्थलों में स्पष्ट किया है। यह अन्यत्र लिखा गया है कि हमारी इस अश्वत्थ शाखा में तीन त्रिलोकी हैं। नीचे पृथ्वी भूः, अन्तरिक्ष भुवः और स्वः द्यौः। इस प्रकार इस त्रिलोकी के, जो **रोदसी** नाम से श्रुतियों में कही गयी है, ये तीन लोक हो जाते हैं। मध्य की त्रिलोकी **क्रन्दसी** कही गयी है। रोदसी त्रिलोकी में जो स्वः है वह मध्यम त्रिलोकी में पृथ्वी है। उसके ऊपर के अन्तरिक्ष को महर्लोक और तृतीय स्वः स्थानीय लोक को जनत् कहा गया है। अब मध्यम त्रिलोकी में जो जनत् है वह उत्तम त्रिलोकी संयती में पृथ्वी है उसके बाद अन्तरिक्ष तपोलोक कहा गया है और सर्वोपरि स्वः स्थानीय सत्यलोक कहा जाता है। इस प्रकार इन तीन त्रिलोकियों में (रोदसी क्रन्दसी और संयती) तीन पृथ्वी, तीन अन्तरिक्ष और तीन द्यौः हो जाते हैं। यद्यपि ये नौ हैं तथापि तृतीय स्वः भूलोक के सम्बन्ध से द्यौः है और मध्य त्रिलोकी में वही पृथ्वी माना गया है। इसी प्रकार मध्यम त्रिलोकी की दृष्टि से जनत् द्यौः है और वही उत्तम त्रिलोकी में पृथ्वी स्थानीय है। इस प्रकार स्वर्लोक और जनल्लोक पृथ्वी और द्यौः कहे गये हैं, इसलिए लोक सात ही होते हैं और इन्हें भूः, भुवः स्वः, महः, जनत्, तपः और सत्य कहा गया है। इन्हें **व्याहृति** भी कहा गया है। इन्हें व्याहृति क्यों कहा गया है इसकी उपपत्ति शतपथ ब्राह्मण (२।१।४।११) में बतायी गयी है :—'भूरिति वै प्रजापतिरिमामजनयत्, भुवरित्यन्तरिक्षम्, स्वरिति दिवम्; एतावद्वा इदं सर्वं यावदिमे लोकाः' इत्यादि। इस प्रकार उपरिनिर्दिष्ट, तीन पृथ्वी, तीन अन्तरिक्ष और तीन द्यौः का उल्लेख उद्धृत मन्त्रों में स्पष्ट है।

ऋग्वेद (१०।८४।२) का मन्त्र और भी स्पष्ट शब्दों में कहता है कि इन्द्र (आदित्य) बहुत-से तेजों को रथ के चक्रों के समान घुमाता है :—

> "स सूर्यः पर्यूरू वरांस्येन्द्रो ववृत्याद् रथ्येव चक्रा।
> अतिष्ठन्तमपस्यं न सर्गं कृष्णा तमांसि त्विष्या जघान॥"

यहाँ **वरांसि** का अर्थ सायणाचार्य ने तेज किया है; सामश्रमी इसका अर्थ नक्षत्र करते हैं।

अभिप्राय दोनों का एक है । नक्षत्र भी तेजोरूप ही हैं । इसीके आगे और भी स्पष्टीकरण है :—

"यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् ।" अर्थात् सूर्य **शचीभिः** आकर्षण-क्रिया के द्वारा पृथ्वी अपने से नीचे में स्थित पृथ्वी तथा ग्रह मण्डल आदि तथा **द्याम्** अर्थात् अपने से ऊपर में स्थित ग्रह मण्डल आदि को सब तरफ से स्तम्भन करता है । दृष्टान्त में कहा गया है कि जिस प्रकार अक्ष (धुरा) चक्रों को घुमाता है; पतन होने से उनकी रक्षा करता है उसी प्रकार सूर्य ग्रह नक्षत्रों को घुमाता है; पतन से रक्षा करता है । इस प्रकार के और भी अनेक मन्त्र इस आकर्षण विज्ञान को स्पष्ट करते हैं । ऋग्वेद, दशम मण्डल के १२१ सूत्र में इसी प्रकरण के अनेक मन्त्र मिलते हैं ।

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। १।।
येन द्यौरुग्राः पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमाने कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।५।।
यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।"६।।

इन मन्त्रों में हिरण्यगर्भ शब्द प्रयुक्त हुआ है । यह भी सूर्य को ही लक्षित करता है । सूर्य को कृष्णवर्ण माना गया है और उसके चारों ओर जो प्रकाशपुञ्ज परिस्तृत है वह हिरण्यवर्ण होने से हिरण्य है और उस हिरण्य के गर्भ में सूर्य स्थित है । सूर्य का इन्द्र प्राण है । विष्णु भी आदित्यों में से एक है, इसलिए कहीं हिरण्य गर्भ, कहीं विष्णु, कहीं इन्द्र और कहीं सूर्य शब्द के मिलने से परस्पर विरोध की शंका नहीं हो सकती । इसके अतिरिक्त यह है कि इन सबका मुख्य नियामक ईश्वर है । ईश्वर के हृदय में तीन अक्षर ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र नित्य अवस्थित रहते हैं, इसका उल्लेख प्रजापति प्रकरण में हुआ है । तीनों अक्षरों का अविनाभाव है, एक के बिना दूसरा नहीं रहता, इससे एक के द्वारा तीनों का अथवा ईश्वर का बोध होता है । यह आकर्षण विज्ञान का संक्षिप्त परिचय है ।

इस सम्बन्ध में यह और ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार सूर्य में आकर्षण शक्ति है उसी प्रकार अन्य पिण्डों में भी उनके पिण्ड के परिमाण के अनुसार आकर्षण शक्ति रहती है । पृथ्वी में भी आकर्षण शक्ति है उसी के द्वारा चन्द्र पृथ्वी से बद्ध होकर उसकी परिक्रमा करता है । चन्द्र की आकर्षण शक्ति के कारण गंधर्वमाला चन्द्र की परिक्रमा करती है । अर्वाचीन विज्ञान से यह सिद्ध हो गया है कि प्रत्येक परमाणु में केन्द्रस्थ प्राण

के आकर्षण से (Nucleus) से बद्ध होकर (Electrons) निरन्तर परिक्रमा करते रहते हैं। इन सब में व्यक्तिगत जो आकर्षण है उसी के कारण इनकी पृथक् सत्ता रहती है। यदि पृथ्वी में अपनी आकर्षण शक्ति का सर्वथा अभाव होता तो वह सूर्य के आकर्षण से खिंचकर सूर्य में मिल जाती, पृथक् नहीं रह सकती थी। परन्तु दोनों के आकर्षण का ही यह प्रभाव है कि पृथ्वी अपनी कक्षा में ही रहती है। पृथ्वी के आकर्षण के सम्बन्ध में संकेत मिलता है।

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति

अश्वमेध यज्ञ में मध्य के दिन एक ब्रह्मोद्य का प्रकरण है जिसमें एक स्थान पर यजमान, होता, अध्वर्यु आदि का प्रश्नोत्तर होता है। इसके मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद में एक ही रूप में प्राप्त होते हैं। यजमान अध्वर्यु से कहता है कि मैं तुमसे पृथ्वी का सबसे अन्त का भाग पूछता हूँ। और यह पूछता हूँ कि भुवन अर्थात् उत्पन्न होने वाले पदार्थों की नाभि कहाँ है।

"पृच्छामि त्वा परमन्त पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।"

—(ऋ० वे०, १।१६४।३४; यजु०, २३।६१)

यहाँ दो प्रश्न हैं—प्रथम—पृथ्वी की जहाँ समाप्ति होती है वह अवधि कहाँ है। दूसरा यह है कि सब पदार्थों की नाभि कहाँ है। इन दोनों के उत्तर में अध्वर्यु कहता है —

"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः।
अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।।" पूर्व मन्त्र से आगे।

यहाँ प्रथम प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि यह यज्ञ वेदी ही पृथिवी का अन्त है। इससे स्पष्ट ही यह विज्ञान प्रदर्शित होता है कि पृथ्वी वर्तुलवृत्त है, गोल है। चौकोर, त्रिकोण आदि में आदि और अन्त पृथक् होता है परन्तु गोल पदार्थ में जिस किसी बिन्दु से रस्सी प्रारम्भ की जायगी अथवा बड़े पिण्डों में यात्रा प्रारम्भ की जायगी तो अन्त में आकर उसी बिन्दु में अवसान होगा। इस प्रकार प्रत्येक बिन्दु को अन्त कहा जा सकता है। उसे यहाँ वेदी को ही पृथिवी का अन्त कह कर पृथ्वी का गोल होना सिद्ध किया गया है।

दूसरा प्रश्न है कि भुवन की नाभि (केन्द्र) कहाँ है। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि यज्ञ ही भुवन की नाभि है। इस उत्तर से यह सिद्ध किया गया है कि पृथिवी में माध्याकर्षण शक्ति है। वैदिक परिभाषा में केन्द्र को नाभि कहा गया है। नाभि मध्य में रहती है और वह बन्धन करने वाली है। निरुक्त (४।३।५) में मिलता है— 'नाभिः सन्नहनात्। नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्ते इत्याहुः।' इसका अर्थ है कि सन्नहन

(सन्नाहबंधन) के कारण नाभि है। यह कहा गया है कि नाभि के द्वारा सन्नद्ध होकर गर्भ रहते हैं। यहाँ गर्भ उपलक्षण मात्र है। नाभि शब्द 'णह् बन्धने' धातु से निष्पन्न होता है—'नहो भश्च' इस सूत्र से इञ् प्रत्यय होता है और ह् का भ् होकर 'नाभि' शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार नाभि शब्द के अर्थ में बन्धन कर्तृत्व पाया जाता है। मध्य में स्थित रह कर वह अपने चारों ओर स्थित समीपस्थ पदार्थों का बन्धन करता है, उनका नियमन करता है। केन्द्र रूप नाभि से ही सूत्र रूप किरणें फैलती हैं और वे अभितः स्थित पदार्थों का नियमन करती हैं। रथचक्र के वलय में अरे नाभि से सन्नद्ध रहते हैं, इसलिए उसे भी नाभि कहा जाता है। सौर जगत् के मध्य में स्थित सूर्य अपनी रश्मियों से आकर्षण करने के कारण सब ग्रह, उपग्रहों का बन्धक है, इसलिए सूर्य को भी नाभि कहा गया है जैसा 'विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य' (ऋ० १०।१।५) तथा 'वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनाम्' (ऋ० १०।११।२) इत्यादि मन्त्रांशों से स्पष्ट है। इस प्रकार नाभि मध्यस्थ है और आकर्षण का कारण है उसे ही दृष्टान्त रूप में यज्ञ बताया गया है। यज्ञ का विशेष विवरण अन्यत्र किया गया है। अग्नि में सोम की आहुति ही यज्ञ है। केन्द्र में पहुँच कर ही सोम अग्नि रूप में परिणत होता है और फिर केन्द्र से निकल कर सोम रूप में परिणत हो जाता है, यह अन्यत्र कहा गया है। इस प्रकार यज्ञ मुख्य रूप से केन्द्र में ही सम्पन्न होता है, अतः यहाँ यज्ञ को नाभि बताकर यज्ञ पर भी प्रकाश डाला गया है। इस तरह इस प्रश्नोत्तर के रूप में विज्ञान का संकेत किया गया है।

इसी प्रकार ऋ० प्रथम मण्डल (१।१६४।६) में इन लोकों का स्तम्भन किसने किया है, यह प्रश्न छेड़ा गया है :—

"अचिकित्वाँश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपं किमपि स्विदेकम्॥"

यहाँ **रजांसि** का अर्थ लोक है। उसी प्रकरण में उसका उत्तर भी है।

दशम मण्डल (१०।८१) में भी प्रश्न है कि कौन-सा वन या कौन-सा वृक्ष है जिससे ये द्यावापृथिवी दोनों गढ़े गये हैं।

"किं स्विद् वनं क उ वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्॥"

उसी स्थान में इस प्रश्न का उत्तर भी है।

ब्राह्मण श्रुतियों में उपनिषदों में, तो वेदज्ञों के परस्पर प्रश्नोत्तर के द्वारा अनेक वैज्ञानिक विषयों का निरूपण हुआ है। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण तथा गोपथ ब्राह्मण में

उद्दालक, आरुणि और स्वैदायन शौनक के प्रश्नोत्तर से अनेक प्रकार के विज्ञान का निरूपण मिलता है । इसका पृथक् उल्लेख होगा ।

इन सबको देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्रुति-काल में विज्ञान की चर्चा विज्ञानों के वार्तालाप का—प्रश्नोत्तर का वहुत प्रचार था । वह समय भारतीय विज्ञान का मध्याह्न था । यज्ञ, सृष्टि, विद्या, ब्रह्म, आत्मा इत्यादि विषयों पर परस्पर विचार-विनिमय होता था और वैज्ञानिक विद्वान् अपनी-अपनी परीक्षाओं के द्वारा प्रत्यक्षीकृत तथ्यों का एक दूसरे को आदान-प्रदान करते थे । परन्तु दुर्भाग्यवश काल की गति के प्रभाव से धीरे-धीरे विज्ञान-वार्ता क्षीण हो गयी; प्राकृतिक यज्ञों का आधार नष्ट-सा हो गया और परवर्ती आचार्यों की समस्त शक्ति, प्रतिभा, बहुश्रुतता, वैज्ञानिकता से हटकर वैधानिक यज्ञों की रक्षा में ही केन्द्रित हो गयी । 'कालो हि दुरतिक्रमः ।'

शारीर विज्ञान

बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य के ये प्रश्न हैं—

"यद् वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः ।
मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ।।
रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते ।
जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत् पुनः ।।" इत्यादि ।

इसका भावार्थ यह है कि वृक्ष काटे जाने पर मूल से फिर नया उत्पन्न हो जाता है । मर्त्य (मनुष्य) मृत्यु के द्वारा वृक्ण (खण्डित) होकर किस मूल से उत्पन्न होता है । यह नहीं कहा जा सकता कि वह रेतस् (वीर्य) से पैदा होता है क्योंकि वीर्य तो जीवित अवस्था में ही पाया जाता है । इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में एक गाथा के रूप में स्वैदायन और उद्दालक का संवाद मिलता है (शतपथ, ११।४।१) । यही आख्यायिका इसी रूप में गोपथ ब्राह्मण में भी उपलब्ध है । इसमें से कुछ अंश दिया जाता है । 'उद्दालक आरुणि कुरु पंचाल विज्ञान परिषद् के ब्रह्मा (अध्यक्ष) थे । ये यज्ञ में वृत होकर उदीच्य देश में गये । वहाँ तत्रत्य विद्वान् वैज्ञानिक प्रवर स्वैदायन शौनक से यज्ञ विज्ञान के सम्बन्ध में चर्चा हुई । शौनक ने उद्दालक से प्रश्न किये :—प्रजाओं (सन्तान) के सिर के बाल सबसे पहले क्यों निकलते हैं और सिर के ही बाल सबसे पहले क्यों पलित होते हैं । बच्चा जब पैदा होता है तब वह बिना दाँत के क्यों उत्पन्न होता है । सातवें आठवें वर्ष तक ये दाँत क्यों टूट जाते हैं और फिर नये क्यों उत्पन्न होते हैं और फिर अन्त (वार्धक्य) में सब गिर जाते हैं । नीचे के दाँत पहले और ऊपर के वाद में क्यों निकलते हैं । नीचे के दाँत

छोटे और ऊपर के अपेक्षाकृत बड़े क्यों होते हैं। पुरुषों के श्मश्रु निकलती है; स्त्रियों के क्यों नहीं निकलती, इस प्रकार से शरीर रचना सम्बन्धी बहुत से प्रश्न शौनक ने किये (यहाँ संक्षेप में थोड़े से ही प्रश्न दिये गये हैं।) परन्तु उद्दालक एक भी उत्तर देने में समर्थ नहीं हुए और अन्त में शौनक का शिष्यत्व स्वीकार करके उन प्रश्नों के उत्तर की जिज्ञासा की। स्वैदायन शौनक ने इन सब प्रश्नों का समीचीन उत्तर दिया और यज्ञ को ही इन सबका कारण बताया। वेदी के आगे पहले बर्हिस्तरण (कुश फैलाना) होता है, इसलिए शिर के बाल पहले निकलते हैं इत्यादि यज्ञ के अनुसार इन सब प्रश्नों का समाधान किया गया है। इस प्रसंग में इस दुरूह विषय का विस्तार करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। यहाँ यह दिखाने का ही प्रयोजन है कि इस प्रकार की वैज्ञानिक चर्चा का उस समय में बहुत अधिक प्रचार था और विद्वान् लोग एक दूसरे से ज्ञातव्य विषय की शिक्षा लेकर अपनी ज्ञान-पिपासा का शमन करते थे। शरीर के संगठन में यज्ञों का क्या उपयोग था, यह इस प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि शौनक ने यहाँ जिस यज्ञ के द्वारा शरीर रचना का रहस्य बताया है, वह प्राकृतिक यज्ञ है। वैधानिक यज्ञ तो उसी प्राकृतिक यज्ञ की प्रतिकृति है।

वृष्टि विज्ञान

वृष्टि विज्ञान के सम्बन्ध में यास्क ने ऋग्वेद (१।१६४।४७) का निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत करके यह दिखाया है कि इसके अनुसार वृष्टि का क्या प्रकार है :—

"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आव वृत्रन्त्सदनादृतस्य आदिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते।।"

उन्हीं के अनुसार इस मन्त्र का आशय यह है कि सूर्य की किरणें पृथ्वी से टकरा कर जब ऊपर द्यौ की ओर जाती हैं और अन्तरिक्ष में जल के स्थान में पहुँचती हैं उसके अनन्तर पृथिवी घृत (जल) से आर्द्र होती है। यहाँ पर घृत जल का वाचक है। इसी स्थान में (७।७।१) यास्क ने ब्राह्मण श्रुति का भी उल्लेख किया है जिसका भाव यह है कि अग्नि यहाँ से वृष्टि को प्रेरित करती है। ऊपर में जाकर धामच्छद् होकर वर्षा होती है। मरुत् (वायु) सृष्ट (उत्पन्न हुई) वृष्टि का नयन करते हैं। जब यह आदित्य किरणों के द्वारा अग्नि को पर्यावर्तित करता है तब वृष्टि होती है। ऊपर के मन्त्र में 'ऋतस्य सदनात्' का अर्थ यह है कि ऋत अर्थात् जल का सदन स्थान—अर्थात् अन्तरिक्ष का वह प्रदेश जहाँ मेघों के निर्माण के लिए आहृत जल का संचय होता है। उस लोक में अग्नि के प्राप्त होने पर ही वृष्टि होती है। दिव् शब्द ऊर्ध्व (ऊपर) का वाचक है।

ऐतरेय में ब्राह्मण कवष ऐलूष का यह उपाख्यान मिलता है :—ऋषि लोग सरस्वती नदी के तट पर सत्र (दीर्घ कालीन यज्ञ) कर रहे थे । कवष ऐलूष भी वहाँ उसमें सम्मिलित होने के लिए पहुँच गये । ऋषियों ने कहा यह दासी का पुत्र है, अब्राह्मण है, यह हम लोगों में कैसे दीक्षित हो सकता है । उन ऋषियों ने उसे वहाँ से ऐसे मरुस्थान में ले जाकर छोड़ दिया जहाँ जल का सर्वथा अभाव था । वह प्यास से मर जाय, सरस्वती का जल न पीने पावे । वह कवष ऐलूष उस मरुभूमि में पिपासा से पीड़ित होकर आपोनप्त्रीय सूक्त का प्रत्यक्ष किया । मन्त्र द्रष्टा ऋषि हुआ । ऋग्वेद के दशम मण्डल का तीसवाँ सूक्त आपोनप्त्रीय कहलाता है । उसके द्रष्टा ऋषि कवष ऐलूष है । अन्तरिक्ष में व्याप्त जल से वृष्टि सम्पादित करने की विद्या का उसमें प्रतिपादन है । परन्तु उसके व्यावहारिक प्रयोग की प्रणाली की परम्परा द्वारा रक्षा नहीं हो सकी और वह प्रक्रिया भी कालगर्भ में विलीन हो गयी । अब तो वह इतना ही सिद्ध करने में सक्षम है कि अन्तरिक्षस्थ जल से वृष्टि होती है और उसे वैज्ञानिक प्रयोग से वर्षा के रूप में परिणत करके यथेच्छ जल प्राप्त करने की विद्या भी ऋषियों को ज्ञात थी । वृष्टि किस प्रकार होती थी केवल इतना ज्ञान ही न था उसको अपने इच्छानुसार काम में लाने का भी विज्ञान उस समय था ।

मनो विज्ञान*

शतपथ ब्राह्मण में मिलता है कि देव गण मनुष्य के मन को जानते हैं । पहले मन में संकल्प उठता है, वह प्राण में प्राप्त होता है । प्राण (बाहर में स्थित) वायु में पहुँचता है और वह वायु देवों को बताता है कि पुरुष के मन में क्या है ।[1] यहीं पर अथर्ववेद की यह श्रुति भी उद्धृत की गयी है :—

> "मनसा संकल्पयति तद् वातमभिगच्छति ।
> वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुष ते मनः ।।"—अथर्व० (१२।४।१।५)

इस मन्त्र का ही अनुवाद शतपथ श्रुति में किया गया है । यहाँ देव शब्द से मनुष्य देव, विद्वान् का अभिप्राय है । मनुष्य के मन में जो विचार उठते हैं वे प्राण के द्वारा मनुष्य के

१. मनो देवा मनुष्यस्य आजानन्ति इति । मनसा संकल्पयति, तत् प्राणमभिपद्यते, प्राणो वातम्, वातो देवेभ्य आचष्टे यथा पुरुषस्य मनः । तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्—'मनसा संकल्पयति' आदि ।—शतपथ (६।५।५)

*विशेष विवरण के लिए देखिए,
स्वामी अखिलानन्द—हिन्दू सायकोलाजी ।

चारों ओर वर्तमान वायुमण्डल में पहुँचते हैं और उस वायुमण्डल के द्वारा विद्वान्––उस प्रक्रिया के तत्त्व के जानने वाले––पुरुष के विचारों को जान लेते हैं। यहाँ देव का अर्थ आधिदैविक देव सम्भव नहीं है। जिस प्रकार की प्रक्रिया बतायी गयी है वह विद्वान् मनुष्य में ही चरितार्थ होती है। योग शास्त्र के अनुसार यह अत्यन्त साधारण बात है और सरलता से इसका अभ्यास हो जाता है। वर्तमान समय में भी (thought reading) यह प्रसिद्ध है।

ग्रहण विज्ञान

प्राचीन देवयुग में वैज्ञानिक परीक्षाओं के लिए जो भिन्न-भिन्न प्रयोगशालाएँ थी वे ब्रह्म परिषद् कही जाती थीं और उस परिषद् का अधिष्ठाता ब्रह्मा नाम से कहा जाता था। प्रत्येक परिषद् विशेष-विशेष प्रयोगों की परीक्षा किया करती थी। आधिदैविक प्राण रूप ऋषियों की परीक्षा उनका लक्ष्य था। इसका अन्यत्र विवरण है। आत्रेयी ब्रह्म-पर्षद् में प्रतिष्ठित अत्रिवंश में अत्रि प्राण की परीक्षा तथा विशेष रूप से ग्रह नक्षत्रादि ज्योतिर्विद्या प्रचरित थी। प्रथम अत्रि के समय कदाचित् सूर्य ग्रहण के सर्वग्रास होने पर उसके कारण का निर्धारण करने के लिए उस समय के अनेक वैज्ञानिक विद्वान् प्रयत्न करते थे। किन्तु सर्वप्रथम उस आत्रेय परिषद् के अधिष्ठाता अत्रिने ही यथार्थ रूप से ग्रहण के कारण का निर्धारण किया। उन लोगों ने जो निर्णय किया उसके गणित के प्रतिपादन का विद्याग्रन्थ उसी आत्रेयी परिषद् में रखा था जो कालक्रम से लुप्त हो गया। इस समय उसका इतिवृत्त मात्र ऋग्वेद में पाँच मन्त्रों में उपलब्ध होता है। इन मन्त्रों में और भी अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है अतः इनका उद्धरण देना असंगत न होगा।

ऋग्वेद, ५।४०।५।९––

१. यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद् यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः ॥५॥

२. स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूढं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः ॥६॥

३. मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा निगारीत्।
त्वं मित्रो असि सत्य राधास्तौ मेहावतं वरुणश्च राजा ॥७॥

४. ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्तमसोपशिक्षा।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्स्वर्भानोरप माया अयुक्षत् ॥८॥

५. यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्र यस्तमन्वविन्दन्न ह्यन्ये अशक्नुवन् ॥९॥

स्वर्भानु या राहु की उपपत्ति अत्रि ख्याति में इस प्रकार दी गयी है--सूर्य अभिजित् नाम के ब्रह्मा के चारों ओर परिक्रमा करता है । उस ब्रह्मा की रश्मि में सब प्राण ऋषि कहे जाते हैं । इसका विशेष उल्लेख अन्यत्र हुआ है । चन्द्रमा, स्वतः कृष्ण वर्ण है जैसा कि श्रुति में कहा गया है--'चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः ।' उसमें प्रतिमूर्छित सूर्य की किरणों से जो ज्योत्स्ना (चाँदनी) उत्पन्न होती है उनमें स्थित अनेक प्रकार के धर्मों में विभक्त प्राण मध्यम पितर कहे जाते हैं । इसी प्रकार पृथिवी में प्रतिमूर्छित सूर्य किरणों में जो प्राण रहते हैं वे 'अवर पितर' कहलाते हैं । सूर्य रश्मिगत प्रकाशमय सब प्राण अनेक धर्मों में विभक्त कहलाते हैं । चन्द्र में अथवा पृथिवी में सूर्य से विपरीत भाग में सूर्य किरणों के न पहुँचने से तमोमय आकाश में संचरण करने वाले प्राण **असुर** कहे जाते हैं, यह वैदिकी परिभाषा है । वहाँ चन्द्र और पृथ्वी की आकाश में व्याप्त छायामयी भूभा भी सब असुर प्राणों से युक्त होने के कारण असुर शब्द से कही जाती है । उस छायामय असुर की तम, राहु और स्वर्भानु ये संज्ञाएँ हैं । अन्धकारमय होने से तम है । सूर्य की किरणों से रहित होने के कारण राहु है । सूर्यमण्डल स्वः कहलाता है । सूर्य मण्डल से उपलक्षित प्रतिदिग्भाग में भानु अर्थात् भूभा से उपलक्षित प्रदेश में व्याप्त होने योग्य प्रकाश नियम से जिसमें रहता है वह स्वर्भानु है । आशय यह है कि पृथ्वी पिण्ड से जिन सूर्य की किरणों का सम्पर्क होता है वे प्रतिफलित होकर परावर्तित हो जाती हैं । बाकी सूर्य की किरणें पृथ्वी पिण्ड के दोनों पार्श्व से आगे बढ़ती हुई कुछ दूर जाकर--जहाँ पृथ्वी की छाया समाप्त होती है आपस में मिल जाती हैं और पृथ्वी की छाया का आकार क्रमशः छोटा हुआ कर्त्री (कैंची) के आकार का हो जाता है । उस भूभा (छाया के दोनों ओर प्रकाश है उसका प्रभाव भी उस छाया पर पड़ता है इससे उसे स्वर्भानु कहा जाता है। सामश्रमी ने स्वर्भानु का अर्थ किया है--स्वः अर्थात् स्वर्ग (सूर्य) उसकी भा (कान्ति) का नु अर्थात् नुदन करने वाला--हटाने वाले स्वर्भानु है। चन्द्रमा और पृथ्वी दोनों कृष्ण वर्ण हैं। उनकी स्वतः की छाया भी सूर्य के प्रकाश के अभाव में कृष्ण वर्ण की ही होगी, अतः वह तम और राहु है । छाया के उत्पन्न करने में कारण सूर्य का प्रकाश ही है । दोनों ओर सूर्य का प्रकाश रहता है बीच में प्रकाश का अभाव रहता है इससे छाया प्रतीत होती है । यदि प्रकाश न होगा तो छाया का रूप निष्पन्न न होगा । यह तमोरूप छाया कर्त्री के समान हो जाती है इसी से राहु को छिन्न सिर वाला माना जाता है ।

इस परिभाषा के अनुसार मन्त्रों का भावार्थ यह है :--

समय मन्त्र :--हे सूर्य ! आसुर अर्थात् असुर समूह रूप यह स्वर्भानु (राहु) ने जब चन्द्र के नीचे में स्थित कृष्ण वर्ण की छाया से तुम्हारा आवरण किया उस समय सब

लोक आसुर ज्ञान से व्यामोहित हो गये । जिस प्रकार कोई पुरुष गन्तव्य स्थान को न जानता हुआ व्यामुग्ध हो जाता है कि कहाँ जाऊँ, उसी प्रकार सूर्य कहाँ चला गया यह क्या हो गया; यह बिना अवसर के अन्धकार कैसे आ गया इत्यादि रूप से किंकर्तव्य-विमूढ़ता आ गयी । यह अन्यत्र विस्तार से कहा गया है कि प्रत्येक पिण्ड में प्राण दो प्रकार से रहते हैं । पिण्ड के स्वरूप के निर्माण में जितनी प्राणशक्ति बद्ध हो जाती है उस समूह को **चित्य** कहा गया है और पिण्ड में काम आने के बाद जो प्राण उससे नित्य सम्बन्ध रखता है उसे घेरे रहता है और उसकी रक्षा करता है वह **चिते-निधेय** कहा गया है । इस प्रथम मन्त्र में सूर्य पिण्ड के आवृत होने का वर्णन है । दूसरे मन्त्र में चिते-निधेय प्राण का वर्णन है । सूर्य के चितेनिधेय प्राण को इन्द्र कहा गया है जैसा 'यथाग्नि गर्भा पृथ्वी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' इस श्रुति से स्पष्ट है ।

द्वितीय मन्त्र :—हे इन्द्र ! सूर्य-मण्डल से नीचे वर्तमान स्वर्भानु की माया ने जब सूर्य का अवरोध करके लोप कर दिया तब तम से प्रच्छन्न सूर्य को अत्रि महर्षि ने चतुर्थ मन्त्र में उल्लिखित यन्त्रों की सहायता से प्राप्त कर लिया । उसी स्थान में द्यौः में स्थित सूर्य को जान लिया ।

यह अन्यत्र कहा गया है कि जिस वस्तु में अत्रि प्राण उसका आरम्भक, उत्पादक, होता है उसमें पारदर्शकता नहीं रहती; प्रकाश की किरणें उससे आघात करके प्रति-फलित हो जाती हैं । उदाहरण के लिए स्वच्छ काच में अत्रि प्राण की मात्रा अत्यन्त अल्प रहती है, अतः वहाँ प्रकाश की किरणें अधिकांश में उस काच के दूसरी ओर चली जाती हैं परन्तु काच के पृष्ठ में अत्रिप्राण की अधिकता वाले काष्ठ, पारद आदि अन्य पदार्थ का योग कर देने पर काच की पारदर्शकता नहीं रह जाती और प्रकाश की किरणें उससे प्रतिफलित होने लगती हैं । यह सबका अनुभव है । इस तथ्य के अनुसार तीसरे मन्त्र में सूर्य के मुख से कहलाया गया है ।

तृतीय मन्त्र:—सूर्य की उक्ति है । हे अत्रि ! हम तुम्हारे हैं । अत्रिप्राण से ही चन्द्र की उत्पत्ति होती है । इसी दृष्टि से चन्द्र को अत्रिपुत्र कहा जाता है । चन्द्र अत्रि-प्राणमय है । सूर्य की रश्मियाँ उसमें प्रतिफलित होकर ज्योत्स्ना उत्पन्न करती हैं । इस प्रकार चन्द्र के सम्बन्ध से सूर्य और अत्रि का परस्पर सहयोग होने के कारण सूर्य कहते हैं—'हम तुम्हारे हैं ।' हमें द्रोह करने वाला यह असुर स्वर्भानु अन्न की इच्छा से ग्रास करने के अभिप्राय से भयंकर तमस् के द्वारा निगीर्ण न करे । सर्वथा विलुप्त न करे । चन्द्रगत वस्तुशक्ति से साधित, तुम अत्रिप्राण मित्र हो; तुम वरुण हो । श्रुति कहती है—'अहर्वै मित्रो रात्रि वरुण है' अर्थात् दिन मित्र है और रात्रि वरुण है । प्रत्येक वस्तु

में नियत शक्ति सत्य है । तुम सत्य हो । अत्रि प्राण न रहता तो सूर्य रश्मि का प्रतिफलन न होने से पारदर्शकता के कारण सूर्य के प्रकाश की ओर दिन (मित्र) और विरुद्ध दिशा में रात्रि (वरुण) का स्वरूप निष्पन्न न होता, इसलिए दिन और रात्रि के विभाग में—मित्र और वरुण के रूप निष्पादन करने में—अत्रिप्राण की कारणता है । इसलिए दोनों के जनक होने के कारण अत्रि को मित्र और वरुण कहा गया है । इसलिए अत्रिभूत मित्र और वरुण रूप आप हमें सूर्य को स्वर्भानु के ग्रासकाल में यथास्थान स्थित जान जाँय ।

चतुर्थ मन्त्र :—पूर्व में ग्रहण काल में सूर्य को देखने के लिए किसी अपूर्व यन्त्रविशेष का निर्माण अत्रि ने किया था । ग्रहण के समय में सूर्य के अदृष्ट होने पर अत्रि ब्रह्मा **ग्राव** नाम के यन्त्र का उपयोग करके **कीरि** के द्वारा तथा नमस् के द्वारा सूर्य से उपलक्षित आकाश भाग में अपनी दृष्टि लगा कर देखते थे । इसलिए दूसरों को मोह में डालने वाली स्वर्भानु की माया को वे दूर करते थे । अत्रि के निर्मित यन्त्रों के इस समय अनुपलब्ध होने के कारण उनके द्वारा ग्रहण काल में सूर्य के दर्शन का प्रकार तथा उसके अवयवभूत ग्राव, कीरि और नमस् का ज्ञान लुप्त हो गया ।

पंचम मन्त्र :—इसमें उपसंहार किया गया है कि प्राचीन युग में जब उस समय के कृतविद्य मनीषि महर्षि सूर्य के ग्रहण के कारण के जानने में प्रयत्नशील होते थे तब-तब अत्रिगण ही उसें यथावत् जान सकते थे । अन्य विद्वान् उसे यथाविधि जानने में समर्थ नहीं हुए ।

सूर्य के अकस्मात् खग्रास से ग्रस्त हो जाने के कारण जब सब ओर अन्धकार छा गया और देवगण (विद्वद्गण) भयभीत हो गये उस समय अत्रि ने अपनी विद्या से 'यह सूर्य का आवरण चन्द्र की छाया के कारण है और कोई भय का कारण नहीं है' यह सिद्ध करके देवों का भय दूर किया और तब देवों ने परितुष्ट होकर उन अत्रि को वरदान दिया । अत्रि ने यह वरदान माँगा कि हमारी सन्तान यज्ञ में दक्षिणा प्राप्त करने के अधिकार से युक्त हो । इसलिए यज्ञ में प्रथम दक्षिणा आत्रेय (अत्रिवंश प्रसूत) को दी जाती है । यह गोपथ पू० भा० (२।१७) में स्पष्ट रूप से लिखा है ।

"आदित्यं हि तमो जग्राह । तदत्रिरपनुनोद । तदत्रिरन्वपश्यत् । तदेतदृचोक्तम् । स्तुताद्यमत्रिर्दिवमुन्निनाय । दिवि त्वत्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे । इति। तं होवाच—वरं वृणीष्वेति । स होवाच—दक्षिणीया मे प्रजा स्यादिति । तस्मादात्रेयाय प्रथम दक्षिणा यज्ञे दीयन्ते । इति ।"

इससे यह भी सिद्ध होता है कि उस समय भी वैज्ञानिक विद्वानों को पारितोषिक प्रदान करके उनका उत्साह वर्धन किया जाता था । यह प्रकरण सूर्य-ग्रहण के सम्बन्ध में है । चन्द्र-ग्रहण का भी यह उपलक्षण है ।

सूर्योदय और सूर्यास्त

ऋग्वेद का सौर विज्ञानपरक यह मन्त्र है :—

'उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।' दृशे विश्वाय सूर्यम् । (ऋ० अष्ट० १।४।७) यहाँ केतु शब्द का किरण अर्थ है । ये किरणें सबको दिखाने के लिए सूर्य का उद्वहन करती हैं—ऊपर पहुँचाती हैं । यह अर्थ प्रतीत होता है तथा व्याख्याकारों ने भी प्रायः यही अर्थ लिया है । परन्तु यह अर्थ हृदयंगम नहीं है । सूर्य तो पृथ्वी से ऊर्ध्व में ही स्थित है, अतः उसे दिखाने के लिए किरणों के द्वारा उसको ऊपर उठाये जाने में कोई विशेषता नहीं दिखती । सूर्य की किरणें ऊपर भी फैलती हैं यह पृथ्वी लोक वाले के लिए निष्प्रयोजन है । सूर्य की जो किरणें नीचे की ओर आती हैं उन्हीं के द्वारा हम लोगों को सूर्य बिम्ब के दर्शन होते हैं । अतः इसका वैज्ञानिक अर्थ लेना ही युक्तियुक्त होगा । जब सूर्य हमारे क्षितिज से नीचे रहता है; नेत्र सूत्र के सम्बन्ध में नहीं आता, तभी उसकी किरणें पृथ्वी के ऊपर में स्थित वायु-मण्डल (atmosphere) में पड़ती हैं और वायु के आघात से वक्र होकर हमारे नेत्र पटल में अनुप्रविष्ट होकर सम्मुख भाग में सूर्य का दर्शन कराती हैं । यही किरणों के द्वारा सूर्य का उद्वहन है । किरणों का वक्र होना जल आदि में प्रत्यक्ष देखा जाता है । सूर्य के क्षितिज से ऊपर आने के बहुत पूर्व ही हमें सूर्य का उदय दृष्टिगत हो जाता है । इसी प्रकार सूर्यास्त के समय सूर्य के क्षितिज के नीचे हो जाने के बाद भी कुछ अधिक समय तक ऊर्ध्वगामी किरणों के द्वारा सूर्य का दर्शन होता रहता है । यह सिद्धान्त भारतीय गणितज्ञों का भी है । वर्तमान विज्ञान भी इसे मानता है ।

स्थाणु को उज्जीवन करने का विज्ञान

बृहदारण्यक उपनिषद् के षष्ठ अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में महत्त्व प्राप्त करने के लिए एक होम बताया गया है । गायत्री मन्त्र के द्वारा विधिपूर्वक अभिमन्त्रित जल यदि सूखे पेड़ पर सिक्त किया जाय तो वह सूखा वृक्ष उस रस को आत्मसात् करके फ़िर जीवित हो जाता है और उसमें पत्ते आदि निकल आते हैं । वह अंश इस प्रकार है :—

'त्वं हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्याय अन्तेवासिने उक्त्वा उवाच—अपि य एनं शुष्के स्थाणौ निषिचेज्जायेरन् शाखाः, प्ररोहेयुः पलाशानीति ।' यहीं पर शिष्य-परम्परा का भी उल्लेख है । याज्ञवल्क्य ने मधुक पैङ्ग्य को यह विद्या सिखायी । इन्होंने अपने अन्तेवासी चल भाग्यवित्ति को यह विद्या दी । इत्यादि ।

पौराणिक कथा है कि तक्षक नाग के द्वारा भस्म किये हुए वृक्ष को मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण ने पुनरुज्जीवित कर दिया था उसका भी इस श्रुति से पुष्टीकरण होता है।

गर्भ विज्ञान

ऐतरेय उपनिषद् में मिलता है कि आदि में पुरुष में गर्भ होता है। यह जो रेतः (शुक्र) है सब अंगों से अत्यन्त तेज को धारण करता है फिर जब स्त्री में सिक्त करता है तब इसका जनन करता है। यह इसका प्रथम जन्म है। इत्यादि।

'पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमजन्म।' इस प्रकार इस श्रुतिवाक्य से यह सिद्ध होता है कि सबसे प्रथम पिता के गर्भ में जीव आता है। छांदोग्य उपनिषद् में पञ्चाग्नि विद्या के प्रसंग में इसका विशेष विवरण उपलब्ध होता है। जीव शरीर से उत्क्रान्त होकर चन्द्रलोक में जाता है और वहाँ भोग समाप्त होने पर जिस प्रकार गया था उसके विपरीत क्रम से लौटता है। चन्द्र लोक से आकाश में, आकाश से वायु में, वायु होकर धूम में, धूम होकर अभ्र (मेघ) रूप में आकर वर्षा के साथ आकर धान, जौ, तिल, उड़द, ओषधि आदि में प्रविष्ट होता है। यहाँ से फिर निकलना कठिन होता है। इसके बाद जो पुरुष उस अन्न आदि का भक्षण करता है उसके शरीर में प्रविष्ट होकर रस रक्त आदि में परिणत होता हुआ क्रमशः शुक्र (रेतः) रूप में हो जाता है। इस प्रकार जीव प्रारम्भ में पुरुष के गर्भ में आता है और फिर स्त्री में सिक्त होकर यथासमय जन्म ग्रहण करता है।[१] इसके आगे इसी श्रुति में यह भी कहा गया है कि जो रमणीय (अच्छे) आचरण वाले होते हैं वे रमणीय योनि में—ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि में प्राप्त होते हैं और जो कुत्सित (निंदनीय) आचरण वाले होते हैं वे कुत्सित योनि में—कुत्ता, शूकर, चाण्डाल आदि में प्राप्त होते हैं। इसका आशय यही है कि पुण्य-

१. "तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वा अथ एतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वा अभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते अतो वै खलु निष्प्रतरं, यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद् भूय एव भवति। तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मण-योनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा, अथ यह इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥"—छा० उ०, ५।१०

कर्म के प्रभाव से उत्कृष्ट योनि में तथा पाप कर्म के प्रभाव से निकृष्ट योनि में जन्म होता है। विद्या और कर्म के तारतम्य से ऊँच-नीच योनि प्राप्त होती है। अदृष्ट शक्ति के प्रभाव से वह जीव उसी पुरुष में अन्न के साथ जाता है जिसके साथ उसका पूर्व सम्बन्ध नियत है। इसका उदाहरण अन्य स्थानों में मिलता है कि जिस प्रकार गाय का बछड़ा अनेक गायों के बीच में भी अपनी ही माता के पास संस्कारवश पहुँच जाता है उसी प्रकार यह जीव भी संस्कारानुसार उचित स्थान में ही पहुँचता है।

बादरायण आचार्य ने ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में यह प्रश्न उठाया है कि उक्त श्रुति में जो जीव का आकाश आदि के रूप में परिणत होना कहा गया है उसका क्या अभिप्राय है; वह आकाश ही हो जाता है अथवा आकाश के समान सूक्ष्म रूप में रहता है। इसका समाधान यह किया गया है कि आकाश आदि से समानता ही रहती है। यह भी आशय है कि व्रीहि यव आदि में वृष्टि के द्वारा जब जीव पहुँचता है तब वहाँ से निकलना कठिन होता है। यह कठिनता अधिक काल को द्योतित करती है इससे यह सिद्ध होता है कि अन्नभाव में परिणत होने से पूर्व वृष्टि तक में समय अधिक नहीं लगता।

इस अवरोह प्रकरण में जीव का धान आदि में संक्रमण कहा गया है। यहाँ भी यह प्रश्न उठाया गया है कि व्रीहि आदि भी तो योनिविशेष हैं और कर्म के अनुसार प्राप्त होते हैं। कठश्रुति में कहा गया है कि अन्य देही शरीरत्व के लिए योनि को प्राप्त होते हैं दूसरे अपने विद्या और कर्म के अनुसार स्थाणुत्व (वृक्षत्व) को प्राप्त होते हैं--

'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथा श्रुतम्।' इस प्रकार ये व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति आदि भी भोगभूमि हैं। तो क्या यहाँ पर प्राप्त होकर जीव भी अवरोहण दशा में यहाँ प्राप्त कर कर्मभोग करता है? इसका निर्णय यह दिया गया है कि इन व्रीहि यव आदि भोग भूमि के अधिष्ठाता अन्यान्य क्षेत्रज्ञ हैं। जीव का इनमें संश्लेष मात्र रहता है। पुरुष में जाकर रेतोरूप में भी संश्लेष मात्र रहता है। स्त्री में निषिक्त होने के बाद शरीर जब प्राप्त होता है तब वह शरीर ही उसकी भोग-भूमि होती है।

इस सबसे यह सिद्ध हो ही जाता है कि जीव पूर्वकृत कर्म का भोग करने के लिए ही पुनर्जन्म ग्रहण करता है। पुनर्जन्म और कर्म संस्कार भारतीय सभी सम्प्रदायों में मान्य हैं। बौद्ध, जैन आदि भी पुनर्जन्म और कर्म का संस्कार मानते हैं। पाश्चात्य धार्मिक सम्प्रदायों में अधिकांश पुनर्जन्म वाद नहीं मानते; यद्यपि सत्कर्म और सदाचार का महत्त्व उनमें भी विद्यमान हैं। पुनर्जन्म न मानने से जो अनेक प्रकार की अड़चनें आती हैं; जिन प्रश्नों का उचित समाधान नहीं मिल पाता उन्हें देखकर पाश्चात्य मनीषियों

में भी अव अनेक वैज्ञानिक पूर्वजन्म और पूर्वजन्म में किये गये कर्मों की अनुवृत्ति वर्तमान जन्म में भी मानने लगे हैं ।[१]

वास्तव में पुनर्जन्म वाद और कर्मवाद भारतीय संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ हैं। श्रुतियों में और भी अनेक स्थलों में इनका उल्लेख है। वेदानुयायी पुराणों में तो यह सर्वत्र मिलता ही है। गीता में भी भगवान् कृष्ण अर्जुन से कहते हैं हमारे वहुत-से जन्म व्यतीत हो गये और तुम्हारे भी, हम उन सवको जानते हैं, तुम नहीं जानते ।

'वहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ।।'—गीता ।

१. यहाँ कुछ पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मत का सारांश प्रसंग प्राप्त है :—

1. Sir Oliver Lodge : I am, for personal purposes, convinced of the persistance of human existance beyond bodily death.

2. W. Tudor Jones : We conclude, then, that our death is our birth to a life beyond.

3. E. D. Walker's Re-incarnation : Re-incarnation teaches that soul enters this life, not as a fresh creation but after a long course of previous existences on this earth and elsewhere. The ancient doctrine of transmigration seems the most rational and most consistent with God's wisdom and goodness.

4. Hon. Ralf Shirley : It is not unreasonable conclusion to arrive at that the bodies which parents supply by their own sexual intercourse are tenanted in the first instance by spirits from another world, attracted to them by some form of spiritual sympathy and that accordingly the parents of the physical form can not, strictly, speaking, be regarded as the originators of the consciousness which inhabits it. May we not rather believe that the ego possessed these powers before his birth into this world as an inheritence from his past lives. The hypothesis is plausible because it and it alone, meets the facts of the case in innumerable instances.

—Problum of Re-birth.

गर्भोपनिषद् में यह भी स्पष्ट शब्दों में दिया गया है[१] कि शुक्र शोणित के योग से जब गर्भाधान होता है, एक रात्रि रह जाने पर कलल रूप में वह आ जाता है। सात रात में बुद्बुद होता है। अर्धमास के भीतर पिण्डरूप में परिणत होता है। एक मास होने तक कठिन हो जाता है। दो मास में शिर सम्पन्न होता है इत्यादि। वहीं अन्त में यह भी विस्तार से दिया गया है कि मनुष्य शरीर में अस्थि-संधि, मर्म स्थान, की संख्या कितनी है। वहीं यह भी कहा गया है कि शरीर में साढ़े चार करोड़ रोम होते हैं। पित्त, कफ, मेद आदि का परिमाण भी दिया हुआ है। यहाँ विस्तार करना अनावश्यक है।

छांदोग्य उपनिषद् में जिस पञ्चाग्नि का वर्णन है उसका संकेत अनेक मन्त्रों में भी मिलता है। इनमें से दो यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

अथर्ववेद (१८।२।७) का यह मन्त्र है :--

"सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
आपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः ।।"

यहाँ स्पष्ट ही आप् ओषधि आदि में प्रतिष्ठान कहा गया है। दूसरा मन्त्र ऋग्वेद (१०-१६।५) का है--

"अवसृजत्पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः।
आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदाः ।।"

यहाँ भी फिर से शरीर धारण स्पष्ट लिखा है।

वास्तु विज्ञान

१. ऊपर 'ता वां वास्तूनि' इत्यादि मन्त्र की व्याख्या में यह दिखाया गया है कि सामश्रमीजी ने उसमें यह विज्ञान भी बतलाया है कि गृह का निर्माण किस प्रकार होना चाहिए। एक और मन्त्र की व्याख्या में वे गृहद्वार किस प्रकार हो इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हैं। मन्त्र यह है :--

"व्यचस्वतीरुर्विया विश्वयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ।।"

(ऋ० वे० १०।११०।५)

१. गर्भोपनिषद्--'ऋतु काले सम्प्रयोगादेकरात्रोषितं कलिलं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति। मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति। मासद्वयेन शिरः सम्पद्यते।' इत्यादि।

वे इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि इस मन्त्र में यह ही उपदिष्ट है कि गृहों के द्वार किस प्रकार बनाने चाहिए। 'द्वारः' यज्ञ गृहों के अथवा विद्वानों के गृहों के 'देवीः' दीषिमन्ये 'व्यचस्वत्यः' वहुत वायु के प्रवेश योग्य, उर्विया दृढ़ सुयोग्य अधिक प्रस्थ कपाट युक्त हों। जिस प्रकार कुलवधू अपने-अपने पति को सन्तुष्ट करने के लिए सुन्दर वसन भूषण से अपने को सुसज्जित करती हैं उसी प्रकार ये गृहद्वार भी शोभा-सम्पन्न हों (यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि संस्कृत द्वारः शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुवचन है इससे जनयः—कुलवधुओं की उपमा निर्दोष है)।

२. एक और मन्त्र का भाव यहाँ उल्लेख योग्य है :—

"तपोष्वग्ने अन्तराँ अमित्राँ तपा शंसमररुषः परस्य।
तपो वसो चिकितानो अचित्तान् वि ते तिष्ठन्तामजरा अयासः ॥"

(ऋ०, वे० ३।१८।२)

इस मन्त्र की व्याख्या—सायणाचार्य के अर्थ को असंगत बताते हुए इस प्रकार करते हैं—हे अग्ने! 'अन्तरान् अमित्रान्' गृह के मध्य में स्थित शत्रुभूत जो अप्रकाश (अंधकार) है उस 'शंसम्' नाम 'तपा' जला दो; नष्ट कर दो। (यह पूर्वार्ध की व्याख्या हुई)। तृतीय पाद—हे वसो! 'चिकितानः' प्रज्वलित होते हुए तुम चित्तशून्य दंश मशक आदि कीटों को 'तप उ' नष्ट ही करो। चतुर्थ पाद—तुम्हारे सखिभूत 'अजरा अयासः' पवमान वायु स्थित हों। अग्नि के प्रज्वलित होने पर वायु का आगमन प्रत्यक्ष है। इसीलिए अग्नि का 'वायुसख' नाम प्रसिद्ध है। इस प्रकार आर्द्र गृह में अग्नि जलाने से उसकी आर्द्रता (सीलन) नष्ट होती है। प्रकाश भी होता है। अन्धकार के आश्रय से रहने वाले दंश, मशक आदि जीव भी दूर हो जाते हैं और सदागति वायु का संचार भी सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार गृह के सम्बन्ध में—प्रकाश शून्यत्व, तज्जन्य आर्द्रता (गीलापन), उसी से वायु के प्रवाह की हीनता और उसके आश्रय से पनपने वाले दंश मशक आदि की अवस्थिति ये चार दोष बताये गये हैं और इन चारों दोषों के निवारण के लिए गृह में अग्नि-प्रज्वालन का उपदेश दिया गया है।

इसी प्रकार एक और मन्त्र में अग्नि को कीटाणुनाशक बताया गया है। मन्त्र यह है—

"ये रूपाणि प्रतिमुंचमाना असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परा पुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निस्तान् प्रणुदात्य स्मात् ॥"

श्राद्ध के समय जिस वेदी में पितृपिण्ड दिया जाता है उसके शोधन के अंगार भ्रमण में इस मन्त्र का विनियोग हुआ है । इसका भावार्थ यह है यहाँ पर इस वेदी में चारों ओर आगे पीछे रूप धारण किये हुए जो असुर विचरण कर रहे हैं उन्हें अग्नि इस स्थान से हटा देता है। अंगार भ्रमण के द्वारा उस स्थान में स्थित कीटाणुओं का नाश होता है--अग्नि कीटाणु नाशक (germicide) है यह प्रसिद्ध है, अतः यहाँ असुर शब्द से कीटाणु ही लक्षित होते हैं ।

शिल्प विज्ञान

ऋभुओं का परिचय--

कुत्स आदि भारतीय राजाओं पर आक्रमण करने वाले दस्युओं को युद्ध में नष्ट करके इन भारतीय राजाओं की इन्द्र ने रक्षा की थी, यह अन्यत्र लिखा गया है । इन युद्धों से बहुत पूर्व में भारत में सुधन्वा नाम के एक राजा थे । इनके तीन पुत्र थे--ऋभु-विभ्वा और वाज । ये तीनों शिल्पकला में अत्यन्त निपुण थे । इन तीनों को भी प्रायः ऋभु ही कहा गया है । ये भारतवर्षीय मनुष्य थे । इन लोगों ने देव शिल्पी त्वष्टा से शिल्प कला सीखी थी परन्तु विलक्षण प्रतिभासम्पन्न होने के कारण इन लोगों ने अनेक प्रकार के विमान आदि इन्द्र आदि देवों के लिए निर्माण किये और अपने शिल्प कौशल से इन्द्र को प्रसन्न करके देवत्व प्राप्त किया तथा इन्द्र के रात्रिकालीन भोजन में सहभोजी भी हो गये । देवाधिदेव इन्द्र के साथ सहभोजी होने का उन दिनों परम गौरव माना जाता था और इने-गिने लोग ही इस सौभाग्य के अधिकारी थे । इनकी स्तुतियों में ऋग्वेद में बहुत से सूक्त मिलते हैं, इनके मन्त्रों के देखने से इनके जीवन चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इनके आचार्य त्वष्टा ने इन्द्र के लिए वज्र का निर्माण किया था यह प्रसिद्ध है । त्वष्टा ने ही इन्द्र के लिए एक चमस (सोम पान करने का पात्र, cup) बनाया था जिसकी देव-समाज में बहुत प्रशंसा थी । ऋभु गण अपनी कला के नैपुण्य के अभिमान से त्वष्ट्रनिर्मित चमस पर आक्षेप करके कहने लगे कि चमस कोई कला-कौशल नहीं है। उसमें जो विलक्षण गुण दिखते हैं वे लकड़ी के कारण हैं जिनसे उसका निर्माण हुआ है ।[1] उस समय के इन्द्र के प्रतिनिधि (Vice-roy) भारत वर्ष में वह्नि देव कहलाते थे । इनका कार्य यह था कि यहाँ से जो कर प्राप्त होता था वह इन्द्र के पास पहुँचाते थे । जिस प्रकार अधि-दैव में वह्निदेव आहुति द्वारा प्रदत्त अन्न आदि के रस को आदित्य प्राण (इन्द्र) के पास

१. इन्द्रविजय--आर्यदासीय, पृ० ३४-३५ ।

पहुँचाते हैं उसी के अनुसार भारत भू में स्थित वह्निदेव भौम त्रिलोकी के स्वर्ग में शासन करने वाले इन्द्र के यहाँ कर पहुँचाया करते थे । इनका भौम स्वर्ग से साक्षात् सम्बन्ध था और ये समय-समय पर भौम स्वर्ग में इन्द्रसभा में जाया करते थे । इन्होंने प्रसंगवश त्वष्टा को यह सूचना दे दी कि ऋभुगण तुम्हारे चमस की निन्दा करते हैं । इस पर त्वष्टा क्रुद्ध होकर कहने लगे कि देवों के सोमपान चमस की जो निन्दा करते हैं उन्हें हम मार डालेंगे ।[१] स्वर्ग लोक (भौम) से लौटने पर मनुष्य लोकेश अग्नि त्वष्टा के रोषपूर्ण वचन सुनाने के लिए ऋभुओं के निवास पर गये । उन्हें आते हुए देख कर ऋभु लोग स्वगत तर्क-वितर्क करने लगे कि ये अग्नि देव अकस्मात् हमारे सदन में कैसे आ रहे हैं । क्या ये श्रेष्ठ हैं इसलिए हम लोगों पर अनुग्रह करने के लिए आये हैं अथवा यविष्ठ (छोटे) बन कर कोई याचना करने आये हैं । अथवा त्वष्टा के विषय में पूर्व में हमने जो कुत्सित वचन कहा था उस सम्बन्ध में दूत बनकर कुछ वृत्त बताने आये हैं ।[२] इस प्रकार तर्क-वितर्क करके तृतीय पक्ष को स्थिर करके अपना दोष माना कि मनुष्यों के द्वारा देवों की निन्दा करना उचित नहीं है । ऋभुओं ने कहा हम लोग त्वष्टा के द्वारा निर्मित चमस की निन्दा नहीं करते । हमारा तो यही कथन है कि उस चमस में जो चमत्कार है वह उसकी लकड़ी का प्रभाव है इस पर ऋभुओं को एकान्त में प्रोत्साहित करते हुए कहा कि देवों ने तुम्हें आदेश दिया है कि एक ऐसा चमस बनाओ जो एक होकर भी चार बन जाय । ऋभुगण पूर्व में यह कह चुके थे कि हम लोग त्वष्टा के चमस की अपेक्षा अत्युत्कृष्ट चमस बना सकते हैं । एक ही चमस को तुरन्त चार चमसों में परिणत कर सकते हैं, यह हम लोगों की प्रतिज्ञा है । इसी का स्मरण दिलाते हुए वैसे चमस बनाने का उन्हें आदेश दिया । एक ऐसा खेचर (आकाश चारी) रथ बनाने के लिए कहा जो बिना घोड़ों की सहायता से चल सके । इसी प्रकार और भी कुछ चामत्कारिक शिल्प निर्माण करने का आदेश दिया । देवों के द्वारा आदिष्ट इन यन्त्रों का निर्माण करके उन्हें लेकर तुम लोग स्वयं स्वर्ग में जाकर इन्द्र को समर्पित करना । यदि तुम लोग इस प्रकार कर सकोगे तो तुम लोग यज्ञिय देव बना दिये जाओगे । तुम्हारे एक चमस को चार चमस में परिणत होते देख कर त्वष्टा भी लज्जित हो जायँगे । अग्नि ने यह भी कहा कि स्वर्ग में हमसे परामर्श करके अपने शिल्प हमारे समक्ष में इन्द्र को भेंट करना । अग्नि देव के आदेश के

१. ऋग्वेद, १।१६१—हनामैना ।
२. ऋग्वेद, १।१६१

अनुसार ऋभुओं ने अनेक प्रकार के यन्त्रों का निर्माण किया जिनका उल्लेख अनुपद में ही संक्षेप में होगा। उन्हें लेकर वे इन्द्र को उपहार देने अमरावती गये और इन्द्र आदि देवों को उन्हें समर्पित किया। अत्यन्त प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हें देवत्व कोटि में प्रविष्ट किया और अपने तृतीय सवन में सहभोजी होने का विशेष सम्मान प्रदान किया। यह कथानक कल्पित नहीं है प्रत्युत वेद मन्त्रों के आधार पर ही संकलित है। यह पूर्व में अन्यत्र कहा जा चुका है कि वेद मन्त्र आधिभौतिक आधिदैविक आदि अनेक अर्थों पर प्रकाश डालते हैं। इसी के अनुसार इनमें से बहुत-से मन्त्रों के आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक और याज्ञिक अर्थ में हैं परन्तु इस कथानक के प्रकरण में आधिभौतिक अर्थ लेकर ही विचार किया गया है और भौम त्रिलोकी के स्वर्ग और उसके अधिपति इन्द्र का वर्णन है तथा ऋभु भारतवर्ष के अधिवासी मर्त्य होकर अमरत्व प्राप्त किया यह दिखाया गया है। भौम त्रिलोकी में भारत पृथ्वी लोक, हिमालय के दर्रे अन्तरिक्ष और उत्तर में स्वर्ग लोक की कल्पना हुई है यह अन्यत्र विस्तार से लिखा गया है।

इनके बनाये हुए अनेक यन्त्रों में एक आकाशचारी विमान था जिसका वर्णन वाम देव ऋषि ने लिखित मन्त्रों में किया है। ऋभु देवताओं की स्तुति करते हुए वे कहते हैं :—(ऋ०, ४।३६)

"अनश्वो जातो अनभीषुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः।
महत्तद्वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥१॥
रथं ये चक्रुः सुवृतं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परिध्यया।
ताँ ऊन्वस्य सवनस्य पीतये आ वो वाजा ऋभवो वेदयामसि ॥२॥"

सायणाचार्य के अनुसार इन मन्त्रों का आशय यह है—हे ऋभु देवताओ! आपने जो रथ बनाया है वह घोड़े आदि वाहन की या लगाम आदि उपकरण की अपेक्षा नहीं रखता, अतएव वह सर्वथा स्तुति के योग्य है। तीन पहिये का वह रथ अन्तरिक्ष लोक में भ्रमण करता है। यह आपका बड़ा भारी काम आपके देवभाव का द्योतक है (अर्थात् ऐसे ही बहुत-से महत्त्वपूर्ण कार्य से आपको देवत्व प्राप्त हुआ है)। ऐसे कार्यों से आप पृथ्वी और द्यु (स्वर्ग) दोनों को पुष्ट करते हैं ॥१॥ हे ऋभु देवताओं! बड़े विचार-शील जिन आप लोगों ने अपने मन के विचार से (अपनी विशिष्ट प्रतिभा के द्वारा) बिना अधिक प्रयास के सुन्दर गोल और अकुटिल रथ बनाया है उनको हम अपने इस यज्ञ में सोमपान करने के लिए निमन्त्रित करते हैं।

इसी प्रकार इन्द्र के लिए इन्होंने दो संश्लिष्ट (परस्पर जुड़े हुए) घोड़ों के आकार का एक विमान बनाया था उसका नाम 'हरि' रखा गया था। वह आकाश और पृथ्वी दोनों में

समान रूप से चलता था।[1] इसी कारण इन्द्र हर्यश्व या हरिवाहन कहलाये। कुत्स की रक्षा करने के लिए इसी यान के द्वारा इन्द्र आये थे।

एक ऐसा यन्त्र बनाया था जिसके प्रभाव से वृद्ध जराजीर्ण माता-पिता फिर से युवा रूप हो जाते थे।[2]

बृहस्पति के उपयोग के लिए एक विमान गौ के आकार का बनाया था।[3] इसका नाम विश्वरूपा रखा गया था।

इसी प्रकार अन्यान्य देवों के लिए ऋभुओं ने विमानों का निर्माण किया था। इनके शिल्पों का वर्णन ऋग्वेद में कई मण्डलों के सूक्तों में मिलते हैं। विस्तार भय से यहाँ उन सबका उल्लेख नहीं किया जाता। इसी शिल्प कौशल के द्वारा ऋभु देव कोटि में प्रविष्ट हुए; इन्द्र का साहचर्य और सहजग्धि के भागी हुए।

ओषधि विज्ञान

(१) सपत्नी बाधन—ऋग्वेद के दशम मण्डल के ग्यारहवें अध्याय में सत्रहवाँ सूक्त इस ओषधि का संकेत करता है। इसकी ऋषिका इन्द्राणी हैं और ओषधि देवता है।

"इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविदते पतिम्।।१।।
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।
सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु"।।२।।

अर्थ स्पष्ट है। सपत्नी जन्य वैमनस्य का मूल प्राचीन समय से चला आ रहा है।

(२) दिव्य दृष्टि सम्पादन—अथर्ववेद में मन्त्र ओषधि आदि की प्रधानता है, यह स्पष्ट है। इनमें से एक ओषधि के दिव्य दृष्टि प्रदान करने का उल्लेख है :—चतुर्थ काण्ड-पंचम सूक्त—

"आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति।
दिवमन्तरिक्षमाद् भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति।।१।।

१. "शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमसं देवपानम्।
शच्या हरी धनुतरावतष्टेन्द्रवाहावृभवो वाजरत्नाः।।"—ऋ० ४।३५

२. "ये अश्विना ये पितरा य ऊती धेनुं ततक्षुर्ऋभवो ये अश्वा।
ये अंसत्रा य ऋधग् रोदसी ये विभ्वो नरः स्वपत्यानि चक्रुः।।"—४।३४

३. "इन्द्रो हरी युयुजे अश्विना रथं बृहस्पतिर्विश्वरूपामुपाजत्।"—१।१६१

तिस्रो दिवस्तिस्त्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ।।२।।"

इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार की ओषधियों और उनके प्रभाव का वर्णन अथर्व वेद म मिलता है ।

शल्य-चिकित्सा और भेषज

(१) बृहदारण्यकोपनिषद् में मधुविद्या का उल्लेख है । परम्परया प्राप्त उस विद्या का ज्ञान केवल दधीच ऋषि को ही था । अश्विनी कुमार उस विद्या के ज्ञान के लिए सचेष्ट थे । इन्द्र इसका विरोध करते थे और यह घोषणा कर दी कि वे यह विद्या किसी को देंगे तो उनका शिरश्छेद कर दिया जायगा । अश्विनी कुमारों ने इसका प्रतीकार निकाल लिया । दधीच का सिर अलग करके उसके स्थान पर अश्व का सिर लगा दिया और विद्या उन्होंने सीख ली । इन्द्रके शिरश्छेद करने पर अश्विनी कुमारों ने दधीच का असली सिर लगा दिया—"इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङार्थर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्न-वोचत् ।' 'तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङः ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णाप्रियदीमुवाचेति ।।' इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेत-दृषिः पश्यन् अवोचद् आथर्वणाय अश्विना दधीचे अश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोचदृतायन् त्वाष्ट्रं यद्दस्त्रावपि कक्ष्यं वामिति ।।"—बृहदा०, २।५ ।

यहीं पर यह भी दिया गया है कि इस विद्या की वंश परम्परा किस प्रकार चली । इस समय इस विद्या का उल्लेख असंगत-सा प्रतीत होता है क्योंकि उसका प्रयोग सर्वथा लुप्त हो गया है । तथापि वर्तमान विज्ञान जिस प्रकार द्रुत गति से अग्रसर हो रहा है वह समय अधिक दूर नहीं दिखता जब ये अर्वाचीन वैज्ञानिक इस विद्या का भी आविष्कार करके इसकी संभावना को सिद्ध कर सकेंगे ।

(२) संधानकरणी विद्या—ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में एक मन्त्र मिलता है जिस के अनुसार इन्द्र को वह विद्या ज्ञात थी जिसके द्वारा ग्रीवा के अतिरिक्त और कोई अंग शस्त्र से छिन्न हो जायँ तो वे विना संश्लेषण द्रव्य के प्रयोग के उस अंग का संधान कर सकते थे ।[१]

१. "य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।
संधाता संधिं मघवा पुरुवसुरिष्कर्ता विहुतं पुनः ।।"—ऋ०, ८।१।१२

(३) क्षतांग संरोहणी—अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के चतुर्थ अनुवाक में इसका वर्णन है—सायणाचार्य इन मन्त्रों के सम्बन्धमें लिखते हैं—शस्त्र आदि के अभिघात से उत्पन्न रुधिर प्रवाहको रोकने के लिए तथा अस्थि टूटने को ठीक करने के लिए लाक्षा के रस का क्वाथ बनाकर 'रोहिण्यसि' इत्यादि सूक्त से अभिमंत्रित कर उषः काल में क्षत प्रदेश में सिंचन करे। तथा इसी सूक्त से अभिमन्त्रित करके घृतदुग्ध क्षतांग पुरुष को पिलावे। यहाँ निदर्शन के लिए दो मन्त्र उद्धृत किये जाते हैं। 'हे लाल वर्ण वाली लाक्षे ! तुम रोहिणी हो—क्षत अंग को प्ररोहण करने वाली हो। छिन्न अंग से बहने वाले रुधिर को रोक कर स्वस्थान में स्थापन करने वाली हो जाओ। जिस अंग से रुधिर निकल गया है उसे ठीक करके अव्रण (व्रणरहित) कर दो।[१] मज्जाख्य धातु मज्जा धातु से संधान करे। चर्म चर्मके द्वारा प्ररूढ़ हो। मन्त्र ओषधि के प्रभाव से हड्डी जुड़ जाय। मांस का मांस रोहण (नैरुज्य) हो।[२]

कुष्ठ और राजयक्ष्मा

अथर्व वेद के पंचम काण्ड में (५।१।४) कुष्ठ नामक ओषधि का वर्णन है। सायण लिखते हैं राजयक्ष्मा कुष्ठ आदि रोगों की शान्ति के लिए कुष्ठ नामक ओषधि को मक्खन में मिलाकर 'यो गिरिषु' इत्यादि सूक्त से अभिमन्त्रित करके रोगी के शरीर में प्रतिलोम (रोम की विपरीत दिशा में) प्रलेपन करे। यह कुष्ठ नामक ओषधि आयुर्वेद शास्त्र में भी वर्णित है। यह कश्मीर प्रान्त में उपलब्ध होती है। प्रथम मन्त्र में ही उसके तक्मन् के नाश करने की प्रार्थना है:—'यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि (कुष्ठ आ इहि) तक्म नाशन तक्मानं नाशयन्नितः ।।'

नवम मन्त्र में लिखा गया है कि तुम हिमवत् के उत्तर में उत्पन्न हुए हो। उत्तम नाम का तुम्हारा पिता है। तुम सब यक्ष्म रोगका नाश कर दो तथा तक्म को नीरस बना दो—

"उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ।।"

१. "रोहिण्यसि रोहिण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुंधति ।।'—अथर्व०, ४।४।१

२. "मज्जा मज्ज्ञा संधीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ।।"—अथर्व०, ४।४।४

यक्ष्मा

अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के षष्ठ अनुवाक के द्वितीय सूक्त में यक्ष्म-नाशक मन्त्रों का विस्तार से उल्लेख किया गया है। प्रायः यही मन्त्र ऋग्वेद के दशम मण्डल में भी मिलते हैं। यहाँ ऋग्वेद का पाठ ग्रहण किया जाता है। यक्ष्मा रोग के नाश के मन्त्रों के द्वारा मनुष्य शरीररचना (anatomy) का भी संकेत मिलता है। वर्तमान काल में भी यक्ष्मा दुष्चिकित्स्य समझा जाता है। वैदिक काल में भी इसकी चिकित्सा पर विशेष ध्यान दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय भी यह रोग भयावह माना जाता था। इस प्रकरण में उसे दूर करने के लिए मन्त्रों का ही प्रयोग है।

ओषधियों की परीक्षा करके महर्षियों ने उन ओषधियों के रोगों से सम्बद्ध गुण, प्रभाव का निर्धारण किया। परन्तु वे केवल ओषधि के प्रयोग से सन्तुष्ट नहीं हुए। ओषधि के प्रयोग के साथ उनके वीर्य और प्रभाव को उत्कृष्ट बनाने के लिए उन्होंने उन ओषधियों को अभिमन्त्रित करने के लिए मन्त्रों का भी आविष्कार किया। यह प्रणाली वर्तमान चिकित्सा पद्धति से विलक्षण थी। आपाततः देखने से यहाँ कहा जा सकता है कि वास्तव में रोग नाश करने का सामर्थ्य ओषधियों में ही था और उनके अभिमन्त्रित करने का कोई महत्त्व न था। परन्तु सूक्ष्म विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि महर्षियों के ये सिद्धान्त निरर्थक न थे। इनका आधार मौलिक यह सिद्धान्त था कि वे भौतिक पदार्थों में भी देवों की सत्ता मानते थे। यह कहा जा चुका है कि देव प्राण ही भूत रूप में परिणत होते हैं। 'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो देवताभ्यः' इसके अनुसार ओषधियोंका स्वरूप निर्माण देव प्राणों के द्वारा ही हुआ है और उन ओषधियों के भी उनके गुण का नियन्त्रण करने वाली शक्ति देव प्राण ही है। यह भी कहा जा चुका है कि मुख्य प्रजापति मनः-प्राण-वाङ्मय है। क्षुद्र से क्षुद्र पदार्थ भी प्रजापति है, वह भी मनः प्राण वाङ्मय है। मानव शरीर में देव प्राण की हीनता या अतिरिक्तता के कारण रोग का प्रादुर्भाव हुआ है। उसके समीकरण की शक्ति ओषधि में विद्यमान है, यह परीक्षा द्वारा सिद्ध हो गया। तदनुसार ओषधि के प्रयोग से हीनातिरिक्त प्राण के समीकरण होने से रोग की निवृत्ति होती है, यह ज्ञान उन्होंने प्राप्त कर लिया। वर्तमान चिकित्सा पद्धतियों में से बायोकेमिक चिकित्सा भी इसी आधार पर प्रचलित हुई है। परन्तु महर्षियों का यह अनुभव था कि उन देव प्राणों की शक्ति को अधिक बलयुक्त बनाने के लिए अधिभूत के साथ-साथ मनः और प्राण का सहयोग होना भी आवश्यक है। मन्त्र में निहित शक्ति के द्वारा उस देवता के साथ मन और प्राण का योग कराया जाता था। यह प्रत्यक्ष है कि मन्त्र के प्रयोग में मन और प्राण दोनों की क्रियाएँ अपेक्षित होती हैं। यह भी कहा जा चुका है कि मन्त्र में जिसको सम्बोधन

किया जाता है वह देवता होता है। ओषधि को सम्बोधित करने से उसके अन्तःस्थित देवता का उद्बोधन होता है। प्राण रूप देवताओं में चेतना शक्ति रहती है, यह सिद्धान्त स्थिर हो चुका था। इस प्रकार मन्त्र शक्ति के द्वारा ओषधि की स्वाभाविक शक्ति का प्रभाव-वर्धन किया जाता था जिससे ओषधि का प्रभाव वीर्यवत्तर और क्षिप्र होता है। कहीं-कहीं विना ओषधि के केवल मन्त्र द्वारा चिकित्सा होती थी वहाँ मानव शरीर में अवस्थित प्राण देवों को सम्बोधित करके उन्हें वीर्यवान् वना कर रोग को शमन किया जाता था।

ऋग्वेद के दशम मण्डल, अध्याय वारहवें में यक्ष्म रोग को शरीर के किन-किन अंगों से हटाया जाता है, इसका विस्तृत वर्णन है। यक्ष्मा के नाश करने का इन मन्त्रों में सामर्थ्य है यह तो सिद्ध ही है तथा इन मन्त्रों में शरीर के जो अनेक अवयवों का उल्लेख है उनके द्वारा शरीर रचना पर भी प्रकाश डाला गया है और यह बताया गया है कि इन अवयवों में यक्ष्म का आक्रमण होता है।[१] अक्षि, नासिका आदि से लेकर अनेक अंगों से यक्ष्म का निराकरण करते हुए अन्त में यह कहा गया है कि सव अंगों से, सव लोमों से, अवयवों की सन्धियों से (पर्व) यक्ष्म को दूर हटाते हैं—

"अंगादंगाल्लोम्नो लोम्नो जातं पर्वणि पर्वणि।
यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विरहामि ते॥"—ऋ०, १०।१२।२१।६

क्षुधा और तृषा का नाश

अथर्ववेद के ही चतुर्थ काण्ड में अपामार्ग नामक ओषधि का उल्लेख है। वहाँ उसके बहुत-से गुणों का वर्णन है। उनमें से भूख और प्यास को शमन करने की शक्ति का संकेत है—

१. ऋ० मं० १०।१२।२१—

(i) "अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिकाज्जिह्वाया वि वृहामि ते॥" १॥

यहाँ शीर्ष और मस्तिष्क का भेद देने योग्य है।

(ii) आंत्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठो र्हृदयादधि।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां यक्नः प्लाशिभ्यो वि वृहामि ते॥३॥

सायणाचार्य के अनुसार वनिष्ठु का अर्थ बड़ी अंत्र है। मतस्न—वृक्क, यक्न्—यकृत्, प्लाशि—प्लीहा आदि।

"क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ।।"––अथर्व०, ४।४।२

सायणाचार्य के अनुसार इसका अर्थ है कि हे अपामार्ग, क्षुधा या प्यास से मरण, गायों का अभाव, अनपत्यता इन सबको तुम्हारे द्वारा हम दूर करते हैं। अपामार्ग ओषधि आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित है। इसी अथर्ववेदोक्त ओषधि का बला अतिबला नाम से वाल्मीकि रामायण में वर्णन है। विश्वामित्र महर्षि ने रामचन्द्र को इस विद्या का प्रदान किया था। उसके अनेक गुणों का वहां भी वर्णन है साथ ही क्षुत्तृषानाशक गुण भी बताया गया है।

'बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव।
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ।।' वा० रा०, बालकाण्ड, अ, २२

अथर्ववेद में अपामार्ग को सम्पूर्ण ओषधियों का एक मात्र वशी कहा गया है––

'अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ।।'––अथर्व०, ४।४।८

इसी प्रकार और भी सोम, विभीतक, हरीतकी आदि ओषधियों के अतुलित प्रभावों का वर्णन अथर्ववेद में उपलब्ध होता है। यहाँ विस्तार अनपेक्षित है।

पुनर्युवा बनाने की विद्या

ऋभु के विज्ञान के उल्लेख में यन्त्र के द्वारा वृद्ध जरा-जीर्ण माता पिता के युवत्व प्राप्त करने का वर्णन हो चुका है। अश्विनी कुमार की स्तुतियों में भी ऋग्वेद में अनेक स्थलों में मिलता है कि जरा-जीर्ण च्यवन को उन्होंने फिर से युवा कर दिया। यहाँ एक मन्त्र दिया जाता है––

'युवं च्यवानं सनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथाय तक्षथुः।
निष्ट्रौग्र्यमूहथुरद्भ्यस्परि विश्वेत्ता वां सवनेषु प्रवाच्या ।।'––ऋ०, १०।३।१०

हे अश्विनी कुमारो! तुम दोनों ने वृद्ध च्यवन को फिर से युवा कर दिया जिस प्रकार पुराने रथ का संस्कार करके नया कर दिया जाता है। इसी मन्त्र में यह भी उल्लेख है कि तुम दोनों ने तुग्र के पुत्र (भृज्यु) को जलमग्न होने से बचाया था। भुज्यु की रक्षा करने का उपाख्यान अन्य मंत्रों में वर्णित है, वहीं उनकी समुद्रगामिनी बृहदाकार नौका का उल्लेख है जिसमें सौ पतवार थे।

आधुनिक विज्ञान

वर्तमान काल में पाश्चात्य विद्वान् विज्ञान के क्षेत्र में प्रतिक्षण अग्रसर हो रहे हैं। नये-नये आविष्कार हो रहे हैं जो समस्त संसार को आश्चर्य में डाल रहे हैं। इनमें सबसे

अधिक आश्चर्यजनक आविष्कार अन्तरिक्ष विमान द्वारा मानव का भू-परिक्रमा का है साथ ही चन्द्र, मंगल, शुक्र आदि ग्रहों तक मानव का प्रवेश होना सम्भवकोटि में आ रहा है। ये सब आविष्कार अवश्य ही मानव के मस्तिष्क के विकास का उत्कर्ष सिद्ध कर रहे हैं इसमें अणु मात्र भी सन्देह नहीं है । परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि ये सब आविष्कार अभी तक भौतिक जगत् की परीक्षा तक ही सीमित हैं । भारतीय प्राचीन दृष्टि में विश्व के तीन स्तर माने गये हैं––आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक । इनमें अधिदैव प्राण ही बद्ध होकर अधिभूत की सृष्टि करते हैं । अधिभूत–भौतिक पदार्थ मात्र विना अधिदैव प्राण के कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता । अधिभूत पदार्थों का विश्लेषण करके वर्तमान विज्ञान भी इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका है यह परम सन्तोष की बात है । परन्तु अभी तक अधिदैव तत्त्व पर अधिकार स्थापन करने की क्षमता उसे प्राप्त नहीं हुई है । अध्यात्म तत्त्व तक पहुँचना तो अभी दूरापेत है । इसका कारण है । सामान्यतः मानव अपनी इन्द्रियों के द्वारा––उन्हीं को साधन बना कर अपने ज्ञान प्राप्त करता है । अभ्यास और आविष्कार के द्वारा जिन नवीन यन्त्रों का उसे साधन मिल जाता है वे सब यन्त्र भी उन-उन इन्द्रियों की शक्ति के विकास में अवश्य सहायक होते हैं । उदाहरण के लिए अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा दृष्टिशक्ति की प्रवलता हो जाने के कारण सूक्ष्म दृष्टि के कीटाणुओं को––जो साधारण दृष्टि से अदृश्य थे––देखने में समर्थ हो गया । इसी प्रकार दूरवीक्षण यन्त्र के द्वारा आकाश के सुदूर प्रान्त में नक्षत्र-ताराओं का उसने ज्ञान प्राप्त कर लिया । जिस क्रम से अणुवीक्षण यन्त्र की शक्ति बढ़ती गयी उसी क्रम से सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, अणुओं का उसे ज्ञान होता गया । इसी प्रकार दूरवीक्षण यन्त्रों की शक्ति में क्रमशः विकास होता जा रहा है और ज्यों-ज्यों नये प्रभावशाली यन्त्रों का आविष्कार होता जा रहा है आकाश का क्षेत्र उसी परिमाण से वैज्ञानिकों के लिए बढ़ता जा रहा है । एक वैज्ञानिक ने यहाँ तक लिखा था कि उसे सन्देह है कि अधिक से अधिक शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र का साहाय्य मिलने पर भी कभी आकाश क्षेत्र की अन्तिम सीमा प्राप्त हो सकेगी । यही दशा अणुवीक्षण यन्त्र की है । जितना ही यह यन्त्र प्रभावशाली होता जायगा सूक्ष्मतर कीटाणुओं का अस्तित्व भी बढ़ता जायगा । यह सब प्रपंच भौतिक विज्ञान की सीमा तक आबद्ध है । फिर भौतिक पदार्थों से भी सूक्ष्म प्राण पदार्थ हैं उनसे भी सूक्ष्मतम आत्म पदार्थ है । वहाँ तक भौतिक इन्द्रियों का पहुँचना संभव ही नहीं है । यह क्यों संभव नहीं, इसका कारण वेद में मिलता है । वैदिक ऋषियों ने भी इस विषय पर अपनी विचारधारा प्रवाहित की थी और इस निर्णय पर पहुँचे थे कि स्वयंभू ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाया है इस से उनके द्वारा वाह्य स्थूल अन्तः की ओर आत्मा को नहीं देख सकता । कोई विरला ही

धीर पुरुष (धीर से यहाँ अभिप्राय यह है जो अपनी बुद्धि को इस ओर प्रेरित कर सकता है—धियं बुद्धि को जो ईरयति प्रेरित करता है) जो अपने नेत्रों को भीतर की ओर लौटाता है वह उस आत्मा को देख सकता है। चर्मचक्षु का लौटाना सम्भव नहीं है, अतः बुद्धि को प्रेरित करके उसी के द्वारा ज्ञान चक्षु से वह देख सकता है।

'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ पश्यति नान्तरात्मन्।'

यहाँ पर 'धीर' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। एक ही शब्द कितने गम्भीर भाव की अभिव्यक्ति कर रहा है यह ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार ज्ञानचक्षु का सहारा लिए बिना सूक्ष्मतम तत्त्व तक पहुँचना स्थूल इन्द्रियों की शक्ति से बाहर है। इतना ही क्यों; भौतिक विज्ञान जो अपेक्षाकृत बहुत स्थूल माना जाता है वह भी सर्वसाधारण की साधारण दृष्टि में आने की वस्तु नहीं है। जिन अर्वाचीन पाश्चात्य अथवा भारतीय वैज्ञानिकों ने अपने नवीन आविष्कारों के द्वारा समस्त संसार को आश्चर्यचकित कर दिया है उनके जीवन पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो प्रत्यक्ष हो जाता है कि अपनी मनोवृत्ति को एकाग्र करने के लिए उन्हें कितनी तपस्या करनी पड़ी है। किस प्रकार समस्त सांसारिक सुख-सुविधाओं को सर्वथा तिलांजलि देकर, शारीरिक स्वास्थ्य का होम करके अनेक वर्षों की तपश्चर्या के बाद अपने लक्ष्य तक पहुँचने में वे समर्थ हो सके हैं। जिन लोगों ने इन वैज्ञानिकों—उदाहरण के लिए आइन्स्टीन, जगदीश बोस, महर्षि रमण आदि—के जीवनवृत्त पर दृष्टिपात किया है वे समझ सकते हैं कि इन भौतिक विज्ञान के तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान के लिए कितनी तपश्चर्या और त्याग अपेक्षित था। फिर महामहिम महर्षियों ने अत्यन्त सूक्ष्म आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार करने के लिए कितना त्याग, कितना श्रम और कितना समय लगाया होगा इसका अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। जब अर्वाचीन भौतिक विज्ञान के आविष्कृत उच्च तत्त्वों का ज्ञान भी सर्वसाधारण के लिए सुलभ नहीं है और न सर्वसाधारण व्यक्ति को उसे समझने अथवा समझ कर भी उसके उचित उपयोग करने की सामर्थ्य नहीं है—उसके लिए भी वही उपर्युक्त अधिकारी समझा जाता है जिसने अपने अध्ययन, तपश्चरण और त्याग के द्वारा उस तत्त्व के यथार्थ रूप को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त कर ली है वही उसका उचित पात्र हो सकता है। फिर महर्षियों ने अपने अमूल्य आविष्कारों को जिन वेदग्रन्थों में निहित किया है उनके यथार्थ अर्थ को हृदयंगम करने के लिए भी अधिकारिता और भी अधिक कठिन है। यह यास्क ने ही स्पष्ट कर दिया है कि प्रारम्भ में महर्षिगण अधिकारी की परीक्षा करके जब उसे योग्य समझते थे तभी उसे अपने सम्प्रदाय में दीक्षित करते थे और मौखिक शिक्षा ही देते थे। बाद में जब कालक्रम से मौखिक शिक्षा को ग्रहण करके धारण करने का सामर्थ्य शिष्यों में क्षीण होने लगा तब

खण्ड रूप से धारण की योग्यता के अनुसार शिक्षा देने के लिए वेदादि ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इतना होने पर वेदग्रन्थों के प्रणयन की शैली भी इस प्रकार रखी गयी थी कि बिना मौखिक प्रवचन के सर्वसाधारण उसके मर्म तक पहुँचने में समर्थ न थे। श्री अरविन्द लिखते हैं कि वेदों के अर्थ करने के कई संस्थानों का यास्क ने उल्लेख किया है—ऐतिहासिक अथवा पौराणिक, व्याकरण के अनुसार अर्थ करने वाले, तथा निरुक्त के अनुसार अथवा तर्क के अनुसार अर्थ करने वाले। और अन्त में आध्यात्मिक विचार करने वाले। यास्क स्वयं कहते हैं कि त्रिविध ज्ञान है और अतः वैदिक ऋचाओं का अर्थ भी तीन प्रकार का था। एक याज्ञिक अथवा विधिप्रदर्शक, दूसरा देवतत्त्व का निरूपक (देव तत्त्व से प्राण तत्त्व समझना चाहिए, अर्थात् आधिदैविक) और अन्त में आध्यात्मिक ज्ञान। इनमें अन्तिम यथार्थ ज्ञान था और जब कोई उसे प्राप्त कर लेता है तब दूसरे आपसे आप छूट जाते हैं। केवल आध्यात्मिक ज्ञान स्थिर रूप से रह जाता है और अन्य सब बाह्य और गौण हो जाते हैं। यह प्राचीन प्रक्रिया थी। वैज्ञानिक तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए इतिवृत्त और लोकवृत्त का सहारा लेना अनिवार्य था। इसके सैकड़ों उदाहरण वेदों में—मन्त्रों में, ब्राह्मणों में तथा उपनिषदों में मिलते हैं। परन्तु साथ ही यह भी बार-बार स्पष्ट होता रहता है कि वैज्ञानिक आध्यात्मिक रहस्य ज्ञान अधिकारिता की पूर्ण परीक्षा करने पर ही शिष्य को दिया जाता था। यह रहस्य ज्ञान भी गुप्त रीति से ही संक्रान्त किया जाता था। यह प्राचीन प्रणाली भारतीय विशेषता थी कि बिना गुरुमुख के उपदेश के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान सुलभ न था। व्याकरण अथवा कोष के ही द्वारा पारिभाषिक शब्दों का यथार्थ प्रयोग समझ में आना सम्भव न था। इसके लिए भी ऋषिगणों के संकेत नियत थे; उनकी प्रतीक विद्या थी और यही उनका रहस्य था। यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से भारतवर्ष में अब तक चली आ रही है। गायत्री मन्त्र का उपदेश अभी भी गुप्त रीति से ही दिया जाता है। तांत्रिकी दीक्षा में भी मन्त्रोपदेश गुप्त रीति से ही दिया जाता है तथा अपने इष्ट मन्त्र का गोपन किया जाता है। वैदिक ऋषियों ने वैज्ञानिक पारमार्थिक रहस्यों को जिस प्रकार प्रतीक द्वारा सुरक्षित रखा था वह परम्परा साधारण काव्य-साहित्य तक में अनुवृत्त हुई देखी जाती है। नैषधकार हर्ष ने तो स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी है कि हमने अपने काव्य ग्रन्थ में कहीं-कहीं प्रयत्न करके ग्रन्थि (गाँठ, कठिन पारिभाषिक शब्द प्रयोग) लगा दी है जिससे अपने आपको प्राज्ञ मानने वाले हठपूर्वक पठित खल व्यक्ति इस काव्य के साथ खिलवाड़ न कर सके और जिस सज्जन पुरुष ने श्रद्धापूर्वक

गुरु की आराधना करके दृढ़ ग्रन्थि को शिथिल कर लिया है वही इस काव्यरस की ऊर्मियों में अवगाहन करने का सुख प्राप्त कर सके ।[१]

इसी प्रकार मुरारि कवि भी अपने सम्बन्ध में कहते हैं कि गुरुकुल में अत्यन्त क्लेश पाकर जिन्होंने अध्ययन किया है ऐसे मुरारि कवि ही सरस्वती देवी (वाणी) के सारतत्त्व को जानते हैं ।[२] इसी आशय को शिरोमणि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—सभी शास्त्र का अध्ययन करते हैं और कौतुक के लिए इन शास्त्रों पर निबन्ध रचना भी करते हैं परन्तु इसके (शास्त्र के) असली तत्त्व को जानने में कोई विरले ही सुधीगण समर्थ होते हैं ।[३] यह प्रसंग आवश्यकता से अधिक बढ़ गया है । प्रयोजन इसका यही है कि भारतीय परम्परा के अनुसार जब तक गुरु परम्परा का आश्रय न लिया जाय; गुरु की परिचर्या करके, उन्हें प्रसन्न करके, उनसे रहस्य ज्ञान न प्राप्त किया जाय तब तक काव्य ग्रन्थों की ग्रन्थि भी नहीं शिथिल हो पाती, फिर पारमार्थिक ज्ञान जो वेदादि ग्रन्थों में वर्णित हैं उन्हें स्वतः समझ लेना तो और भी दुस्तर है । भारतीय परम्परा से पूर्ण परिचित वेदाङ्गादि साधनों से सम्पन्न भारतीय साधारण विद्वान् भी जब वैदिक विज्ञान को यथार्थ रीति से हृदयंगम करने में अपने को असमर्थ पाते हैं तब अन्य लोग कहाँ तक इस तत्त्व को समझने में समर्थ होंगे यह स्पष्ट हो जाता है । यास्क ने तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया है कि जो ऋषि नहीं है, जिसने तपस्या नहीं की है वह वेद के यथार्थ मर्म को समझ नहीं सकता । यही क्यों—वेद में ही मिलता है कि एक व्यक्ति वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता । (इसका उल्लेख लिपि प्रकरण में हुआ है) ।

पूर्व प्रक्रान्त विषय यह था कि भौतिक विज्ञान के स्थूल तत्त्व का ज्ञान भी केवल इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता उसमें भी मनोयोग आवश्यक है । इन्द्रिय और उसके विषय के संयोग होने पर उसके साथ मन का सहयोग भी आवश्यक है । यदि मनोयोग न हो तो देखते

१. नैषध—'ग्रन्थ ग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया'
प्राज्ञं मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु ।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादयत्वे—
तत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुख व्यासज्जनं सज्जनः ।।'—परिशिष्ट ।

२. 'सारं तु सारस्वतं—जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः ।'

३. शिरोमणि—''सर्वः शास्त्रमधीते कुरुते कुतुकान्निबन्धमप्यत्र ।
अस्य तु किमपि रहस्यं केचिद् विज्ञातुमीशते सुधियः ।।''

हुए भी मनुष्य नहीं देख पाता; सुनते हुए भी नहीं सुन पाता। इसी मनोयोग के अभाव को अंग्रेजी भाषा में भी (absent mindedness) कह कर व्यक्त किया गया है। यह मन सर्वेन्द्रिय मन कहा जाता है। सभी इन्द्रियों के विषय ज्ञान के लिए यह मना सहकार अनिवार्य है। फिर एक मन और है जो इन्द्रिय कोटि में आता है। जिस प्रकार शब्द, स्पर्श आदि का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से होता है उसी प्रकार सुख-दुःख आदि का ज्ञान मनरूपी इन्द्रिय के द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त एक तीसरा मन है जो आत्मा के (व्यावहारिक आत्मा) स्वरूप में सम्मिलित है जिसके लिए बृहदारण्यक में मिलता है कि यह आत्मा मनोमय, प्राणमय, वाङमय है। मनः, प्राण, वाक् ये तीनों आत्मा के स्वरूप हैं। ये तीनों सर्वदा एक साथ रहते हैं। कभी पृथक् नहीं होते। इनके अतिरिक्त एक और मन माना गया है जिसे **श्वोद्वसीयस** मन कहा गया है। वह अव्यय पुरुष की मुख्य कला है। इसी प्रकार वेद ग्रन्थों में अनेक शब्द ऐसे मिलते हैं जिनका भिन्न-भिन्न प्रकरण के अनुसार भिन्न अर्थ होता है। ब्रह्म शब्द, परब्रह्म के लिए तो प्रधान रूप से व्यवहृत होता ही है। वेद भी ब्रह्म कहे जाते हैं। क्षर कलाएँ प्राण, आप् आदि भी ब्रह्म कही गयी हैं। अग्नि शब्द याजुष अग्नि का द्योतक है; अक्षर पुरुष की कला में भी अग्नि आया है। क्षर की कलाओं में भी अन्नाद नाम का अग्नि कहा गया है। भौतिक अग्नि तो प्रसिद्ध है ही। प्रत्येक पदार्थ के निर्माण करने वाला अग्नि भी उन-उन पदार्थों में व्यापक रूप से रहता है। इस प्रकार और भी अनेक शब्द हैं जिनका यथार्थ पारिभाषिक ज्ञान जब तक न होगा तब तक प्रयत्न शत करने पर भी केवल व्याकरण कोष आदि के सहारे यथार्थ अर्थ का बोध होना सम्भव नहीं है। ये पारिभाषिक शब्द गुरु परम्परा के द्वारा प्राप्त होते थे। उन्हीं में से अनेक का दिग्दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थों के विधि और उपनिषद् काण्डों में भी मिलता है। पुराणों में भी अनेक विषयों पर अपनी शैली के अनुसार प्रकाश डाला गया है। इन सब साधनों से सम्पन्न होने पर भी कालक्रम से तथा अनेक अन्य कारणों से इन विषयों को सम्यक् रीति से प्रकाशित करने वाली बहुत बड़ी ग्रन्थराशि नष्ट हो गयी। जो कुछ अवशिष्ट ग्रन्थ किसी प्रकार सुरक्षित हो सके हैं वे भी द्रव्याभाव के कारण प्रकाशित नहीं हो पाये। जब स्वयं भारतीयों को जिन्हें परम्परा का ज्ञान था; जिन्हें बाहर के लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक सुविधा प्राप्त थी, जो संस्कृत वाङमय के पारगामी पण्डित थे उन प्रकाण्ड विद्वानों को भी वेदग्रन्थों के यथार्थ ज्ञान का बोध करने में कठिनता हुई तब इस युग में जब कि साधन और भी क्षीण हो गये हैं यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में कितनी कठिनाई हो सकती है यह सरलतया समझा जा सकता है। तत्रापि पाश्चात्य पण्डितों को इतनी भी सुविधा सुलभ न थी। तो भी अपने अदम्य अध्यवसाय और अध्ययन के द्वारा जिस निष्कर्ष पर

पहुँचे वह भ्रान्त भले ही हो परन्तु पक्षपातपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार संस्कृत-वाङ्मय के पारगामी पण्डित श्री सायणाचार्य—जिनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी यदि वेद-भाष्य न लिख गये होते तो आज जो उसको आधार मान कर उनके प्रदर्शित पथ के द्वारा उनके निर्णीत सिद्धान्तों से भी आगे बढ़ने का हम लोगों को अवसर मिल रहा है उससे हम लोग सर्वथा वञ्चित हो जाते और, यह भी भय सर्वथा निराधार न था कि वेदग्रन्थों का केवल पारायण तो परम्परा की रक्षा करते हुए चलता रहता परन्तु वेदार्थज्ञान प्राप्त करने की गति कुण्ठित हो जाती। आज जब पाश्चात्य विज्ञान नवीन आविष्कारों के द्वारा भौतिक विज्ञान का उत्कर्ष प्रकट कर रहा है तब उसे देख कर भारतीय विद्वानों का ध्यान भी वेदों में वर्णित विज्ञानों की ओर आकृष्ट हो रहा है और इस प्रकाश में देखने पर यह प्रतीत होने लगता है कि अनेक स्थलों में सायणाचार्य का अर्थ सुसंगत नहीं था। परन्तु सायणाचार्य के समय में मीमांसा सम्प्रदाय के अनुसार यज्ञ विधि को ही प्राधान्य देने की प्रथा प्रचलित थी उसके विपरीत विचार करने का उन्हें अवसर न था। वैज्ञानिक परम्परा सर्वथा लुप्त हो गयी थी। ब्राह्मण ग्रन्थों के वैज्ञानिक तथ्य उपेक्षा कोटि में अर्थवाद कह कर निक्षिप्त हो गये। पाश्चात्य विज्ञान उस समय शैशव अवस्था में भी न था। ऐसी दशा में उनसे वैज्ञानिक अर्थ को महत्त्व न देने का दोषारोपण करना सर्वथा अनुचित है। उन्होंने जो भी कुछ किया वह अभिनन्दनीय है और उनको आधार मान कर भी उनका तिरस्कार करके अपनी दृष्टि को प्रमुख मान कर भारतीय वाङ्मय के अध्ययन में सर्वस्व होम करने वाले पाश्चात्य पण्डित भी प्रशंसा के पात्र हैं।

विज्ञान

ऊपर में थोड़े-से वैज्ञानिक तथ्यों का उल्लेख किया गया है जिनका स्पष्ट रूप से संकेत वेदों में उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे ही तथ्य हैं जिनका विस्तृत विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है।

कुछ मान्य महाशयों का यह आक्षेप है कि वर्तमान काल में विज्ञान-क्षेत्र में जो नवीन आविष्कार हुए हैं उन्हें देख कर भारतीय हिन्दु वेदों में विज्ञान के अस्तित्व की क्लिष्ट कल्पना करने लगे हैं। परन्तु ये आक्षेप क्षोदक्षम नहीं हैं क्योंकि वेदों में ऐसे भी वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध होते हैं जिनकी अभी वर्तमान वैज्ञानिक कल्पना भी नहीं कर सकते। कालान्तर में जब ये उस तथ्य का अपनी परीक्षा द्वारा आविष्कार करने में समर्थ होंगे तब ये इन तत्त्वों की सत्यता का स्वयं अनुभव कर सकेंगे। यह सर्वमान्य है कि मनुस्मृति सर्वथा

वेदप्रतिपाद्य विषयों को स्पष्ट करने के लिए प्रवृत्त हुई है। उसी में यह मिलता है कि वनस्पति वर्ग भी अन्तःसंज्ञ होते हैं और उन्हें भी सुख-दुःख का अनुभव होता है—'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विता।' इसी को मूल आधार मानकर जगदीश चन्द्र बोस ने आधुनिक परीक्षाओं के द्वारा प्रदर्शन करके इस विज्ञान का आविष्कार किया जिसकी उस समय तक पाश्चात्य वैज्ञानिकों को कल्पना भी न थी। कुछ मनीषी पाश्चात्य देशों में ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने पक्षपात रहित होकर वैज्ञानिक क्षेत्र में सत्यता को प्रश्रय देकर यह स्वीकार किया है कि वेदों में वैज्ञानिक तथ्य मिलते हैं। उनमें से दो-एक का मत टिप्पणी में देना अनुपयुक्त न होगा।[१]

सत्यव्रत सामश्रमी भी स्वामी दयानन्द के प्रायः समकालीन थे। इन्होंने भी अपने ग्रन्थों में—विशेषकर—ऐतरेयालोचन में वेदों में विज्ञान के अस्तित्व सिद्ध करने के लिए अनेक उदाहरण दिये हैं। सायणाचार्य ने वैज्ञानिक तथ्यों पर प्रकाश नहीं डाला है। इस पर इन्होंने आक्षेप भी किया है साथ ही यह कह कर समाधान किया है कि सायण के समय में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए साधन उपलब्ध न था।

१. (i) "Astonishing fact! The Hindu revelation (Veda) is of all revelations the only one whose ideas are in perfect harmony with modern science as it proclaims the slow and gradual formation of the world."—**Jacoliat: Bible in India.**

(ii) "We have all heard and read about the ancient religion of India. It is the land of the great vedas, the most remarkable works, containing not only religious ideas on a perfect life, but also facts, which all the science proved true. Electricity, Radium, Electrons, Airships, all seem to be known to the Risis who found the vedas." —**Mrs. wheeler willox.**

(iii) 'To Swami Dayanand everything contained in the vedas was not only perfect truth, but he went one step further and, by their interpretation, succeeded in persuading others that everything worth knowing even the most recent inventions of modern science were alluded to in the vedas; steam-engine, electricity, telegraphy and wireless, morconogram, were shown to have been known at least in the germs to the poets of the vedas."

—**Prof. Maxmuller: Biogrpahical Essays.**

चतुर्थ अध्याय

त्रैलोक्य व्यवस्था

प्राचीन काल का वर्णन पुराणों में उपलब्ध होता है उसके अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अब तक के समय को चार मुख्य खण्डों में विभाजित किया गया है । सृष्टि के प्रारम्भ में वन्य युग था यह पुराणों में मिलता है । मार्कण्डेय पुराण के युगधर्माख्यान (अध्याय ४५।४६) में निम्नलिखित वर्णन मिलता है––"आदिकृत युग में विशेष कर्म की वृत्ति न थी । उस समय प्रजा नदी, तालाब, पर्वत आदि के समीप निवास करती थी । सर्दी-गर्मी की बाधा बहुत कम थी । तत्कालीन मनुष्य इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखादि द्वन्द्वों से रहित थे । उनमें परस्पर ईर्ष्या न थी । पिशाच, राक्षस, सर्प आदि का भय न था । ये स्वभावतः तृप्त रहते थे । ऋतुओं के फल, पुष्प आदि भी तब न थे । 'रसवती' पृथ्वी ही उनके लिए आहार थी––अर्थात् कन्दमूल के द्वारा ही उनकी क्षुधा की निवृत्ति होती थी । उन सबकी आयु नियत काल की होती थी । यौवन स्थिर रहता था । (मनु ने भी इस काल के सम्बन्ध में लिखा है कि उस सत्य युग के व्यक्ति नीरोग रहते हुए चार सौ वर्ष की आयु वाले होते थे और उनके सब अर्थ स्वयं सिद्ध हो जाते थे––"अरोगाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्ष–शतायुषः।") यद्यपि इच्छा मात्र से तृप्ति हो जाती थी, किन्तु बार-बार इच्छा होने से मानसिक श्रम होने लगा । इसका परिणाम क्रमशः यह हुआ कि 'मानसी सिद्धि' का ह्रास होने लगा । इसके बाद उन्हें 'सोल्लासा' नाम की सिद्धि प्राप्त हुई । जल वाष्प रूप में परिणत होकर मेघ बन कर वृष्टि करने लगा । इस सामान्य वृष्टि से ही प्रजाओं के लिए कल्पवृक्ष का प्रादुर्भाव हुआ । तब इन वृक्षों के द्वारा ही प्रजाओं के भोजन, वस्त्र, निवास आदि की व्यवस्था होती थी––अर्थात् भोजन के लिए फल, वस्त्र के लिए वल्कल और शीतातप से रक्षा के लिए छाया इनसे प्राप्त होती थी । इनमें व्यक्तिविशेष का स्वत्व न था । ये सर्वसाधारण के भोग्य थे । धीरे-धीरे मनुष्यों के चित्त में राग होने लगा और स्त्रियों को प्रतिमास ऋतुधर्म, बार-बार गर्भधारण होने लगा । तब वे वृक्ष भी नष्ट हो गये । उसके बाद वृक्षों की शाखाओं और पर्वतों की गुहाओं आदि के आकार पर गृह निर्माण का आरम्भ हुआ । धीरे-धीरे वृष्टि विशेष रूप से होने लगी । आकाशीय जल के द्वारा ऋतुओं के पुष्प, फल

उत्पन्न होने लगे। चावल,यव आदि ग्राम्य और नीवार आदि आरण्य ओषधियां उत्पन्न हो गयीं। क्रमशः राग-द्वेष और लोभ की वृद्धि होने पर वृक्ष क्षेत्र आदि के स्वत्व के लिए विवाद होने लगा तब भूमि ने उन ओषधियों को ग्रस लिया। तब प्रजाओं की प्रार्थना सुनकर ब्रह्मा ने भूमि से फिर उन ओषधियों का रोहण किया और कर्म सिद्धि की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। राजा, प्रजा, यज्ञ, दान आदि की मर्यादा स्थापित हुई।"

आधुनिक दृष्टि से उस समय सभ्यता का विकास न हुआ था, अतः उसे कुछ महानुभाव असभ्य युग भी कहते हैं। उसे ही वन्य युग भी कहा जाता है। उस समय का कोई इतिहास भी उपलब्ध नहीं है। पुराणकारों ने ही उस पर प्रकाश डाला है और सम्भव है पुराण-कर्ताओं के समय में इन वृत्तों के लिए प्रमाण उपलब्ध रहा हो। इस क्रम में मानसिक शक्ति का क्रमशः ह्रास दिखाई देता है तथा सभ्यता की दृष्टि से विकास दिखता है। इस तरह ह्रासवाद अथवा विकासवाद दृष्टिभेद से दोनों ही सिद्ध होते हैं। उस युग में ब्राह्मण,क्षत्रिय आदि वर्ण-व्यवस्था न थी,धर्म व्यवस्था, नीति संस्था राष्ट्र आदि की कल्पना का सर्वथा अभाव था।

इसके पश्चात् स्वायंभुव मन्वन्तर में सुशिक्षित याम नामक देव हुए। इस युग को वायुपुराण में आदि त्रेतायुग कहा गया है।[१] इनमें **याम** तृप्तिमन्त, त्विषिमन्त और व्रजकुल भेद से तीन प्रकार के थे। इनमें तृप्तिमन्त बारह थे जिनमें से तीन अधिक प्रसिद्ध थे—अजित, जिदजित और जित। त्विषिमन्त शासक थे—राज कोटि में थे। व्रजकुल वैश्य और दास वर्ग में थे। इस प्रकार पूर्व में ये तीन प्रकार के याम थे किन्तु काल-क्रम से ये लुप्त हो गये और मणिजा नाम के दूसरे वर्ग का उदय हुआ। इनकी स्थिति उत्तर दिशा में हिमालय से उत्तर सागर पर्यन्त थी। जिस समय हंस नामक आकाश में जो तारा है उससे पश्चिम-उत्तर में चतुर्थ अंश के नभोभाग में किसी समय ध्रुव तारा की स्थिति थी उस समय मणिजा जाति की स्थिति थी। उस समय जनस्थिति दो प्रकार की थी। एक विभाग वन निवासियों का था। दूसरा विभाग पुरवासियों का था और यही मणिजा

१. वायु पुराण, अ० ३१—त्रेतायुगमुखे पूर्वमासन् स्वायंभुवेऽन्तरे। देवा यामा इति ख्याताः पूर्वं ये यज्ञसूनवः। अजिता ब्रह्मणः पुत्रा जिता जिदजिताश्च ये। पुत्राः स्वायंभुवस्यैते शुक्रनाम्ना तु विश्रुताः। तृप्तिमन्तो गणा ह्येते देवानां तु त्रयः स्मृताः। तुषिमन्तो गणा ह्येते वीर्यवन्तो महाबलाः। ये वै व्रजकुलाख्यास्तु आसन् स्वायंभुवेऽन्तरे। कालेन बहुनातीता अयनाब्दयुगक्रमैः॥"

कहलाते थे । वन में रहने वाले अशिक्षित, प्राकृतिक और असभ्य थे । चोरी करते थे; पशु-वृत्ति वाले थे और अनार्य बर्बर कहलाते थे । मणिजा सभ्य थे और ये आर्य नाम से प्रसिद्ध थे । ये मणिजा कर्म के अनुसार चार भागों में विभक्त थे । साध्य, महाराजिक, आभास्वर और तुषित ये चार भाग क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्मों के अनुसार थे । इस त्रेता युग में जिन लोगों ने यज्ञ विधि की कल्पना की जो यज्ञ कर्म में निरत थे ये साध्य कहे जाते थे । स्वर्ग के एक प्रदेश—नाक संज्ञक—में यज्ञ करते थे ।[१] इन लोगों ने यज्ञ विधि के ज्ञान कराने वाले यज्ञ वेद ग्रन्थों की रचना की; ब्राह्मण उपनिषद्, रहस्य आख्यान, इतिहास-पुराण आदि की भी रचना की । ये साध्य विद्वान् बारह भिन्न वर्गों में विभक्त थे । यज्ञ कर्म के विध्वंस करने वाले जो बर्बर शत्रु थे उनके निराश करने में निरत शस्त्रधारी महाराजिक थे । इसी प्रकार यज्ञ सामग्री का सम्पादन करने वाले, धन-सम्पत्ति का उपार्जन करने वाले व्यापारी आभास्वर नाम से प्रसिद्ध थे । कुछ मनुष्य जो शिल्पकला में प्रवीण थे वे तुषित कहलाते थे ।

इस प्रकार ये चारों वर्ग सुसभ्य थे और बर्बरों से पृथक् अपनी समाज-व्यवस्था का निर्माण करके लोक-व्यवस्था करते थे । किन्तु ये सब अहर्निश कर्मपरायण थे—लोक वृत्त में लगे हुए थे—ये सत्यश्रम थे अर्थात् इनका श्रम सर्वथा सार्थक होता था । स्वार्थ तत्परता इनमें थी परन्तु ये मणिजा पूर्व काल में परोक्ष धर्म (आध्यात्मिक ज्ञान) में अनभिज्ञ थे । इनके जो यज्ञ होते थे वे भी भौतिक सम्पत्ति—वृष्टि, सन्तान, स्त्री, विभव आदि सर्वैषणा के साधन थे । स्वगार्थ कर्म इनका कोई न था । परन्तु वाद में इन साध्यों ने इस संसार के सम्बन्ध में विचार करना प्रारम्भ किया । इसका मूल क्या है, यह किस प्रकार उत्पन्न हुआ ? यह जगत् कितना है और कब इसका नाश होगा ? इस प्रकार के विचार उन लोगों के चित्त में उठने लगे । इस प्रकार विचार करते हुए ये साध्यगण भिन्न-भिन्न मत का प्रतिपादन करने लगे । वे इस जगत् के मूल को भिन्न-भिन्न निर्धारण करते हुए परस्पर सम्मत न हो सके । एक के मत में अम्भः तत्त्व जगत् के मूल थे, दूसरे के मत में आकाश, तीसरे के मत में अहोरात्र इस प्रकार दस प्रकार के मत उस समय प्रचलित हो गये । जिस प्रकार अर्वाचीन युग में वैशेषिक सांख्य आदि दर्शन शास्त्र प्रचलित हैं उसी प्रकार साध्य-युग में दस प्रकार के मत पाये जाते थे । इनका उल्लेख ऋग्वेद के

१. पुरुष सूक्त—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ।।"

दशम मण्डल में 'नासदीय सूक्त' में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। 'नासदीय सूक्त' का विशेष विवरण अन्य प्रकरण में हुआ है।

इस प्रकार बहुत समय व्यतीत हो जाने पर तीसरा युग प्रारम्भ होता है। इन्हीं साध्यों में एक अत्यन्त प्रभावशाली अवतारी महापुरुष उत्पन्न हुआ और उसने समस्त पृथ्वी में नवीन युग का आरम्भ किया। इन्होंने अपने तपोवल के द्वारा योगज दृष्टि प्राप्त करके यह देखा कि आधिदैविक ब्रह्म के द्वारा चार प्रकार की सृष्टि पायी जाती है। उसी के अनुसार इन्होंने भी उसी चार प्रकार की—वेद सृष्टि, धर्म सृष्टि, प्रजा सृष्टि, लोक-सृष्टि की रचना की। इन्होंने ब्रह्म को सम्पूर्ण जगत् का मूल देखा और इसीलिए वे भी ब्रह्मा और सृष्टि-विधान करने के कारण स्रष्टा कहलाने लगे। इन्होंने ब्रह्मवाद का प्रचार किया। साध्य लोग जो उस समय दस प्रकार के मतों में विभक्त थे उनके साथ विवाद करके विजय प्राप्त की और ब्रह्मवाद को प्रतिष्ठित किया। गोपथ श्रुति में मिलता है कि प्राचीन काल में ब्रह्मा ने पुष्कर नामक पुर में जन्म ग्रहण किया था।[1] यह पुष्कर जम्बू नदी के सन्निहित है जिसे आज कल बुखारा कहा जाता है। ब्रह्मा का पुत्र अथर्वा भी इसी पुष्कर में उत्पन्न हुआ था जिसने यज्ञ-विधि का प्रचार किया था। किसी का मत है कि आथर्वण श्रुति में इस अथर्वा ब्रह्मा का उल्लेख है, आदि ब्रह्मा का नहीं। इसी प्रकार ऋक् संहिता में एक मन्त्र है—

'त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।
तमु त्वा दध्यङ ऋषिः पुत्र ईधे अथर्वणः वृत्रहणं पुरन्दरम्॥' (ऋ० ६।१६)

इत्यादि मन्त्रों से यह स्पष्ट होता है कि इस जगत् के मूर्धस्वरूप पुष्कर से अरणि का मन्थन करके अग्नि का आविष्कार किया और उस यज्ञिय अग्नि से यज्ञ का सम्पादन होने लगा। इन मन्त्रों के अनुसार अथर्वा का पुष्कर क्षेत्र में उद्भव प्राप्त होता है। और यह अथर्व के द्वारा किया गया अग्नि का उद्भव पुष्कर पर्ण में हुआ था यह आधिदैविक तत्त्व को लक्षित करता है। तथापि अथर्वा का उद्भव पुष्कर में हुआ था एतावता उनके जनक ब्रह्मा की स्थिति भी पुष्कर में मानना संगत ही है। मुण्डकोपनिषद् में मिलता है कि विश्व के कर्ता भुवन के गोप्ता ब्रह्मा देवों में सर्वप्रथम उत्पन्न हुए। उन्होंने सब विद्याओं की प्रतिष्ठारूप ब्रह्म-विद्या अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को सिखाया।

ध्रुव के नीचे पृथ्वी का जो प्रदेश है वह सुमेरु माना जाता है। पुराकाल में अभिजिद् ध्रुव ब्रह्मा के नीचे का भाग सुमेरु था। उस विस्तृत सुमेरु प्रदेश में प्राग्ज्योतिष नाम का पुर था। वहीं निवास करते हुए ये ब्रह्मा लोक-व्यवस्था करके सबका शासन करते थे। इन्हों ने वेद-शास्त्रों की रचना करके उनके दो विभाग किये। विज्ञान के लिए उपवेद भागों

को और ज्ञान के लिए वेदों को प्रधानता दी । धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग विज्ञान में आते हैं और इनके विषय विभक्त थे । ज्ञान मोक्ष के लिए था । धर्म-संस्था और नीति-संस्था का विधान करके इनके द्वारा प्रबन्ध संचालन किया गया। पहले धर्मसभा बना कर दस लोकपालों को उसमें नियुक्त किया गया। इसी तरह दिक्पालों की व्यवस्था की गयी । इन सबके द्वारा सम्पूर्ण लोक का शासन उन्होंने किया। इन सबों में ब्रह्मा ही प्रधान थे, श्रेष्ठ थे । ये अपनी इच्छा के अनुसार अपने अधीनस्थ अधिकारियों को नियुक्त अथवा पदच्युत कर सकते थे । ये महा प्रभावशाली थे; सम्पूर्ण विद्याओं के ज्ञाता थे । तपोबल से आधिदैविक ब्रह्मा का साक्षात्कार किया था इससे वे भी ब्रह्मा नाम से अभिहित हुए । स्वयं एकमात्र शासक होकर भूमिस्थित सब प्रकार की प्रजाओं को इन्होंने वश में किया । एक मात्र मनुष्य ने विभिन्न जाति के सम्पूर्ण पृथ्वी के मनुष्यों को अपना मार्गगामी बनाया । सूर्य की किरणों में रहने वाले प्राणरूप देवों के कार्यों के अनुरूप समाज का बन्धन करके समस्त सभ्यों को अपने वश में कर त्रैलोक्य (भूमिस्थ) में बसाया । इन्होंने ही चार प्रकार के प्रजापति (प्रजा पालक) की व्यवस्था की तथा इन चारों में भी श्रेष्ठता के अनुसार दो-दो भेद किये । भोज और महाभोज राजा थे; चक्रवर्ती और सार्वभौम सम्राट् थे । इन्द्र और महेन्द्र स्वाराट् थे । इसी प्रकार ब्रह्मा और विष्णु विराट् थे । राजा, सम्राट्, स्वराट् और विराट् इन चार श्रेणियों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता थी । विराट् सबका, राजा सम्राट् और स्वराट् तक का अनुशासन कर सकते थे । यह सब व्यवस्था आधिदैविक के अनुसार थी । जिस प्रकार अधिदैव में स्वयंभू और परमेष्ठी प्रजापति (ब्रह्मा और विष्णु) सर्वोपरि माने जाते हैं उसी प्रकार की व्यवस्था भूमि में भी की गयी थी । ब्रह्मा की इस अलौकिक शक्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शंका के लिए स्थान नहीं रहता । अशोक इत्यादि प्राचीन भारतीय सम्राट् तो अपनी अलौकिक शक्ति से सम्पन्न थे ही । इस अर्वाचीन काल में भी एलेक्जेण्डर, नेपोलियन, लेनिन, स्टेलिन इत्यादि पुरुषों ने भी अपनी-अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा संसार को चकित किया है ।[१] गीता में भी कहा है कि जो-जो विशेष विभूति, श्री और ऊर्जा से सम्पन्न व्यक्ति हैं वे सब मेरे (भगवान् के) तेज के अंश से संभूत हैं । भारतीय श्रुति सिद्धान्त के अनुसार यावन्मात्र जन्य——उत्पन्न होने वाले—देवताओं से उत्पन्न होते हैं ।[२] इसके अनुसार यद्यपि सभी व्यक्ति की उत्पत्ति देवताओं के

१. यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम् । ——गीता ।

२. जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो देवताभ्यः ।

द्वारा ही होती है (यहाँ देवता शब्द देव और असुर दोनों प्राणशक्तियों का द्योतक है) तथापि प्रधानता के अनुसार—जिस व्यक्ति में जिस देवता का अंश प्रधान रूप से होता रहता है वह उसका अंशावतार कहा जाता है। प्रकृत में ये महापुरुष मनुष्य ब्रह्मा, आधिदैविक ब्रह्मा के अवतार थे और उन्हीं की अलौकिक शक्ति से सम्पन्न थे।

इन अवतार पुरुष ब्रह्मा ने सूर्य की परीक्षा करके देव विद्या—प्राण विद्या को प्रकट किया। उन्होंने यह देखा कि एकमात्र ब्रह्म सबका मूल है और देव प्राण अवश है, स्वतन्त्र नहीं है। साध्य युग की सब विद्याओं का अध्ययन करके, प्रचलित मतों को देख कर ये इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भूतों की अपेक्षा प्राणों में और इनकी अपेक्षा भी मन में सामर्थ्य बहुत अधिक है। भौतिक विधान में श्रम भी अधिक पड़ता है; बाहरी सामग्री भी बहुत अधिक अपेक्षित होती है और कष्ट अधिक होता है। यह भी उन्होंने देखा कि भूत मात्र मन के आधार पर हैं और मन, प्राण के द्वारा ही कार्य में सक्षम होता है। इसलिए प्राण ही सर्वाराध्य है उसी से सब कुछ सिद्ध हो सकता है। बाहर में सूर्य ही प्राण घन है; समस्त पदार्थों में प्राण की प्राप्ति सूर्य से ही होती है। अध्यात्म में भी हम लोगों के सूर्य (क्षेत्रज्ञ रूप में) है; सूर्य ही इसका आश्रय है वह यह भी प्राणघन है; अतः वही आराध्य है। जिस प्रकार सूर्य की रश्मियों में देवप्राणों का निवास है उसी प्रकार शारीरिक नाड़ियों में समस्त प्राणों का सन्निवेश है। यह सब देख कर अध्यात्म में, अधिभूत में तथा अधिदैवत में सूर्य को देख कर सूर्य गत प्राणों की परीक्षा करके ग्रन्थ का निर्माण किया जिसे **वेद** कहा जाता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ इन तीन लोकों में व्याप्त तीन प्रकार के अग्नि देवता (अग्नि, वायु और सूर्य ये तीनों अग्नि की कोटि में आते हैं) तथा दो प्रकार के सोम देवता (भृगु और अंगिरा प्राण) तथा अन्य देवों को देखा और यह देखा कि ये सब ब्रह्म के ही बृंहण हैं सब ब्रह्म ही हैं और इसी से वेदों को भी **ब्रह्म** शब्द से अभिहित किया। इनके वेदों में चार प्रकार के विषयों का समावेश था—इतिहास, विज्ञान, यज्ञ और शिल्प। इतिहास भाग में पूर्व में मणिजा किस प्रकार थे; धर्म प्रजा सब प्रकार की लोक सृष्टि आदि का उल्लेख था। सूर्य में जो देव जिस प्रकार प्रचरित होता है इस संसार में इनका किस प्रकार विकास होता है; इनकी ब्रह्म में किस प्रकार उपपत्ति होती है, यह सब विज्ञान प्रकरण था। तीसरा यज्ञ प्रकरण था। साध्यों ने यज्ञ-विधि जिस प्रकार चलायी थी, किस प्रकार यज्ञों के द्वारा सब प्रकार की कामनाओं की पूर्ति होती थी, यज्ञों के प्रकार तथा विधियों का वर्णन यज्ञ विभाग में था। चौथा भाग शिल्प का था। शिल्प दो प्रकार का होता है—अपूर्व शिल्प और प्रतिरूप शिल्प। प्राकृतिक पदार्थों को लेकर अपनी कल्पना से नवीन शिल्प प्रस्तुत करना—यथा गृह निर्माण आदि—ये सब अपूर्व शिल्प थे। प्रतिरूप शिल्प में प्राकृतिक पदार्थों की

प्रतिकृति बनाने में कौशल का प्रदर्शन होता था। जैसे हाथी, घोड़े, सिंह आदि के चित्र बनाना अथवा मिट्टी, प्रस्तर आदि की मूर्ति बनाना। इन सबका विस्तारपूर्वक वर्णन इस चतुर्थ भाग में था। देवों को मुख्य वेद भाग के लिए तथा असुरों को शिल्प के लिए शिक्षित करके नियुक्त किया गया। पौराणिकों के अनुसार इन चारों वेदों की श्लोक संख्या चार लाख थी—प्रत्येक विभाग एक-एक लाख का था। इस प्रकार चार खण्डों में विभक्त जिस वेद-ग्रन्थ की रचना ब्रह्मा—विधाता ने की थी, कालक्रम से वह लुप्त हो गया और बाद में ऋषियों के द्वारा दृष्ट अन्य वेद निष्पन्न हुआ। पूर्व में ब्रह्मा के द्वारा निर्मित अर्थ का इन देव-ऋषियों को साधारण ज्ञान परम्परया प्राप्त था ही, फिर अपनी तप:पूति बुद्धि के द्वारा इन लोगों ने जिन-जिन अर्थों का साक्षात्कार किया उसके अनुसार बहुत-से मन्त्रों का प्रणयन किया। इन देव ऋषियों के द्वारा जो पृथक्-पृथक् प्रकीर्ण बहुत-से मन्त्रों का प्रणयन किया गया था उनका याज्ञिक होत्रकों के उपयोग के लिए जो संग्रह (संहिता) वेद व्यास द्वारा किया गया था वही संहिता रूप में वेद ग्रन्थों का इस समय अध्ययन-अध्यापन प्रचलित है।

वेदों का विस्तृत विवेचन अन्य प्रकरण में हुआ है। यहाँ आधिभौतिक ब्रह्मा के सम्बन्ध में उनका दिग्दर्शन मात्र किया गया है। इसी प्रकार सूर्य किरणों में पाये जाने वाले ऋषि, पितृ, देव, असुर, प्राणों का साक्षात्कार करके मनुष्य ब्रह्मा ने भी तदनुसार समाज में व्यवस्था की। इसी प्रकार ब्रह्मा ने यह देखा कि मनुष्यों के द्वारा स्वेच्छा से जो परिकल्पित होता है वह सार-हीन होता है; उसके मूल में, उसे पुष्ट करने वाला कोई प्राकृतिक बन्धन नहीं रहता, अत: वह थोड़े समय तक विकसित होकर नष्टप्राय हो जाता है। परन्तु जिस रीति से विश्वेश्वर इस प्राकृतिक विश्व का संचालन करते हैं वही परम धर्म है। उन्होंने देखा कि प्राण देवता चार प्रकार के धर्मों में (वीर्यों में) विभक्त हैं उसकी अनुकृति में जो धर्म विहित होगा वह ईश्वराज्ञा के अनुरूप और उदार होगा। उन्होंने देखा कि देवों में—ब्रह्म वीर्य, क्षात्रवीर्य, विड्वीर्य पाये जाते हैं। वैसे सर्वत्र सब वीर्य रहते हैं परन्तु जिस देव में जिस वीर्य की प्रधानता रहती है तदनुसार वर्गीकरण करके तीन जाति में देवों को विभक्त देखा। चतुर्थ वर्ण शूद्र भी देवताओं में पाया गया है और उसे निर्वीर्य माना गया है। निर्वीर्य से अभिप्राय यहाँ अल्पवीर्य से है। कोई प्रधान वीर्य उल्वण नहीं रहता। इन्हीं चारों देववीर्यों के अनुसार समाज में व्यवस्था की गयी। इसका भी पृथक् वर्णन है। यहाँ प्रसंगोपात्त होने से संकेत मात्र किया गया है।

समस्त भूमण्डल के प्रथम तीन भाग हुए जिन्हें लोक, अलोक और दिक् कहा गया है। विशिष्ट और साधारण वास-भेद से वास व्यवस्था दो प्रकार की हुई। सभ्य समाज के निवास के लिए—जहाँ नियत व्यवस्था के अनुसार कार्य संचालन होता था—जो देश था

वह लोक कहलाता था। वहाँ दैवी सम्पत्ति से युक्त स्थिति रहती थी। इसके विपरीत—जहाँ नियत व्यवस्था न थी आसुरी स्थिति थी, स्वेच्छाचारिता थी, वह निवास भूमि अलोक नाम से व्यवहृत हुई और दोनों—लोक और अलोक के अन्तराल का सन्धि भाग दिक् कहा गया। वहाँ हीन वृत्ति के व्यक्तियों का निवास था। यह व्यवस्था भी सूर्य प्रकाश के विस्तार के अनुरूप ही हुई थी। जहाँ तक सूर्य के प्रकाश की सीमा है वह लोक है। प्रकाश की सीमा से वहिर्भूत भाग अलोक और सन्धि भाग दिक् है। पुराणों ने सन्धि भाग को लोकालोक भी कहा है। इन तीनों में से जिस प्रकार सूर्य प्रकाश भाग में—लोक में त्रैलोक्य व्यवस्था है। पृथ्वी का प्रकाशयुक्त भाग आग्नेय, अन्तरिक्ष का वायुलोक और आदित्य का द्युलोक है इसी प्रकार इस पृथ्वी के लोक भाग की भी पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की कल्पना करके त्रैलोक्य व्यवस्था थी। प्राग्मेरु से उत्तर समुद्र तक का भू भाग द्यौ (स्वर्ग) के रूप में निश्चित हुआ और उसे देवों का निवास माना गया। प्राण देवों के अनुसार ही ये मनुष्य देवगण विशिष्ट शक्ति सम्पन्न—अणिमा, गरिमा आदि सिद्धि से समृद्ध थे। इरावती नदी के उद्गम स्थान से प्रारम्भ करके उत्तर में प्राग्मेरु तक जो भूखण्ड है जिसमें हिमालय की उत्तरी दूरी आदि भी सन्निविष्ट है वह अन्तरिक्ष लोक माना गया। इसी प्रकार इरावती नदी के निर्गम से दक्षिण लंका पर्यन्त का भाग मानुष लोक कल्पित हुआ। इस प्रकार सभ्यों के निवास के लिए प्राचीन काल में यह त्रैलोक्य ब्रह्मा के द्वारा स्थिर किया गया। भारतवर्ष को ही पृथ्वी लोक कहते थे, यहाँ के निवासियों को मनुष्य। परन्तु मनुष्य भारतवासियों के लिए लाक्षणिक था क्योंकि अन्तरिक्ष और स्वर्ग के (भूमिस्थ) वासी भी मनुष्य ही थे। उनकी संज्ञा क्रमशः देवयोनि और देव थी। भूमि स्वर्गवासी देव शब्द से अभिहित होते थे। इस भौम त्रैलोक्य की (जो देवगण के अधिकार में दिया गया) सीमा इस प्रकार थी—उत्तर में उत्तर समुद्र, दक्षिण में दक्षिण समुद्र, पश्चिम में भूमध्यसागर और कृष्ण समुद्र तथा पूर्व में पीतसमुद्र और यमकोटि समुद्र। इन सीमाओं से बाहर के भाग दिक् प्रान्त थे। ब्रह्मा ने—जो महामान्यों में श्रेष्ठ थे और जो सबके गुरु थे और जिनकी आज्ञा का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता था, इसे इन्द्र को दिया। यह भूखण्ड प्रायः समस्त वर्तमान एशिया खण्ड कहा जा सकता है। भूमण्डल का अवशिष्ट भाग असुरों को प्रदान किया। सूर्य त्रिलोकी के अनुसार ही यह त्रिलोक व्यवस्था की गयी थी और तदनुसार ही भूमि, में ही भूमि, अन्तरिक्ष और स्वर्ग की कल्पना थी तथा इनमें निवास करने वाले भी भौम पृथ्वी भारतवर्ष को मान कर उसमें वास करने वाले मनुष्य शब्द से, अन्तरिक्ष भाग के चन्द्र, पित्र्य, गन्धर्व आदि नाम से—तथा भूमिस्थ स्वर्ग वासी देव नाम से कहे जाते थे। जिस प्रकार सूर्य पिण्ड में रहने वाला मुख्य प्राण सबका

अधिपति माना जाता है––इसका अन्यत्र वर्णन है––उसी प्रकार देव समुदाय के अधिपति इन्द्र नाम से माने गये हैं और सम्पूर्ण त्रैलोक्य के वे स्वराट् थे । तीनों लोक मुख्यत: उनके अधीन थे । जिस प्रकार सौर त्रिलोकी में पृथ्वी का मुख्य प्राण अग्नि माना जाता है और वह सूर्य संस्था में होने से सूर्य प्राण इन्द्र के अधीन है उसी प्रकार भौम पृथ्वी भारतवर्ष का शासक अग्नि था जो एक प्रकार से इन्द्र का प्रतिनिधि (vice-roy) था । उसका द्योतक 'शवसोनपात' शब्द है । उसका यातायात स्वर्ग तक अव्याहत गति से होता था । वहीं यहाँ से देय भाग कर स्वर्ग में पहुँचाने का अधिकारी था । इसका स्पष्ट वर्णन ऋभु प्रकरण में मन्त्र भाग में मिलता है । मनुस्मृति में भी इसका संकेत है––'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।'

पुराणों में तथा महाभारत आदि में––जो वदार्थ के आधार पर ही उनके स्पष्टीकरण के लिए प्रवृत्त हुए थे और जो वेदों के वैज्ञानिक तत्त्वों में साक्षात् प्रविष्ट होकर उन विज्ञानों को हृदयंगम न कर सकने वाले सुकुमार मति सामान्य समाज को शिक्षित करने का उद्देश्य रखते थे उनमें भूमिस्थ स्वर्ग का वर्णन पर्याप्त रूप से मिलता ही है। परन्तु वेद-ग्रन्थों में भी इन बातों का संकेत स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है । यह अन्यत्र स्पष्ट कर दिया गया है कि वेदों की अर्थशैली इस प्रकार की थी उनमें अनेक मन्त्रों के आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीनों प्रकरण समान रूप से व्यक्त किये गये हैं। कुछ में आधिदैविक और आधिभौतिक तथा कुछ में आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा अन्य में आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ प्रतीत होते हैं । मीमांसक लोगों ने यज्ञ में उपयुक्त अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ की उपेक्षा की; परन्तु यास्क ने ऐतिहासिक अर्थ को भी मान्यता दी है। सायणाचार्य ने यद्यपि जहाँ-तहाँ ऐतिहासिक अर्थ भी माना है परन्तु मुख्यत: इन्होंने मीमांसकों का ही अनुकरण किया है, यह अन्यत्र लिखा जा चुका है । मीमांसकों के मत से वेद अपौरुषेय थे; वे अनादि और ईश्वर रूप थे; ऋषिगण इन मन्त्रों के द्रष्टा मात्र थे, इनके रचयिता न थे ––इस सम्बन्ध में भी पृथक् विवेचन हुआ है । अपौरुषेय मानने वालों के मत में वेद-ग्रन्थों में यदि ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किया जाता है तो वेदों की अपौरुषेयता में बाधा आती है । ईश्वर रूप वेद में जो अनादि हैं––बहुत पश्चात् काल में होने वाले ऐतिहासिक पुरुषों का उल्लेख मान लेने पर यह सिद्ध होने लगेगा कि वेद ग्रन्थों का निर्माण इन ऐतिहासिक व्यक्तियों के आविर्भाव के पश्चात् हुआ और इस प्रकार उनका मूल सिद्धान्त––अपौरुषेयता का सर्वथा नाश हो जाता है । अत: इस सिद्धान्त की रक्षा करने के लिए इन लोगों ने ऐतिहासिक पुरुषों को भी मनुष्य रूप में नहीं माना और उसे आधिदैविक अर्थ में ही घटित किया । उदाहरण के लिए सायण ने अपनी ऋग्वेद

भूमिका में 'बबर प्रावाहणि' के सम्बन्ध में बड़े यत्न के साथ यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रवाहण नामक व्यक्ति का पुत्र प्रावाहणि जिसका नाम **बबर** था वह कोई ऐतिहासिक व्यक्ति न था। प्रवहण शील—बहने वाला तथा ब ब शब्द करने वाला वायु ही यहाँ अर्थ हो सकता है और इस प्रकार अपौरुषेयता की रक्षा के लिए सर्वत्र ही अभीष्ट अर्थ संगत हो सकते हैं। परन्तु इन लोगों के तर्क में यह त्रुटि है कि ईश्वर रूप अनादि वेद के पश्चात् ही तो उन्हीं के द्वारा आकाश, वायु, तेज आदि तत्त्वों की उत्पत्ति मानी जाती है। इस दशा में वायु अर्थ लेने पर भी यह अड़चन आती है कि वायु तत्त्व की उत्पत्ति होने के पश्चात् वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। इस अनुपत्ति को दूर करने के लिए वे यह तर्क करते हैं कि 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' इसके अनुसार वायु आदि तत्त्व परम्परा से चले आते हैं, अतः वे भी अनादि हैं। परन्तु यदि वास्तव में देखा जाय तो यह तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः भविष्य में होने वाले ऐतिहासिक व्यक्तियों का ज्ञान उसे था और तदनुसार मन्त्र में सन्निवेश हुआ। पूर्व कल्प की ऐतिहासिक घटना मान ली जाय अथवा भविष्य कथन मान लिया जाय तो अपौरुषेयता के सिद्धान्त की रक्षा बनी रहती है। तब केवल इस दृष्टि से वेदों में ऐतिहासिक घटनाओं का सर्वथा अपलाप करने में कोई तत्त्व नहीं है। वेद मन्त्रों के द्वारा ही स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक भाग दृष्टि पथ में आता है।

यहाँ पर वेदों में से निदर्शन के रूप में दो-चार उद्धरण उपस्थित किये जाते हैं जिन्हें देख कर कोई भी पक्षपात रहित व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि इन्द्र आदि ये देवगण भूमि स्वर्ग के निवासी भी हो सकते हैं। यह उद्धरण अवश्य ही कुछ विस्तृत प्रतीत होता है परन्तु विषय की गम्भीरता और महत्ता के कारण यह विस्तार आवश्यक है। क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से यह भी सिद्ध हो जाता है कि आर्य गणों का निवास समस्त एशिया खण्ड में था और यह मान लेने पर विद्वानों में जो मूल निवास को लेकर अनेक मतभेद उपस्थित हो गये हैं उनका समन्वय हो जाता है। कोई महानुभाव आर्यों का मूल निवास उत्तरीय समुद्र के पास सिद्ध करते हैं; कोई पामीर की उपत्यका में, कोई चीन में, कोई पश्चिमीय भारत में और कोई पूर्वीय भारत में पंचनद प्रदेश में आर्यों का मूल निवास मानते हैं। जब इन सभी स्थानों में समान रूप में आर्यों का निवास सिद्ध हो जाता है तब परस्पर कोई भेद नहीं रह जाता। दृष्टिभेद के कारण भिन्न-भिन्न स्थानों को महत्त्व दिया गया है।

पृथ्वी लोक में स्वर्ग की कल्पना——प्रमाण

भूमिस्थ स्वर्ग के सम्बन्ध में विद्वानों ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। इस कारण अनेक स्थलों में वास्तविक अर्थज्ञान में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। स्वर्गीय पं० मधु-

सूदन झा ने अपने अनेक ग्रन्थों में विशेषकर 'इन्द्रविजय' में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन किया है। यह महत्त्वपूर्ण विषय है, इसलिए इसमें मुख्यतः वैदिक मन्त्रों के आधार पर यह सिद्ध करने का यत्न किया जाता है कि वैदिक ऋषियों की दृष्टि में इन्द्रादि देवगण जिस प्रकार आधिदैविक में शक्तिविशेष के रूप में तथा आध्यात्मिक में प्राणशक्ति के रूप माने जाते थे उसी प्रकार आधिभौतिक---ऐतिहासिक व्यक्तित्व भी उनका अवश्य था। पुराणों में तो अनेक स्थलों में यह उल्लेख मिलता ही है; महाभारत में भी यह प्रकरण मिलता है।[१] परन्तु यहाँ उन सबका प्रमाण न लेकर केवल श्रुतियों के आधार पर इसकी विवेचना करने का प्रयास किया जाता है।

(१) ऋभुओं के शिल्प के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन अन्यत्र हुआ है। अग्नि के आदेश से ऋभुओं ने अनेक अद्‌भुत शिल्पों का निर्माण इन्द्रादि देवताओं के लिए किया। उसे पाकर इन्द्र ने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन ऋभुओं को सम्मानित करके देव कोटि में मान लिया और अपने साथ सोमपान करने का अधिकारी बनाया। यह असाधारण सम्मान मनुष्य जाति वाले ऋभुओं को इन्द्र के द्वारा प्राप्त हुआ था, इसका ऋक् वेद में अनेक स्थलों में विस्तृत उल्लेख है। इन्हीं ऋभुओं के द्वारा बनाये विमान में आरूढ़ होकर, कुत्स की प्रार्थना पर, इन्द्र दस्युवध के लिए आये थे। यह ऐतिहासिक भाग तभी समन्वित हो सकता है जब इन्द्र को भी ऐतिहासिक पुरुष माना जाय। इन्द्रादि देवगण भारत में नहीं रहते थे ? कुत्स आदि की प्रार्थना पहुँचने पर स्वर्ग से आकर दस्युओं का नाश करके उन्होंने शान्ति स्थापित की। यह ऋग्वेद के ही मन्त्रों से स्पष्ट सिद्ध होता है। आधिदैविक जगत् से शरीर धारण कर मनुष्य जाति के दस्युओं से युद्ध का वर्णन असंगत प्रतीत होता है। अतः अगत्या यह मानना पड़ता है कि जिस प्रकार आधिदैविक इन्द्र ने आधिदैविक वृत्र का वध करके जलावरोध को दूर किया था, उसी प्रकार आधिभौतिक इन्द्र ने भूमिस्थ स्वर्ग से

१. महाभारत, शान्ति पर्व, मोक्षधर्म---

भरद्वाज उवाच---'अस्माल्लोकात्परो लोकः श्रूयते नोपलभ्यते।
तमहं ज्ञातुमिच्छामि तद्‌भवान् वक्तुमर्हसि ॥'

भृगुरुवाच---'उत्तरे हिमवत्पार्श्वे पुण्ये सर्वगुणान्विते।
पुण्यः क्षेम्यश्च यो देशः स परो लोक उच्यते ॥
स स्वर्गसदृशो देशः तत्र युक्ताः शुभा गुणाः।
काले मृत्युः प्रभवति स्पृशंति व्याधयो न च ॥'

आकर दस्युओं का नाश किया, उनके पुरों का विध्वंस किया तथा भारतीय आर्य राजाओं की रक्षा की। एक स्थल में आधिभौतिक और दूसरे स्थल में आधिदैविक मानना युक्ति-युक्त नहीं माना जा सकता।

(२) ऋग्वेद, दशम मण्डल, ८६ वें सूक्त में वृषाकपि की कथा का उल्लेख है (इसका विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है) उससे स्पष्ट ही इन्द्र और इन्द्राणी ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं... इन्द्राणी के आक्षेप वाक्य साधारण स्वाभिमानिनी के समान ही हैं। आज भी यह सुन पड़ता है 'क्या तुम्हें और कहीं खाने को नहीं मिलता है जो वहाँ दौड़े जाते हो।' इसी प्रकार इन्द्र का राजनीतिक रहस्य भी महत्त्वपूर्ण है। इसको देखकर यह मानना पड़ता है कि यह आधिभौतिक वृतान्त है। इसके आधार पर व्याकरण और निरुक्त का आश्रय लेकर आधिदैविक अर्थ ले लिया जाय यह दूसरी बात है; परन्तु आधिभौतिक का अपलाप नहीं हो सकता है।

(३) ऋग्वेद दशम मण्डल में एक सूक्त इन्द्राणी की उक्ति में है जिसके प्रथम तथा द्वितीय मन्त्र के भाव इस प्रकार हैं—हम इस लता-ओषधि को उखाड़ती हैं, जो अत्यन्त बलयुक्त है, जिसके द्वारा सपत्नी को बाधा होती है। तथा जिसके द्वारा पति प्राप्त होता है। हे उत्तानपर्ण वाली, सुभगा, देवसेवित वीर्ययुक्त ओषधि! हमारी सपत्नी को दूर करो और पति को केवल हम में अनुरक्त करो।[1] इससे स्पष्ट ही भूमिस्थ भौतिक शरीर वाली इन्द्राणी अपनी सपत्नी को बाधित करके अपने पति पर अपना एकाधिपत्य प्रतिष्ठित करना चाहती है। आधिदैविक स्वर्ग की इन्द्राणी को इन भौतिक उपायों का आश्रय लेने में कोई प्रयोजन नहीं दिखता। इतना ही नहीं; भौतिक जगत् में ही मनोरथ सिद्धि के लिए अन्य उदात्त साधनों के रहते हुए भी ओषधि का आश्रय लेना निम्न कोटि का ही उपाय समझा-माना जा सकता है। भौतिक जगत् में ही सपत्नीजन्य मानसिक वेदना का अनुभव होना सम्भव है। आधिदैविक जगत् में सपत्नी का प्रश्न ही नहीं उठता। वेद में ही विष्णु की दो पत्नियों का—श्री और लक्ष्मी का उल्लेख मिलता है।[2] परन्तु वहाँ इस

१. ऋग्वेद—'इमां खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तराम्।
इन्द्राणी—यथा सपत्नीं बाधते यया संविदते पतिम्॥ १०।१४५।
उत्तान पर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।
सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु॥' १०।१४५।२

२. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहोरात्रे... इत्यादि।

प्रकार का कोई वैमनस्य नहीं मिलता है । पौराणिक काल में श्री और लक्ष्मी को समानार्थक मान लिया गया है, यह अन्य बात है। वेदमन्त्र में उन दोनों को भिन्न मान कर दोनों के लिए द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

(४) कुत्स राजा को जब दस्युओं ने अत्यन्त पीड़ित किया तब चिन्तायुक्त होकर इन्होंने अपने सहायकों से मन्त्रणा की। उनके सहायक ऋषियों ने उन्हें यह सुझाया कि इस समय इन्द्र की सहायता प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है । काण्व नामक ऋषि से इन्द्र का अच्छा सद्भाव है । काण्व ने अभ्यर्थन सूक्त लिख कर कुत्स को दिया । इसी के साथ और भी अन्य ऋषियों ने अभ्यर्थना की। उन पत्रों को लेकर कुत्स अमरावती में इन्द्र की सहायता याचना करने के लिए गये । वहाँ उन पत्रों को दिया तथा मौखिक रूप से अपनी दुःख-गाथा सुनायी। कुत्स की प्रार्थना से दयार्द्र होकर इन्द्र ने उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा की तथा सखा रूप से स्वीकार करके मारुती सेना को साथ लेकर शत्रुओं पर आक्रमण करने के उद्देश्य से इन्द्र न प्रस्थान किया । कुत्स के साथ अश्वारूढ़ होकर अहर्निश चल कर तीन दिन में निषधगिरी की उपत्यका में पहुँचे जहाँ पर कुत्स इन्द्र के स्वागत और विश्राम का प्रबन्ध पहले से ही कर गये थे ।[1] वहाँ कुत्स ने उनसे प्रार्थना की कि हे इन्द्र ! आपके विश्राम के लिए यह स्थान नियत किया गया है, यहाँ पधारें, अश्वों को विश्राम दें क्योंकि रात-रात भर चलने से ये थके हुए हैं ।[2] इसी से यह ज्ञात होता है कि मार्ग में कहीं विश्राम करने का अवसर न मिला था । इन्द्र ने वहीं विश्राम किया (निषदन किया) अपनी सेना को वहीं ठहराया, इसीलिए उस उपत्यका का नाम 'निषध' पड़ा ।

यह आख्यान स्पष्ट ही भौतिक स्वर्ग से आगमन का द्योतक है । आधिदैविक इन्द्र के लिए न तो इतना समय अपेक्षित था और न घोड़ों के थकने का प्रश्न था ।

(i) दस्युओं का संहार करके जब इन्द्र अमरावती के लिए प्रस्थान करने लगे तब कुत्स पर प्रसन्न होकर अपने समान ही वस्त्राभरणों से सुसज्जित करके उन्हें अपने साथ लेते गये। दोनों की आकृति प्रायः समान थी; वस्त्र और आभारण भी प्रायः एक से थे । वे दोनों इस प्रकार सादृश्य रखते थे कि इन्द्र भवन में पहुँचने पर इन्द्राणी को यह सन्देह

१. इन्द्रविजय—दस्युनिग्रह, पृ० ७६ से ८६ तक ।

२. ऋ० वे०—'येनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि तमानिषीद स्वानोनार्वा ।
विमुच्यावयोऽसायश्वान् दोषा वस्तोर्वहीयसः प्रयित्वे ।।' १०।१०४।१ ।

हो सकता था कि दोनों में कौन वास्तविक इन्द्र है।[1] इस समरूपता के वर्णन से यह भी द्योतित होता है कि भारतवर्षीय मनुष्य में देवलोक वासी इन्द्र के शरीर संगठन आदि में इतनी समानता थी कि देखने वाले भ्रम में पड़ सकते थे। इससे मनुष्य लोकवासियों का सशरीर स्वर्गलोक जाना भी सिद्ध होता है। ऋभु के उपाख्यान से भी यही सिद्ध होता है। मरण के उपरान्त सूक्ष्म शरीर से पुण्य कर्म भोगने के लिए स्वर्ग गमन हो सकता है परन्तु भौतिक शरीर से जाना तभी सम्भव है जब भूलोक में ही स्वर्ग माना जाय। पुराणों में तथा महाभारत में तो भौतिक शरीर से स्वर्गगमन के अनेक आख्यान मिलते ही हैं परन्तु श्रुतियों में भी उसका संकेत मिलता है। भूलोकस्थ स्वर्ग की यात्रा भी सर्वसाधारण के लिए सुलभ न थी। विरले ही साधनसम्पन्न सज्जन इस सौभाग्य के अधिकारी होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है कि यहाँ से स्वर्ग-लोक सहस्र अश्वीन है अर्थात् साधारण चाल से घोड़ा सवारी के साथ एक दिन में जितना मार्ग तय करता है उस हिसाब से सहस्र दिन में वहाँ पहुँचा जा सकता है।[2] यहाँ सहस्र शब्द अनिश्चित संख्या का द्योतक है। घोड़े के चलने से स्थान की दूरी की माप भूमि में ही सम्भव है; आकाश संचरण में नहीं। इससे ऐतरेय ब्राह्मण के मत से भी पृथ्वीलोक में स्वर्ग का होना सिद्ध होता है।

(ii) इन्द्र जब दस्युवध करके स्वर्ग के लिए लौट रहे थे उस समय उनकी बिदाई का अभिनन्दन करते हुए विश्वामित्र ऋषि कहते हैं—'हे इन्द्र ! आपने सोमपान कर लिया। आप अपने घर जाइये। वहाँ आपकी कल्याण गुण सम्पन्ना जाया आपके पुनरागमन के उत्सव के लिए प्रतीक्षा कर रही है। वहाँ आपके बड़े रथ के लिए रथशाला (garage) है तथा सत्कारयुक्त घोड़ों के आराम करने के लिए विमोचन (छोड़ने) का उपयुक्त स्थान है।[3] इस कल्याणी जाया का उल्लेख अवश्य ही भौतिक स्वर्ग को लक्षित

१. ऋ० वे०—'इन्द्राकुत्सा वहमाना रथेन वामात्या अपि कर्णे वहन्तु निष्षीमद्‌यो धमर्थां निःषधस्थान् मघोनोहृदोवरथस्तम्सांस।' ५।३१।९

'आदस्युध्ना मनसा याह्यस्तं भुंक्ते कुंत्सः सख्ये निकामः।
स्वेयोनौ निषदतं विवां चिकित्सदृतचिद्ध नारी॥' ४।१६।१०

२. ऐतरेय ब्रा०—'सहस्राश्वीनो वा इतः स्वर्गो लोकः'

३. ऋग्वेदः—

'अयाः सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणी र्जाया सुरणं गृहेते। यत्रा रथस्य वृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्॥' ३।५३।६

करता है। आधिदैविक इन्द्र के सम्बन्ध में यह घटित नहीं होता। इसका आधिदैविक अर्थ भी है, इसमें संदेह नहीं परन्तु लाक्षणिक अर्थ का आधार तो भौतिक तथ्य माना ही जायगा उसका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। इन्द्र के घोड़ों को विश्राम देने का अर्थ आधिभौतिक अर्थ का ही अधिक बोध कराता है।

(५) कुत्स की प्रार्थना पर दस्युसंहार के लिए जब इन्द्र मारुती सेना के साथ निषध पर्वत पर कुछ समय के लिए ठहरे थे वहाँ उनके स्वागत में एक प्रीतिभोज दिया गया था। विश्वामित्र ऋषि स्वागताध्यक्ष थे। ऋ० वे०, तृतीय मण्डल के ५२ वें सूक्त में इस भोज का वर्णन मिलता है। विश्वामित्र भोज्य पदार्थों का वर्णन करते हुए इन्द्र को उनके सहभोजियों के साथ भोजन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।[१] यह महोत्सव युद्ध यात्रा के प्रारम्भ में वीरों को प्रोत्साहित करने के लिए हुआ था। प्रोत्साहन की आवश्यकता पृथ्वीस्थ इन्द्र के लिए ही हो सकती है। इसका प्रसंग अन्यत्र आ चुका है।

(६) एमूष वराह नामक असुर का आख्यान अत्यन्त सूक्ष्म रूप से ऋग्वेद के दो मन्त्रों में संकेतित हुआ है।[२] तैत्तरीय ब्राह्मण में उसका कुछ अधिक विस्तार है। ऐसा ज्ञात होता है कि इन्द्र के प्रबन्ध से प्रजाओं में वितरण करने के लिए देवस्वर्ग में अत्यन्त अधिक मात्रा में अन्न-संग्रह (granary) था। उसकी रक्षा का समुचित प्रबन्ध होते हुए भी उसमें से अधिकांश अन्न वराह चोरी कर के ले गया और अपने यहाँ संग्रह कर लिया। इस पर विष्णु जो उस अन्न-रक्षा के सर्वोच्च अधिकारी थे, उसका पता लगाने के लिए वराहपुरी में पहुँच गये। इन्द्र भी वहाँ पहुँच गये। दोनों में मंत्रणा हुई। वराह की माता के भोजन के लिए जितना खीर, मांसादि पकाया गया था, उसका विष्णु ने अपहरण कर लिया इसको सुन कर जब वराह दुर्ग से निकला तब इन्द्र ने उससे युद्ध करके उसका वध कर डाला और विष्णु सब संग्रहीत अन्न को वापस ले गये।[३] अन्न का संग्रह, वराह के द्वारा उसका अपहरण होना, इन्द्र और विष्णु का उसे वापस लाना यह सब आधिभौतिक मत का ही

१. ऋग्वेद, ३।५२।१, ५, ६, ७।

२. ऋग्वेद :—'अस्येदु मातुः सवनेषु सद्योमहः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ता।
मुषायद् विष्णुः पयतं सहीयान् विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता।। १।६१।७
विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः।
शतं महिषान् क्षीरपाकमोदनं वराहमिंद्र एमुषम्।।' ८।७७।१०

३. तैत्तरीय ब्राह्मण, (६।२४)—'विष्णुर्यज्ञो देवेभ्य आत्मानमन्तरधात् तमन्य देवता

पोषक है । आधिदैविक देवों के लिए तो कहा जाता है कि देवगण भोजन नहीं करते, अमृत भाग को देख कर ही तृप्त हो जाते हैं । खाते-पीते भी हैं तो यज्ञ की बलि ।

(७) विमान प्रकरण में अश्विनी कुमारों के द्वारा भुज्यु की रक्षा करने का उल्लेख किया गया है । सामुद्री जहाज के द्वारा तीन दिन और तीन रात चल कर के उन्होंने भुज्यु को तट पर पहुँचाया । विशेष विवरण पीछे दिया जा चुका है । यहाँ केवल संकेत में यह कहना है कि अश्विनीकुमारों को जहाज का आश्रय लेकर तीन अहोरात्र परिश्रम करना पड़ा, यह भी उन दोनों देवों के भौतिक पक्ष पर ही प्रकाश डालता है । सर्व शक्तिसम्पन्न आधिदैविक जगत् के अश्विनीकुमारों को भौतिक साधन अपेक्षित न था और न तीन दिन-रात के अथक परिश्रम का ही प्रयोजन था ।

(८) वरुण देव ने एक विचित्र प्रेंख की रचना करायी थी । पृथ्वी और द्यौ की कल्पना करके मध्य में अत्यन्त गहरा समुद्र था । उस पर यन्त्रसंचालित नौका प्रेंख (Swing) के रूप में मशीन के द्वारा एक तट से दूसरे तट पर पहुँचा देती थी तथा उसमें बैठ कर पार करने में आनन्द का अनुभव होता था । किसी समय वशिष्ठ ने जाकर स्तुति से वरुण को प्रसन्न किया । उससे सन्तुष्ट होकर वरुण देव ने स्वयं अपने साथ उसमें बैठाकर उसका चमत्कार दिखाया ।[1] इस प्रत्यक्ष देखे चमत्कार का निर्देश वशिष्ठ ने किया है ।

इन्द्र और वरुण इन दोनों में किसका अधिक महत्त्व है इस प्रश्न को लेकर एक बार विवाद उपस्थित हो गया था । कुछ ऋषि इन्द्र को बड़ा मानने वाले थे, कुछ वरुण को । वशिष्ठ का वरुण से यद्यपि प्राचीन परिचय पर्याप्त था तथापि इस अवसर पर उन्होंने

नाविदन् । इन्द्रस्त्ववेत् । विष्णुरिन्द्रमब्रवीत् को भवानिति । इंद्रोऽब्रवीत् दुर्गाणामसुराणां हंताहम् । भवान् कः । विष्णुरब्रवीत् अहं दुर्गादाहर्ताऽस्मि । त्वं तु दुर्गहन्तासीत्यतो वराहमसुरं जहि । स हि वराहो वाममुष एकविंशत्यां पुरां पारेऽश्मयीनां वसति । तस्मिन्नसुराणां वसु वाममस्ति । तत इन्द्रस्ताः पुरो भित्वा वराहस्य हृदयमविध्यत । ततस्तत्र यदासीत् तद् विष्णुराहरयत् ।।'

१. ऋग्वेद, सप्तममंडल––'तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमीरुपराः षडविधानाः । गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेंखं हिरण्मयं शुभेकम् ।।७।८७।५ आयद् रुहाव वरुणश्च नावं प्रयत्समुद्रमीरयावमध्यम् । अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेंख ईंखया वहै शुभेकम् ।।'७।८८।३

इन्द्र का पक्ष ग्रहण किया और वरुण से जो मित्रता थी उसकी उपेक्षा। इस पर वरुण वशिष्ठ से रुष्ट हो गये और उन्हें दण्ड देने की योजना की। इससे भयभीत होकर वशिष्ठ ने वरुण से क्षमा-याचना की। अपने पूर्व सख्य का उन्हें स्मरण दिलाया।[१] उनसे पूछा कि हमसे क्या अपराध हुआ जो आप अपने मुख्य स्तुति करने वाले सखा का वध करना चाहते हैं।[२] इस प्रकार स्तुति वाक्यों से वरुण की प्रसन्नता प्राप्त करके इन्द्र और वरुण दोनों की समानता मानते हुए दोनों की एक साथ उन्होंने स्तुति की।[३] अन्य महर्षियों ने भी मध्यस्थता करके दोनों को एक ही उद्घोषित किया जैसा कि मन्त्र में स्पष्ट है।[४] इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकरण में इन्द्र और वरुण की महत्ता का प्रश्न उनके आधिदैविक विज्ञान पर आधारित था और उसी आधार पर अन्त में दोनों की एकता का निर्णय हुआ। तथापि इस सबमें आधिभौतिक पक्ष भी स्पष्ट होता ही है। आधिभौतिक (ऐतिहासिक) इन्द्र और वरुण को आधार मान कर आधिदैविक प्रश्न का विवेचन हुआ था। यह अन्यत्र कहा गया है कि ये ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, वशिष्ठ आदि आधिभौतिक नामकरण का आधार भी आधिदैविक प्राण तत्त्व ही था।

ऋग्वेद दशम मण्डल में यम और यमी के संवाद का उल्लेख है। यम और यमी सहोदर भाई-बहन थे। यमी ने यम से अपने साथ विवाह करने का प्रस्ताव और अपने प्रस्ताव का समर्थन करने के लिए अनेक प्रकार की युक्तियों का सहारा लिया। परन्तु यम अपने धर्म में दृढ़ रहे और उसके प्रस्ताव का सर्वथा प्रत्याख्यान कर दिया।[५] यह आख्यान आधि-

१. "क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुराचित्।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते॥"––ऋ०, ७।८८।५

२. 'किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम्।
प्रतन्मे वोचो दूलभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥––ऋ०, ७।८६।४

३. 'सम्राडन्यः स्वराडन्य उच्यते वां महान्ताविन्द्रावरुणा महावसू।
विश्वेदेवासः परमे व्योमन् सं वामोजो वृषणासं बलं दधुः॥'––ऋ०, ७।८२।२

४. 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥'–ऋ०,१।१६४।४६

५. ऋग्वेद, १०।१।१०––

यमी के वाक्य––"गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उतद्यौः॥"५॥

भाव यह है कि विश्वरूप त्वष्टा देव सविता ने गर्भ में ही (एक साथ गर्भ में रख कर

भौतिक अर्थ मानने पर ही सुसंगत हो सकता है। सहोदर भ्रातृ-भगिनी का परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध सर्वथा अनुपपन्न है इसको दृढ़ करने के लिए इस आख्यान की कल्पना हुई है। प्राण रूप भ्रातृ भगिनी का भाव सम्भव नहीं है। तथापि यदि इसका आधिदैविक अर्थ भी किया जाय तो भी आधिभौतिक आधार का अपलाप नहीं होता।

इसी प्रकार दशम मण्डल में ही पणियों का सरमा के साथ संवाद है। वहाँ पणियों ने सरमा को अपनी सम्पत्ति में भागिनी बनाने का प्रलोभन देकर उसे अपने पक्ष के आश्रय में लाने का प्रयत्न किया था। परन्तु सरमा उनके प्रलोभन में नहीं पड़ी। इसका अन्यत्र उल्लेख हुआ है। यह आख्यान भी इसी आधिभौतिक अर्थ का पोषण करता है।

ब्रह्मजाया वृत्तान्त

देवताओं के पुरोहित बृहस्पति की पत्नी का चन्द्र ने अपहरण कर लिया था, बाद में अन्य प्रतिष्ठित पुरुषों के दबाव डालने पर चन्द्र ने बृहस्पति को उनकी पत्नी वापस कर दी।

दम्पती (जायापति) बना दिया है। इन प्रजापति कर्मों का कोई भी प्रत्याख्यान नहीं करता। इसे हम दोनों के गर्भ में ही दम्पति भाव को भूमि और द्यौः भी जानती हैं। (अतः हम से विवाह करो)

"किं भ्राता सद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं सं पिपृग्धि"॥११॥

भाव—जिस भ्राता के रहते स्वसा अनाथ रहे वह क्या भाई है; जिस स्वसा के रहते भाई दुःखित रहे वह क्या स्वसा है। काम से मूर्छित होकर मैं नाना प्रकार से प्रलपन करती हूँ यह जान कर मेरे शरीर से अपने शरीर को सम्पृक्त करो। (संभोग से आश्लेष करो)

यम के उत्तर का एक वाक्य ही उनकी दृढ़ता दिखाने के लिए यहाँ उद्धृत किया जाता है। यम उत्तर देते हैं :—"न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्" ॥१२॥

भाव—हे यमि! हम तुम्हारे शरीर से अपने शरीर को सम्पृक्त नहीं करते—तुम से संभोग नहीं करना चाहते। जो भाई स्वसा के साथ संभोग करता है वह पापकारी है, ऐसा शिष्टों का कहना है। मुझ से अन्य अपने योग्य व्यक्ति के साथ प्रमोद की कल्पना करो। तुम्हारा भाई इस कर्म की इच्छा नहीं करता।

इस आख्यान का संक्षिप्त उल्लेख ऋग्वेद दशम मण्डल में मिलता है।[१] प्राय: उससे मिलता हुआ वर्णन अथर्व वेद में भी प्राप्त है । ऋग्वेद के इस ताराहरण उपाख्यान के आधार पर अनेक पुराणों में विस्तार के साथ इसका वर्णन किया गया है । अपने-अपने ढंग से उनमें कथा का निर्वाह किया गया है । फलत: आवांतर घटनाओं में परस्पर कुछ विरोध भी दृष्टिगत होता है । उसके विस्तृत विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं है । इस सूक्त में वर्णित वृत्तान्त से यह पता चलता है कि बृहस्पति की जाया तारा का चन्द्र ने अपहरण किया था । अकूपार, सलिल आदि चन्द्र के मन्त्री थे उन्होंने इस कुकर्म का विरोध किया । घोर विरोध बढ़ने पर वरुण, मित्र तथा अग्नि के दबाव डालने पर इन सबके प्रभाव के कारण चन्द्र को दबना पड़ा और बिना लज्जा का अनुभव किये तारा को लौटाने के लिए वह तैयार हो गया । अग्नि देव हाथ पकड़ कर तारा को चन्द्र गृह से बाहर ले आये और बृहस्पति को सौंप दिया । गुरु ने चन्द्र के पास तारा को वापस लाने के लिए दूत भेजा था, वह अकृतकार्य होकर लौटा था । इसका समाधान यहाँ पर यह किया गया है कि तारा पतिगृह से किसी कारण से रुष्ट होकर चन्द्रराज के यहाँ शरणार्थ आयी थीं, अत: वे आधि (धरोहर) के रूप में थीं इसलिए उन्हें दूत के साथ लौटाना उचित न था। आधि का प्रत्यर्पण समक्ष में ही होना चाहिए इस नियम का पालन करने के लिए चन्द्र का दूत को लौटाना उचित था । यहाँ एक और सिद्धान्त का संकेत मिलता है । चन्द्रमा गन्धर्व जाति

१. ऋग्वेद, १०।१०९।१—६

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्विषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा ।
वीडुहरास्तप उग्रो मयो भूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन ।।
सोमो राजा प्रथमो ब्रह्म जायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः ।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ।।
हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन् ।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ।।
देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ।।
ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमंगम् ।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ।।
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत ।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ।।

के माने जाते हैं, अतः गांधर्व विवाह की प्रथा के अनुसार तारा और चन्द्र परस्पर अनुरक्त होकर दाम्पत्य बन्धन में प्रविष्ट हो गये थे । इसलिए यह नया विवाह न्यायसंगत था, उसे क्यों अमान्य ठहराया गया ? इस प्रश्न के समाधान में श्रुति कहती है कि बृहस्पति पहले ब्रह्मचारी होकर रहते थे परन्तु जब देवों का पौरोहित्य उन्हें स्वीकार करना पड़ा तथा देवों का प्रतिनिधित्व करके यज्ञ करने की भी आवश्यकता होने लगी, तब यज्ञ करने की अधिकारिता प्राप्त करने के लिए ब्राह्म विधि से उन्होंने तारा का पाणिग्रहण किया क्योंकि बिना पत्नी के यज्ञ करने की अधिकारिता नहीं आती । अग्नि साक्षिक ब्रह्म विवाह की अपेक्षा गांधर्व विवाह निम्न कोटि का समझा जाता है, अतः दोनों में ब्राह्म विवाह के प्रबल होने से वह अविच्छेद्य माना गया है । अथर्व वेद में इसको स्पष्ट कर दिया गया है ।[1] किसी स्त्री के पहले दश अब्राह्मण पति हो गये हों पर यदि एक बार ब्राह्मण ने पाणिग्रहण कर लिया तो वही पति माना जायगा । यहाँ अर्थवाद है ।

इस तारोपाख्यान में चन्द्र के अकूपार आदि मन्त्रियों का उल्लेख है जो स्पष्ट ही मनुष्य जातीय थे । बृहस्पति देवताओं के पौरोहित्य की अधिकारिता तभी प्राप्त कर सकते थे जब वे विवाहित होते । इसलिए उन्होंने विवाह किया । इससे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि वे मनुष्य जाति के थे क्योंकि आधिदैविक यज्ञ में पत्नी के साथ रहने की आवश्यकता नहीं है । तारोपाख्यान को अनेक विद्वानों ने भौतिक रूप में न लेकर ज्यौतिषतत्त्व का निदर्शक माना है । यहाँ इसकी समीक्षा असंगत होगी ।

इस प्रकार इस ताराहरणोपाख्यान से भी आधिभौतिक अर्थ की पुष्टि होती है । इसका आधिदैविक अर्थ भी किया गया है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु एतावता ऐतिहासिक तथ्य का अपलाप नहीं जाता । यह अनेक वार कहा गया है कि वेद के मन्त्र के अनेक अर्थ होते हैं । आधिदैविक अर्थ की प्रधानता होने पर भी आधिभौतिक अर्थ का माध्यम अवश्य रहता है । इस ताराहरण उपाख्यान से तत्कालीन गांधर्व विवाह और ब्राह्मविवाह की प्रथाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । साथ ही तत्कालीन राजसत्ता और राजाओं पर मन्त्रियों का तथा सर्वसाधारण मत का भी प्रभाव परिलक्षित होता है । मंत्रिगण राजाओं के प्रभाव से अभिभूत न होकर स्पष्ट रूप से अपना निष्पक्ष मत देते थे इसका भी इसमें संकेत मिलता है । आर्यों में ही परस्पर संघर्ष का जो प्रसंग उपस्थित हो गया था

१. अथर्ववेद, ५।१७—'उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः । ब्रह्मा चेद्धस्तम- ग्रहीत्, स एव पतिरेकधा ।।'

उसे सब विशिष्ट व्यक्तियों ने मिल कर किस प्रकार शान्त कर दिया, यह भी सिद्ध होता है ।

आधिभौतिक अर्थ की सत्ता के प्रतिपादन के लिए ये थोड़े-से प्रमाण पर्याप्त हैं । वास्तव में अन्य प्रकरण में––विज्ञान, शिल्प, समाज-व्यवस्था आदि में जो विवरण है वह सब भी आधिभौतिक अर्थ की सिद्धि में सहायक है । इस प्रकरण में पूर्व में निदर्शन रूप जिन तत्त्वों का उल्लेख हुआ है उनमें से अनेक भिन्न प्रकरणों में भी प्रसंगवश उल्लिखित हुए हैं और अतः पुनरुक्त हैं । परन्तु एक ही तथ्य का अनेक प्रसंगों में समन्वय होने के कारण विषय की सुबोधता के लिए प्रसंग प्राप्त उनका उल्लेख आवश्यक प्रतीत हुआ । इस दृष्टि से पुनरुक्त दोष का मार्जन हो जाना चाहिए ।

प्राचीन भारत की सीमा

प्राचीन देव युग में अधिदैव और अध्यात्म में तथा इन्हीं दोनों के साम्य से अधिभूत में भी त्रैलोक्य की कल्पना हुई थी । इन्हीं तीनों को क्रमशः दिव्य त्रैलोक्य, शारीर त्रैलोक्य और भौम (पृथ्वी स्थित) कहा जाता है । दिव्य त्रैलोक्य में यह सम्पूर्ण पृथ्वी अग्नि लोक है; सूर्य द्यौः अर्थात् स्वर्ग इन्द्रलोक है तथा इन दोनों के मध्य का भाग अन्तरिक्ष वायु लोक है । इस त्रैलोक्य के तीन अग्नि, वायु और इन्द्र ये तीन मुख्य देवता हैं और इन्हीं में तैंतीस देवताओं का (आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा दो अश्विनीकुमार) सन्निवेश है । इसी प्रकार शरीर में त्रैलोक्य इस प्रकार माना गया है–– गुद से नाभि पर्यन्त भाग पृथ्वी, हृदय भाग द्यौ और कण्ठ के अन्तर का भाग अन्तरिक्ष है । अथवा उदरगुहा अग्निलोक (पृथ्वी) उरोगुहा वायुलोक (अन्तरिक्ष) और शिरोगुहा इन्द्र लोक (स्वर्ग) है । तथा देवस्थानीय सब प्राण इन्हीं तीनों में स्थित हैं । इसी प्रकार प्राचीन देव युग में भौम त्रैलोक्य की कल्पना भी आधिदैव के समान ही की गयी थी । मनुज, तिर्यग्योनि तथा देवगण क्रमशः इस भौम त्रैलोक्य के निवासी माने जाते थे । मानुष लोक पृथ्वी, तिर्यग्योनि (गन्धर्व यज्ञादि) का लोक अन्तरिक्ष और देवगण की निवास भूमि स्वर्ग नाम से व्यवहृत थी । वैवस्वत मनु की प्रजा होने के कारण भौम पृथ्वी के निवासी मनुज नाम से कहे जाते थे । अधिदैवत के अनुसार ही पृथ्वी स्थित मनुजों के अधिपति अग्नि, अन्तरिक्ष के अधिपति वायु और स्वर्ग के अधिपति इन्द्र कल्पित किये गये थे । दक्षिण समुद्र से लेकर हिमालय पर्वत पर्यन्त पृथ्वी लोक, अलतायि पर्वत से प्रारम्भ होकर उत्तर समुद्र पर्यन्त भाग स्वर्ग नाम से तथा हिमाचल से अलतायि पर्वत तक का मध्य भाग अन्तरिक्ष कहलाते

थ । अग्नि की प्रजा मनुष्य भारतवर्ष में मनु के द्वारा शासित थे तथा उत्तर कुरु में ऐन्द्री प्रजा के रूप में देवगण थे। इस समय जितना रूस का भाग है वह सम्पूर्ण उस समय का स्वर्ग माना जाता है। साइबेरिया अपराजिता दिक् नाम से व्यवहृत थी। यद्यपि कालदोष से तथा प्राकृतिक परिवर्तन से इस समय साइबेरिया अशिक्षित जनता से युक्त है । उससे उत्तर का प्रान्त अत्यन्त तुषार से आक्रान्त है। परन्तु प्राचीन काल में वह अत्यन्त रमणीय भूखण्ड था । अनेक प्रकार के उद्यानों से तथा विवुध जनता से सम्पन्न नगर वहाँ थे । अनेक प्रकार के वृक्ष, वन, पशु आदि थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उपलब्ध होता है जब वहाँ जल और तुषार के भीतर स्थलीय पशु-पक्षी आदि के अवशेष यत्र तत्र मिलते रहते थे । इसी से सिद्ध होता है कि पुराणोक्त वर्णन के अनुसार उत्तर समुद्र के स्थान में पशुओं से युक्त वन-उद्यान, पुर आदि थे और वहीं देवगण निवास करते थे । तुषार वर्षण की प्रवलता के कारण कालान्तर में वह सब व्यवस्था नष्ट-भ्रष्ट हो गयी; यह प्राकृतिक परिणाम है। इसीलिए जब तीनों त्रैलोक्य माने गये थे तब वेदादि के अर्थ करने में कहाँ कौन त्रैलोक्य माना जाय इसकी यह व्यवस्था थी जहाँ वैज्ञानिक प्राण देवों का प्रकरण हो वहाँ आधिदैविक त्रैलोक्य समझा जाय । परन्तु जहाँ ऐतिहासिक प्रकरण प्राप्त हो वहाँ भौम स्वर्ग ही मानना सर्वथा उचित होगा । ('इन्द्रविजय' के आधार पर)

भारतीय संस्कृति के विस्पष्ट ज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि प्राचीन भारत की सीमा कहाँ तक थी यह समझ लिया जाय क्योंकि उसी सीमा के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति का प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगत होगा। जितने भी भारतीय आचार, व्यवहार, कला-कौशल आदि हैं वे सब प्राचीन ग्रन्थों में उपनिबद्ध हैं । उन ग्रन्थकर्त्ताओं ने अपने समय के भारत का चित्र प्रस्तुत किया है । आज का भारत उसकी अपेक्षा अत्यन्त संकुचित हो गया है । पूर्व काल की बात तो दूर रही । अभी १५-२० वर्ष पूर्व भारत की जो सीमा थी वह भी आज नहीं है । प्राचीन भारतीय ग्रन्थों के अनुशीलन से पता चलता है कि भारत की पूर्वीय और पश्चिमी सीमाएँ बहुत अधिक विस्तृत थीं । भारत की पूर्वीय सीमा **चीन सागर** था । इस सीमा के अन्तर्गत ब्रह्मदेश (बर्मा) स्याम आदि सम्मिलित थे । भारत की पश्चिमी सीमा रक्त-समुद्र (भूमध्यसागर) तक थी । इस सीमा के अन्तर्गत वर्तमान पाकिस्तान, बिलोचिस्तान, ईरान, मेसापोटेमिया और अरब भी सम्मिलित थे । वर्तमान अफगानिस्तान भी इसी के अन्तर्गत था । इस प्रकार पूर्वी चीन समुद्र से पश्चिम में लाल सागर तक का भाग भारत कहा जाता था । इस विषय में स्वर्गीय म. म. मधुसूदन झा ने चौदह प्रमाण उपस्थित किये हैं, उनमें से कुछ यहाँ लिखे जाते हैं ।

१. ऋग्वेद के मण्डल १० के ८६ सूक्त से प्रारम्भ कर आगे के सूक्तों में एक वाक्-कलह का संकेत प्राप्त होता है। ऋज्राश्व ऋषि का दौहित्र एक जरस्थुत्र नाम का व्यक्ति था उसके हृदय में स्वभावतः उस काल के अन्य ब्राह्मणों से द्वेष था। ब्राह्मण द्वेष के कारण ही उसने ब्राह्मी लिपि के विरुद्ध उल्टी लिखी जानेवाली खरोष्ठी लिपि का प्रसार किया। उसी के समय वाह्लीक देश में ऋषियों में एक विचार-संघर्ष, वाक्समर, उठ गया। सौत्रामणि इष्टि (यज्ञ) में ऋषि लोग इस विषय पर झगड़ पड़े कि इन्द्र को प्रधान देवता माना जाय अथवा वरुण को। जरथुस्त्र ने परम्परा से चले आते हुए इन्द्र के प्राधान्य को अस्वीकार किया और उनके स्थान पर वरुण के प्राधान्य को प्रतिष्ठित किया। इसका संकेत 'नेन्द्रं देवममंसत'—अर्थात् इन्द्र को देव '(प्रधान देव) नहीं माना—इस मन्त्रांश में पाया जाता है। उपस्थित ऋषियों में नृमेधा, हिरण्यस्तूप, वामदेव, गार्ग्य आदि ने इन्द्र का पक्ष लिया और सुपर्ण, काण्व, भरद्वाज आदि ने वरुण का पक्ष ग्रहण किया। वसिष्ठ आदि ऋषियों ने अपने-अपने स्थान पर दोनों को समान माना। इस सम्बन्ध के भिन्न-भिन्न ऋषियों के सूक्त वहीं हैं और इन्द्राणी के क्रोध एवं इन्द्रकृत और अन्य ऋषि कृत उनकी सान्त्वना के मन्त्र भी हैं। (इस इन्द्राणी के क्रोध का विशेष विवरण राजनीति प्रकरण में हुआ है)। यह विरोध बहुत अधिक बढ़ गया तब मनुष्यावतारधारी ब्रह्मा ने जो बड़े विद्वान् महाप्रभावशाली और महातेजस्वी थे और जो इन दोनों (इन्द्र और वरुण) पर आधिपत्य रखते थे, भारत के दो विभाग कर दिये। सिन्धु नदी से पश्चिम का भाग वरुण को प्रधान मानने वालों को तथा पूर्व का भाग इन्द्र को प्रधान मानने वालों को दिया। इस घटना से भारतीय सीमा के अतिविस्तृत होने का प्रमाण मिलता है क्योंकि इससे सिद्ध हो जाता है कि सिन्धु नदी भारत के मध्य में है, न कि पश्चिम सीमा पर। सिन्धु को मध्य में मानने पर जितना प्रदेश सिन्धु के पूर्व में है उतना ही पश्चिम में माना जायगा। और वह भूमध्यसागर तक पहुँचता है।

२. बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है[१] कि जनक की सभा में ब्रह्मवेत्ताओं का जो

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ३।७—'अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेस्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद् भार्या गंधर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत् पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाँश्च वेत्थनुत्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृन्धानि भवन्तीनि सोऽब्रवीत् पतञ्चलः काप्यो नाहं तद् भगवन् वेदेति × × × × तदहं

सम्मेलन हुआ था उसमें याज्ञ वल्क्य ने अपने को ब्रह्मवेत्ताओं में प्रधान सिद्ध करने के लिए तत्रत्य ब्रह्मविद् ऋषियों से वाद किया था । अनेक ब्रह्मवेत्ताओं ने पृथक्-पृथक् याज्ञ-वल्क्य से अनेक प्रकार के प्रश्न किये थे जिन सबका समीचीन उत्तर याज्ञवल्क्य क्रमशः देते जाते थे । इसी प्रसंग में उद्दालक आरुणि ऋषि ने याज्ञवल्क्य से कहा 'कि हम मद्र देश में पतञ्चल काप्य के गृह में यज्ञ विद्या का अध्ययन करते हुए निवास करते थे उस समय उनकी स्त्री को गन्धर्व का आवेश हुआ था । उससे हम लोगों ने पूछा कि तुम कौन हो ? उसने उत्तर दिया कि मैं कबन्ध आथर्वण हूँ । उसने पतञ्चल काप्य से तथा याज्ञिकों से पूछा कि काप्य ! क्या तुम वह सूत्र जानते हो जिसके द्वारा यह लोक (पृथ्वी लोक) तथा परलोक तथा सब भूत संदृब्ध (बँधे हुए) रहते हैं । पतञ्चल काप्य ने कहा 'भगवन् ! हम उसे नहीं जानते । उद्दालक ने कहा कि हम उस सूत्र को जानते हैं । तुम यदि उस सूत्र को न जानते हुए इस ब्रह्मगवी (प्रथम पुरस्कार जिसे याज्ञवल्क्य ने ग्रहण कर लिया था) को ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा । याज्ञवल्क्य ने इनके प्रश्नों का समीचीन समाधान कर दिया था । यहाँ के प्रसंग में यही द्रष्टव्य है कि मद्र देश में याज्ञिक विद्वानों का केन्द्र था जहाँ दूर से याज्ञिक गण यज्ञ विद्या के अध्ययन के लिए एकत्र होते थे । यज्ञ-विद्या के अध्यापक काप्य ऋषि की निवास भूमि मद्र देश ३५ उत्तर अक्षांश तथा ग्रीनवीच रेखा से पूर्व देशान्तर में ४८ अंश तथा उज्जयिनी मध्य रेखा से २८ अंश पश्चिम में सन्निविष्ट है । जिस प्रकार दक्षिण-उत्तर विहार, दक्षिण-उत्तर कोशल, पूर्व-उत्तर पंचाल, दक्षिण-उत्तर कुरु इस प्रकार सिन्धु नद के पूर्व के देश दो भागों में विभक्त थे इसी प्रकार ये सिन्धु से पश्चिम का मद्र देश भी दक्षिण-उत्तर, दो भागों में विभक्त था । इन दोनों को पूर्व काल में म्लेच्छ लोग **मिडिया** कहते थे । किन्तु इस समय उत्तर मद्र को खुरासान शब्द से तथा दक्षिण मद्र को पर्सिया शब्द से व्यवहृत करते हैं । देश विशेषों की सीमा भेद तथा नाम भेद समय के अनुसार बदलता रहता है, यह प्रकृति सिद्ध है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भारत की सीमा सिन्धु नद के पश्चिम भाग में विस्तृत थी ।

३. मार्कण्डेय पुराण आदि के भुवन कोशों के वर्णन में यह मिलता है कि भारत-वर्ष तीनों ओर समुद्र से सीमित था । मार्कण्डेय पुराण[२] में लिखा है कि यह भारतवर्ष

(उद्दालकः) वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वांस्तंचान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति ।'

२. मार्क०, अध्याय ५४—'एतत्तु भारतं वर्षं चतुःसंस्थान संस्थितम् । दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः । हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ।'

चतु: संस्थान है । इसके दक्षिण में, पूर्व में तथा पश्चिम में महोदधि हैं और उत्तर में हिमवान् पर्वत है जो धनुष् की ज्या के समान फैला हुआ है । नर्मदा का समुद्र से जहाँ संगम हुआ है वह सह्याद्रि से पश्चिम का समुद्र (Arabian Sea) भारतवर्ष की पश्चिम सीमा का समुद्र नहीं हो सकता । वह दक्षिण भाग के पश्चिम में होने पर भी आर्यावर्त साधारण भारत की अपेक्षा पश्चिम में नहीं है । मनुस्मृति आदि आर्यों के प्रामाणिक शास्त्रों में आर्यावर्त से पूर्व और पश्चिम में समुद्र की सीमा कही गयी है । जैसा कि मनुस्मृति में मिलता है 'असमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्, तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ।' अर्थात् हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य में पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक 'आर्यावर्त' कहा जाता है । यह भारतवर्ष के अन्तर्गत आर्यावर्त की सीमा का निर्देश है । यहाँ पूर्व समुद्र और पश्चिम समुद्र से बंगाल की खाड़ी या अरब सागर से अभिप्राय नहीं हो सकता क्योंकि जैसा पूर्व में कहा गया है ये दोनों समुद्र आर्यावर्त के पूर्व और पश्चिम में नहीं पड़ते वे दक्षिण भारत के प्रायद्वीप के ही पूर्व-पश्चिम में अवस्थित हैं । अतः दोनों ओर समुद्र की सीमा-पूर्व और पश्चिम में क्रमशः चीन सागर और भूमध्य सागर ही हो सकते हैं ।

४. वायु पुराण में भारतवर्ष की सीमा के प्रकरण में लिखा है—'पूर्वे किराता यस्यान्ते पश्चिमे यवनाः स्थिताः । आन्ध्रा दक्षिणतो वीरतुरुष्कास्त्वपि चोत्तरे ।' अर्थात् भारतवर्ष के पूर्व में किरात तथा पश्चिम में यवन स्थित है । दक्षिण में आन्ध्र हैं तथा वीर तुरुष्क उत्तरमें है। दुरुष्क स्थान म्लेच्छ भाषा में 'तुर्किस्तान' तूरान, तातार, तारतार, टारटरी इत्यादि से कहा जाता है । राजशासन दो होने के कारण आज कल वह दो भागों में विभक्त हो गया है—पूर्वीय और पश्चिमीय । इन दोनों में पूर्व का भाग पूर्व भारत तथा पश्चिम भाग पश्चिम भारत की सीमा में है । सिन्धुस्थान और पारस्थान इन दो भागों में विभक्त भारतवर्ष के उत्तर में उत्तर तुरुष्क के दोनों भागों में समान रूप से अवस्थित हैं । इस प्रकार तुर्किस्तान को भारतवर्ष की उत्तर सीमा कहने के कारण अफगानिस्तान, ईराक आदि देशों का भारतवर्ष की सीमा के अन्तर्गत अवस्थिति सर्वथा सिद्ध हो जाती है । यहाँ कालिदास के 'कुमार संभव' का प्रथम श्लोक भी द्रष्टव्य है । हिमालय के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि उत्तर दिशा में हिमालय नाम का पर्वताधिराज है जो पूर्व और पश्चिम समुद्रों का अवगाहन करके पृथ्वी के मानदण्ड के समान स्थित है ।[१] यहाँ तो बिलकुल

१. कुमार सम्भव, प्रथम श्लोक—

'अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ।।'

हीं स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व और अपर समुद्र, चीन समुद्र और भूमध्य समुद्र के अतिरिक्त अन्य कोई समुद्र सम्भव ही नहीं है। इसी प्रकार पश्चिम सीमा में यवनों की स्थिति जो वायु आदि पुराणों में बतायी गयी है[1] वह भी जरूसलम, यहूदिया प्रान्तवासी यहूदी जाति के लिए उपयुक्त हुआ प्रतीत होता है। मुस्लिम जाति के लिए यवन शब्द का प्रयोग अर्वाचीन है। क्योंकि पौराणिक काल में मुस्लिम धर्म का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था। यमन, हेजाज, तिहामा, नेजद, ऐमामा इस प्रकार पाँच भागों में विभक्त अरब देश का रक्त समुद्र के कूल में अवस्थित जितना प्रदेश है वही यमन यवन शब्द से पुराणों में कहा गया है। इस प्रकार इन प्रमाणों के आधार पर भी पश्चिम भारत की सीमा रक्तसागर तक सिद्ध हो जाती है। ग्रीक लोगों के लिए भी यवन शब्द का प्रयोग कुछ लोग मानते हैं परन्तु यमन देश के लिए ही यवन का प्रयोग युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

५. व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में भारतवर्ष की सीमा का उल्लेख किया है—'प्रागदर्शात् प्रत्यक् कालकवनात् दक्षिणेन हिमवन्तम् उत्तरेण पारियात्रम्।' अर्थात् आदर्श से पूर्व, काल के वन से पश्चिम, हिमालय से दक्षिण और पारियात्र से उत्तर भारत कहलाता है। इसमें आदर्श से तात्पर्य भूमध्य-सागर के उत्तर प्रान्त में स्थित तारस पर्वत से है। अथवा नूरस पर्वत को (जिसे सिनाई पर्वत भी कहते हैं) आदर्श पर्वत के नाम से गृहीत किया जा सकता है। यह आदर्श पर्वत पश्चिम समुद्र या यहूदी नाम के यवन देश के समीप है। कुछ विद्वान् महाभाष्य के इस आदर्श शब्द से सिन्धु नदी के दक्षिण में स्थित सुलेमान पर्वत को लेते हैं। परन्तु यह युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि पश्चिम सीमा में यवन जाति का जो उल्लेख है उससे समन्वय की दृष्टि से सुलेमान पर्वत को आदर्श मानने से अनुपयुक्त हो जाता है।

६. पद्मपुराण और मत्स्यपुराण में पृथ्वी को चार दल का कमल बताया गया है—भगवान् ने नाभि से एक पद्म को उत्पन्न किया जो हजारों वर्णों का था जिसमें रज नहीं था अर्थात् जो विशुद्ध था, सूर्य के समान उसकी आभा थी, वह हिरण्यमय था। उस हिरण्यमय पद्म पर महातेजस्वी, सारे संसार के निर्माता, चारों ओर मुख रखने वाले ब्रह्मा को उत्पन्न किया। वही पद्म आगे चलकर पृथ्वी रूप में परिणत हुआ। वही

१. मत्स्य पुराण और मार्कण्डेय पुराण में भी पूर्व और पश्चिम में किरात और यव का उल्लेख है।

पद्म रसा देवी पृथ्वी कही जाती है।[1] वह पद्म चार दल (पंखुड़ियाँ) वाला था। इस विषय में मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि यह जो पृथ्वी पद्म है जिसे हमने चतुष्पत्र बतलाया है उसके भद्राश्व, भारत आदि चार पत्र हैं।[2] यहाँ दो ही पत्रों का नाम निर्देश है परन्तु ब्रह्मपुराण में चारों का निर्देश किया गया है उसमें भारत, केतुमाल, भद्राश्व और कुरु ये चार पत्र कहे गये हैं।[3] अर्थात् उस समय सारी पृथ्वी इन्हीं चार भागों में विभक्त थी, यहाँ कुरु शब्द से उत्तर कुरु अर्थात् सुमेरु प्रान्त का ग्रहण है। ये चारों परिमाण की दृष्टि से समान थे जो भूगोल-खगोल के कल्पित नब्बे-नब्बे अंशों में विभक्त थे। इसका साक्ष्य सूर्यसिद्धान्त के भूगोलाध्याय में स्पष्ट किया गया है।[4] इसके अनुसार लंका और सुमेरु का स्पर्श करती हुई जो रेखा है उसको भारतवर्ष की मध्य रेखा कहा गया है।[5] अतः उसके पूर्व के पैंतालीस अंश और पश्चिम के पैंतालीस अंशों से व्याप्त जो भूभाग है

१. 'पद्मं नाभ्युद्भूवं चैकं समुत्पादितवाँस्ततः।
सहस्रवर्णं विरजं भास्काभं हिरण्मयम् ॥
पद्मे हिरण्मये तस्मिन्नसृजद् भूरिवर्चसम्।
स्रष्टारं सर्वलोकानां ब्रह्माणं सर्वतोमुखम् ॥
तच्च पद्म पुरा भूतं पृथिवी रूपमुत्तमम्।
यत्पद्मं सा रसादेवी मही पुष्करसम्भवा ॥' (पद्म पु० सृ० ४० अ०, मत्स्य०, १६९)

२. 'तदेतत्पार्थिवं पद्मं चतुष्पत्रं मयोदितम्।
भद्राश्व भारताद्यानि पत्राण्यस्य चतुर्दिशम् ॥'—मार्कण्डेय पुराण।

३. 'भारताः केतुमालाश्च भद्राश्वाः कुरवस्तथा।
पत्राणि लोकपद्मस्य मर्यादाशैलबाह्यतः ॥'—ब्राह्म पु०।

४. 'भूवृत्तपादे पूर्वस्यां यमकोटीति विश्रुता।
भद्राश्व वर्षे नगरी स्वर्ण प्राकार तोरणा ॥
याम्यायां भारते वर्षे लंका तद्वन्महापुरी।
पश्चिमे केतुमालाख्ये रोमकाख्या प्रकीर्तिता ॥
भूवृत्त पाद विवरास्ताश्चान्योन्यं प्रतिष्ठिताः।
तासामुपरिगो याति विषुवस्थो दिवाकरः ॥'—सूर्यसिद्धान्त, भगोलाध्याय।

५. 'यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरु क्षेत्रादि देशान् स्पृशत्।
सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः ॥'—सू० सि०।

वही भारतवर्ष है, यह सिद्ध होता है। भारतवर्ष से पूर्व में नव्वे अंश भद्राश्व वर्ष है और भद्राश्व से उत्तर की ओर नव्वे अंश उत्तर कुरु वर्ष है। उसके बाद उतने ही अंश का केतुमाल वर्ष आता है। इस प्रकार भूपद्म के चार दलों का वर्णन मिलता है। भारतवर्ष की मध्य-रेखा उज्जयिनी पर मानी गयी है। यह उज्जयिनी २३।९ अक्षांश में स्थित है। पाश्चात्य विद्वान् ग्रीनविच से मध्यरेखा की गणना करते हैं। उज्जयिनी से होकर गयी हुई भारतीय मध्यरेखा और पाश्चात्य विद्वानों की सम्मत ग्रीनविच मध्यरेखा में ७५।७३ अंशों का अन्तर है। इस प्रकार, भूमध्यरेखा पर स्थित उज्जयिनी से ४५ अंश पश्चिम तक भारत की पश्चिम सीमा सिद्ध होती है और वह प्रदेश भूमध्य सागर के समीप ही ठहरता है।

७. प्राचीन काल में भारतवर्ष की सीमा अत्यन्त विस्तृत थी, इस सम्बन्ध में प्राचीन काल और आधुनिक काल में देशों के नामों की तुलना करने से भी सहायता मिलती है। यह ऊपर में लिखा जा चुका है कि इन्द्र और वरुण की प्रधानता के सम्बन्ध में विरोध बढ़ने पर ब्रह्मा ने भारतवर्ष के दो विभाग कर दिये थे। एक सिन्धु नदी के उस पार का लालसागर तक का प्रदेश और दूसरा सिन्धु से पूर्व का प्रदेश। इस प्रकार विभाग होने के बाद सिन्धु के पार वाले लोग पूर्व भाग के लोगों को **सिन्धु स्थानीय** कहने लगे। इसी शब्द का विकृत रूप हिन्दुस्तानी हो गया। इसी प्रकार पूर्वीय तट वाले लोग पश्चिम वालों को **पारस्थानीय** कहने लगे। यही शब्द आज पारसी रूप में उपस्थित है। इस प्रकार सिन्धुस्थान और पारस्थान शब्द एक दूसरे की अपेक्षा से स्थिर हुए थे। एक ही देश भारतवर्ष के दो भाग हुए थे, अतः भारतवर्ष दोनों में समान रूप से उपयुक्त हुए थे। भागी और भागों में भेद नहीं माना जाता। इस प्रकार पूर्वीय भाग के लिए 'आर्यावर्त' यह संज्ञा प्रसिद्ध हुई जैसा कि मनुस्मृति के लक्षण से ऊपर में स्पष्ट हुआ है। इसी तरह पश्चिम भाग का निर्देश 'आर्यायिण' शब्द से हुआ। आवर्त और अयन इन दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही है। वही आर्यायिण शब्द भाषाविज्ञान के नियम से विकृत होकर ईरान बन गया। ये दो संज्ञाएँ दोनों भागों में आर्यों की स्थिति और उनकी प्रधानता का समान रूप से संकेत करती हैं और भारत के सीमा-विस्तार का समर्थन करती हैं।

लालसागर से पूर्व और सिन्धु नदी से पश्चिम कास्पियन सागर के दक्षिण भाग के प्रदेश के पुराने लोग ओरियन्स (Oriens) शब्द का व्यवहार करते थे। यह शब्द आर्य वंश का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। यह अनुमान भी असंगत नहीं है कि ब्राह्मण-विरोधी जरथुस्त्र के अनुयायिगण विपरीतगामी होने के कारण 'वामग' कहलाये—उसी का 'वा' टूट कर 'मग' जाति प्रसिद्ध हुई और प्राचीन आर्यों के विरोधी होने के कारण

उन्हें आर्यों का बाधक 'आर्यस्पश' कहा गया । उनका देश भी 'आर्यस्पश' कहलाया और यही शब्द 'आर्यस्य' और क्रमशः बिगड़ कर 'ओरियन्स' के रूप में आ गया । कुछ भी हो, वह ओरियन्स देश 'आर्यों का निकेतन' सिद्ध होता है और इस संज्ञा से भी पश्चिम विभाग में आर्यों का निवास स्पष्ट होता है । इसी प्रकार एरियाना शब्द, इण्डियाना और वाम-नियाँ शब्द भी वहाँ आर्यनिवास मूलक ही प्रतीत होते हैं ।

बहुत बाद में प्रयुक्त होने वाले 'खुरासान' शब्द से भी इस विषय में प्रकाश पड़ता है। पश्चिमी भाग के राजा वरुण थे । वसिष्ठ ऋषि उनके बड़े मित्र थे । यह बात मन्त्र भाग में ही स्पष्ट रूप से मिलती है तथा इसका अन्यत्र उल्लेख हुआ है । पुराणों में कथा प्रसिद्ध है कि कान्यकुब्ज के राजा विश्वामित्र किसी समय वसिष्ठ की गौ नन्दिनी का अपहरण करने के लिए प्रवृत्त हुए थे । नन्दिनी विश्वामित्र के साथ जाना नहीं चाहती थी । हठात् हरण करने पर उसको बहुत क्रोध आया और क्रोधवश उसने उस भूमि को अपने खुरों के प्रहार से खोद डाला । इस बलात्कार से गौ नन्दिनी का अपहरण ऋषि वसिष्ठ को भी असह्य हुआ और उन्होंने वरुण से सहायता माँगी । वरुण न पल्हव, यवन, शक, पारद और कम्बोजों को उनकी सहायता के लिए भेजा । इन गणों ने सेना समेत विश्वा-मित्र को पराजित किया और नन्दिनी की रक्षा की । नन्दिनी के खुरों से भूमि के खोदे जाने के कारण उस प्रदेश के निवासियों के नाम खुरध, खुरद तथा कुर्द हुए और इनके जनपद के नाम खुर्दस्थान या खुरासान हुए । यह खुरासान शब्द जिसका प्रयोग अकबर प्रभृति मुगल बादशाहों ने किया है पश्चिमी भारत को भारत के अन्तर्गत सिद्ध करने के लिए उपयुक्त हो सकता है । पश्चिम के देश के लिए प्रयुक्त होने वाला ईरान शब्द भी आर्यायण से निकला है और वहाँ आर्यों का निवास था, यह कहा जा चुका है । इन उपरि-लिखित कतिपय प्रमाणों से यह सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि प्राचीन भारत की सीमा सिन्धु नदी से पश्चिम में भी ४५ अंश तक विस्तृत थी । इन्द्र विजय में और भी अनेक प्रमाण दिये गये हैं जो विस्तार के भय से यहाँ छोड़ दिये गये हैं ।

इस प्रसंग में यह और ध्यान देने योग्य है कि भुवन-कोश में देश विभागों का निरूपण दो प्रकार से होता है । एक राज्य शासन के अनुसार व्यवस्थित होता है । दूसरा भौगोलिक गणित व्यवस्था के अनुसार होता है । इनमें राज्य शासन के द्वारा जो विभाग होता है वह अनित्य, अव्यवस्थित होता है और समय पर राज्य शासन के परिवर्तन के साथ बदलता रहता है । जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वर्तमान भारत से पाकिस्तान तथा बर्मा के पृथक् होने से स्पष्ट है । जो देश जिस राजा के द्वारा जीते जाते हैं उनके नाम भी बदल जाते हैं और भिन्न नामकरण हो जाता है । इसी कारण से भारतीयों के गान्धार देश अफगानि-

स्तान शब्द से, हिङ्गल देश प्रथम सुगदिया नाम से और बाद में बलूचिस्तान नाम से व्यवहृत होने लगे। इसी प्रकार पारस्थान (जो पूर्व में भूमध्यसागर तक विस्तृत था) पर्सिया शब्द से, ईरान शब्द से, कैलडिया, असरिया, ईराक, मैसापोटेमिया आदि से व्यवहृत होने लगा। वर्मा देश जो पूर्व में भारतवर्षीय देश था मध्ययुग में हिन्दुस्तान से पृथक् गिना जाने लगा था। वही फिर हिन्दुस्तान के अन्तर्गत माना गया और अब फिर पृथक् हो गया है। इसी नियम के अनुरोध से पश्चिम भारतवर्ष इस समय में भिन्न-भिन्न शासन के कारण राजपुरुषीय व्यवहार-विशेष से भारतवर्ष नाम से विहीन हो गया। तथा भारत वर्ष हिन्दुस्तान मात्र में संकुचित हो गया। किन्तु वास्तव में भारतवर्ष और हिन्दुस्तान पर्यायवाची नहीं थे। भारतवर्षीय भुवनकोश के अनुसार, राजशासन व्यवस्था की अपेक्षा न रख कर स्वतन्त्र रूप से भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार प्रशान्त समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र (भूमध्यसागर) तक देशों के लिए भारतवर्ष शब्द नियत हुआ है। और सिन्धु-स्थान तथा पारस्थान इन दो भागों में विभक्त होने के कारण हिन्दुस्तान जो कि सिन्धु-स्थान का ही अपभ्रंश है भारतवर्ष का ही एक भाग मात्र था। राज्य शासन-व्यवस्था के अन्यान्य होने पर भी नित्य व्यवस्थित इस प्रकार का संज्ञाकरण कभी विचलित नहीं होता। इस दृष्टि से पश्चिम भारत के अफगानिस्तान, खुरासान, ईरान आदि नामों से विभक्त होने पर भी वे भारतवर्ष के ही भाग कहे जाते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि वे हिन्दुस्तान नहीं कहे जा सकते क्योंकि हिन्दुस्तान सिन्धु नदी के पूर्व के देशों में ही रूढ़ हुआ है परन्तु भारतवर्ष शब्द जो व्यापक है अब भी सिन्धु नदी के पश्चिम भाग के लिए भी पूर्ववत् ही अक्षुण्ण है।

यह प्रश्न उठता है कि जब सिन्धु से पश्चिम के लालसागर तक के भारतीय प्रदेशों की ईरान, फारस, खुरासान आदि संज्ञाएँ बतायी गयी हैं तब बहुत समय से ये नाम, विशेष भूभाग या विशेष देशों के वाचक कैसे हो गये। आज ईरान, खुरासान आदि शब्द लाल सागर तक के प्रदेश के वाचक नहीं हैं अपितु संकुचित देशविशेषों के वाचक हैं। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार इन्द्रप्रस्थ, द्वारका और लंका नाम के प्रदेश प्राचीन काल में आज की बहुत अपेक्षा विस्तृत थे परन्तु कालक्रम से विभिन्न राजाओं के अधिकार में सीमाओं का संकोच और विस्तार होते रहने से आज इनका यह छोटा सीमित रूप रह गया है। यही बात इन पश्चिमी देशों की संज्ञाओं में भी घटित होती है। विभिन्न समयों में पश्चिमी प्रदेशों में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण अनेक राज्य वहाँ बने और बिगड़े। समय-समय पर शासकों ने अपनी सीमाओं के निर्धारण में संकुचित प्रदेशों के लिए इन संज्ञाओं को रूढ़ कर दिया। परन्तु प्रारम्भ में जब ये संज्ञाएँ प्रचलित हुई थीं, तब विस्तृत

प्रदेश की वाचक ही थीं। यह बात इतिहाससिद्ध तो है ही; इस वर्तमान काल में ही जर्मन महासमर के परिणामस्वरूप में अन्तर आ गया है। वर्तमान भारत कुछ वर्ष पूर्व वाले भारत से—जिसमें बर्मा और पाकिस्तान भी शामिल था—आज कितना संकुचित है यह प्रत्यक्ष है।

पुराण आदि में पश्चिमी प्रान्त में मद्र और केकय देश बहुत प्रसिद्ध हैं। ये बहुत बड़े प्रान्त थे। बाह्लीक देश भी पश्चिम का बहुत बड़ा प्रान्त था जिसके प्रभावशाली राजा भूरिश्रवा आदि महाभारत के प्रसिद्ध योद्धा थे। बाह्लीक के प्रान्त में ही एक शाकद्वीप नाम से प्रसिद्ध स्थान था। वहाँ के क्षत्रिय शक कहलाते थे और जो ब्राह्मण उस प्रान्त से आकर बिहार के कुछ भागों में रह गये हैं वे आज भी 'शाकद्वीपी' नाम से ही कहे जाते हैं। आज उस देश को स्कीदिया कहा जाता है। इस प्रकार के बहुत संज्ञा शब्द उस देश को संस्कृतज्ञ आर्यों का निवास सिद्ध कर रहे हैं। राज्यक्रान्तियों के कारण वह पश्चिम से बहुत संकुचित होता गया और आज तो वह अति संकुचित दशा में हो गया है। शास्त्रों के अनुसार जो भारतीय संस्कृति का निरूपण होगा उसमें यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह उस विस्तृत देश की संस्कृति है और आज भारतीय संस्कृति में जिन अन्य देशों की संस्कृति का सम्मिश्रण ऐतिहासिक विद्वान् सिद्ध करते हैं, प्राचीन शिलालेखों और नये अविस्तृत प्रदेशों में जिन संस्कृतियों का आभास वे पाते हैं—वे देश पूर्व काल में भारतवर्ष में ही सम्मिलित थे।

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने तथा उनके अनुयायी अनेक भारतीय विद्वानों ने भी यह सिद्ध करने की चेष्टा की है और कर रहे हैं कि भारतीयों की संस्कृति कोई विशुद्ध संस्कृति नहीं, वह एक मिश्रित संस्कृति है। इस देश में पहले नीग्रो जाति के लोग आये। ये प्रायः असभ्य थे किन्तु उनके अनन्तर औष्ट्रिक या आग्नेय जाति के लोग आये, वे कुछ सभ्य थे। उनके अनन्तर द्रविड़ और पीछे आर्य लोग आये। इन सब की संस्कृतियों का सम्मिश्रण होता रहा और आज जो भारतीय संस्कृति भारत में दिखाई देती है वह मिश्रित संस्कृति ही है। परन्तु इस सबके लिए कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है। आर्यों के पूर्वज बाहर से आये इस अनुमान का खण्डन भी अनेक भारतीय विद्वानों ने उचित रीति से कर दिया है। आर्य कहाँ से आये इस पर अब तक भी एकमत नहीं हुआ है। वस्तुतः जहाँ से इनका आगमन माना जाता है वे देश प्राचीन भारत में ही सम्मिलित थे यह पूर्व में ही निरूपण हो चुका है। कई अन्यान्य देशों की संस्कृति का भारतीय संस्कृति से जो परस्पर मेल पाया जाता है उसका कारण प्राचीन इतिहास पुराणों से ही स्पष्ट हो जाता है कि अनेक भारतीय महाराज दिग्विजय यात्रा करते थे, उनके साथ में बहुत-सी सेना विदेशों में जाती

थी तथा भारत से निकाले हुए भी बहुत-से ब्राह्मण, क्षत्रिय दूसरे देशों में जाकर रहे—उनकी संस्कृति का प्रभाव उन देशों पर पड़ा और यों भारतीय संस्कृति का अनुकरण ही अन्य देशों में होने से मेल प्रतीत होता है, भारत में अन्य संस्कृति का आना इससे सिद्ध नहीं होता। भारतीय संस्कृति में वर्ण-व्यवस्था का प्रमुख स्थान था—यह पृथक् प्रकरण है। यहाँ इस सम्बन्ध में इतना ही वक्तव्य है कि भारतीय संस्कृति में रक्तवीर्य की शुद्धि का अत्यन्त महत्त्व था। रक्तमिश्रण वा वर्णसंकरता की बहुत ही निन्दा की गयी है। मनुस्मृति में लिखा है—"यस्मिन्नेते परिध्वंसा जायन्ते वर्णदूषकाः। राष्ट्रिकैः सह तद्राष्टं क्षिप्रमेव प्रणश्यति ।।" अर्थात् जिस समाज में वर्णों को दूषित करने वाले वर्णसंकर अधिक पैदा हो जाते हैं वह समाज या राष्ट्र उन व्यक्तियों के साथ नष्ट हो जाता है। गीता में भी भगवान् ने वर्णसंकरता की घोर निन्दा की है—'दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः। उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।' अर्थात् वर्णसंकर कारक कुलघ्नों के इन दोषों के कारण शास्त्र जाति-धर्म और कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं। ऐतिहासिक विद्वान् जो यह सिद्ध करते हैं कि बहुत-सी जातियाँ भारत में आयीं और वे यहाँ की जाति–व्यवस्था में ही लीन हो गयीं। उनके प्रमाण पुष्ट मान लिये जायँ तो यही हो सकता है कि वे आगत जातियाँ अपना-अपना पृथक् दल बना कर भिन्न जातियों के रूप में रहीं जैसा कि भारत के ग्रामों में जाट, गूजर, मीना, अहीर आदि बहुत सी जातियाँ मिलती हैं। वे इन आगत जातियों के रूपान्तर हैं—यह संभव है किन्तु यहाँ के वर्णों में वे आगत जातियाँ सम्मिलित हो गयीं हों यह संभव नहीं। भारत को सदा से वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण आग्रह रहा है। यह व्यवस्था कल्पनाप्रसूत न होकर, प्राकृतिक विज्ञान पर आधारित है।

कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आर्यगण बाहर से आये और यहाँ के मूल निवासियों से युद्ध करके युद्ध में उन्हें परास्त करके यहाँ बस गये। ये यहाँ के मूल निवासी कथमपि न थे। यह मत इतना अधिक व्यापक हो रहा है कि साधारण जनता तक में इसने प्रवेश पा लिया है। वर्तमान उच्च शिक्षाप्राप्त तथा अर्धशिक्षित व्यक्ति इसी मत में अभिनिविष्ट हो गये हैं। इस मत के पोषक वेद ग्रन्थों में उल्लिखित आर्य और अनार्यों के युद्ध वर्णन को प्रमाण रूप में उपस्थित करते हैं, अतः इस सम्बन्ध में पृथक् रूप से कुछ विचार आवश्यक है।

इनका मत है कि भारत में पहले अनार्य, असभ्य, वन्य लोग रहते थे; उनके साथ युद्ध करके पामीर प्रान्त से आये हुए आर्यों ने मूल निवासियों को निरस्त करके यहाँ आधिपत्य जमा लिया। कुछ लोग महेन्जोदारो के ध्वंसावशेष के मिलने पर यह भी मानने

लगे हैं कि आर्यों के आने से पूर्व यहाँ की जनता सभ्य थी और यहाँ उनके नगर आदि के ध्वंसावशेष से पता चलता है कि शिल्प और विज्ञान में वे बहुत उन्नत थे परन्तु विलासिता के कारण युद्धकाल में उतने निपुण न रह गये थे, अतः युद्ध में आर्यों से वे पराभूत हो गये ।

राजशासन

यह अन्यत्र कहा गया है कि प्राकृतिक पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौः के अधिपति क्रमशः अग्नि, वायु अथवा इन्द्र माने गये हैं । सूर्य की त्रिलोकी रोदसी में सूर्य की प्रधानता है । सूर्य अग्नि के अधीन उसी के विकास रूप अन्तरिक्ष की अग्नि विद्युत् तथा पृथ्वी की अग्नि हैं सूर्य से ही अन्य दोनों उत्पन्न हैं—'सूर्यप्रसूतावग्नी तु दृष्टौ मध्यम पार्थिवौ ।' इस प्रकार सौर ब्रह्माण्ड में सौर त्रिलोकी में सूर्य ही सबका अधिपति नियामक स्वराट् है । सूर्य प्राण ही इन्द्र है फलतः वही स्वराट् है । सूर्य मण्डल से ऊपर के दो मण्डल (परमेष्ठी और स्वयंभू) और हैं और इन्हीं दोनों के द्वारा आदित्य-मण्डल को शक्ति प्राप्त होती है । परन्तु सूर्य त्रिलोकी में उनका अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है; सूर्य की शक्ति ही ब्रह्माण्ड में साक्षात् शासन करती है । स्वयंभू और परमेष्ठी के ब्रह्म और विष्णु विराट् कहे गये हैं । उनका स्थान सर्वोपरि होते हुए भी, सबके नियंत्रण करने में समर्थ होते हुए भी शासन कार्य में उनका योग नहीं है । इसी प्राकृतिक व्यवस्था के आधार पर भौम त्रिलोकी की व्यवस्था हुई थी यह अन्यत्र लिखा गया है । इसी प्राकृतिक व्यवस्था के अनुसार भौम स्वर्ग के अधिपति इन्द्र माने गये हैं और उन्हें स्वराट् कहा गया है और उनके अधीनस्थ सम्राट् और राजा की कल्पना हुई है । राजा अपने राज्य के शासन में सर्वथा स्वतन्त्र रहता था परन्तु अन्य राज्यों के सम्बन्ध में वह सम्राट् के अधीन माना जाता था । इसी प्रकार सम्राट् भी स्वराट् के अधीन समझे जाते थे । इन्द्र ही त्रैलोक्य के अधिष्ठाता थे इसका स्पष्ट उल्लेख ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र में मिलता है :—

"इन्द्रा दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ।।" ऋ०, १०।८९।१०

भाव यह है—इन्द्र ही द्यौः के, पृथ्वी के, जल के तथा पर्वतों के (सायण के अनुसार मेघ) ईश्वर है । वृद्धों के तथा मेधावियों के भी वही ईश हैं । योगक्षेम के लिए उन्हीं का आह्वान होता है । इसी प्रकार स्वराट् शब्द भी उनके लिए अनेक स्थानों में प्रयुक्त है ।[1]

१. ऋग्वेद, १।५१—'इदं नमो वृषभाय स्वराजे सत्यशुष्माय तवसेऽवाचि ।' इत्यादि।

शवसोनपात् शब्द प्रतिनिधि के अर्थ में मिलता है। निम्नलिखित मन्त्र में इनका भी उल्लेख स्पष्ट है—ऋ०, १।१६१।१४

"दिवा यान्ति मरुतो भूमयाग्निरयं वातो अन्तरिक्षेण पाति ।
अद्भिर्याति वरुणः समुद्रर्य्यमानिच्छन्तः शवसोनपातः।"

यहाँ अग्नि को शवसोनपात् भौम त्रिलोकी की भूमि भारतवर्ष का कहा गया है। ऋभुजों के प्रकरण में इसका उल्लेख हुआ है। भारत में इन्द्र के प्रतिनिधि रूप में अग्नि थे यह और भी अन्य मन्त्रों से प्रमाणित है।[1] ये अग्निदेव इन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में थे। ये वैवस्वत मनु से भिन्न व्यक्ति थे, यह भी मिलता है।[2]

कूटनीति—ऋग्वेद, दशम, मण्डल, (सूक्त ८६) में, इन्द्र का वृषाकपिनामक असुर के यज्ञ में जाने का उल्लेख है। इन्द्र भी वृषाकपि कहलाते थे। नामसाम्य के कारण दोनों में सख्य-सा था। सायणाचार्य ने अपने भाष्य में असुर वृषाकपि को इन्द्र का पुत्र लिखा है, यह चिन्त्य है। इन्द्र के साथ उनकी पत्नी इन्द्राणी भी थीं। वहाँ सौत्रामणी यज्ञ में इन्द्र को सुरा का पान कराया गया और असुरों की प्रेरणा से सोमरस का पान असुर ने किया। इस अवमान से इन्द्राणी की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी और इन्द्र को संबोधित करके उन्होंने कहा कि हे इन्द्र ! जिस वृषाकपि की तुम रक्षा कर रहे हो उसे वराहयु (वराह की इच्छा करने वाला उसका द्वेषी—सायण) कुत्ता खा डाले। उसके कान पर आक्रमण करे।[3] इत्यादि। सामान्य स्त्री के समान यह भी अधिक्षेप किया कि इन्द्र ! क्या तुम्हें अन्यत्र सोम पान करने को नहीं मिलता जो तुम इसके यहाँ दौड़े आये हो।[4] इन्द्राणी की सान्त्वना के लिए असुरेश वृषाकपि ने भी स्तुति की। इन्द्र ने भी समझाया परन्तु जब उनका कोप शान्त न हुआ तब इन्द्र ने अपने वहाँ आने का मुख्य अभिप्राय (कूटनीति) प्रकाशित करके उन्हें शान्त किया। इन्द्र ने कहा कि हम यहाँ सोम पान के

१. ऋग्वेद, ६।१६—'त्वमग्ने यज्ञानां होता विश्वेषां हितः। देवेभिर्मानुषे जने।'
२. ,, १०।२।२१—'अग्निर्जातो अथर्वणा विदद् विश्वानि काव्या। भुवद् दूतो विवस्वतः।'
३. 'यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभि रक्षसि।
श्वा न्वस्य जंभिषदपि कर्णे वराहयुः॥'—ऋ०, १०।८६।४
४. 'परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः।
नो अह प्र विंदस्यन्यत्र सोमपीतये॥'—ऋ०, १०।८६।२

उद्देश्य से नहीं आये हैं। हम तो यहाँ की परिस्थिति देखने आर्य और दासों का पता लगाने आये हैं। हमारा यहाँ आना राजनीति से सम्बन्ध रखता है।

"अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।
पिबामि पाक सुत्वनोऽभि धीर मचाकशम्।" ऋ० १०।८६।१९

इस आख्यान से स्त्रियों का प्रभाव तथा राजनीति स्पष्ट परिलक्षित है।

उत्कोच (Bribe)—ऋग्वेद, दशम मण्डल के १०८ वें सूक्त में सरमा (देवदूती) और पणियों का वार्तालाप वर्णित है। पणि बृहस्पति की गौओं को हरण करके अपने स्थान में ले गये थे और उन्हें अवरुद्ध कर रखा था। उन गायों का पता लगाती हुई इन्द्र की दूती सरमा पणियों के निवास स्थान पर पहुँच गयी। वहाँ उसने पणियों को फटकारा कि तुम लोग इन्द्र के द्वारा हत होकर शयन करोगे। पहले तो पणियों ने अपनी युद्ध करने की शक्ति का अभिमान प्रदर्शित किया और कहा कि हमारे आयुध तीक्ष्ण हैं और हम लोगों से बिना युद्ध किये कोई नहीं ले जा सकता। परन्तु अन्त में डर कर उन्होंने उत्कोच के द्वारा अपने पक्ष में लाने का उद्योग किया। उन्होंने कहा कि हे सरमे! तुम देवों से प्रेरित होकर यहाँ आयी हो। हम तुम्हें अपनी भगिनी (बहन) बनाते हैं। तुम अब वहाँ लौट कर न जाओ। हे सुभगे! हम इन गौओं में से तुम्हें भी भाग देंगे। तुम्हारे साथ इनका विभाजन करेंगे।

मन्त्र यह है :—

"एवा च त्वं सरम आज गंथ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम॥" ऋ०, १०।१०८।९

इस प्रकार सरमा को प्रलोभन बता कर उसे अपने पक्ष में करने का पणियों ने पूर्ण प्रयत्न किया परन्तु सरमा ने उसका प्रत्याख्यान करते हुए जो उत्तर दिया वह उसके अनुरूप है। उसके वाक्य ये हैं —

"नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरंगिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः॥" ऋ०, १०।१०८।१०

भाव यह है—न मैं भ्रातृत्व जानती, न स्वसृत्व। इसे तो इन्द्र और घोर (भयंकर) अंगिरस् (बृहस्पति आदि) ही जानते हैं। मैं जब यहाँ से इन्द्र के समीप जाऊँगी तब गौ की कामना वाले इन्द्र आदि तुम्हारे स्थान पर आक्रमण कर देंगे। इसलिए तुम लोगों के लिए यही अच्छा होगा कि तुम सब इस गोवृन्द को यहाँ छोड़ कर अन्यत्र दूर भाग जाओ।

इस आख्यान से स्वामि-भक्ति और स्वदेश-प्रेम पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

पुरोहित—राजा के लिए पुरोहित की नियुक्ति भी आवश्यक कोटि में थी । पुरोहित वेदों का विद्वान् ब्राह्मण होता था और यजमान राजा के यहाँ उसका प्राधान्य होता था । ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है कि बिना पुरोहित वाले राजा का अन्न देव गण ग्रहण नहीं करते । इसलिए राजा यज्ञ करने वाले ब्राह्मण को पुरोहित बनावे जिससे देवता उसका अन्न ग्रहण कर सकें ।[1] वहीं यह भी दिया गया है कि अग्नि पुरोहित है और पृथ्वी पुरोधाता है; वायु पुरोहित है, अन्तरिक्ष पुरोधाता है; आदित्य पुरोहित है, द्यौः पुरोधाता है । इसे जो जानता है वही पुरोहित है जो नहीं जानता वह तिरोहित है ।[2] जिस प्रकार पृथ्वी आदि पिण्डों में पुरोहित अग्नि आदि का प्राधान्य रहता है उसी प्रकार राजा के यहाँ पुरोहित ब्राह्मण का प्रभाव रहता है यह इससे ध्वनित होता है । अग्नि, वायु और रवि से क्रमशः तीनों वेदों का (ऋक्, यजु: और साम) सम्बन्ध है, अतः इससे यह संकेत भी स्पष्ट है कि पुरोहित वेदों का विद्वान् हो । बृहस्पति देवों के पुरोहित थे इसी के अनुसार मनुष्य राजाओं के पुरोहित होते हैं—'बृहस्पतिर्ह वै देवानां पुरोहितः, तमन्वन्ये मनुष्य-राज्ञां पुरोहिताः ।'—ऐत० ब्रा० ८।५।३। बृहस्पति के सम्बन्ध में एक और विशेषता थी । वे राजा के शान्ति पुष्टि आदि कार्यों का विधान तो करते ही थे, इसके अतिरिक्त वे युद्ध स्थल में भी इन्द्र का साथ देते थे और सेना का संचालन करते थे । यह ऋग्वेद (१०।१०३) के मन्त्र से स्पष्ट होता है —

'इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।
देव सेनानामभिभंजतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ।।

युद्ध

यह कहा जा चुका है कि वेद के मंत्रों में स्तुति आदि वाक्यों में ही व्यवहार सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों का संकेत मिलता है । नियमबद्ध निबन्ध किसी विषय विशेष पर उपलब्ध नहीं है परन्तु जो संकेत मिलते हैं उन से भी भिन्न-भिन्न विषयों पर पर्याप्त

१. 'न ह वा अपुरोहितस्य राज्ञो देवा अन्नमदन्ति । तस्माद्राजा यक्ष्यमाणं ब्राह्मणं पुरो दधीत, देवा मे अन्नमदन्निति ।'—ऐ० ब्रा०, ८।५।१

२. 'अग्निर्वाव पुरोहितः पृथिवी पुरोधाता, वायु र्वाव पुरोहितोऽन्तरिक्षः पुरोधाता, आदित्यो वाव पुरोहितो द्यौः पुरोधाता । एष वै पुरोहितो य एवं वेद, अथ स तिरोहितो य एवं न वेद ।'—ऐ० ब्रा०, ८।५।४

प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में युद्ध सम्बन्धी मन्त्रों के देखने से स्पष्ट होता है कि युद्ध विद्या की भी उस वैदिक काल में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। यहाँ निदर्शन के रूप में कुछ बातें उल्लेख योग्य हैं।

१. पणि-संरमा संवाद का अन्यत्र उल्लेख हो चुका है। अपहृत गायों का पता लगाने के लिए शत्रुओं की गतिविधि का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चर का प्रेषण होता था यह इससे स्पष्ट होता है। असुर वृषाकपि के यज्ञ में इन्द्राणी के साथ निमन्त्रित होकर इन्द्र गये थे। वहाँ इन्द्र के अपमान होने पर इन्द्राणी ने इन्द्र का अधिक्षेप करते हुए इन्द्र को फटकारा कि क्या तुम्हें अन्यत्र खाने के लिए नहीं मिलता जो तुम इस नीच के यहाँ आये हो। इस पर इन्द्र उनकी सान्त्वना करते हुए उत्तर देते हैं कि हम यहाँ भोजन के लोभ से नहीं आये हैं, हमारा मुख्य उद्देश्य तो यहाँ आने का शत्रु दास (दस्यु) राजाओं की गतिविधि का पता लगाना है।[1] इससे स्पष्ट ही कूटनीति पर प्रकाश पड़ता है।

२. शत्रु से रक्षा करने के लिए दुर्ग रचना भी प्रचलित थी। दस्यु राजाओं ने पर्वतीय प्रान्त में दुर्ग निर्माण किये थे और उन दुर्गों का भेदन करके इन्द्र ने दस्युओं का नाश किया था।[2]

३. विपक्षी लोग युद्ध में स्त्रियों को भी आगे कर देते थे। वे स्त्रियाँ भी युद्ध में भाग लेती थीं।[3] उन्हें आगे करने से दस्यु गण अपने को सुरक्षित समझते थे क्योंकि स्त्रियों पर प्रहार करना वीरपुरुषोचित न समझा जाता था।

माया युद्ध भी प्रचलित था और माया का उत्तर माया से दिया जाता था।[4] इसी

१. इन्द्राणी की उक्ति—'परा हीन्द्र धासि वृषाकपेरतिव्यथिः। नो अह विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये।'—ऋ० १०।८६।२

इन्द्र का उत्तर—'अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम्।' ऋ०, १०।८६।११

२. 'दुर्गे दुरोणे क्त्वा न यातां पुरू सहस्रा शर्वा निबर्हीत्।' ऋ०,४।२८ उत्तरार्ध मन्त्र

३. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेनाः।
अन्तर्ह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद्युधये दस्युमिन्द्रः॥'—ऋ०, ५।३०

४. 'त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत॥'
—ऋग्वेद, १।५१, पूर्वार्ध।

प्रकार वराहासुर के निग्रह के समय इन्द्र और विष्णु ने उसके साथ माया का प्रयोग किया था। ऋग्वेद १।१६१ में इस प्रसंग का यह मन्त्र है —

"अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवाञ्चार्वन्ना ।
मुषा यद् विष्णुः पचतं सहीमान् विध्यद्‌वराहं तिरो अद्रिमस्ता ।।"

इसका व्याख्यान आख्यान के रूप में तैत्तिरीय ब्राह्मण में (६।२।४) मिलता है।

"विष्णुर्यज्ञो देवेभ्य आत्मानमन्तरधात् तमन्यदेवता नाविदन्। इन्द्रस्त्ववेत्। विष्णुरिन्द्रमब्रवीत्—को भवानिति। इन्द्रोऽब्रवीत्—दुर्गाणामसुराणां हन्ताहम्। भवान् कः। विष्णुरब्रवीत्—अहं दुर्गादाहर्तास्मि। त्वं तु दुर्गहन्तासीति अतो वराहमसुरं जहि। स हि वराहो वाममुष एकविंशत्या पुरां पारेऽश्ममयीनां वसति। तस्मिन्नसुराणां वसु काममस्ति। तत इन्द्रस्ताः पुरो भित्त्वा वराहस्य हृदयमविध्यत्। ततस्तत्र यदासीत् तद् विष्णुराहरत्"। अर्थ स्पष्ट है। 'को भवान्' का अभिप्राय यह है कि आप क्या काम करेंगे।

४. उस समय भी ऐसे व्यक्ति आर्य राजाओं में थे जो शत्रुओं से मिले हुए थे और यहाँ का भेद उन्हें बताया करते थे। इन्द्र को इस बात का पता चल गया और देशद्रोह के अपराध में उन्हें वध दण्ड दिया।[1]

५. विज्ञान-भवन (सूर्य सदन) में कार्य करने वाली एक उषा दस्युदल के एक नेता के प्रेम-पाश में बद्ध हो गयी थी उसके कारण विज्ञान-भवन में उस दस्यु का यातायात होता था। वहाँ के भेद का उद्‌घाटन उसके द्वारा होना स्वाभाविक था। अतः लोक-रक्षा के लिए इन्द्र ने उसका (उषा) भी वध कर दिया।[2] बाद में उस दस्यु नेता का भी युद्ध में संहार किया।

१. *'उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः अर्णाचित्ररथा वधीः।' ऋ०, ४।३०।१८

२. 'दिवश्चिद्‌घा दुहितरं महान् महीयमानान् उषासमिन्द्र सम्पिणक्।'
'एतद्धदुत वीर्यमिन्द्र चकर्थ पौंस्यम्। स्त्रियं यद्‌दुर्हणायुधं वधीर्दुहितरं दिवः।'
—ऋ०, ४।३०

* ये अर्ण और चित्ररथ नाम के राजा गंधर्व जाति के थे और शत्रुओं से मिल हुए थे। आर्य पक्ष का आश्रयण करने वाले चित्ररथ गंधर्व से यह देशद्रोही चित्ररथ भिन्न व्यक्ति था। इसी प्रकार यह सरयू नदी अयोध्या प्रान्तस्थ नदी से भिन्न थी। यह गांधर्व

६. युद्ध से पूर्व वीर पान महोत्सव करके सैनिकों को युद्ध में प्राणपण से प्रयत्नशील होने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था तथा विजय के पश्चात् विजयाभिमहोत्सव किया जाता था जिससे युद्धजन्य शारीरिक और मानसिक श्रम का अपनोदन होता था और भविष्य के लिए प्रोत्साहन होता था। अधिक काल तक चलने वाले युद्ध में मध्य में भी पान महोत्सव के द्वारा प्रोत्साहन दिया जाता था जैसा कि ऋग्वेद के मन्त्र में उक्त है।[१] वीरपान महोत्सव और विजयाभिनन्दन का विवरण अन्यत्र किया गया है।

७. सहायक—वराहासुर के निग्रह के समय इन्द्र और विष्णु का सहयोग स्पष्ट है। दासराजों के सम्बन्ध में भी इन्द्र ने विष्णु से साहाय्य के लिए प्रार्थना की थी।[२] यद्यपि इस प्रकरण में विष्णु के पराक्रम का पृथक् उल्लेख नहीं पाया जाता। विष्णु के लिए श्रुति में मिलता है—'इन्द्रस्य युज्यः सखा।' इस तरह इन्द्र को विष्णु का सहयोग सर्वथा उपलब्ध था। इस प्रसंग के मन्त्र में भी इन्द्र ने विष्णु को सखा शब्द से अभिहित किया है। सखा शब्द का अर्थ ही है साथ रहने वाला।

८ युद्ध में व्यूह रचना भी की जाती थी। इसका उल्लेख भी अनेक मन्त्रों में मिलता है। यहाँ टिप्पणी में एक मन्त्र उद्धृत किया जाता है।[३]

९. वाहन—ऋभु के प्रकरण में बताया गया है कि इन्होंने इन्द्रादि देवों के लिए अनेक प्रकार के विमानों का निर्माण किया था। इन्हीं विमानों से इन्द्रादि का यातायात होता था। साथ ही रथ, अश्व आदि का भी प्रचुर रूप में उल्लेख मिलता है। विमानों के द्वारा गिरिश्रृंगों में भी यातायात अव्याहत रूप से होता था इसका अनेक मन्त्रों में उल्लेख है।

१०. शस्त्रास्त्र—इन्द्र का प्रधान शस्त्र वज्र था जिसे इनके लिए देवशिल्पी त्वष्टा

देश की नदी थी। ऋ०, ५।५३।९ में सिंधु कुभा आदि पश्चिमीय प्रान्त की नदियों के साथ इसका उल्लेख है।

१. 'यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रंधयः। अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब।' ६।४३।१

२. 'सखे विष्णो वितर विक्रमस्व द्यौर्देहि लोकं वज्राय विष्कभे।
हनाव वृत्रं रिणचाव सिन्धूनिन्द्रस्य यन्तु प्रसवे विसृष्टाः॥'—ऋ०, ९।१००।१२

३. 'इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभंजतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥"—ऋ०, १०।१०३

ने बनाया था ।[1] इसके अतिरिक्त धनुष, बाण, निषंग का भी उल्लेख मिलता है ।[2] कवच (वर्म) का भी उल्लेख है ।[3] इनके अतिरिक्त शत्रु-सेना के सम्मोहन करने की विद्या का अथर्व वेद में अनेक मन्त्रों में उल्लेख है । वहाँ वह मन्त्र के रूप में है और अग्नि और इन्द्र की स्तुति में सेना के सम्मोहन करने की प्रार्थना है । जिससे यह ज्ञात होता है कि उस काल में सम्मोहन विद्या का ज्ञान था और उसका प्रयोग युद्ध में सेना के सम्मोहन के लिए होता था ।[4]

११. पारितोषिक—कुत्स के द्वारा किये गये सत्कार से सन्तुष्ट होकर दस्यु निग्रह के बाद इन्द्र ने उन्हें (कुत्स को) सारूप्य प्रदान किया । दोनों के स्वरूप में प्रायः समानता थी । उन्हें अपने समान ही वेश-भूषा से सुसज्जित करके अपने साथ ही विमान में बैठा कर स्वर्ग ले गये थे । इन्द्र के स्वागत के लिए आयी हुई इन्द्राणी को समान स्वरूप वाले दो इन्द्रों को देखकर विचिकित्सा (संदेह) कुछ क्षण के लिए हो गयी कि कौन इन्द्र हैं और किस का वह प्रथम सत्कार करे । इसका भी संकेत मन्त्र में मिलता है ।[5]

१२. व्यावहारिक—विजयाभिनन्दन महोत्सव के बाद विदाई करते समय विश्वामित्र ऋषि इन्द्र को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र ! आपने सोम पान कर लिया अब आप अपने घर जाइए वहाँ आपकी कल्याणी जाया उत्सव युक्त आपकी प्रतीक्षा कर रही है । वहाँ जाकर अपने वाहनों को विश्राम दीजिए—

१. 'मह्यं त्वष्टा वज्रमतक्षदायसं मयि देवासोऽवृजन्नपिक्रतुम् ।'—ऋ०, १०।४८ पू०
२. 'स इषुहस्तैः स निषंगिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।
संसृष्ट जित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ।।'—ऋ०, १०।१०३।३
३. 'मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानुवस्ताम् ।'
—ऋ० वे०, ६।७४।१८ पूर्वार्ध ।
४. अथर्ववेद, तृतीय काण्ड, प्रथम अनुवाक—
'अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभि शस्तिमरातिम् ।
स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जात वेदा ः।।' १।।
'इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् । अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ।'५।
५. 'आ दस्युघ्ना मनसा याह्यस्तं भुवत्ते कुत्सः सख्ये निकामः ।
स्वे योनौ निषदतं सरूपा वि वां चिकित्सद् ऋतचिद्धि नारी ।।'—ऋ०, ४।१६
'यासि कुत्सेन सरथमवस्युस्तोदो वातस्य हर्योरीशानः ।।'—ऋ०, ४।१६ पूर्वार्ध ।

'अपा: सोममस्तमिन्द्र प्रयाहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहेते ।
यत्रा रथस्थ बृहतो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत् ।। ऋ० ३।५३

युद्ध प्रकरण के इन थोड़े से निदर्शन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस वैदिक युग में युद्ध-कला भी कितने उत्कर्ष पर थी। जो लोग वेदों को आदिम, असभ्य प्रकृति-उपासकों का उद्गार मानते हैं उन्हें इस पर फिर से विचार करना चाहिए। सभ्यता का यह उत्कर्ष जो ऋग्वेद में उपलब्ध होता है वह उससे पूर्व से ही अनुवृत्त है इसमें सन्देह नहीं। सामाजिक व्यावहारिक ज्ञान में महर्षि गण कितने निष्णात थे इसके सिद्ध करने के लिए यह एक क्षुद्र युद्ध प्रकरण ही पर्याप्त प्रमाण है। जहाँ आध्यात्मिक और आधिदैविक ज्ञान का उत्कर्ष था वहाँ व्यावहारिक उत्कर्ष की उपेक्षा नहीं थी यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। यहाँ फिर से स्पष्ट करना आवश्यक है कि इस प्रकरण में केवल आधिभौतिक अर्थ पर विचार किया गया है। अनेक मन्त्रों के अन्य अर्थ भी हो सकते हैं यह अनेक बार कहा जा चुका है।

भारतीय आर्यों का मूल निवास

सर्वतः पूर्व पाश्चात्य संस्कृत विद्वान् अपने संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन के द्वारा इस निर्णय पर पहुँचे कि भारतीय आर्य यहाँ के मूल निवासी नहीं थे। वे उत्तर से यहाँ आकर यहाँ के मूल निवासियों को युद्ध में परास्त करके अधिष्ठित हो गये। वेद-ग्रन्थों के अनुशीलन से उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उसमें दास, दानव आदि जातियों के साथ आर्यों के युद्ध का वर्णन पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है; दास आदि जाति के पराजित होने का भी उसमें उल्लेख है। अतः इन मनीषियों की दृष्टि में उनका निर्णय प्रबल प्रमाण पर आधारित था। इसी प्रकार वेदग्रन्थों के रचना का समय इन लोगों ने निर्धारित किया वह मैक्समूलर के मत से १२०० वर्ष पूर्व था। अन्य लोगों ने इसमें कुछ उदार भाव से काम लिया और वे १५०० से २००० वर्ष ई० पू० तक बढ़ा ले गये। उनके इस मत में संशोधन के लिए—इस भ्रान्त धारणा को बदलने के लिए—उन्हें अभी तक कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हुई और अतः इसी अवधि को प्रामाणिक मान कर उन लोगों ने भारतीय अन्य क्षेत्र के ग्रन्थों के समय निर्धारण को संकुचित किया है। मैकडानल महोदय के समान उदारचेता विचारशील पुरुष भी इस भ्रमजाल का भेदन न कर सके। अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में वे लिखते हैं[1]—प्राचीन भारतीय साहित्य का इति-

1. Arthur A. Macdonnel : A History of Sans. Lit.

ह्रास दो मुख्य काल विभागों में स्वभावतः माना जायगा। प्रथम वैदिक काल जो कदाचित् बहुत पूर्व—१५०० वर्ष ई० पू० से प्रारंभ होकर अपने अन्तिम रूप में २०० वर्ष ई० पू० तक पहुँचता है। इसके आगे ही वे लिखते हैं कि प्रोफेसर मैक्समूलर ने चालीस वर्ष पूर्व जो मत निश्चित किया था कि वेदग्रन्थों का प्रारंभिक काल १२०० वर्ष ई० पू० है यह बहुत कुछ ठीक है। तीन शताब्दी का व्यवधान—१३०० से १००० ई० पू०—वेदों के प्राचीनतम और नवीनतम रूपों के अन्तर को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त होगा। इससे इनका यह मत प्रतीत होता है कि वेद मंत्रों में—संहिता ग्रन्थों में—इन लोगों के मत से जो नवीनतम अंश हैं—उनकी रचना १००० वर्ष ई० पू० में हुई थी। यह कहाँ तक युक्तियुक्त है इस पर विचार किया जायगा। उससे पूर्व यह भी कहते हैं कि वैदिक द्वितीय स्तर को ५०० वर्ष ई० पू० नीचे नहीं लाया जा सकता क्योंकि उसके (वेद के) अन्तिम सिद्धान्त बौद्ध धर्म से पूर्व ही निश्चित थे।[१] मैकडानल महोदय एक प्रकार से पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के प्रमुख माने जाते हैं और इनका अध्ययन गवेषणापूर्ण होने के साथ-साथ इनकी अपनी दृष्टि के अनुसार अनुचित पक्षपात आदि दोषों से रहित है। अतः इनके विचारों को इस स्थल में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा रहा है और इनके मत की सम्यग् विवेचना हो जाने से अन्यान्य पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के विचारों की समालोचना स्वतः हो जायगी। वे यह मानते हैं कि वैज्ञानिक विभिन्न प्रकार की शाखाओं में—ध्वनि शास्त्र, व्याकरण, गणित, गणित ज्यौतिष, भैषज्य और राजकीय नियमों (Law) के क्षेत्रों में भारतीयों ने प्रमुख रूप से परिणाम निकाल लिये थे तथा कुछ

१. The history of ancient Indian literature naturally falls into two main periods. The first is the Vedic which beginning perhaps as early as 1500 B. C. extends in its latest phase to about 200 B. C. (P. 8.)

Professor Maxmuller's earlier estimate of 1200 B. C. formed 40 years ago appears to be much nearer the mark. A lapse of three centuries, say from 1300-1000 B. C. would amply account for the difference between what is oldest and newest in Vedic hymn poetry. (P. 12.)

The lower limit of the second Vedic stratum can not, however, be fixed later than 500 B. C. because its latest doctrines are presupposed by Buddhism. (P. 11.)

विषयों में ग्रीक लोगों से भी बहुत बढ़े हुए थे ।[१] यह सब मानते हुए भी वे यह स्वीकार नहीं कर सके हैं कि वेद शास्त्र ही भारतीयों के लिए सब प्रकार के ज्ञानों का मुख्य स्रोत था और भारतीयों की यह घोषणा प्रतिपद में प्रकाशित होती आयी है कि सब कुछ वेदों से ही सिद्ध होता है—'सर्वं वेदात्प्रसिध्यति ।' यही कारण है कि वेदों का समय निर्धारण उनके पूर्ववर्ती पश्चिमीय विचारकों ने अपने काल्पनिक आधार पर कर लिया था उसे वे हटा नहीं सके । प्रत्युत प्रमाण रूप से अवेस्ता भाषा की और संस्कृत वैदिक भाषा की तुलना करते हुए दोनों की समानता देख कर वे इसे अपने (पाश्चात्यों के) मत के प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं । वे लिखते हैं—'यह देखते हैं कि 'अवस्ता' की प्राचीनतम भाषा और वैदिक भाषा में इतना अधिक साम्य है कि केवल भाषा-विज्ञान के अनुसार थोड़े-से ध्वनि-परिवर्तन करने से ही 'अवस्ता' वाक्य शब्द प्रति शब्द वैदिक छन्दों में परिवर्तित हो जाते हैं—केवल रूप में ही नहीं, साहित्यिक दृष्टि से भी । यह भी स्पष्ट है कि यदि हम जैसा वेद के प्रारंभिक स्तर को जानते हैं वैसे ही अवस्ता को भी जान लें तो आवश्यक रूप से एक दूसरे के अत्यन्त अनुरूप दिखेंगे । इसलिए इस सिद्धान्त को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि भारतीय शाखा ईरानियन से वैदिक साहित्य के प्रारंभ होने से थोड़े समय पूर्व ही पृथक् हुई थी । इसलिए वे (भारतीय) १५०० वर्ष ई० पू० भी कठिनता से उत्तर-पश्चिम भारत में प्रवेश कर सके हों ।'[२] लगभग इसी प्रकार के विचार प्रसिद्ध लेखक ए० रजोरिन ने व्यक्त

१. In various branches of scientific literature, in phonetics, grammar, mathematics, astronomy, medicine and law, the Indians also achived notable results. In some of these subjects their attainments are, indeed, for in advance of what was accomplished by the Greeks. (P. 10)

२. **Macdonnel :**

Concidering that the affinity of the oldest form of the Avestan language with the dialect of the Vedes as alrealy so great that, by the mere application of fonetic laws, whole Avestan stanzas may be translated word for word into Vedic, so as to produce verses correct not only in form but in poetic spirit, considering further, that if we knew the Avestan language at as early a stage as we knew the Vedic, the formen would necessarily be almost identical with the latter, it is

किये हैं—"भारतीयों का देववाद और ईरानियों का असुरवाद में पक्षपात होते हुए उन दोनों की संस्कृति और धर्म ईरान में जरथुस्त्र के उद्‌भव के समय तक मुख्यतः एक रूप में प्रचरित रहे।" आगे ये लिखते हैं कि "इस प्रकार ईरान की प्राचीन आर्य संस्कृति और हिन्दुस्तान की आर्य संस्कृति में कोई अन्तर न था और यह उचित ही था क्योंकि वे दोनों ही एक ही इण्डो आर्यन संस्कृति से उद्‌भूत थीं।"[१] ईरानी और हिन्दुस्तानी सभ्यता की एकता के प्रमाण में मैकडानल महोदय ने दोनों देशों की रीति, रस्म, व्यवहार आदि का उल्लेख किया है और उसके आधार पर भी यह सिद्ध किया है कि ईरानी और हिन्दुस्तानी दोनों वर्ग का सामान्य स्रोत उत्तर से आया था और उसी के दो विभाग भिन्न-भिन्न दिशाओं में पहुँचे। वे लिखते हैं—'तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अनेक रीतियां उस भूतकाल में पहुँचती हैं जब हिन्दुस्तानी और ईरानी एक ही समुदाय में रहते थे। उस समय भी यज्ञ एक सुसंगठित प्रक्रियाओं (रीतियों) का केन्द्र था और पुरोहित वर्ग के द्वारा सम्पादित होता था। वैदिक रीतियों के द्योतक अनेक शब्द उस समय प्राप्त थे—विशेष करके **सोम** जो कूटा जाता था तथा छनने के द्वारा छाना जाता था, और दूध में मिला कर मुख्य हवि के रूप में अर्पित होता था। यज्ञोपवीत प्रदान, जैसा कि हमने लिखा है—ज्ञात था और उससे भी अधिक पुरानी प्रथा पर आधारित था जिसमें युवा पुरुष प्रौढ़ता प्राप्ति के समय दीक्षित किया जाता था। अग्नि में हवि प्रदान करना भी हिन्दुस्तानी-ईरानी प्रथा है जो कि ग्रीक, रोमन तथा हिन्दुस्तानियों में पाया जाता है। इसी प्रकार विवाह विधि का वह अंश जिसमें नव-

impossible to avoid the conclusion that the Indian branch must have separated from the Iranian only a very short time before the beginnings of the Vedic literature and can, therefore, have hardly entered North-West of India even as early as 1500 B. C.

१. **A Ragorin :**

The reticence maintained by the Vedic Aryans about immigration from Indo-Iran was, therefore, at least partially intentional, for otherwise, it would seem that those parts of the Rigveda in which possible or probable Iranian names accur were composed already in Iran as Hillebrant actually suggested. (P. 219)

In spite of the देव bias of the Indians and the Asura bias of the

विवाहित दम्पति वैवाहिक अग्नि की परिक्रमा करते हैं; वर अग्नि में हवन करता है तथा वधू के द्वारा लाजा होम (धान खीलों का हवन) ये सब भी हिन्दुस्तानी ईरानी हैं क्योंकि रोम देशीयों में भी नवविवाहित वाम से दक्षिण की ओर वेदी की परिक्रमा करते हैं तथा अग्नि में रोटी (far) की आहुति करते हैं। इसी प्रकार यह प्रथा भी हिन्दुस्तानी-ईरानी है जिसमें वर-वधू दोनों के ऊपर—जैसा कि गृह्यसूत्रों में पाया जाता है—धान या अन्य अन्न का प्रक्षेप किया जाता है (जो कि प्रजनन शक्ति का द्योतक समझा जाता है)। क्योंकि यह प्रथा उन समाजों में प्रचुरता से व्याप्त है जहाँ यह संभव नहीं है कि एक दूसरे का अनुकरण हो। लकड़ी के दो खण्डों से अग्नि का उत्पन्न करना (अरणिमंथन) और भी अधिक पुरानी प्रथा है।"[१] इन सब प्रमाणों के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्थिर कर लिया कि ईरानी और हिन्दुस्तानी वर्ग दोनों में सब प्रकार की

Iranians, their culture and religion continued to be essentially the same till the advent of जरथुस्त्र in Iran. (221)

The ancient Aryan culture of Iran was, thus, hardly distingnishable from the ancient Aryan culture of India. And that is as it should be, for, both were derived from one and the same Indo-Aryan culture. (223)

१. **Macdonnel**

Comparative studies have shown that many ritualy practices go back to the period when the Indians and Persians were still one people. Thus the sacrifice was even then the centre of a developed ceromonial and was tended by a priestly class. Many terms of the Vedic ritual already existed then, especially **Soma** which was pressed, purified through a Sieve, mixed with milk and offered as the main libation. Investiture with a sacred cord was, as we have seen, also known and was in its turn based on the still older ceremony of the inetiation of youths on entering manhood. The offering of gifts in fire is Indo European, as is shown by the agreement of the Greeks, Romans and Indians. Indo-European also is that part of the marriage ritual in which the newly wedded couple walk round the nuptial fire, the bridegroom presenting a burnt offering and the bride an offering of grain; for among the Romans also the young pair walked round the

समानता है, अत: पूर्व में ये दोनों एक ही थे; इन दोनों से वाहर इनका उद्गम एक ही था और अपने अभियान में ये दो शाखाओं में विभक्त हो गये। इन लोगों का ध्यान इससे अधिक गम्भीर तथ्य तक आकृष्ट नहीं हुआ और यह कि ये दोनों ही पूर्व और पश्चिम के निवासी ही विस्तृत भारत भू-प्रदेश के ही एक वर्ग थे यह इनकी कल्पना में नहीं आया और अत: अगतिक होकर इन्हें कल्पना करनी पड़ी कि जब दोनों की भाषा, दोनों के आचार-विचार सर्वथा समान ही हैं तब अवश्य ही ये हैं एक स्रोत से उत्पन्न और यह स्रोत भारत (ईरानी और हिन्दुस्तानी) से वाहर ही हो सकता है। परन्तु जैसा कि पूर्व में सीमा प्रकरण में सिद्ध किया गया है सिन्धु नद के पूर्व और पश्चिम दोनों भाग भारत वर्ष के ही अन्तर्गत थे। दोनों ही भागों में आर्यगण ही निवास करते थे उनके दोनों के ही आचार-विचार सर्वथा एक ही थे। उनके आधारभूत वेदग्रन्थ भी समान थे। इसके मान लेने पर मैकडानल महोदय प्रभृति ने जो तर्क उपस्थित किये हैं वे सबके सब पूर्ण रूप से भारत की विस्तृत सीमा का सर्वथा समर्थन करते हैं। जैसा कि पूर्व में लिखा जा चुका है जरथुस्त्र के समय द्वेषवश जो कलह का वीज वपन हुआ वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया और उसी के कारण लिपि की भिन्नता उत्पन्न हुई तथा उसी के कारण भाषा में भी थोड़ा-बहुत अन्तर आना स्वाभाविक हो गया। परन्तु जरथुस्त्र से पूर्व जितने आचार-विचार मिलते हैं वे एक ही थे, उन सबका एक मात्र मूल वेद-शास्त्र था। पूर्व और पश्चिम दोनों भागों में समान रूप से वैदिक ऋषिगण निवास करते थे। सीमा प्रकरण में काप्य मुनि का उल्लेख आ ही चुका है। इसी प्रकार और भी

alter from left to right before offering bread (far) in the fire. Indo-European too must be the practice of scattering rice or grain (as a symbol of fertility) over the bride and bredegroom as prescribed in Sutras; for it is widely diffused among peoples who can not have borrowed it. Still order is the Indian ceremony of producing the sacrificial fire by the friction of two pieces of wood. (P. 263)

Yaska's Nirukta is, in reality a Vedic commentary, and is older by some centuries than any other exegetical work preservea in Sanskrit. Its bases ar the Nighantus, collections of rare or obscure Vedic words, arranged for the use of teachers. Yaska had before him five such collections. (P. 269)

अनेक दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए श्रीयुत पोशालकर लिखते हैं कि मद्रागार शौंगायनि प्राचीन वैदिक अध्यापक के रूप में पाये जाते हैं जिससे स्पष्ट होता है कि मद्रवासी वैदिक वाङ्मय में निष्णात हैं जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के द्वारा भी पुष्ट होता है।[१] आगे चल कर ये ही महोदय लिखते हैं[२] कि कम्बोज का प्रारंभिक उल्लेख सामवेद के वंश ब्राह्मण में मिलता है जहाँ काम्बोज औपमन्यव का नाम आता है। उपमन्यु ऋषि जिनका उल्लेख ऋग्वेद में (१–१०२–९) मिलता है वहीं संभवत काम्बोज अध्यापकों के जनक थे। काम्बोज औपमन्यव मद्रागार के शिष्य कहे गये हैं इससे जिमर महोदय का तर्क है कि कम्बोज और मद्र दोनों उत्तर-पश्चिम भारत में एक दूसरे के समीपवर्ती पड़ोसी थे। यास्क ने लिखा है कि काम्बोजों की भाषा आर्यों की भाषा से विभिन्न थी, इससे ग्रियर्सन का मत है कि काम्बोजों की ईरानियों से समानता थी; किन्तु काम्बोज अध्यापक अपने वैदिक वैदुष्य के लिए विदित थे, इस तथ्य

Yaska must, therefore, go back to the fifth century and undoubtedly belongs to the beginning of the Sutra period. (P. 431)

(Appendix) He (Panini) belonged to the extreme north-west of India and probably flourished about 300 B. C.

This is the alphabet which is recognised in Panin's great Sanskrit grammar of about the fourth century B. C. (P. 17)

१. The mention of मद्रगार सौंगायनि as an ancient Vedic teacher shows the Madras as experts in Vedic learnings, a fact wich is confirmed by the शतपथ ब्राह्मण। (258)

२. The earliest mention of कम्बोज occurs in the वंश ब्राह्मण of the सामवेद wnere a teacher of काम्बोज औपमन्यव is referred to. The sage उपमन्यु mentioned in the Rigveda (I-102-9) is in all probabilty, the father of the Kamboja teachers. From fhe fact that कम्बोज औपमन्यव is stated to be a pupil of मद्रगार, Zimmer infers that the Kambojas and the Madras were close neighbours in North-Western India. The speech of the Kambojas is referrd to by Yaska as deffering from other Aryans and Grierson sees in this referenee the Iranian affinities of the Kambojas but the fact that Kamboja teachers were reputed for their Vedic learning shows them to have been Vedic Aryans, se that Kamboja was an Aryan setllement. (267)

से यह सिद्ध होता है कि वे वैदिक आर्य ही थे जिससे कम्बोज देश आर्यों का ही उपनिवेश था। इन सब प्रमाण राशियों से—पाश्चात्य पण्डितों के अन्वेषण का भी इसी में समन्वय हो जाने के कारण—यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि पश्चिम भारत (सिन्धु नदी का पश्चिम प्रदेश) और पूर्वीय प्रदेशीय दोनों भागों में आर्यों का समान रूप से अधिवास था और जरथुस्त्र से पूर्व दोनों भागों में कोई विभेद न था। जरथुस्त्र के द्वारा ही भेद-बीज का वपन हुआ। अतः दोनों देशों के आचार-विचार, वेद आदि सब एक ही थे। वैदिक साहित्य जिन्दावस्ता से बहुत पूर्व ही दोनों भागों में समान रूप से प्रचलित था। वैदिक ऋषि भी दोनों भागों में रहते थे और उनके परस्पर भिन्न होने की अथवा उत्तर से आकर दो पृथक् भागों में विभक्त होने की कल्पना निस्सार है। पाश्चात्य पण्डितों ने अवस्ता के निर्माण काल का निर्णय कर लिया और उसी के आधार पर वैदिक भाषा की समता देख कर यह सिद्धान्त स्थापित कर लिया कि अवस्ता और वेद ग्रन्थ समकालीन थे, अतः वेदों के निर्माण का समय भी अवस्ता के निर्माण से पूर्व का नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्त को मान कर वेद ग्रन्थों के निर्माण काल को संकुचित करके इसी सीमा के भीतर रखने के लिए वेदों को १५००–१००० वर्ष ई० पू० के भीतर सिद्ध करते हैं। इस संकुचित सीमा को दृढ़ मानने के कारण ही उनकी अन्य सब कल्पनाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, वेदों की अन्तिम सीमा वे एक सहस्र वर्ष ईसा से पूर्व मानते हैं। यास्क को—जो कम से कम – ईसा से आठ सौ वर्ष पूर्व थे—पाँचवीं शताब्दी ई० पू० उन्हें लाना पड़ा क्योंकि यास्क का समय आते तक इतना अधिक अन्तर हो गया था कि यास्क को भी अनेक शब्दों के यथार्थ अर्थ को जानने का साधन न रह गया था। अरविन्द महोदय लिखते हैं कि यास्क ने चार सौ से अधिक ऐसे शब्द गिनाये हैं जिनका यथार्थ अर्थ वे न जान सके।[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक परम्परा से यास्क भी अपेक्षाकृत बहुत दूर हो गये थे। इस व्यवधान के लिए पर्याप्त समय अपेक्षित था। दो सौ वर्षों के व्यवधान में यह संभव न था, अतः यास्क को वे पाँचवीं सदी ई० पू० में ले आये। यास्क पाणिनि से भी बहुत अधिक पूर्व में थे यह, पाश्चात्यों ने मान लिया है, तब यास्क के बाद पाणिनि को भी वे ३०० वर्ष में (ई० पू०) ले आये। यद्यपि पाणिनि उससे पूर्व काल के थे, यह प्रमाणित हो चुका है। वेद

१. **Arabindo : Introduction to 'Hymns to the mystic fire'—**
It is true that an antique language obsolet words—Yaska counts

ग्रन्थों के काल निर्णय के सम्बन्ध में जो मिथ्या धारणा बद्धमूल हो गयी है उसी के परिणामस्वरूप अनर्थ परम्परा प्रचरित हो रही है और अनेक गण्यमान्य भारतीय विद्वान् भी उसी मत से प्रभावित हो रहे हैं। उसी के कारण महेंजोदारो, हरप्पा आदि में जो भग्नावशेष मिले हैं उनका काल निर्णय २५००–३००० वर्ष ई० पू० मान कर वेदग्रन्थों के द्वारा उपलब्ध भारतीय संस्कृति को बहुत बाद की मानने से यह धारणा उत्पन्न की जा रही है कि भारतीय संस्कृति से सर्वथा विभिन्न द्रविड़ संस्कृति उस काल में थी और तब भारतीय आर्यों का यहाँ नाम-निशान भी न था। इस सम्बन्ध में उनके विचार द्रष्टव्य हैं—श्री पुशालकर, जान मार्शल के मत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि उन्होंने (जान मार्शल) वैदिक और सिन्धु वैली की सभ्यताओं की तुलना करते हुए यह मत स्थिर किया है कि दोनों सर्वथा विभिन्न थीं और आर्यों का भारत में प्रवेश उनके मत में १५०० वर्ष ई० पू० से बाद का है। इससे यह समय इण्डस वैली की सभ्यता के चिह्न समाप्त हो जाने के एक सहस्र से अधिक वर्ष व्यतीत होने के बाद आया है, वे इण्डस वैली सभ्यता के सम्बन्ध में आर्यों की स्थिति पर विचार ही नहीं कर सकते। यही मत प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वानों का है जिनके मत से वेदग्रन्थ उस सभ्यता से बहुत बाद के माने गये हैं। इसका उल्लेख करके पुशालकरजी लिखते हैं कि ऋग्वेद का यह कल्पित काल वास्तव में आर्यों के इस सभ्यता के निर्माता होने में बाधक नहीं है यदि इस मत की पुष्टि में अन्य प्रमाण मिल जायँ। क्योंकि प्रथम तो ऋग्वेद का यह काल निर्णय (पाश्चात्य पण्डितों का) साधारण मात्रा में भी निश्चयात्मक नहीं है और दूसरे यह कि ऋग्वेद आर्यों के भारत में प्रवेश के समय से भी बहुत पूर्व काल की सभ्यता का निदर्शन करता है। इण्डस वैली सभ्यता के समय—इन से अधिक पहले—आर्यों की यहाँ स्थिति के सम्बन्ध में......के आधार पर कुछ लोगों का यह भी मत है कि आर्य गण उन दिनों में भी विभिन्न जन समूह में से यहाँ थे। आगे वे लिखते हैं कि यद्यपि मार्शल महोदय का मत ही इस समय सामान्य रूप से स्वीकृत माना जाता है तथापि कुछ विद्वान् लोग अब भी वैदिक सभ्यता को इण्डस वैली सभ्यता से प्राचीन मानते हैं।[१]

more than four hundred of which he did not the meaning and after a difficult and out of date diction helped to obscure their meaning. (P. 5)

१. History and Culture of the Indian people.

Pushalkar's article.

It appears that the main culture period of Mohenjodaro or

यहाँ यह स्पष्ट है कि श्री पुशालकर महोदय भी पाश्चात्य पण्डितों के ऋग्वेद काल के निर्णय को मान्यता देने में उत्साहित नहीं हैं तथापि दबे हुए शब्दों में अपनी मान्यता का प्रदर्शन करते हैं। परन्तु सीमा-प्रकरण में निर्दिष्ट प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि जिस मूल आधार को लेकर पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने अपने सिद्धान्त स्थिर किये हैं वह आधार ही सर्वथा समाप्त हो जाता है। वेद ग्रन्थों के काल निर्णय को संकुचित करके अर्वाचीन सिद्ध करने के प्रयास के कारण ही उनके सिद्धान्त विशृंखल हो

Harappa Culture ranged between 2000—2500 B. C. though it must have had a long history of antecedent development before it reached the stage. We meet, no idea of that period can be reached at Mahenjo-daro or Harappa, Jhukar or Ohavlue-daro bocause of sub. soil water. The civilisation for all we know may be well reach beyond 3500 B.C.

Sir gohn Marshall has eompared the Vidic civilisation with that of the Indus Valley and has found that they are quite distinct and as the entry of the Aryans into India according to his view of the date of the Rigveda is subsequent to 1500 B.C. more than a thousand years after the last vestige of the India valley civilisation disappeared, he can not think of the Aryans in connection with the Indus valley civilisation.

Now the presumed age of the Rigveda is really no barrier to the Aryan authorship of the Indus culture (if other evidence preves that hypothesis) for, in the first instance, that age is not known with even an approximate degree of certainty and secondly because the Rigveda can safely be taken to have represented a period long posterior to the advent of the Aryans into India. As to the existence of the Aryans in the Indus valley at so early a period as the age of the Indus culture, it is held by some on the evidence of skeleton material, that the Aryans formed part of tno diverse population of these days.

Although Sri John Marshall's view is now, generally, accepted, some scholars still regard the Vedic civilization as older than that of of the Indus valey.

गये हैं। वेद ग्रन्थों का काल निर्णय अत्यन्त कठिन है और इस सम्बन्ध में प्राच्य पण्डितों में भी अब तक ऐकमत्य नहीं हो सका है। इस सम्बन्ध के विभिन्न मतों का विवेचन आगे होगा।

हिन्दुस्तान में आर्य गण बाहर से आकर यहाँ के निवासियों से युद्ध करके उन्हें परास्त करके अपना आधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हुए, इस मत को सिद्ध करने के लिए वेदों में दास आदि का जो युद्ध-वर्णन मिलता है वही इसका मुख्य आधार माना गया है। यह उनका प्रवल तर्क है, इसी मूल पर उनके ये सिद्धान्त स्थिर हुए हैं। वेदों में जो युद्ध वर्णन है इस पर पृथक् प्रकरण में प्रकाश डालने का प्रयत्न होगा। यहाँ संक्षेप में यह दिखाने का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनका यह तर्क भी दृढ़ नहीं है और इसमें भी कल्पना से काम लिया गया है। वेदों में जो युद्ध वर्णन है वह पाँच प्रकार का दृष्टिगोचर होता है—(१); पणियों के साथ (२); दानवों के साथ (३); दैत्यों के साथ (४); दस्युओं के साथ तथा (५) आर्यों का आर्यों के साथ। इनमें आर्यों का आर्यों के साथ जो संघर्ष हुआ था वह मुख्य रूप से बृहस्पति और चन्द्र के परस्पर विरोध के कारण उत्पन्न हुआ था। बृहस्पति के पक्ष में इन्द्र आदि थे तथा इन्द्र और बृहस्पति के द्वेष के कारण असुर गणों ने चन्द्रमा का पक्ष समर्थन किया था। इसका उल्लेख पुराणों में तो है ही, ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी पाया जाता है। अन्त में दोनों पक्षों में सन्धि स्थापित हो गयी थी। यह युद्ध भी भारत भूमि से बाहर ही था, अतः इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि भारत के आर्य बाहर से आये। दानव, दैत्य आदि अनार्यों के साथ आर्यों के जो युद्ध हुए हैं सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी और गौ ये चार परस्पर सम्मर्द के निमित्त थे। दासों के साथ जो युद्ध हुआ था वह सूर्य को निमित्त लेकर हुआ था। सूर्य से यहाँ अभिप्राय आकाश में प्रकाशित होने वाले आधिदैविक सूर्य से नहीं है। सूर्य की किरणों के प्रभाव का अध्ययन करने के उद्देश्य से पृथ्वी पर जो विज्ञान भवन-निर्मित हुआ था उसका नाम भी सूर्य रखा गया था और उसके ध्वंस करने अथच हरण करने के प्रयत्न में दास गणों ने जो आक्रमण किया था उसका निराकरण करके दासों को युद्ध में परास्त करने में इन्द्र ने सहायता की थी। दास दो प्रकार के माने गये हैं। ये आक्रमणकारी दास अमनुष्य (भारत वर्ष से बाहर के) कहलाते थे, वे न देव वर्ग में आते थे और न गन्धर्व वर्ग में। ये अनार्य थे और इनका निवास सिन्धु नद के उत्तर में हिमालय हेमकूट और तत्रत्य पाद पर्वतों की द्रोणियों में था। इनकी अनेक प्रकार की श्रेणियाँ थीं और उनके श्रेणीनायक भिन्न-भिन्न थे। इनमें से बहुतों के नाम वेद ग्रन्थों में मिलते हैं—यथा शंबर, कुयव, शुष्ण, रोहिण इत्यादि। ये सब दास दस्यु थे और ये सब समान रूप से **वृत्र** भी कहलाते थे। वेदों का युद्ध वर्णन

इन्हीं के सम्बन्ध में हुआ है। दूसरे प्रकार के मनुष्य दास जो भारत वर्ष के निवासी थे वे वन्य, निषाद आदि थे। इनका आर्यों के साथ कभी युद्ध नहीं हुआ और न ये जीते गये और न भारतवर्ष से बाहर निकाले गये। यहाँ मनुष्य दास और अमनुष्य दास से अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष की प्रजा मनुष्य कहलाती थी। यहाँ मनुष्य शब्द व्यापक रूप से मानव मात्र के लिए अभिप्रेत नहीं है। यह पारिभाषिक शब्द है। इस प्रकार वह युद्ध भारतवर्ष से बाहर में रहने वाले अनार्य दासों के साथ हुआ था। जिस प्रकार पूर्व भाग में सप्त नद (गंगा, यमुना, सतलज, राप्ती प्रभृति) हैं उसी प्रकार पश्चिम में भी सप्तनद हैं और सिन्धुनद से उत्तर भाग में भी सप्तनद हैं—यह प्रसिद्ध है। इन तीनों सप्तन भूविभागों में से पूर्व के सप्तनद के भाग में कोई युद्ध नहीं हुआ है। आर्यों के साथ दासों का जो प्रथम युद्ध हुआ था उसमें चित्राल से पूर्वोत्तर भाग में जो सप्तनद था वहाँ के निवासी दासों के साथ पश्चिम सप्तनद वासियों का युद्ध था। यह गांधार देश में में हुआ था। इस युद्ध में आर्य गण अपने स्थान में स्थित थे, स्थायी (defender) थे और दास गण यायी (चढ़ाई करने वाले थे)। विजय प्राप्त करके दस्यु गण स्थायी हो गये और इन्द्र ने यायी होकर उन पर आक्रमण करके उनका नाश किया। गान्धार देशस्थित कुत्स आदि राजाओं पर पश्चिम-उत्तर में निवास करने वाले दस्यु गण बार-बार आक्रमण करके सताते रहते थे, उनकी रक्षा के लिए, उनकी प्रार्थना पर आकर इन्द्र ने उनका संहार किया था, यह वेद मंत्रों से स्पष्ट है। ये इन्द्र कौन थे—आधिदैविक अथवा ऐतिहासिक, इस सम्बन्ध में अन्यत्र विवेचना होगी जहाँ यह प्रकट होगा कि जिस प्रकार अधिदैव में स्वर्ग आदि त्रैलोक्य की कल्पना थी, उसी प्रकार भूमिभाग में त्रैलोक्य की व्यवस्था थी और जिस प्रकार अधिदैव में स्वर्ग के तथा देवों के अधिपति इन्द्र थे उसी के अनुसार भूमिस्थ स्वर्गभाग के अधिपति थे। यह प्रकरण ऐतिहासिक है, अतः यहाँ इन्द्र को भूमिस्थ स्वर्ग के अधीश्वर के रूप में मानना ही उचित होगा। ये युद्ध भारत की सीमा से बहिर्भाग में हुए थे इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इन युद्धों का भारत के मूल निवासी अनार्यों से कोई सम्बन्ध न था। आर्यगणों का निवास भारत-वर्ष में इन युद्धों से बहुत पूर्व से था, यह भी स्पष्ट है। क्योंकि ऋभुगण जिन्होंने अपने शिल्प कौशल का प्रदर्शन करके इन्द्र आदि के लिए विमानों का निर्माण किया था वे भारत के ही निवासी थे। इसका अन्य प्रकरण में विवरण है। भारतवासी ऋभुओं के निर्माण किये हुए विमानों में चढ़ कर इन्द्र इस युद्ध में आये थे, यह भी वेद के मंत्रों से ही स्पष्ट होता है। अपने शिल्पकौशल के द्वारा इन्द्र को सन्तुष्ट करके ऋभुओं ने—भारतवासी मनुष्य होते हुए भी—देवत्व प्राप्त किया था यह भी मंत्रों में स्पष्ट रूप से

उल्लिखित है ।[१] इन्हीं युद्धों के प्रकरण में सहाय रूप में आयु नामक राजा का उल्लेख मिलता है, ये बुध के पुत्र पुरूरवा के पुत्र थे । इक्ष्वाकु नरेश अयोध्या के राजा थे । इला उनकी पुत्री थी; उसने पुरूरवा को जन्म दिया और पुरूरवा से आयु हुए । इससे स्पष्ट होता है कि इन युद्धों से पूर्व में ही भारत आर्यों का निवस था । भारतीय राजा दिवोदास का भी इसी प्रसंग में उल्लेख मिलता है । ये सब ऐसे प्रमाण हैं जिन पर निष्पक्ष भाव से विचार करने पर इस कथन के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता कि भारतवर्ष के मूल निवासियों का ध्वंस करके आर्यगण हिन्दुस्तान में आये और वे उसी प्रकार वैदेशिक हैं—भले ही अति प्राचीन हों—जिस प्रकार अर्वाचीन काल में बाहर से आये हुए अन्य विदेशी हैं । तब यह अवश्य है कि इन भारतीय मनुष्य आर्यों का भूमिस्वर्गस्थ देवगण रूप आर्यों के साथ सम्पर्क संभव था । परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे देवगण आर्य ही भूमिस्वर्ग से आकर यहाँ बसे थे ।

पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने वेदों का अध्ययन करके जो सिद्धान्त स्थिर किये इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने सार निकाला है, उसका दिग्दर्शन भी इस प्रकरण में उपयुक्त प्रतीत होता है—इनके (श्री अरविन्द के) कथन का सार यह है[१]—'यूरोपीय विद्वानों ने

१. ऋभु द्वारा निर्मित विमान का उल्लेख—ऋ० वे०, ४।३६।१—वामदेव
'अनश्वो जातो अनभीषु....'
दीर्घतमा महर्षि–१-१६१–'इन्द्रो हरी युयुजे अश्वीना रथम्...'
ऋभुओं का इन्द्रसखत्व—वामदेव— ऋ०, ४।३३
'इन्द्राह्नः पीतिमुत वो मदम्....'

१. **Arabindo–Introduction to 'Hymns to the mystic Fire'**

The European scholars took up the ritualistic tradition, but for the rest they dropped Sayana overboard and went on to make their own etymological explanation of the words or build up their own conjectural meanings of the Vedic verses and gave a new presentation often arbitrary and imaginative. What they sought for in the Veda was the early history of India, its society, institutions, customs, a civilisation picture of the times. They invented the theory based on the difference of languages of an Aryan invasion from the north, an invasion of a

यज्ञविधि सम्बन्धी परम्पराओं को तो (सायण से) ले लिया और अन्य बातों के लिए उन का तिरस्कार कर दिया और अपने ही ढंग से शब्दों का शब्द शास्त्र के नियमों के अनुसार अर्थ किया अथवा वैदिक ऋचाओं का अनुमान से अर्थ कर लिया और मनमाना कल्पना प्रसूत समाधान निकाल लिया। वेदों में जिन बातों को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति थी वह थी हिन्दुस्तान का प्रारंभिक इतिहास, उसकी समाज व्यवस्था, संस्थाएँ, रीति-रस्म—अर्थात् तत्कालीन सभ्यता का दृश्य। भाषाओं की विभिन्नता को आधारमय कर उन्होंने यह गढ़ लिया कि आर्यों ने उत्तर से आकर द्राविड़ हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया। इसका, यद्यपि स्वयं भारतीयों को कोई स्मरण न था और न ऐसी कोई परम्परा ही पायी गयी है और न इस बात की भारतीय इतिहास-पुराणादि या अन्य साहित्य में कहीं चर्चा हुई है। इस दृष्टि में (पाश्चात्यों की) वैदिक धर्म केवल प्राकृतिक देवताओं की आराधना थी; सूर्य सम्बन्धी मिथ्या कथाएँ भी इसमें भरी हुई थीं और इसमें यज्ञ और यज्ञ विधियाँ थीं जो विचारों में बहुत ही संकुचित तथा बर्बर थीं और इन्हीं को वेद कह कर इतना सम्मान किया जाता था।'

श्री अरविन्द के ये विचार पाश्चात्य पण्डितों के ग्रन्थों का अच्छी तरह अनुशीलन करने के बाद स्थिर हुए हैं और इनसे किसी का वैमत्य होना संभव नहीं है तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है इन पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने—अधिकांश में अपने जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं उनमें उन्हें पूर्ण साधन उपलब्ध न होने के कारण—यहाँ की परम्परागत प्रथाओं का परिज्ञान न होने के कारण तथा वैदिक पारिभाषिक शब्दों की दुरूहता के कारण उन्हें अपनी कल्पना से अपने ही अनुसार निष्कर्ष निकालना पड़ा। उनके पास वेदार्थ परिज्ञान के लिए केवल सायण का भाष्य मुख्य रूप से पथप्रदर्शक था। सायण भी पूर्व परम्परा से दूर हो गये थे और पूर्व मीमांसा शास्त्र के अनुयायियों का उन पर पूर्ण प्रभाव था और ये लोग वेदों में यज्ञ मात्र को ही प्रधानता देते थे; यहाँ तक कि यज्ञ में जिन

Dravidian India of which the Indians themselves had no memory or tradition and of which there is no record in their epic or classical literature. The Vedic religion was in this account only a worship of Nature-gods full of solar myths and consecrated by sacrifices and a sacrificial liturgy primitive enough in its ideas and contents and it is these barbaric prayers that are the much vaunted, haloed and apotheosined Veda.

मंत्रों का विनियोग न था जो वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक अर्थ के द्योतक थे उन्हें अर्थवाद कह कर उपेक्षित कर दिया। इसी से प्रभावित होकर सायण भी प्रधानतः यज्ञ-विधि में विनियुक्त मंत्रों को प्रधानता देते थे, ऐतिहासिक अथवा वैज्ञानिक अर्थों की इन्होंने भी परम्परा के अनुसार उपेक्षा की। कहीं कहीं-जहाँ यज्ञ-विधि में संगति नहीं बैठी वहाँ उन्हें 'अथवा' कह कर बाध्य होकर ऐतिहासिक अर्थ भी देना पड़ा है यद्यपि वह उनकी भूमिका के अनुसार उनके सिद्धान्त के विपरीत पड़ता था। कहीं-कहीं (बहुत कम स्थानों में) उपायान्तर न रहने से——यज्ञ परक अर्थ करने में सर्वथा असमर्थ होने पर——उच्च आध्यात्मिक वैज्ञानिक अर्थों का भी उन्होंने संकेत किया है। साथ ही वेदों की आध्यात्मिक महत्ता का उन्होंने कहीं निषेध नहीं किया और न कहीं यह दिखाया है कि ऋचाओं में परम सत्य का उल्लेख नहीं है। सायण के सम्बन्ध में श्री अरविन्द के विचार भी मनन करने योग्य हैं।[१] इसी का उल्लेख करके ऊपर में उन्होंने कहा है कि पाश्चात्य संस्कृतज्ञों ने अन्य बातों में सायण का तिरस्कार कर दिया।

१. Sayana the great commentator, gives us a ritualestic and where necessary a tentatively mythical or historical sense to the Riko, very rarely does he put forward any higher meaning though sometimes he lets a higher sense come through or puts it as an alternative as if in despair of finding out some ritualistic or mythical interpretation. But still he does not reject the Spiritual authority of the Veda or deny that there is a higher truth contained in the Riko. This last development was left to our own times and popularised by occidental scholars.-

पंचम अध्याय

भक्ति, उपासना और अवतार

वैदिक उपासना काण्ड का उद्देश्य भक्ति योग है। जहाँ आधिदैविक और आधिभौतिक दोनों प्रकार के कर्मों का समुच्चय होता है अथवा कर्म और ज्ञान का समुच्चय होता है वहाँ एक दूसरे की भक्ति (भाग) होती है। उन दोनों भक्तियों (भागों) के द्वारा ज्ञान-कर्ममय एक साध्य सिद्ध होता है। यही उपासना काण्ड का प्रयोजन है। यहाँ व्यावहारिक कर्म के द्वारा पारमार्थिक ज्ञान सम्पादित होता है। जैसे आधिभौतिक किसी पदार्थ में बाह्य दृष्टि लगा कर उसके द्वारा जो समीप में नहीं है ऐसे किसी दूसरे आधिदैविक पदार्थ में मनोदृष्टि का ले जाना उपासना है। जिस विषय को जानना है उसके कोई रूप की कल्पना करके उस में सत्यत्व की धारणा करना श्रद्धा है। श्रद्धा के कारण तदनुकूल वैज्ञानिक परिचर्या (ध्यान आदि के रूप में) के द्वारा बुद्धि का योग उपासना है। सूर्य में अथवा गुरु में 'यह ईश्वर है' इस प्रकार के विश्वास वाले का दृढ़ प्रत्यय होता है और उनके लिए ईश्वरोचित सब कर्म—परिचर्या आदि—करना उपासना है। मन के द्वारा धारण किये गये अर्थ में मनःसंयम के द्वारा बुद्धि को स्थिर करना उपासना है। इनके अनेक उदाहरण ब्राह्मणों में और उपनिषदों में पाये जाते हैं। अथवा यह कहा जा सकता है कि जो आधिदैविक पदार्थ सन्निहित नहीं हैं और विज्ञान के द्वारा उनका साक्षात् प्रत्यय कराना जिनके लिए शक्य नहीं है तथा जो अधिकारी विज्ञान की शिक्षा समझने में असमर्थ हैं उन्हें सुगमता के साथ ज्ञान हो जाय इसके लिए किसी समीपस्थ आधिभौतिक पदार्थ में उस आधिदैविक का आरोप करके ज्ञान का प्रवाह कराना उपासना है; जिस प्रकार आरोप के द्वारा कल्पित किसी लिपि विशेष में वागक्षर की भावना —क च ट आदि के रूप में की जाती है। यह लिपि उस वागक्षर की न प्रतिकृति है न प्रतीक है। क्योंकि लिपि तो साकार है और वागक्षर निराकार है, इस लिपि को प्रतिकृति या प्रतीक नहीं कह सकते। इसलिए प्रतिकृति और प्रतीक से भिन्न तृतीय प्रकार है। प्रतिरूप में चित्र की प्रतिकृति के द्वारा जिस मूल का वह चित्र है उसमें बुद्धि का प्रवेश होता है। तीसरा प्रकार है—प्रतीक। प्रतीक अवयव को कहते हैं। पिता की उँगली को ग्रहण करके पिता को पकड़ते हैं यह बुद्धि होती है। गुरु की चरण-सेवा के द्वारा गुरु सेवा की बुद्धि होती है। इसी प्रकार समस्त जगत् में व्यापक एक अव्यय

पुरुष के किसी एक स्थान में–उसके अंश में बुद्धि को अवलम्बित करके अवयवी समुदाय विश्वेश्वर में बुद्धि का प्रवेश कराना उपासना का रूप होता है। इसी के अनुसार मनुष्य के समान शरीर से उपलक्षित राम और कृष्ण में श्रद्धा करने वाली बुद्धि उनके माध्यम से जगदीश्वर में पहुँचती है। यह राम और कृष्ण की दृष्टि से जगदीश्वर की उपासना होती है।

कहीं-कहीं एक, दो या तीनों का समुच्चय होता है। जैसे—चित्रपट में आलंबित दृष्टि के द्वारा चित्र के मूल अर्थ में मनोयोग होता है, इसी प्रकार राम और कृष्ण की प्रतिमूर्ति में आलम्बित बुद्धि के द्वारा शरीरधारी राम और कृष्ण में मनोयोग होता है और फिर उनके द्वारा भगवान् यज्ञपुरुष विष्णु में मन समर्पित होता है। इस उपासना में जो भगवान् के ज्ञान से सम्पन्न है भृत्य और स्वामी के समान सब लौकिक व्यवहार किये जाते हैं और इस आराधन क्रिया के द्वारा अलौकिक परमार्थ ईश्वर बुद्धि में संनिवेश होता है। इसलिए इसमें ज्ञान और कर्म दोनों का समुच्चय है। आधिभौतिक स्नानीय, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, भोग आदि समर्पण—उपचार रूप साधन और आधिदैविक भगवद्रूप का सन्निकर्ष रूप फल इस प्रकार दोनों का समुच्चय होता है। यहाँ आधिभौतिक साधन-साध्य आधिदैविक भगवान् के ज्ञान की भक्ति है और यह भक्तियोग कहा जाता है।

उपासना तीन प्रकार की कही गयी है—सत्यवती, अंगवती और अन्यवती। यह सत्य है इस प्रकार सत्यत्व का विश्वास ही श्रद्धा है। श्रद्धा करके उसमें मन को लगा कर जो ध्यान करता है वह उपासना है। सत्यत्व के विश्वास युक्त परम पुरुष के अनुध्यान से जो रस प्राप्त होता है उसके द्वारा उपासक सच्चिदानन्द की आराधना करता है। सत्यत्व के विश्वास के द्वारा दृष्टि और बुद्धि दोनों का समानाधिकरण होता है; एक प्रत्यय प्रवाह होता है। यह सत्यवती उपासना कहलाती है, यह मुख्य है। दूसरी है अंगवती। सम्पूर्ण में जो दृष्टि नहीं पहुँच सकती उसकी बुद्धि के द्वारा सम्पूर्ण में जो भावना की जाती है वह अंगवती है। इसे ही प्रतीकोपासना भी कहते हैं। जहाँ दृष्टि और बुद्धि के विषय भिन्न हैं वहाँ भावना के द्वारा दृष्टि-बुद्धि दोनों का समन्वय करना अन्यवती है। इनमें, अंगवती और अन्यवती उपासनाओं में, भक्ति शब्द प्रयुक्त होता है; यहाँ बुद्धि के विषय के प्रति दृष्टि का विषय उसकी भक्ति (भाग) हो जाती है। सत्यवती उपासना ही है भक्ति नहीं, क्योंकि वहाँ समान प्रत्यय के प्रवाह के कारण भाग होने की कल्पना का अवकाश नहीं रहता।

इस प्रकार इस भक्ति-उपासना में (अंगवती और अन्यवती में) दृष्टि और बुद्धि का समानाधिकरण विकसित न होने के कारण उपासना के स्वरूप की सिद्धि के

लिए तीन भाव अपेक्षित होते हैं—उपासक, प्रथमोपास्य और परमोपास्य। जो देखता हुआ भावना करता है वह उपासक है। वह द्वारभूत जिस अवलम्ब का आश्रय लेकर चाक्षुषी दृष्टि अथवा मानसी दृष्टि (भावना) उपास्य में समर्पित करता है वह द्वार भूत, दृष्टि का अवलम्बन प्रथमोपास्य है। और यह भावना बुद्धि जहाँ पहुँच कर विश्रान्त होती है भावना का वह विषय परमोपास्य है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उपासक के लिए तो एक परमोपास्य ही साध्य है, फिर प्रथमोपास्य की बीच में क्या आवश्यकता है। इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि परमोपास्य तीन प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अतीन्द्रिय। जो समीप में है, जिसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होता है वह प्रत्यक्ष है। जो सन्निहित नहीं है परन्तु इन्द्रियग्राह्य हो सकता है वह परोक्ष है और जिसका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करना सर्वथा असंभव है वह अतीन्द्रिय है। गुरु की उपस्थिति में उनकी उपासना करना प्रत्यक्ष है। एकलव्य ने द्रोणाचार्य को गुरु मान कर परोक्ष में उनकी उपासना की थी, यह परोक्ष उपासना का उदाहरण है। अतीन्द्रिय ईश्वर की उपासना तीसरा प्रभेद है। यहाँ परोक्ष और अतीन्द्रिय में प्रत्यय उत्पन्न करने के लिए कोई इन्द्रियग्राह्य पदार्थ—जो दृष्ट प्रत्यय है—बीच में माध्यम अपेक्षित होता है। वही द्वारभूत यहाँ प्रथमोपास्य है। जैसे छोटा बालक अपने पिता से पूछता है कि मृग, सिंह, हाथी आदि कैसे होते हैं, तो पिता पाषाण या मिट्टी के बने हुए उन मृग आदि को दिखाता हुआ बताता है कि यह मृग है, यह सिंह है, यह गज है। वहाँ पुत्र उन्हें चेतनमय मृग आदि समझता है और फिर उन पाषाणमयों में दृष्टि लगा कर अन्यत्र चेतन मृगादि में बुद्धि का प्रवेश करता है। यहाँ ये पाषाण आदि के बने हुए मृग आदि प्रथमोपास्य हैं और परोक्ष चेतन मृगादि परमोपास्य हैं। इसी प्रकार बिन्दु का लक्षण है कि उसमें लम्बाई-चौड़ाई आदि नहीं होती सुतरां उसका कोई रूप नहीं होता, परन्तु उस शून्य बिन्दु के लिए एक रूप युक्त छोटा बिन्दु बना कर समझाया जाता है। इन स्थानों में दृष्टि योग्य किसी माध्यम का अवलम्बन किये बिना परमोपास्य की साधना संभव नहीं है। इसलिए परमोपास्य के लिए प्रथमोपास्य आवश्यक होता है।

प्रतीकोपासना

समग्र के किसी एक देश का ग्रहण प्रतीक है। जैसे जनपद का नगर, नगर का एक गृह, गृह की एक शाला (कमरा)। मनुष्य के हाथ आदि एक-एक अंग प्रतीक हैं। वंग देश के कलकत्ता नगर के किसी मकान के एक कमरे में प्रवेश करने वाले के लिए कहा जा सकता है कि वह वंग देश में है; कलकत्ता में है अथवा अमुक नम्बर के मकान

में है। गौ की पूँछ मात्र के स्पर्श करने वाले के लिए कहा जाता है कि वह गौ का स्पर्श कर रहा है। किसी एक अंग में अवस्थित दृष्टि सम्पूर्ण अंगी में व्यवस्थित हो जाती है। इसी प्रकार भक्ति (भाग) और भक्तिमान् (भागी) दोनों अतिरिक्त नहीं हैं। अत: अवयव दृष्टि के द्वारा समुदाय में बुद्धि वृत्ति का स्थिर करना प्रतीकोपासना है। जैसे निम्नलिखित मंत्रों में अनेक देवों की एकात्मता कही गयी है :—

"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।"

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।"

यहाँ एकत्व अंगी की अपेक्षा से है। इन्द्र, मित्र आदि के रूप और कर्म के भेद के कारण जो भेद कहा गया है वह अंग की अपेक्षा से है। इन्द्र आदि सब देव एक ही ईश्वर के विभिन्न कर्म वाले भिन्न-भिन्न अंग हैं। जिस प्रकार पुरुष के हस्त पादादि भिन्न-भिन्न कर्म वाले भिन्न अंग हैं उसी प्रकार के ये देव ईश्वर के अंग हैं। अब यदि कोई केवल इन्द्र की उपासना करता है अथवा केवल अग्नि की या वरुण की तो इन प्रतीकों के द्वारा ईश्वर की ही उपासना होती है। प्रतीकों के भेद होने पर भी प्रतीक के द्वारा ग्रहण किये गये आत्मा की सम्पूर्ण अंगों में व्याप्ति है। गंगा नदी के किसी एक स्थान में स्नान करने वाले के लिए गंगा में स्नान करना माना जाता है। इसी को लक्ष्य में रख कर भगवान् वेदव्यास ने शारीरक सूत्र में कहा है—"सर्वाभेदादन्यत्रेमे", जिसका अर्थ है कि अंगी का प्रत्यंग से अभेद होने के कारण ये अंगी के धर्म दूसरे-दूसरे अंगों में भी पर्याप्त (व्याप्त) माने जाते हैं। गीता में भी भगवान् ने कहा है :—

'येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।' गीता—९—२३

यहाँ 'माम् एव' जो कहा है वह अव्यय अमृतात्मा के लिए कहा है, वही इस सबका अंगी है। उसी में सब देवता अपीत हैं। वे भी (अन्य देवताओं का यजन करने वाले) मेरा ही यजन करते हैं यह कहने का तात्पर्य स्पष्ट है कि एक अंग के द्वारा सम्पूर्ण की उपासना—प्रतीकोपासना ही यहाँ उपदिष्ट है। प्रतीकोपासना के पोषक और भी अनेक उदाहरण श्रुति-स्मृति में बहुत स्थानों में मिलते हैं।

प्रतिरूपोपासना

चित्र, प्रतिमा आदि प्रतिकृति रूप शिल्प प्रतिरूप है। उस चित्र, प्रतिमा आदि में आलम्बित बुद्धि दूरस्थित प्रतिमेय (जिसकी वह प्रतिमा है) में स्थित होती है। यह

प्रतिमा दो प्रकार की होती है—प्रतिकृति और भाव । जो रूपवान् है, साकार है उसका चित्रपट के द्वारा अथवा लकड़ी, पाषाण, मृत्तिका के द्वारा प्रतिरूप शिल्प से सादृश्य उपपादन करना प्रतिकृति प्रतिमा है । जिस प्रकार मिट्टी, धातु आदि से बने हुए गो, अश्व आदि के सादृश्य के द्वारा चेतन गो आदि में बुद्धि स्थिर होती है, इसी प्रकार विश्वात्मा भगवान् हिरण्यगर्भ ईश्वर का भी प्रतिरूप साक्षात्कार करने का यत्न किया जाता है। हिरण्यगर्भ का वर्णन—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' इत्यादि मंत्रों में मिलता है । इनकी प्रत्यक्ष के समान दृश्यमान की उपासना के लिए उसकी प्रतिकृति अपेक्षित है । इसलिए यह उपासक प्रकृति द्वारा निर्मित विश्व के आकार में परिणत हिरण्यगर्भ की प्रतिकृति रूप शालग्राम शिला की उपासना करता है । जिस प्रकार यह शालग्राम शिला गोल है उसी प्रकार विश्वात्मा हिरण्यगर्भ वर्तुल वृत्त के रूप में श्रुतियों में तथा स्मृतियों में वर्णित हैं । भगवान् हिरण्यगर्भ परमेष्ठी कृष्णमूर्ति हैं और हिरण्मय सूर्य का ज्योतिर्मण्डल उनके गर्भ में स्थित है । इसी प्रकार शाल-ग्राम शिला भी वर्तुल वृत्त है, कृष्ण वर्ण है और उस शिला के गर्भ में सुवर्णखण्ड भी रहता है । (गण्डकी नदी में यह शालग्राम शिला मिलती है और उसमें छिद्र करके नेपाली आदि सुवर्ण निकालते हैं यह अब भी देखा जा सकता है ।) इस प्रकार इस शालग्राम शिला में हिरण्यगर्भ का सादृश्य बहुत अंशों में सिद्ध हो जाता है । इस शिला में की गयी दृष्टि सादृश्य की महिमा से भगवान् विश्वात्मा हिरण्यगर्भ में सरलता से बुद्धि को पहुँचा देती है । इसलिए यह शालग्राम शिला की उपासना विश्वमूर्ति ईश्वर की प्रतिरूपो-पासना है ।

भावमय प्रतिमोपासना

जो निराकार है, रूप रहित है उसकी प्रतिकृति संभव नहीं है इससे उसकी भाव-प्रतिमा ही हो सकती है । जैसे व्यास और परिधि से रहित शून्य बिन्दु की शिक्षा देने के लिए पिण्ड बिन्दु का निर्देश होता है । यहाँ पिण्ड बिन्दु में अध्यस्त दृष्टि द्वारा शून्य बिन्दु की उपासना होती है । पिण्ड बिन्दु लक्षक है शून्य बिन्दु लक्ष्य है । लेख से लक्षित पत्र आदि में उपनिबद्ध विज्ञान ग्रन्थ लक्षक हैं और शरीररहित भावनागम्य विज्ञान लक्ष्य है । अन्य प्रकार से उसका लक्षित करना संभव नहीं है । इसलिए अनाकार ज्ञान के उपाय भूत साकार में समर्पित बुद्धि अनाकार की उपासना करती है । यहाँ साकार और अनाकार में प्रतिरूप का होना असंभव है अतः किसी प्रकार भावना के द्वारा प्रतिरूप की कल्पना करके दोनों जो भिन्न-भिन्न है उनमें अभेद की भावना कर ली जाती हैं ।

निदानोपासना

निदान संकेत को कहते हैं। जहाँ किसी भी प्रकार का सादृश्य नहीं है वहाँ मनमाने किसी पदार्थ में संकेत सम्बन्ध मान कर उसे स्मारक (स्मरण दिलाने वाला) मान लेना निदान है। जैसे शोक, क्रोध आदि में कोई वर्ण नहीं है परन्तु संकेत (कल्पना) के द्वारा शोक और अपकीर्ति को कृष्ण वर्ण, क्रोध को रक्त वर्ण, कीर्ति को शुक्ल वर्ण मान लिया गया और उसी के अनुसार काव्य आदि में वर्णन होने लगा। सत्त्व गुण का शुक्ल, रजोगुण का रक्त और तमोगुण का कृष्ण वर्ण मान लिया गया है। इस प्रकार निदान के द्वारा उसमें आरोपित दृष्टि के द्वारा अन्यत्र बुद्धि का संचार होता है। जैसे अँगुली के संकेत से दिखाये गये स्थान में मनुष्य बुद्धि कर लेता है। इसलिए यह निदान में माध्यम हो जाता है। अनगढ़ पत्थर या लकड़ी के टुकड़े में देवता का संकेत मान कर उसकी उपासना बहुत देखी जाती है। माध्यम में आलम्बमान मन अन्य अप्रत्यक्ष अर्थ में संकेत के द्वारा पहुँच जाता है।

ईश्वर अतीन्द्रिय है। विना माध्यम के उसकी उपासना शक्य नहीं है। इन्द्रिय से अतीत अर्थ में मन का योग नहीं हो सकता। इसलिए उपास्य और उपासक के मध्य में इन्द्रियों के लिए कोई आलम्बन आवश्यक है। वह अध्यास्यमान (माना हुआ) प्रथम उपास्य है। गुरु का जीवात्मा अथवा जीवात्मा के प्रतीक से उपलक्षित परमात्मा परम उपास्य है। ये दोनों ही इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं हो सकते और जिस का ग्रहण नहीं हो सकता उसकी उपासना कैसे होगी? दूसरे पदार्थों से मन की वृत्ति का निरोध करके समान प्रत्यय प्रवाह ही उपासना है। इस निदान के द्वारा प्रत्यक्ष गृहीत अथवा भावमय प्रतिमा आदि में मनोयोग करके उसके द्वारा मन किसी अप्रत्यक्ष अर्थ में संचार कर सकता है।

चारों प्रकार की ये उपासनाएँ जहाँ-तहाँ स्वेच्छानुसार की जा सकती हैं। जैसे श्री कृष्ण की उपासना अधिकारी के भेद से दो प्रकार की हो सकती है—प्रतीकोपासना और भावोपासना। यादव माधव सात्वत कृष्ण वासुदेव पुरुष विशेष थे, उनका आकार जिस परमात्मा का प्रतीक था अथवा कुछ अधिकारियों के लिए वे जिस परमात्मा की भाव प्रतिमा रूप में थे उन वैज्ञानिक सत्य कृष्ण को ये प्रकट कर रहे थे। 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' इस श्रुति में लोकचतुष्टय कहा गया है। इसलिए सत्य ईश्वर लोक-चतुष्टय-साक्षी होते हैं। पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और परम द्यौ से अनुगत उनके चार रूप ज्ञात होते हैं—मानुष, वैहायस, चाक्षुष और पारमेष्ठ्य। जिस रूप

में ये यादव वासुदेव हैं यह मानुष रूप है। अन्तरिक्षस्थ चन्द्र उनका वैहायस रूप है। दिव्य सूर्य चाक्षुष रूप है। और जिसके द्वारा चतुर्थ समुद्र लोक में गोसव गोविन्द नाम वाले हैं वह पारमेष्ठ्य रूप है। इन चारों कृष्णों का स्वयंभू सत्य आत्मा से तादात्म्य है। एक ही अन्तर्यामी सत्य उन उन लोकों में अपनी विभूति के द्वारा अवतीर्ण होते हुए चारों लोकों में विभिन्न रूप से भासित होते हैं। इस प्रकार सत्यात्मा दिव्य कृष्ण का स्वभावत: चतुर्लोक में निवास होता है इसलिए सत्यावतार मनुष्य रूप वासुदेव कृष्ण ने अपना निवास चार स्थानों में किया। आदि में पृथ्वी लोक के समान कारागर में ये प्रादुर्भूत हुए। इसके बाद अन्तरिक्ष के समान गोकुल आदि अतिविस्तृत विहार प्रदेश में इनका निवास हुआ। फिर द्युलोक के समान मथुरा राज्य के आश्रय में स्थित हुए। फिर चतुर्थ आपो लोक के समान परम स्थान समुद्र गर्भ में द्वारका में निवास किया। इस प्रकार स्पष्ट ही इन्होंने चतुर्लोक में निवास ग्रहण किया। विशेषता इतनी है कि मनुष्यावतार में इन एक ही कृष्ण ने काल भेद से चार स्थानों में निवास किया। अधिदैवत में विश्वात्मा भगवान् कृष्ण पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ और समुद्र में भिन्न-भिन्न रूपों से अवतीर्ण होकर एक समय ही सर्वत्र अवस्थित रहे। इन चारों सत्यावतारों को जो प्रत्यक्ष सन्निधि में प्राप्त नहीं कर सकता वह चित्र, प्रतिमा आदि को प्रत्यक्ष में करके सत्य आत्मा की भावना करता है। यहाँ इस भक्ति उपासना में चरित्र सहित मानुष रूप माध्यमिक मध्यमोपास्य होता है और उनके चित्र प्रतिमा आदि प्रथमोपास्य हैं।

उपासना का प्रयोजन

एक बिन्दु में अनेक बल एक दूसरे से यदि ग्रथित हो जायँ तो वह हृद्ग्रन्थि है। इस हृद्ग्रन्थि के द्वारा वह आत्मा रसबद्ध हुआ सा प्रतीत होने लगता है। पहले जितने बल बद्ध हैं वहाँ फिर नया बल आकर ग्रथित होकर अपने और रस बढ़ा ले तो वह द्वितीय ग्रन्थि कही जायगी। इस प्रकार उत्तरोत्तर ग्रन्थि बढ़ती जायगी और सृष्टि होती जायगी। हृद्ग्रन्थि के मोचन से बन्धन का मोचन हो जाता है और तब वहाँ रस अपने नैसर्गिक रूप में आ जाता है। वह स्वयं अपनी ही इच्छा से बद्ध है स्वयं मुक्त है। कभी वह जगत् होता है और कभी आत्मा। जो अखण्ड है, विभु है, एक रूप है वही बन्धन के द्वारा सीमित हो जाता है और तब उसमें अनेक खण्ड हो जाते हैं। जैसे-जैसे ग्रन्थि विमुक्त होती जायगी वैसे-वैसे ग्रन्थि के भेदन से वह (रस) विकास को प्राप्त होगा। आत्मा जब अकस्मात् बन्धन को प्राप्त होता है वह अर्थ कहलाने लगता है। वह विभु आत्मा बन्धन के प्रभाव से देह में बद्ध होकर देही हो जाता है, शरीर में

बद्ध होने के कारण अल्पज्ञ हो जाता है और अत्यन्त बद्ध होने पर जड़ हो जाता है, उसका स्वरूप चेतनत्व तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार बन्धन के बाद बन्धन होने पर जगत् का स्वरूप बनता है। मन यदि प्राण गति में प्राप्त होकर स्थूल दशा में आकर वाक् हो जाता है तब मन उस वाक् में लीन हो जाता है और विचित्तता (चित्त का अभाव) हो जाती है। प्राण शिथिल हो जाता है और परवशता हो जाती है। किन्तु जैसे-जैसे मन उस बन्धन से मुक्त होता जाता है तो विकास को प्राप्त करके क्रम से फिर स्वतन्त्र हो जाता है। प्रथम बन्ध में प्राण से यह वाक् होती है फिर वाक् के बन्धन द्वारा स्थूलता को प्राप्त करने पर वायु, इसी प्रकार अन्त में पृथ्वी का रूप बनता है। पृथ्वी की स्थूलता में वृक्ष पत्र आदि होते हैं। इस प्रकार जगत् का विस्तार होता जाता है। इसी प्रकार प्रतिसृष्टि दशा में क्रम से इनकी मुक्ति भी होती है। पृथ्वी जल में, जल तेज में, इस प्रकार वाक् प्राण में और प्राण मन में लीन होता है। इस प्रकार सृष्टि और लय का प्रवाह चलता रहता है। जड़ सृष्टि में स्वाभाविक रूप से यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रवाह होता रहता है जो प्रत्यक्ष भी देखने में आता है। जल कभी वाष्प बन कर उड़ जाता है। वाष्प कभी जल रूप में परिणत होती है।

यह तो जड़ सृष्टि का प्रवाह हुआ जो प्राकृतिक नियम के अनुसार चलता रहता है। परन्तु यह मनुष्य जीव अत्यन्त बद्ध नहीं है। स्पष्ट ही यह विज्ञानमय भी देखा जाता है तो भी यह कर्म योग से देह में निश्चय ही बद्ध प्रतीत होता है। अन्य जीव या जड़ सृष्टि की अपेक्षा इस मनुष्य योनि के जीव की यह विशेषता है कि यह इस बन्धन से मुक्त होने का उपाय कर सकता है। जिस क्रिया के द्वारा यह जीव मुक्त होता है वही यह उपासना है। उपासना के द्वारा प्रबल मोक्ष होता है और फिर इसमें बन्धन नहीं होता। उपासना के योग से जीवात्मा का ज्ञान ईश्वरीय ज्ञान की समानता को प्राप्त करता है और तब उसमें बन्ध की प्रसक्ति नहीं होती, वह ईश्वर से एक रूप हो जाता है—जीवत्व फिर नहीं रहता। परन्तु यह जीवात्मा और परमात्मा के ज्ञान का योग सरल नहीं है। अर्जुन के समान विशिष्ट व्यक्ति भी कातर होकर भगवान् कृष्ण से कहते हैं कि यह मन चंचल है, प्रमथन करने वाला है; जिस प्रकार वायु का रोकना अत्यन्त दुष्कर है इसी प्रकार इस मन का निग्रह करना भी अत्यन्त कठिन है—'चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥' जीव का मन स्वभावतः अत्यन्त चंचल है, अस्थिर है; परमेश्वर का मन स्थिर—नितान्त शान्त है। यदि जीव का मन वृत्तियों का निरोध करके किसी प्रकार स्थिर किया जा सके तो वह परमेश्वर के मन से योग कर सकता है। यदि नेत्र स्थिर रहे परन्तु प्रतिबिम्ब चलायमान रहे तो प्रतिबिम्ब और

नेत्र का योग नहीं हो पाता। यदि प्रतिबिम्ब यत्नपूर्वक स्थिर किया जा सके तो वह स्वयं नेत्र के समीप आ जाता है। जिस योग में जीव का मन ईश्वरीय मन के सान्निध्य को प्राप्त होता है उसे उपासना कहते हैं। उप अर्थात् समीप में आसन अर्थात् अवस्थिति—यह उपासना की व्युत्पत्ति है। ईश्वर के मन से योग होने पर—ईश्वर की शक्ति अनायास जीव में संक्रान्त होती है और तब उसे अष्ट सिद्धि प्राप्त हो जाती हैं। यह स्वाभाविक नियम है कि जहाँ दो का योग होता है वहाँ अधिक धर्म वाले की शक्ति अल्प शक्ति वाले में संक्रान्त अवश्य होती है और समीकरण की प्रक्रिया होने लगती है। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि प्रज्वलित अग्नि के समीप में रखे हुए पदार्थ में अग्नि की दाहिका शक्ति संक्रान्त होती है और वह पदार्थ भी दाहक हो जाता है। अत्यन्त उष्ण जल में अल्प मात्रा में यदि ठंढा जल मिला दिया जाय तो वह शीतल जल उष्ण हो जाता है। इसी प्रकार अत्यधिक परिमाण के शीतल जल में यदि अल्प मात्रा का अत्यन्त उष्ण भी जल मिलाया जाय तो वह शीतल हो जाता है। अतः यदि ठीक विधि से उपासना की जाय तो निश्चय ही उपास्य देव की शक्ति उपासक में संचरित हो जायगी। जहाँ कहीं यह देखा जाता है कि उपासना करने पर भी तदनुरूप फल की प्राप्ति नहीं होती वहाँ यह निश्चय समझना चाहिए कि उपासना की विधि में ही कोई त्रुटि है।

यह योग तीन प्रकार से संभव है—कर्म के द्वारा, भक्ति के द्वारा अथवा ज्ञान के द्वारा। कर्मयोग के द्वारा महत्व की प्राप्ति होती है। आत्मा विकसित होता हुआ भूमा होता जाता है। भक्ति मध्यम मार्ग है और ज्ञान ईश्वर-सारूप्य का हेतु है। कर्म योग वह है जहाँ न अपने स्वार्थ की अथवा पर के स्वार्थ साधन की इच्छा हो; सामान्य रूप से सर्वजन के हितावह कार्य फलकामना रहित करे वह कर्म योग है। इसी कर्म योग की कोटि में निःस्वार्थ भाव से की गयी सभी प्रकार की सेवाओं का समावेश हो जाता है। दरिद्रनारायण के भोजन, वस्त्र की व्यवस्था करना, उनकी चिकित्सा के लिए औषधालय की व्यवस्था, धर्मशाला निर्माण, कूप खनन इत्यादि सब लोक और समाज के कल्याणकारक कार्यों के द्वारा विश्वात्मा की ही सेवा होती है और उसके द्वारा उपासक के आत्मबल में अवश्य वृद्धि होती है। ये सब कार्य कर्मयोग की कोटि में माने जाते हैं।

दूसरा है ज्ञान योग। संसार में जो-जो पदार्थ प्रसिद्ध हैं उन सबकी पृथक्-पृथक् विद्या है। उनका ज्ञान पृथक्-पृथक् है। ईश्वर ज्ञान स्वरूप है। विद्या जगन्मय परमेश्वर में स्थित है, उस विद्या का साक्षात्कार करके परमेश्वर का दर्शन होता है। परन्तु ये जगत् के पदार्थ अनन्त हैं, इन सब विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना शक्य नहीं है। अतः जिसका जितना ज्ञान बढ़ता जायगा उसी अनुपात से उसमें ईश्वरीय शक्ति का

संचार अवश्य होता है। इसी के लिए गीता में कहा गया है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' वर्तमान समय के निस्स्वार्थ कार्य करने वाले, लोक-कल्याण-कारक तत्त्वों के आविष्कारक वैज्ञानिक इसी कोटि में आते हैं। शास्त्रों में निष्णात होने वाले मनीषी विद्वान् भी इसी कोटि में हैं। यह ज्ञान योग है परन्तु इन सब विद्याओं के द्वारा यद्यपि आत्मशक्ति का विकास अवश्य होता है परन्तु पूर्णता संभव नहीं है। अनेक जन्मों में भी यह पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। यह सब जो कुछ दृष्टि में आता है यह सब ऋग्, यजुः और साम का समवाय है, इस सबका ज्ञान ही वेद है। इस सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक आख्यायिका है।[१] 'भरद्वाज ने तीन आयु के समयों तक ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करना) किया। वे जीर्ण वृद्ध लेटे हुए थे। इन्द्र उनके पास आकर बोले—भरद्वाज! यदि हम तुम्हें चतुर्थ आयु प्रदान करें तो उससे तुम क्या करोगे। भरद्वाज ने उत्तर दिया—इससे ब्रह्मचर्य का ही आचरण करूँगा। तब इन्द्र ने उन्हें तीन पर्वत के समान अविज्ञात पदार्थों का ढेर दिखाया। उन तीनों में से एक-एक मुट्ठी लेकर भरद्वाज से कहा—ये वेद हैं। वेद अनन्त हैं। अब तक इन तीन आयु के कालों में तुम इतने को जान सके हो और अवशिष्ट सब तुम्हारे लिए अविज्ञात ही हैं।' इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान काण्ड का यह मार्ग अत्यन्त दुष्कर है। इसके लिए परम कारुणिक महर्षियों ने अपेक्षा कृत सरल उपाय का प्रदर्शन किया है। यह आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों का अणु स्वरूप है—'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' यह प्रसिद्ध है। यदि कोई एक आत्मा को ही यथार्थ रूप में जान ले तो वह समस्त जगत् के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। वह आत्मज्ञान के द्वारा महेश्वर का साक्षात्कार करके परमात्मा से एकाकार हो जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने जब उनसे परमार्थ तत्त्व समझाने का आग्रह किया है तब उन्होंने जो अन्तिम उपदेश दिया है वह यह है कि आत्मा ही द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, आचरण करने योग्य है।

१. "भरद्वाजो ह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तं ह जीर्णं स्थविरं शयानं इन्द्र उपव्रज्य उवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्यां किमनेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेव एतेन चरेयमिति हो वाच। तं ह त्रीन् गिरिरूपान् अविज्ञातानिव दर्शयांचकार। तेषां ह एकैकस्मान् मुष्टिमाददे। स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य। वेदा वा एते। अनन्ता वै वेदाः। एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः। अथ त इतरद् अननूक्तमेव।" (तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०)

आत्मा के दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात हो जाने पर यह सब विदित हो जाता है।[1] इस प्रकार आत्मज्ञान प्राप्त करना ज्ञान मार्ग है।

भक्ति योग

इस प्रकार कर्म योग, ज्ञान योग और भक्ति योग इन तीनों मार्गों में से अपनी-अपनी शक्ति और रुचि के अनुसार पुरुष किसी का आश्रय लेकर परम पुरुषार्थ प्राप्त कर सकता है। सबका लक्ष्य एक है—जीव का स्वस्वरूप भूत परमात्मा से एकीकरण। संसार बन्धन से बार-बार जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होना। यही परम पुरुषार्थ है। इसी को लक्ष्य में रख कर शास्त्रोक्त विधि निषेध प्रवृत्त हुए हैं। भारतीय संस्कृति का यही विशेष पुरुषार्थ है। वास्तव में मुख्य रूप से मोक्ष का हेतु तो ज्ञान ही है। अविद्या, अज्ञान के आवरण के कारण ही जीव में जीवत्व है। स्वरूप से तो वह सर्वदा ईश्वरांश होने से ईश्वर रूप ही है, आवरण के कारण बद्ध-सा प्रतीत होता है। आवरण के हटते ही वह स्वस्वरूप में आ जाता है। इस अज्ञान का आवरण ज्ञान के ही द्वारा हटाया जा सकता है। अज्ञान का प्रबल विरोधी ज्ञान है अतः अज्ञान के निवारण करने की सामर्थ्य ज्ञान में ही है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय'—उस परमात्मा के ज्ञान के द्वारा ही मृत्यु (संसार) का अतिक्रमण करता है, अन्य मार्ग नहीं है, इत्यादि अनेक स्थानों में श्रुतियों में कहा गया है। ऐसी स्थिति में स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि जब मुक्ति का प्रधान हेतु ज्ञान ही है तब भक्तियोग का क्या उपयोग है और इसे क्यों स्वीकार किया गया है। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि ज्ञान के उत्पादन के ही ये तीनों मार्ग हैं। ज्ञान योग से भी परमात्मज्ञान होता है और तब मोक्ष होता है। भक्ति योग भी ज्ञान उत्पन्न करके ही मोक्ष का सम्पादन करता है। इस प्रकार परमात्मज्ञान के दोनों ही मार्ग हैं। गीता में अर्जुन ने यह प्रश्न छेड़ दिया है कि इस प्रकार निरन्तर युक्त होकर जो भक्त आपकी उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं उनमें कौन योगवित्तम है—श्रेष्ठ है। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि जो अनिर्देश्य अव्यक्त की उपासना करते हैं वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं, परन्तु जो लोग अव्यक्त में चित्त को आसक्त करते

१. "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि ! आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् ।" (बृहदा० उप० ४।५)

हैं उन्हें क्लेश अधिक है। देहधारियों को अव्यक्त में बड़ी कठिनता होती है। अतः जो लोग मुझ में अपना मन निविष्ट करके नित्य युक्त होकर परम श्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं वे मेरे मत से युक्ततम हैं।[१] इस प्रकार श्री भगवान् ने भक्ति मार्ग को ही अपेक्षा कृत सरल और अधिक उपयुक्त बताया है। भगवद्गीता में भक्ति मार्ग की महिमा सर्वत्र ओत-प्रोत है, यहाँ दिग्दर्शन संभव है। अर्जुन को विराट् रूप प्रदर्शन कराने के बाद भगवान् कहते हैं[२] कि मेरे अत्यन्त कठिनाई से देखने योग्य जिस रूप का तुमने दर्शन किया है उसके दर्शन की आकांक्षा देवगण भी सदा करते रहते हैं (भाव यह है कि देख नहीं पाते)। जैसे तुमने मुझे देखा है वैसा मैं न तो वेदों के द्वारा देखा जा सकता हूँ, न तपस्या के द्वारा, न दान के द्वारा और न यज्ञ के द्वारा। हे अर्जुन ! मुझे इस प्रकार यथार्थ रूप से जानने और प्रवेश करने के लिए एक मात्र उपाय अनन्य भक्ति है। इससे बढ़कर भक्ति मार्ग का और क्या महत्त्व हो सकता है।

इस भक्ति मार्ग की एक और बड़ी विशेषता यह है कि भक्त को भगवान् का अनुग्रह प्राप्त होने लगता है, ऐसे ही उसकी शक्ति बढ़ती है। जैसे कि पूर्व में कहा गया है, ईश्वर में मनोयोग दृढ़ करने से अल्प शक्ति जीव में ईश्वरीय शक्ति का संचार होने लगता है, यही अनुग्रह है। इसके अतिरिक्त ईश्वरानुग्रह के द्वारा ईश्वर का ज्ञान उसे सुलभ हो जाता है, जैसा कि श्रुति में कहा गया है कि यह आत्मा प्रवचन (उपदेश) के द्वारा प्राप्त नहीं होता, न मेधा के द्वारा और न अधिक अध्ययन के द्वारा; वही आत्मा (ईश्वर) जिसका वरण करता है वह उसे जान सकता है—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥' मुण्डक० ३।२

१. अर्जुन उवाच—'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥' श्रीभगवानुवाच—'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥' (१२।१–२)—'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥' (१२–५)

२. सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम। देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
—गीता ११।५२-५४

भक्त के योगक्षेम की चिन्ता भी भगवान् अपने ऊपर लेते हैं। यद्यपि सभी का योगक्षेम भगवान् के अनुग्रह पर ही निर्भर है तथापि उसमें उन प्राणियों का कर्म नियामक होता है, परन्तु भक्त पर भगवान् का विशेष अनुग्रह होने से कर्म का प्रभाव मन्द पड़ जाता है।[1] इसके अतिरिक्त भक्तिमार्ग में ईश्वर का प्रसाद प्राप्त होता है, ईश्वर में मन लगाने से भगवान् के प्रसाद से सब अड़चनें दूर हो जाती हैं इसका गीता में बहुधा उल्लेख है।[2]

अव्यय ज्ञान कर्ममय है। भक्तिमार्ग भी मध्यम है, ज्ञान और कर्म दोनों का इसमें सहयोग है, इसमें एकदेशीय ज्ञान अथवा कर्म की अपेक्षा सुविधा अधिक है। इसका प्रचार भी अधिक है। परम ज्ञान के उत्पादन में इसका माध्यम बहुशः श्रुतियों में तथा स्मृतियों में माना गया है। मुण्डकोपनिषद् में एक रूपक के द्वारा उपासना को शर कहा गया है, उपनिषद् को धनुष् और लक्ष्य वेध्य अक्षर को माना गया है।[3] भक्तिमार्ग के द्वारा अद्वैत की सिद्धि का भी प्रतिपादन हुआ है। श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के पन्द्रहवें

१. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। गीता ९।२२

२. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।। १२।६
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। १२।७
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। १८।५६
तमेव (ईश्वरं) शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।१८।६२

३. यदर्चिमद् यदणुभ्योऽणु च यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः ।।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद् वेद्धव्यं सोम्य विद्धि।
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ।।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा...शरवत्तन्मयो भवेत् ।।

अध्याय में यह विस्तार से वर्णित है। वस्तुमात्र कार्य रूप है, जब साधक कारण और कार्य की एकता समझने लगता है तब उसे ज्ञान होता है कि जिस प्रकार मिट्टी और उससे बन हुए यावन्मात्र पदार्थ मिट्टी से अतिरिक्त नहीं हैं, इसी प्रकार आत्मा भी परमात्मा से भिन्न नहीं है। इस प्रकार दोनों का ऐक्य भावाद्वैत है। वह शरीर के द्वारा जो कुछ कार्य करता है—दान करता है, भोजन करता है, सोता है, जागता है इत्यादि शरीर, मन और वाक् सभी की क्रियाएँ ईश्वर को समर्पित करता है तो वह क्रियाद्वैत है। इसी के लिए गीता में कहा गया है—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥'

इसी प्रकार सर्वात्मक ईश्वर की बुद्धि से जिस प्रकार अपने आत्मा के, उसी प्रकार अन्य सब देहियों के स्वार्थ और कामों की समान रूप से आकांक्षा करता है तो यह द्रव्याद्वैत है। इस प्रकार भावाद्वैत, क्रियाद्वैत तथा द्रव्याद्वैत का विशेष विवरण है। जिस प्रकार कार्य-कारण का विचार करते हुए प्रतिलोम क्रम से पृथ्वी को उसके कारण जल तत्त्व में, जल तत्त्व को उसके कारण तेज में, तेज को वायु में और वायु को आकाश में लीन करके एकत्व स्थापित होता है, उसी प्रकार क्रमशः अन्त में यावन्मात्र विकार अपने प्रभव, प्रतिष्ठा और परायण ईश्वर तत्त्व की एकता में अवसित होते हैं।

इस प्रकार अद्वैत तत्त्व की प्रतिपादिका यह परा भक्ति है। यही कारण है कि अद्वैत तत्त्व के परम उपासक भगवान् शंकराचार्य ने सौन्दर्य लहरी की रचना करके भगवती परमेश्वरी की आराधना की है। उन्हीं के अनुयायी मधुसूदन सरस्वती अपने को स्वाराज्य सिंहासन पर दीक्षित मानते हुए, और वेदान्त पथ के पथिकों द्वारा उपास्य होते हुए अनुभव करते हैं कि किसी गोपवधूविट शठ ने उन्हें हठ पूर्वक अपना दास बना लिया है।[1] एक स्थल में वे लिखते हैं कि जो लोग श्री गोविन्द के पदारविन्द के मकरन्द के आस्वाद से शुद्ध चित्त हैं—इत्यादि; 'श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्दास्वादशुद्धाशयाः'—इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि अद्वैत तत्त्व को प्राप्त कराने में भक्ति का माध्यम प्रशस्ततर है। कहीं-कहीं तो श्रुतियों में यहाँ तक कहा गया है कि विष्णु भक्ति के बिना चतुर्मुख आदि सबका कल्प कोटि में भी मोक्ष नहीं होता। 'त्रिपाद् विभूति महानारायणोप-

१. वेदान्तवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

निषद्' सर्वमान्य उपनिषदों में परिगणित है, उसमें स्पष्ट शब्दों में भक्तिमार्ग की महिमा का वर्णन है—"इसलिए अधिकारी अथवा अनधिकारी सबके लिए भक्तियोग प्रशस्त है। भक्तियोग उपद्रव रहित है। भक्तियोग से मुक्ति होती है। बुद्धिमानों को अनायास ही शीघ्र तत्त्व ज्ञान हो जाता है। यह कैसे होता है? भक्तवत्सल (भगवान्) स्वयं ही भक्तिनिष्ठों की सब प्रकार के विघ्नों से रक्षा करते हैं। सब अभीष्ट देते हैं। मोक्ष दिलाते हैं। चतुर्मुखादि सबका विष्णु भक्ति के बिना कल्पकोटियों में भी मोक्ष नहीं होता। बिना कारण के कार्य का उदय नहीं होता। बिना भक्ति के ब्रह्मज्ञान कदापि नहीं होता। इसलिए तुम भी सब उपायों का परित्याग करके भक्ति का आश्रय लो। भक्तिनिष्ठ होओ। भक्ति से सब सिद्धि होती है। भक्ति के द्वारा असाध्य कुछ नहीं है।"[1] ब्रह्माजी शिष्य के रूप में होकर भगवान् को गुरु मान कर उनसे उपदेश ग्रहण कर रहे थे उस समय के ये वाक्य भगवान् विष्णु द्वारा कहे गये थे। इससे बढ़ कर भक्ति मार्ग की प्रशंसा में और अधिक क्या कहा जा सकता है। अन्त में ब्रह्माजी ने भगवान् विष्णु की पंचोपचार से पूजा करके 'भगवन्! मुझे भक्ति निष्ठा दीजिये' यह माँगा है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' इत्यादि ज्ञान के द्वारा मोक्ष के प्रतिपादक अनेक श्रुति वाक्यों से कोई विरोध नहीं होता। क्योंकि तत्त्व ज्ञान से ही मुक्ति होती है यह यहाँ भी माना गया है और स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया गया है कि 'बुद्धिमानों को अनायास ही शीघ्र (भक्तियोग के द्वारा) तत्त्व ज्ञान हो जाता है।' और भी स्पष्ट शब्दों में आगे कहा है कि भक्ति के बिना ब्रह्मज्ञान नहीं होता। अतः ज्ञान मुख्य है भक्ति साधन है यह स्पष्ट है। ज्ञान के उत्पादन में भक्ति की कारणता है और ब्रह्म प्राप्ति में

१. त्रिपाद्विभूति महानारा०—'तस्मात्सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रवः। भक्तियोगान्मुक्तिः। बुद्धिमतामनायासेन अचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति। तत्कथमिति। भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान् सर्वान् परिपालयति। सर्वाभीष्टान् प्रयच्छति मोक्षं दापयति। चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात्त्वमपि भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिध्यन्ति। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदस्ति।'... 'भगवन् भक्तिनिष्ठां मे प्रयच्छ।'

ज्ञान की कारणता है। गीतोक्त 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' तथा 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार-सागरात्' इत्यादि भगवद् वाक्यों का भी स्वारस्य ऊपर के उद्धरण में आ जाता है।

इस प्रकार यह आत्मसमर्पण क्रिया विज्ञतम अधिकारियों के लिए निर्दिष्ट है। इसमें द्वैतभाव का सर्वथा विलोप हो जाता है। यही उत्तम भक्तियोग है। इसे ही परा भक्ति कहा गया है। इसका आश्रय लेने से अद्वैत सिद्धि होती है; ब्रह्मज्ञान हो जाने से ब्रह्मत्व की प्राप्ति हो जाती है और जन्म मरण आदि का बन्धन सर्वथा नष्ट हो जाता है।

इससे अवर कोटि की भक्ति अपरा भक्ति कही जाती है। इसके आश्रय से अद्वैत तत्त्व का साधन नहीं होता। सगुण ब्रह्म—कार्य ब्रह्म तक ही उपासक की गति होती है। यह चार प्रकार की मानी गयी है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। इनमें अपने इष्टदेव उपास्य सगुण ब्रह्म के लोक की प्राप्ति सालोक्य है; फिर इष्ट देव के समीप तक पहुँचना सामीप्य है। इष्टदेव के समान ही रूप की प्राप्ति सारूप्य है और अन्त में उनसे सयुज् होना (सहावस्थान) सायुज्य है। इनकी प्राप्ति के द्वारा भी जीव का जन्म-मरण चक्र मिट जाता है। उसे फिर संसार चक्र में नहीं लौटना पड़ता। जब तक कार्य ब्रह्म की अवस्थिति है उतने काल तक वह भक्त अपने आराध्य देव के समीप रह कर उनकी परिचर्या आदि के आनन्द का अनुभव करता है तथा अन्त में कार्य ब्रह्म के अधिकार की समाप्ति पर जब उनका भी अपने प्रभव में लय हो जाता है तब वह जीव भी उन्हीं के साथ परम प्रभव में लीन हो जाता है।

इन दोनों प्रकार के भक्तियोगों में पूर्व वर्णित अद्वैत भक्ति के द्वारा भक्त आनन्द-रूप ही हो जाता है। अपरा भक्ति में वह आनन्द का अनुभव करता है आनन्दरूप नहीं होता। इसी को रामकृष्ण परमहंस की उक्ति में कहा जाता है कि परा भक्ति वाला चीनी ही हो जाता है तथा अपरा भक्ति वाला चीनी का आस्वाद लेता रहता है। यह स्पष्ट है कि आनन्द का अनुभव करने वाले में द्वैत की भावना बनी रहती है। दोनों ही प्रकार परम श्रेयस्कर हैं; अधिकारिता, रुचि आदि के अनुसार अथवा संस्कार के अनुसार प्रवृत्ति होती है। अपरा भक्ति का कार्य ब्रह्म प्राप्ति का निरूपण त्रिपाद्विभूति महा-नारायणोपनिषद् में, कौषतकि ब्राह्मणोपनिषद् आदि की श्रुतियों में विस्तार के साथ दिया हुआ है। यहाँ उसके पल्लवित करने की आवश्यकता नहीं है।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के ब्रह्म खण्ड में तो यहाँ तक दिया हुआ है कि जिसके निमेष मात्र से ब्रह्मा का पतन हो जाता है वह ब्रह्मत्व भी स्वप्न तुल्य होता है। कृष्ण भक्त उसे नहीं चाहता। इन्द्रत्व, अमरत्व, सिद्धियोग आदि, मृत्यु को जीतने वाला ज्ञान भी भक्त को वाञ्छित नहीं है; सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य तक वह हरि के साथ

भी नहीं चाहता । वैष्णव भक्त निर्वाण मोक्ष भी नहीं चाहते । भक्त लोग सुदुर्लभ हरिदास्य और हरि में शाश्वती सुदृढ़ा भक्ति ही चाहते हैं । सोते, जागते सब समय वे इसी की वाञ्छा करते हैं ।[1]

अवतार

परमेश्वर अपने स्वरूप से अविज्ञेय है, उसके लिए कहा गया है कि उसे वेद, विष्णु और ब्रह्मा भी नहीं जानते । मन और वाणी की पहुँच वहाँ तक नहीं है—"संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः । यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहा ।।" यह सब में विलीन-निगूढ़ है । किन्तु जगत् जो प्रत्यक्ष है वह उससे पृथक् नहीं है । वही जगत् है और वही जगत् का नियन्ता है । इसलिए, जगत् में जो-जो उसके रूप जगत् का नियमन करते हुए दिखाई देते हैं उनके द्वारा ही परमात्मा को पहचाना जा सकता है । उनके द्वारा ही उपासना कर सकते हैं । वे ही परमेश्वर के **अवतार** हैं । क्षर पुरुष में अव्यय पुरुष की जो कलाएँ परिचित होती हैं वे अवतार हैं । उनके द्वारा ही अव्यय पुरुष उपास्य होता है । इसी कारण भागवत आदि में अवतार का वाचक 'आविर्भाव' (प्रकट होना) शब्द भी मिलता है । जगद्व्यापी विराट् रूप को ही भागवत में पहला अवतार कहा गया है—"एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ।' जगत् में परमात्मा जो आविर्भूत होता है वह एक प्रकार से अपने स्वस्वरूप परम धाम से जगत् में उतरता है । अव्यय पुरुष ही क्षर रूप में उतर कर आया है इसलिए उसे अवतार कहते हैं । परमात्मा का रूप सत्य है, उसके लिए कहा गया है–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' वह तीनों कालों में सब देशों में सब दशाओं में अबाधित रहता है । कारण को सत्य कहते हैं ।

१. यच्चक्षुःपतनेनैव ब्रह्मणः पतनं भवेत् ।
तद् ब्रह्मत्वं स्वप्नतुल्यं कृष्णभक्तो न वाञ्छति ।।
इन्द्रत्वममरत्वं वा सिद्धियोगादिकं शिव ।
ज्ञानं मृत्युञ्जयाद्यं वा न हि भक्तस्य वाञ्छितम् ।।
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसायुज्यं श्रीहरेरपि ।
तत्र निर्वाणमोक्षं च न हि वाञ्छन्ति वैष्णवाः ।।
शश्वत् सुदृढा भक्तिर्हरि दास्यं सुदुर्लभम् ।
स्वप्ने जागरणे भक्ता वांछन्त्येतं वरं वरम् ।।
(ब्र० वै० पुराण—ब्रह्मखण्ड १२।३३–३६) ।

वह सबका कारण है इससे परम सत्य है। वह सत्य जगत् में 'नियति' रूप से प्रकट है। प्रत्येक पदार्थ के भीतर एक नियम कार्य कर रहा है। जल सदा नीचे की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है। अग्नि की ज्वाला सदा ऊपर को ही जाती है। इस प्रकार सब जगत् को अपने-अपने धर्म में नियत रूप से स्थिर रखने वाली शक्ति, जिसमें चेतना भी अनुस्यूत है, अन्तर्यामी, नियति या सत्य शब्द से कही जाती है। यह कहा जा सकता है कि उस परम सत्य का नियति रूप से इस जगत् में अवतार है। इसी प्रकार सत्, चित् और आनन्द--परमात्मा के ये रूप शास्त्रों में वर्णित हैं, उनका जगत् में प्रतिष्ठा, ज्योति और यज्ञ के रूप में अवतार होता है। सत्ता और विधृति (धारण करना) ये दोनों प्रतिष्ठा के रूप नाम हैं। प्रत्येक पदार्थ अपना अस्तित्व रखता है, और अपने कार्य को अपने आधार पर धारण करता है। यह सत्ता का विश्वचर रूप है। चित् (ज्ञान) का विश्वचर रूप है ज्योति। इसके तीन भेद हैं-- नाम, रूप और कर्म। इन्हीं से सब पदार्थों का प्रकाश (ज्ञान) होता है। ये ही सब पदार्थों के भेद के द्योतक हैं; आनन्द का विश्वचर रूप नाम है; आनन्द का रूप विकास है; यज्ञ-अन्न और आनन्द का योग है उससे विकास होता है। इन तीनों विश्वचर रूपों को भी 'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नामरूपे सत्यम्' इत्यादि श्रुतियों में सत्य शब्द से कहा गया है। सर्वज्ञ पर पुरुष अव्यय से इन्हीं तीन विश्वचर रूपों की उत्पत्ति कही गयी है--

'यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥'

विश्वातीत रूपों का विश्वचर रूप से अवतार ही उत्पत्ति है। श्रुति में ब्रह्म नाम प्रतिष्ठा का और अन्न नाम यज्ञ का है। इन तीनों सत्यों का भी सत्य परम सत्य परमात्मा है।

उक्त (नियति, प्रतिष्ठा, नाम, रूप आदि) रूपों से परमात्मा का प्रथम अवतार स्वयंभू में होता है। वही विश्व का प्रथमोत्पन्न रूप है। अतः सत्य का प्रथम अवतार यही है। आगे परमेष्ठी में, सूर्य में, चन्द्रमा और पृथ्वी में क्रमिक अवतार है। पृथ्वी द्वारा पृथ्वी के सब प्राणियों में भी परमात्मा के विश्वचर रूपों का आंशिक अवतार होता है। अतः स्वयंभू भगवान् का प्रथम अवतार और आगे के परमेष्ठी आदि भी अवतार कहे जाते हैं। इनमें पूर्व पूर्व का 'प्राण' उत्तरोत्तर में अनुस्यूत रहता है। इससे पूर्व पूर्व के धर्म न्यूनाधिक मात्रा में उत्तरोत्तर में संक्रान्त हैं। स्वयंभू के प्राण और उसके धर्म परमेष्ठी में, दोनों के सूर्य में, तीनों के चन्द्रमा में, चारों के पृथ्वी में और पाँचों के प्राणियों में संक्रान्त होते हैं। प्राणिमात्र में—विशेषतः मनुष्यों में जो शक्तियाँ देखी जाती हैं वे इन्हीं भगवान् के अवतारों से प्राप्त हैं। भिन्न-भिन्न शक्ति के अधिष्ठान भिन्न-

भिन्न आत्माओं का विकास भी प्राणियों में इन मण्डलों से प्राप्त प्राणों द्वारा ही होता है। जैसे खनिज आदि में केवल वैश्वानर आत्मा, वृक्षादि में वैश्वानर और तैजस, इतर प्राणियों में वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ ये तीनों भूतात्मा और मनुष्यों में भूतात्मा, विज्ञानात्मा, महानात्मा, सूत्रात्मा आदि विकसित होते हैं। जिसमें जिस मंडल के प्राण की प्रधानता रहती है उसमें उसी के अनुसार विशेष शक्ति पायी जाती है और उसे उसका ही अवतार कहा जाता है। इस प्रकार सभी प्राणी ईश्वर के विभूति अवतार कहे जा सकते हैं। किन्तु जिसमें शक्तियों का जितना अधिक विकास होता है वह उतने ही रूप में औरों का विभूति रूप से उपास्य हो जाता है।

जिनमें जीवकोटि से अधिक शक्तियों का विकास हो, बुद्धि के चारों ऐश्वर रूप या उनमें से एक, दो या तीन मनुष्य कोटि से अधिक मात्रा में जहाँ प्रकट हुए हों; जीव-साधारण आवरण से हट कर अव्ययात्मा की कलाएँ जिनमें आविर्भूत दीख पड़ें उन्हें विशेष रूप से अवतार माना जाता है। और जहाँ पूर्ण रूप से सब शक्तियों का विकास हो, पूर्ण रूप से अव्ययात्मा की सब कलाएँ प्रकट हों वे पूर्णावतार वा साक्षात् पर ब्रह्म परमेश्वर रूप से उपास्य होते हैं।

महामाया

समस्त वेदान्त शास्त्रों का सिद्धान्त अन्त में अद्वैत पर अवसित होता है। आनन्द-रूप रस मात्र ही अन्तिम एक मात्र तत्त्व माना गया है। वह निर्विशेष है, वाक्, प्राण, मन आदि के व्यापार से बाहर की वस्तु है अतः उसका मन, वाणी आदि के द्वारा ग्रहण होना संभव नहीं है। वह सर्वव्यापी है, उसके अतिरिक्त यथार्थ में कुछ न होते हुए भी यह माना गया है कि वह सर्वथा निर्बल (बल शक्ति से हीन) नहीं है। परन्तु वह बल उसके भीतर सुप्त है, उद्बुद्ध नहीं है अतः उसके एकत्व में कोई बाधा नहीं आती। परन्तु वही सुप्त बल जब स्वभावतः उद्बुद्ध होकर क्रियाशील होता है तब उस अखण्ड अद्वितीय तत्त्व की द्वितीय संस्था को **परात्पर** कहा जाता है। इसमें सब बल उद्बुद्ध और कुर्वद्रूप हैं। अर्थात् रस के आधार पर अनन्त बल शक्ति के रूप में उदय और अस्त होते रहते हैं। परन्तु इस दशा में भी अद्वैत तत्त्व की हानि नहीं होती क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में भेद नहीं है। सत्ता एक ही है जो रस का परिणाम है। शक्ति को जो सत्ता प्राप्त है वह रस के आश्रय से ही। अतः सत्ता एक ही होने से अद्वैतता अक्षुण्ण रहती है। रस अखण्ड सर्वव्यापक एक तत्त्व है। बल अनन्त हैं संख्या में, परन्तु हैं वे भी सर्वव्यापक। रस किसी दशा में भी बल से हीन नहीं है।

आगे तृतीय संस्था में महामाया के प्रभाव से रस के आधार पर बल सीमित होता है। उस कल्पित सीमा के भीतर जितना रस है वह भी घटाकाश-मठाकाश के समान सीमित सा प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में रस सीमित नहीं है बल ही सीमित है। बल का आधार रस है अतः व्यवहार सौकर्य के लिए रस को सीमित माना जाता है। परात्पर तत्त्व में रस और उद्भूत बल दोनों एक हैं अतः दोनों ही परात्पर हैं। शक्ति रूप होने से उस बल समूह को परात्परा भगवती महामाया आदि नामों से कहा जाता है, उसी का विजृम्भण यह समस्त विश्व है; जैसा कि वैदिक देवीसूक्त में कहा गया है। रस प्रधान होने से आगे सौकर्य के लिए ब्रह्मा, विष्णु आदि पुरुष और स्त्री की कल्पना की गयी है और उपासना की दृष्टि से शाक्त, वैष्णव, शैव आदि भेद माने गये हैं परन्तु यथार्थ दृष्टि से समस्त संसार शक्ति का विजृम्भण होने से शाक्त है। रस के द्वारा सत्ता प्राप्त होती है यह दूसरी बात है परन्तु रस तो निष्क्रिय है, उसके आधार पर क्रियाशील शक्ति तत्त्व ही है अतः यथार्थ में शिव, विष्णु आदि भी शक्तिरूप ही हैं।[१] रस के रूप में शिव, विष्णु को शक्तिमान् पुरुष मानने पर भी शक्ति से विरहित होने की यदि कल्पना की जाय तो वे स्पन्दन भी नहीं कर सकते, हिल-डुल भी नहीं सकते। क्योंकि रस तो अनन्त निरवयव सर्वत्र व्याप्त है उसमें स्पन्दन संभव ही नहीं। स्पन्दन क्रिया तो शक्ति के ही अधीन है। शंकराचार्य सौन्दर्यलहरी में त्रिपुरा भगवती की स्तुति में प्रारंभ में ही कहते हैं—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिंच्यादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥

सृष्टिक्रम में आकर द्विजाति मात्र शाक्त माने जाते हैं यह भी इसी तत्त्व का द्योतक है। द्विजाति को सर्वप्रथम सावित्री शक्ति के द्वारा उपनीत होने पर ही अन्यान्य क्रियाकलाप[१] के सम्पादन की अधिकारिता प्राप्त होती है। परात्पर तत्त्व रस और शक्ति का सम्मिलित रूप है। अतः प्रधानता की विवक्षा के अनुसार रस की प्रधानता में वह परमेश्वर कहा जाता है परन्तु वही शक्ति की प्रधानता में परमेश्वरी माना जाता है। फलतः दोनों के अभिन्न होने के कारण वही परमेश्वर है, वही परमेश्वरी है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव देव-

१. वैदिक अथवा तान्त्रिक।

त्रयी के रूप में नीचे की संस्था में आते हैं और परमेश्वर की सृष्टि में जो अनन्त लोकत्रयी हैं उनके अधिकार-पुरुष के रूप में वर्णित हैं। परन्तु परमेश्वर के ही अंश होने के कारण रस रूप में उनकी कल्पना करने पर वे रस से अभिन्न नहीं हैं इससे वही परमेश्वर भी कहे जा सकते हैं। आधिकारिक पुरुष के रूप में उनकी भिन्न-भिन्न शक्तियाँ भिन्न नामों से (लक्ष्मी, पार्वती आदि) अभिहित हैं। परन्तु जब वे परमेश्वर के रूप में माने जाते हैं तब वे शक्ति और पुरुष के संवलित रूप में हो जाते हैं। शिवजी परात्पर के रूप में ही अर्धनारीश्वर होकर शिव और शक्ति रूपा पार्वती के सम्मिलित रूप में वर्णित हैं। इसी प्रकार विष्णु तत्त्व कृष्ण जब परात्पर रूप में माने जाते हैं तब कृष्ण और राधा का सम्मिलित रूप उपस्थित है। दोनों ही कृष्ण और राधा, पुरुष और शक्ति अभिन्न परस्पर संवलित रूप हैं।

इससे पूर्व स्वयंभू को अवतार परम्परा में प्रथम कहा गया है परन्तु वास्तव में सर्व प्रथम परात्पर का अवतार वह है जब महामाया के द्वारा रस सीमित होकर अव्यय रूप में कहा जाता है। अव्यय में रस और बल दोनों उद्भूत हैं। रस की प्रधानता की विवक्षा होने से अव्यय पुरुष रूप में माना जाता है और शक्ति की प्रधाननता की विवक्षा में वही माया परमेश्वरी है। दोनों एक ही हैं। विवक्षा के अनुसार नामभेद है। अतः प्रथमावतार परमेश्वर और परमेश्वरी रूप है, यहीं से अवतार-परम्परा होती है और स्वयंभू का अवतार होता है।

इनके अतिरिक्त अवतार का एक मुख्य प्रयोजन उपनिषद् में यह दिया गया है कि अद्वितीय, निष्कल, अशरीरी, चिन्मय ब्रह्म की उपासकों के हित के लिए रूप कल्पना होती है—

'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥' (रामपूर्वतापिन्युपनिषद् १)

इसी प्रकार त्रि० महानारायणोपनिषद् में कहा गया है कि सर्वपरिपूर्ण परब्रह्म का परमार्थतः साकार रूप के बिना केवल निराकारत्व यदि माना जाय तो केवल निराकार —आकाश के समान परब्रह्म में भी जड़त्व आ जायगा। अखण्ड, अद्वितीय, सर्व-व्यापक तत्त्व निष्क्रिय होने से जड़वत् अकिंचित्कर होगा। इसलिए परब्रह्म के साकार और निराकार दोनों रूप स्वभाव सिद्ध हैं। इस प्रकार के अद्वैत परमानन्द-लक्षण आदि-नारायण के उन्मेष और निमेष के द्वारा मूल अविद्या की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं।[१]

१. सर्वपरिपूर्णस्य परब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवलं निराकारत्वं यद्य-भिमतं तर्हि केवलनिराकारस्य गगनस्येव परब्रह्मणोऽपि जडत्वमापद्येत। तस्मात्पर-

भारतवर्ष में अधिकांश में शक्ति, शिव और विष्णु की उपासना प्रचलित है। अवतार भी असंख्य हैं परन्तु कहीं (गीतगोविन्द में) दस मुख्य अवतारों का उल्लेख हुआ है। विशेष कर विष्णु के मनुष्य रूप अवतारों में राम (दाशरथि) और कृष्ण (वासुदेव) की उपासना का प्रचार बहुलता से पाया जाता है। मनुष्य रूप में भी इन दोनों को ही अखण्ड अद्वितीय परब्रह्म का पूर्णावतार माना गया है। कुछ भारतीय सम्मान्य विशिष्ट विद्वानों ने कृष्णावतार को तो पूर्णावतार माना है परन्तु रामचन्द्र को पूर्णावतार नहीं माना है क्योंकि इनकी दृष्टि में वाल्मीकि ने, जो रामचरित्र वर्णन करनेवालों में प्रमुख माने जाते हैं, उन्हें महापुरुष ही माना है। उसके अनुसार रामचन्द्रजी ने नरलीला का ही पूर्ण रूप से अभिनय किया है और कृष्णजी के समान उन्होंने अपनी ऐश्वरी शक्ति का प्रदर्शन नहीं किया है। परन्तु नरलीला का अभिनय करने का तो कारण कुछ और था। रावण ने यह वरदान पाया था कि नर के अतिरिक्त और किसी के द्वारा उसका वध संभव न हो। इसीलिए नर रूप में अवतरित होकर राम ने रावण का वध किया। यदि वे नरलीला का अभिनय न करते तो नर के द्वारा रावण वध की चरितार्थता न होती। क्षणिक नररूप धारण करके भी उसका वध किया जा सकता था परन्तु उस दशा में वरदान का अक्षरशः पालन न हो पाता। परन्तु इस नरलीला के द्वारा रावण आदि राक्षसों का संहार तो हुआ ही, सुग्रीव, विभीषण, हनुमान आदि भक्तजनों को भी प्रभु की सेवा का अवसर मिला तथा वह भविष्य में भक्तों के लिए माध्यम हुई। राम और कृष्ण दोनों को ही समान रूप से उपनिषद् में परब्रह्म का साकार रूप बताया गया है। अतः इस प्रकरण में पूर्णावतार राम और कृष्ण के सम्बन्ध में ही विचार उपस्थित करना उचित होगा। दोनों का तुलनात्मक विवेचन करके यह भी सिद्ध करने की चेष्टा होगी कि वाल्मीकि रामायण में ही राम के ईश्वरत्व का पर्याप्त प्रमाण पाया जाता है।

पूर्णावतार

श्री कृष्ण वासुदेव को ब्रह्म का पूर्ण अवतार माना गया है और इसका पर्याप्त प्रमाण श्रुतियों में तथा स्मृतियों में मिलता है। श्री रामचन्द्र के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार श्रुति और स्मृति सर्वत्र पूर्णावतारत्व के पोषक प्रमाण प्रचुरता से प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मणः परमार्थतः साकार-निराकारौ स्वभावसिद्धौ। तथाविधस्य अद्वैतपरमानन्द-लक्षणस्य आदिनारायणस्य उन्मेषनिमेषाभ्यां मूलाविद्योदयस्थितिलया जायन्ते ॥ (त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद् २)

वाल्मीकि रामायण के प्रमाणों का आगे उल्लेख होगा। यहाँ दो-एक अन्य प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। शिवपुराण शिवजी की महत्ता का प्रतिपादन करने वाला साम्प्रदायिक पुराण माना जाता है। यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर एक ईश्वर के विभिन्न कार्यों के अनुष्ठान के कारण पृथक् माने जाते हैं परन्तु वास्तव में पृथक् नहीं हैं और एक की उपासना से तीनों की उपासना हो जाती है। ईश्वर के हृदय में अक्षरत्रय के रूप में ये तीनों एक साथ रहते हैं; इनका अभेद है अतः तीनों सर्वथा एक हैं इसमें सन्देह नहीं। प्रधानता अप्रधानता के अनुरोध से उनका पृथक् स्वरूप माना जाता है। परन्तु इस तत्त्व पर ध्यान न देने के कारण साम्प्रदायिक कलह होने लगा और अपने-अपने उपास्य को सर्वश्रेष्ठ मान कर अन्य के उपास्य की अवहेलना होने लगी। परन्तु तत्त्वतः देखा जाय तो वैष्णव साम्प्रदायिक पुराणों में शिव की तथा शैव पुराणों में विष्णु की, उनके अवतार राम और कृष्ण के रूप में पूर्णावतारता दिखायी गयी है। शिव-पुराण की रुद्र संहिता के चौबीसवें अध्याय में एक आख्यान है—इसका सार यह है :—

एक समय भगवान् रुद्र सती के साथ भ्रमण करते हुए दण्डकारण्य में आये। वहाँ उन्होंने लक्ष्मण सहित भगवान् राम को देखा जो रावण द्वारा छल पूर्वक हरी गयी सीता की खोज कर रहे थे। उस समय उदारचेता पूर्णकाम भगवान् शंकर ने बड़ी प्रसन्नता के साथ उन्हें प्रणाम किया और जय-जयकार करके दूसरी ओर चल दिये। यह देखकर सती ने भगवान् शंकर से प्रश्न किया कि हे परमेश्वर ! ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवता सदा आपकी ही सेवा करते हैं। आप इस समय भक्त के समान विनम्र क्यों हो गये ? इसके उत्तर में शंकर ने सती को बताया कि इनके (राम के) रूप में भगवान् विष्णु ही अपने सम्पूर्ण अंश से प्रकट हुए हैं। ये साधु पुरुषों की रक्षा और हम लोगों के कल्याण के लिए इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी राम-चरित मानस में इस कथा का उल्लेख किया है। इस प्रकार साक्षात् शंकर के द्वारा शिव-पुराण रामचन्द्र को विष्णु का पूर्णावतार होना सिद्ध करता है। विष्णु, ब्रह्मा, शिव ये तीनों ही ईश्वर के ही रूप हैं, राम भी साक्षात् ईश्वर हैं।

दो-एक उद्धरण श्रुतियों में से देना भी अनुपयुक्त न होगा। त्रि० वि० उपनिषद् में राम और कृष्ण दोनों को एक साथ परमानन्दलक्षण परब्रह्म का अवतार बताया गया है।[1]

१. त्रि० महाना०—'रामकृष्णाद्यवतारेषु अद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परमतत्त्व-परमविभवानुसंधानं स्वीयत्वेन श्रूयते सर्वत्र।'

रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में दाशरथि राम को चिन्मय **महाविष्णु** कहा गया है ।[१] रामोत्तरतापिनी में लिखा है कि ब्रह्मा ने राम की स्तुति करते हुए उन्हें अद्वैत परमानन्द आत्मा परब्रह्म बतलाया है ।[२] कृष्णोपनिषद् में लिखा है कि सच्चिदानन्दलक्षण श्री महाविष्णु रामचन्द्र को सर्वांग सुन्दर देखकर वनवासी मुनि विस्मित हो गये ।[३] रामचन्द्र का ईश्वर का पूर्णावतार होना इनसे सिद्ध होता है ।

कृष्ण का अभिप्राय परब्रह्म है ।

कृष्ण वर्ण—वर्णों का प्रकाश मुख्यतः द्विविध माना जाता है । सब वर्ण एक साथ एक ही बिन्दु पर जब उद्भूत होते हैं तब वह वर्णसमुच्चय शुक्ल (श्वेत) वर्ण माना जाता है । दूसरा कृष्ण वर्ण है, वह सब वर्णों का अभाव है । शुक्ल में सब वर्ण एक साथ उद्भूत रहते हैं; कृष्ण में सब वर्ण लय को प्राप्त हो जाते हैं । यही कृष्ण स्वाभाविक है और सबका कारण है । परमेश्वर चिद्घन है, चित् का समुद्र है । जितने भी ज्योतिष्मान् पदार्थ हैं उनमें जो ज्योति है वह उसी चिद्घन से प्राप्त होती है इसमें सन्देह नहीं । परन्तु वह ज्योतिषां ज्योति होने पर भी absolute है अतः वह चक्षुरिन्द्रिय से पर की वस्तु है अतः वह हम लोगों की दृष्टि में नहीं आ सकता । यह सिद्धान्त अर्वाचीन वैज्ञानिक भी मानते हैं कि absolute प्रकाश अथवा शब्द का इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता । अप्रकाश होने से ही वह कृष्ण माना गया है—गीता में कृष्ण अपने सम्बन्ध में कहते हैं[४]—'हम योगमाया से समावृत होने के कारण सबके लिए अप्रकाश हैं ।' एक प्रकार से यहाँ कृष्ण भगवान् ने अपने कृष्णत्व का लक्षण बता दिया है । भौतिक प्रकाश उन्हीं से प्रकाशित होते हैं परन्तु वे स्वयं अप्रकाश हैं। वेद में भी यही मिलता है । इसीलिए मनु इस संसार के लिए कहते हैं कि यह सब तमोभूत था, अप्रज्ञात था, लक्षणरहित था, अप्रतर्क्य था अर्थात् अनुमानगम्य न था, अविज्ञेय था । मानो सब प्रकार से

१. 'चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ ।' (रा० पू० ता०)
२. 'यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् अद्वैतपरमानन्द आत्मा यत्परं ब्रह्म'....। (राम उ० ता०)
३. श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वांगसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः' ।। (कृष्णोप०)
४. गीता—'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।'

सुप्त था ।[1] वेद में भी आता है—अंधकार था, पहिले अंधकार से छिपा हुआ था ।[2] वेदों के अनुसार वर्णों का प्रादुर्भाव सूर्य के द्वारा माना गया है। संसार के उपादान दो तत्त्व माने गये हैं—सोम और अग्नि । इसी के लिए कहा गया है—'अग्नीषोमात्मकं जगत्' अर्थात् यह जगत् अग्नि-सोम-मय है ।

सोम का वर्ण कृष्ण माना गया है, इससे सोम के उद्भव परमेष्ठी को कृष्ण कहा गया है । सोम स्वयं कृष्ण वर्ण है परन्तु प्रकाश का कारण भी वह है इससे प्रकाश भी मानागया है, जैसा कि वेद में मिलता है[3]—'तुमने ज्योति के द्वारा तम का नाश किया ।' सूर्य का भी स्वाभाविक वर्ण कृष्ण है । सूर्य के लिए वेद में मिलता है[4]—'कृष्ण रज् तुम आवर्तमान हो ।' सूर्य आंगिरस है, अग्नि भी आंगिरस है, दोनों कृष्ण रूप हैं । अग्नि के सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है[5]—'जो कि तुम कृष्ण हो रूप धारण करके तुमने वनस्पतियों में प्रवेश किया है ।'. छांदोग्योपनिषद् में मिलता है[6]—'आदित्य में शुक्ल कांति है वही ऋक् है, फिर जो नील अत्यन्त कृष्ण है वह साम है ।' छां० उप० में मधुविद्या में भी आदित्य के लाल, शुक्ल और कृष्ण वर्णों का उल्लेख है ।[7] 'इस प्रकार यह जो सूर्य तप रहा है वह सब प्रकार से कृष्ण मूर्ति अंगिरः प्राण है । वह सत्य कृष्ण हिरण्य पुरुष से आवरण होने के कारण स्वरूप से छिपा हुआ है और हिरण्यमय दिखता है । सोम भी कृष्ण है, सूर्यप्राण भी कृष्ण है परन्तु दोनों के संयोग से प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है । सूर्यप्राण में सोम-प्राण की आहुति होने से परिणामस्वरूप प्रकाश उत्पन्न होता है । वह यौगिक तत्त्व है जो

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्त-मनुभान्ति सर्वे तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।।
२. आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।। (मनु—१) । वेद—तम आसीत् तमसा गूढमग्रे ।
३. त्वं ज्योतिषा वितमो बभर्थ त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयः ।
४. आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो ।
५. यत्कृष्णो रूपं कृत्वा प्राविशस्त्वं वनस्पतीन् ।
ततस्त्वामेकविंशतिधा संभरामि सुसंमृता ।।—तै० ब्रा० ३-७-४
६. छा० उप०—यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्क् । अथ यन्नीलं परं कृष्णं तत् साम । १-७
७. ,, मधुविद्या (पृ० २२२)

दो मौलिक तत्त्वों के योग से उत्पन्न होता है । इस प्रकार यह सूर्य का प्रकाश जिस प्रकार सूर्यज्योति कहा जाता है उसी प्रकार वह सोमज्योति भी है ।

इसी प्रकार चन्द्र भी कृष्णवर्ण है, उसमें जो प्रकाश आता है वह सूर्य के द्वारा—यह सभी मानते हैं । यजुर्वेद का मंत्र है—'ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु', इसकी व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में मिलता है—'चंद्रमा वै ब्रह्मा कृष्ण:' अर्थात् चन्द्रमा ही ब्रह्मा कृष्ण है । इस प्रकार वेदों के अनुसार चन्द्रमा कृष्णवर्ण माना गया है । सोमप्राण दाह्य है, सूर्यप्राण दाहक है—दोनों के योग से प्रकाश उत्पन्न होता है यह कहा गया है—'आदित्यो वा अत्ता तस्य चन्द्रमा आहुतय:' । १०–४५–३ शतपथ में आदित्य प्राण में सोम प्राण की आहुति से ज्योति की उत्पत्ति बतायी गयी है । इसीलिए दोनों को हेतु माना गया है—कहीं अग्नि (आदित्य) को, कहीं सोम (चन्द्रमा) को–'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' ६–५–१–२, 'अग्निरेतसं वै हिरण्यम्' ३–१०–५–१ । अन्यत्र चंद्र को प्रकाश का कारण माना गया है ।[१]

सोम का वर्णन जो वेदों में मिलता है उससे सोम कृष्ण वर्ण प्रतीत होता है । इसी प्रकार अग्नि का वर्ण भी स्वत: कृष्ण है । सूर्य का भी कृष्ण वर्ण स्वाभाविक है तथा चंद्रमा का भी । परन्तु सोम और अग्नि दोनों के कृष्ण वर्ण होते हुए भी, उन दोनों तत्त्वों के योग की यह महिमा है कि दोनों के संयोग से प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है । अग्नि तत्त्व में सोम तत्त्व की आहुति होने से ही प्रकाश उद्भूत होता है । सोम दाह्य है अर्थात् अग्नि के साथ योग करके वह अग्नि रूप में परिणत हो जाता है तब वहाँ सोम की सत्ता पृथक् न रह कर प्रकाशमय अग्नि मात्र की सत्ता प्रतीत होती है । अग्नि अत्ता (खाने वाला) है । सोम आद्य (खाया जाने वाला) है । अत्ता और आद्य का योग होने पर अत्ता ही रह जाता है और आद्य अपना अस्तित्व उसी में लीन कर देता है । इसीलिए वेद में मिलता है कि आद्य और अत्ता का समवाय होने पर अत्ता ही कहलाता है । परन्तु वेदों में भी कहीं-कहीं सोम के लिए यह कहा गया है कि वह ज्योति के द्वारा तम का नाश करता है । उसी प्रकार सूर्य और अग्नि को तो प्रकाश का कारण माना ही गया है । इन दोनों को प्रकाश का कारण मानना स्पष्ट है । प्रकाश के उद्भव के लिए केवल सोम अथवा केवल अग्नि अकिंचित्कर हैं । जब तक दोनों तत्त्वों का मेल न होगा प्रकाश न होगा । दो तत्त्वों के योग से उत्पन्न होने के कारण प्रकाश यौगिक पदार्थ है । यद्यपि

१. सोमस्य सा (पृ० २२३)

दोनों का योग ही प्रकाश का प्रधान कारण है परन्तु जिन दो तत्त्वों का योग यहाँ होता है उनमें भी योग के साधन होने के कारण उनमें प्रत्येक में भी कारणता है ही। इसी दृष्टि से सोम को भी प्रकाश का कारण मानना सर्वथा संगत है। सूर्य का प्रकाशमंडल अत्यन्त विस्तीर्ण है, उससे भी बाहर चारों ओर सोम-समुद्र भरा हुआ है और निरतन्र सूर्य में सोम की आहुति होती रहती है। इसी सोम की आहुति के निरन्तर प्रवाह के कारण सूर्य का प्रकाश सहस्रों वर्षों से निरन्तर अनवरत चला आ रहा है। सोम की आहुति का जिस क्षण आना बन्द हो जायगा; सूर्य की सत्ता भी उसी समय लुप्त हो जायगी।

ब्रह्म की एक अद्वितीय सत्ता हिन्दू शास्त्रों में मानी गयी है। परम कारण होने से वही सत्य है वही कृष्ण है। परन्तु उसकी बृंहण शक्ति के द्वारा जो विकास हुआ है उसमें भी जिस प्रकार ब्रह्म की अनुवृत्ति मान कर उसके लिए ब्रह्म शब्द, सत्य शब्द का प्रयोग किया गया है उसी प्रकार कृष्ण शब्द भी अनुवृत्त हुआ है। अश्वत्थ वृक्ष की कल्पना ईश्वर के रूप में की गयी है; जैसा वेदों में मिलता है तथा तदनुसार गीता में भी वर्णित है। जिस प्रकार अश्वत्थ वृक्ष में शाखाएँ होती हैं; काण्ड (joints) होते हैं उसी प्रकार ईश्वराव्यय की शाखाएँ तथा कांड हैं। हम लोगों की पृथ्वी जिस शाखा (वल्शा) में आती है वह पंचपर्वा है—स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी। ये पाँचों ही ईश्वर के शरीर माने गये हैं। इस स्थल पर इस विषय को विशेष पल्लवित करना अभीष्ट नहीं है। यहाँ केवल यही द्योतित करना है कि इन सभी में ईश्वर का कृष्णत्व, सत्यत्व तथा ब्रह्मत्व अनुवृत्त हुआ है। परमेष्ठी तो कृष्ण माना ही गया है। पृथ्वी भी कृष्णा मानी गयी है। चन्द्रमा के लिए भी ब्रह्म और कृष्ण शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार यह कृष्ण शब्द उक्त रामायण में जो राम के लिए प्रयुक्त किया गया है वह वास्तव में उनके ईश्वरत्व के प्रदर्शन के लिए है; देवकीनन्दन वासुदेव कृष्ण (मानुषावतार) के लिए नहीं। इसी कारण इन शब्दों के बाद ही ब्रह्मा फिर स्पष्ट करते हैं कि 'हे राम! आप ही विष्णु हैं तथा सीता लक्ष्मी हैं।'

देवकीनन्दन कृष्ण भी चिद्घन थे राम भी चिद्घन ईश्वर थे। दोनों ही यथार्थ में कृष्ण कहे जा सकते हैं। कृष्णावतार के बाद राम और कृष्ण के साहित्य में जो भेद किया गया है वह उपासना की दृष्टि से है। यथार्थ में जिस प्रकार वैष्णव साहित्य के अन्तर्गत राम और कृष्ण दोनों के चरित्र का समावेश माना गया है उसी प्रकार कृष्ण साहित्य भी व्यापक है और उसके अन्तर्गत राम और वासुदेव कृष्ण दोनों के चरित्र आ जाते हैं। राम भी कृष्ण हैं और वासुदेव भी कृष्ण हैं। उपासना की दृष्टि से ही पार्थक्य माना गया

है । यही कारण है कि हरि, राम, कृष्ण, केशव, नारायण आदि शब्द पर्यायवाचक माने गये हैं ।

मकान को साफ-सुथरा रखने के लिए समय-समय पर उसका संस्कार अपेक्षित होता है । कूड़ा-करकट स्वाभाविक रूप से आता ही रहता है अतः उसे दूर करने के लिए, सफाई लाने के लिए उद्योग करना पड़ता है । इसी प्रकार स्वाभाविक रूप से विश्व में अधर्म का आक्रमण होता रहता है; आसुर भावों की वृद्धि होती है; मनुष्यों की बुद्धि में विपर्यय होता है । अतः बढ़ते हुए अधर्म को रोकने के लिए, धर्म की संस्थापना करने के लिए, पथभ्रष्ट मनुष्यों को सन्मार्ग दिखाने के लिए, जब-जब आवश्यकता होती है भगवान् ईश्वर अवतार ग्रहण करते हैं । गीता में भगवान् ने अपने अनेक बार अवतार लेने का उल्लेख किया है । उसी अवसर पर अवतार लेने के कारणों का भी उल्लेख किया गया है । इस प्रकार राम और कृष्ण दोनों ही समान रूप से असुरों का संहार करके धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए अवतरित हुए थे । उद्देश्य दोनों का समान था । परन्तु दोनों के कार्य की प्रणाली भिन्न-भिन्न थी ।

विष्णु का ही अधिकांश में अवतार क्यों हुआ ?

दुष्ट दमन के लिए अधिकांश में विष्णु के अवतारों का उल्लेख मिलता है । इसके कारण की गवेषणा पर भी दृष्टिपात करना उचित प्रतीत होता है । यह तो प्रसिद्ध ही है कि सच्चिदानन्द ईश्वर ही अपने तीन अधिकृत कार्यों के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन संज्ञाओं को धारण करते हैं । ब्रह्मा होकर वही ईश्वर सृष्टि का सृजन करते हैं, विष्णु रूप से वे ही सृष्टि की रक्षा करते हैं तथा वे ही रुद्र रूप से संहार करते हैं । इसी-लिए एक ही ईश्वर के तीन रूपों में ये अभिन्न माने जाते हैं तथा पृथक् दृष्टि से देखने से उनमें भेद पाया जाता है । भूमि जब आसुर भाव से आक्रान्त होती है उस समय अधर्म के प्राबल्य से धर्म प्रायः निर्बल पड़ जाता है और भूमि का भार बढ़ने लगता है । उस दशा में सृष्टि की रक्षा के अधिकृत विष्णु पर ही धर्म की संस्थापना का भार पड़ता है अतः अपने अधिकार की रक्षा करने के लिए समय-समय पर विष्णु को अवतार लेकर धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करनी पड़ती है; जैसा कि गीता में उल्लिखित है—'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।' तुलसीदास-जी ने भी इसी आशय से कहा है—'जब जब होइ धर्म की हानी ।'......तब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि सर्वशक्ति सम्पन्न ईश्वर अपने भ्रूभंग मात्र के द्वारा असुरों का संहार करके धर्म की स्थापना कर सकते थे, इस कार्य के लिए विभिन्न अवतारों की

विडम्बना क्यों व्यर्थ उठायी गयी। इस प्रश्न के साथ सम्बद्ध यह भी प्रश्न है कि ईश्वर ने इस विषम सृष्टि की रचना ही क्यों की। सृष्टि को उत्पन्न करके उसके संहार की योजना करने में प्रयोजन क्या है। कोई भी विज्ञ पुरुष बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता। यहाँ तक कि मन्द बुद्धि व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' यह संस्कृत में कहा गया है। इस प्रश्न को बादरायण ने ब्रह्ममीमांसा में उठाया है और उसका समाधान यह किया है कि जैसे कोई लौकिक पुरुष आत्म विनोद के लिए निरर्थक लीला का अभिनय करता है उसी प्रकार यह सृष्टि का आयोजन ईश्वर की लीला मात्र है।[1] इस पर शंकराचार्य यह भाष्य करते हैं—जिस प्रकार श्वास-प्रश्वास शरीर में बिना किसी बाहरी प्रयोजन के स्वभावतः होते हैं उसी प्रकार भगवान् भी स्वभावतः यह लीला करते हैं। किसी का स्वभाव ऐसा क्यों है यह प्रश्न उचित नहीं होता। लोकलीला मनोविनोद के लिए होती है। ईश्वर सर्वथा आप्तकाम हैं तो भी स्वभावतः लोक की लीला में कोई सूक्ष्म प्रयोजन भी हो सकता है; जो व्यक्ति विनोद के लिए लीला करता है वहाँ कदाचित् मन में कुछ विक्षेप आ जाता है, उसे दूर करने के लिए मनोविनोद किया जाता है। परन्तु ईश्वर के लिए आप्त काम होने के कारण सूक्ष्म भी विक्षेप संभव नहीं है अतः यह स्वभाव ही मानना पड़ेगा। इसी प्रकरण में सूत्रकार ने एक और प्रश्न छेड़ कर उसका समाधान किया है। ईश्वर किसी को अत्यन्त दुःखभागी बनाता है किसी को अत्यन्त सुखी बनाता है। यह विषमता क्यों होती है, इससे तो ईश्वर में पक्षपात करने का आरोप हो सकता है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि प्राणियों के सुख-दुःख के कारण तो उनके कर्म हैं। कर्मानुसार ही दुःख अथवा सुख की व्यवस्था होती है। ईश्वर का कारणत्व जो माना गया है वह पर्जन्य (मेघ) के समान समझा जाय। जिस प्रकार पर्जन्य के कारण ही व्रीहि–जौ आदि उत्पन्न होते हैं, वहाँ पर्जन्य तो साधारण कारण है परन्तु उन-उन अन्नों में जो विषमता पायी जाती है वह उन बीजों की विशेष सामर्थ्य के कारण है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सृष्टि की प्रारंभिक दशा में धर्म-अधर्म का सर्वथा अभाव था। क्योंकि सृष्टि तो अनादि मानी गयी है।[2] इस प्रकार शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग होता है। इसीलिए ईश्वर सर्वशक्ति सम्पन्न होते हुए भी, इच्छा मात्र से दमन करने की सामर्थ्य रखते

१. लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। ब्र० सू० २–१–३३
२. ब्र० सू० २–१–३४–३५

हुए भी अत्याचारियों के दुष्कर्मों की उपेक्षा करते रहते हैं और जब उनके कर्म परिपक्व होकर सीमा तक पहुँच जाते हैं तब उनके दमन की आयोजना करते हैं। दुर्गासप्तशती में चतुर्थ अध्याय में भगवती की स्तुति करते हुए देवगण कहते हैं कि आप तो दृष्टिमात्र द्वारा असुरों का संहार कर सकती हैं तब भी शस्त्र का उपयोग इस कारण करती हैं कि आपके शस्त्र से पवित्र होकर वे शत्रु भी दिव्य लोक प्राप्त कर सकें। इस प्रकार उन अहित करने वालों पर भी आपकी शुभ बुद्धि रहती है।[१] यह तो ठीक ही है। कृष्ण के द्वारा वध किये जाने पर शिशुपाल के शरीर से प्राणज्योति निकल कर परम ज्योति में लीन हो गयी थी जिसे सब लोगों ने आश्चर्य युक्त होकर प्रत्यक्ष देखा था। यह वर्णन महाभारत में मिलता है। परन्तु इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त कर्मपरिपाक का सिद्धान्त भी माना जाता है। शिशुपाल स्वभावतः कृष्णद्वेषी था। उन्हें अपमानित करने का उसका स्वभाव हो गया था। वह उन पर अपशब्दों की बौछार करता रहा परन्तु कृष्णजी उसकी उपेक्षा करते रहे। माघ कवि ने इसका सुन्दर चित्र खींचा है।[२] चेदिराज (शिशुपाल) केशव को गालियाँ सुनाता रहा परन्तु उन्होने कोई उत्तर नहीं दिया, जिस प्रकार केसरी (सिंह) घनध्वनि के उत्तर में तो गर्जना करता है परन्तु शृगालों के रुत की उपेक्षा करता है। परन्तु जब उसके पापों की सीमा पहुँच गयी तब एक क्षण में ही चक्र के द्वारा उसका शिरश्छेद कर दिया। इसके अतिरिक्त भगवान् का यह भी उद्देश्य रहता है कि संसार–सागर में कष्ट पाते हुए प्राणियों को उपदेश भी प्राप्त हो। सत्कर्म का शुभ परिणाम होता है तथा असत्कर्म से पतन अवश्यंभावी है-–इसका उदाहरण लोगों के समक्ष उपस्थित होता है। भगवान् की दिव्य लीलाओं को देख कर उनके गुणगान से उनके भक्त लाभ उठा सकें यह भी उदात्त भाव रहता है।

पारमार्थिक रूप से तो एक मात्र ब्रह्म ही अद्वितीय तत्त्व है इसमें संदेह नहीं। परन्तु भगवान् की लीला का क्षेत्र संसार माना गया है और इस संसार में कर्म का सिद्धान्त माना गया है। कर्म-अकर्म, भाव-अभाव, विद्या-अविद्या–—जहाँ जो कुछ है भगवान् से अतिरिक्त कुछ नहीं है, यदि है तो उन्हीं से उद्भूत है और अन्त में उन्हीं में लीन होता

१. दृष्ट्वैव किं न भवती प्रकरोति भस्म सर्वासुरानरिषु यत्प्रहिणोषि शस्त्रम्।
लोकान् प्रयान्तु रिपवोऽपि हि शस्त्रपूता इत्थं मतिर्भवति तेष्वहितेषु साध्वी।।

२. प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे।
अनुहुंकुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी।।

है। गीता में भगवान् कहते हैं—'सुखं दुःखं भवो भावो'......इस प्रकार सात्विक, राजस और तामस सृष्टि उन्हीं से हुई है। दैवी सम्पत्ति शुभावह मानी गयी है आसुरी सम्पत्ति की निन्दा की गयी है, तो भी दोनों ही समान रूप से उन्हीं से उद्भूत हैं। श्रुति में भी मिलता है कि देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। कर्मानुसार सुख-दुःख भोग के लिए विभिन्न योनियों में संसरण होता है। अतः भ्रूभंग मात्र से असुरों का संहार कर देने से ईश्वर में विषमता पायी जाती। जब तक दुष्टों के कर्म का विपाक नहीं होता तब तक उनके अत्याचारों की भगवान् उपेक्षा करते हैं। समय प्राप्त होने पर उनके दमन का प्रबंध करते हैं। कभी स्वयं प्रबल अत्याचारी का वध करते हैं, कभी अपने विशिष्ट तेजोंऽश सम्पन्न पुरुष के द्वारा और कभी अन्य प्रकार से। इसलिए कर्म के परिपक्व होने तक उन्हें नहीं छेड़ा जाता।

भागवत पुराण में वर्णित है कि शुकदेवजी से परीक्षित ने यह प्रश्न छेड़ दिया था कि[1] भगवान् स्वयं सब प्राणियों के लिए समान हैं। उनके सब प्रिय हैं तथा सुहृद हैं, फिर क्यों विषम होकर इन्द्र की रक्षा के लिए दैत्यों का उन्होंने वध किया। वे तो साक्षात् निःश्रेयसात्मा (कल्याण गुणाकर) हैं, उन्हें न तो असुरों से विद्वेष है और न अगुण के लिए उद्वेग। इसके उत्तर में शुकदेवजी ने कहा कि 'भगवान् निर्गुण हैं, अज हैं, अव्यक्त हैं तथा प्रकृति से पर हैं, तथापि माया के गुणों में प्रविष्ट होकर बाध्य-बाधक भाव को प्राप्त होते हैं। सत्त्व, रज और तम ये प्रकृति के गुण हैं आत्मा के नहीं। उन गुणों का एक साथ ह्रास या उल्लास (उत्कर्ष) नहीं होता। सत्त्व के उत्कर्ष काल में देव तथा ऋषियों के, रजस् के उत्कर्ष में असुरों के तथा तम के उत्कर्ष में यक्ष और राक्षसों के अनुकूल उन-उन गुणों में प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् उन-उन देहों में प्रविष्ट होकर उनका

१. भागवत—७ स्कन्ध ११ अध्याय—राजोवाच—समः प्रियः सुहृद् ब्रह्मन् भूतानां भगवान् स्वयम्। इन्द्रस्यार्थे कथं दैत्यानवधीद् विषमो यथा॥ न ह्यस्यार्थः सुरगणैः साक्षान् निःश्रेयसात्मनः। नैवासुरेभ्यो विद्वेषो नोद्वेगश्चागुणस्य हि॥

शुक उवाच—निर्गुणोऽपि ह्यजोऽव्यक्तो भगवान् प्रकृतेः परः। स्वमायागुणमाविश्य बाध्यबाधकतां गतः॥ सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः। न तेषां युगपद्राजन् ह्रास उल्लास एव वा जयकाले तु सत्त्वस्य देवर्षीन् रजसोऽसुरान्। तमसो यक्षरक्षांसि तत्कालानुगुणोऽभजत्॥

टीका—तत्तद्देहं प्रविश्य वर्धयति।

उत्कर्ष करते हैं। यही कारण है कि अनेकों बार इन्द्रादि देव गणों को असुर राक्षसों से पराजित होना पड़ा है। इन्द्र का पक्षपात भगवान् को एकान्ततः अभीष्ट होता तो असुर राक्षसों की कभी विजय हो हीं नहीं सकती थी। जब उन आततायियों के अत्याचार चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाते थे तब उनके पूर्वकृत कर्मों के परिपक्व हो जाने पर भगवान् निमित्त मात्र बनते थे। कहीं स्वयं और कहीं अपने अन्य अंश से उनके विनाश की योजना करते थे। गीता में भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि इन लोगों को तो हमने पहले हीं निहत कर दिया है, तुम तो निमित्त मात्र हो जाओ। यह सब माया के गुणों का विजृंभण है; भगवान् तो वास्तव में निर्गुण और निर्लेप हैं, माया के कार्यों का अज्ञानवश उनमें आरोप किया जाता है। इसका अध्यात्मरामायण में अच्छा विवेचन है। लंका से लौट कर अयोध्या आने पर सिंहासन पर आसीन रामचन्द्रजी ने हनुमान को सम्मुख प्रांजलि स्थित देख कर सीताजी को आदेश दिया कि ये हनुमान हम दोनों के नित्य भक्तिमान् हैं; कल्मषरहित संतोषी हैं तथा ज्ञान प्रदान करने के पात्र हैं अतः इन्हें यथार्थ तत्त्व का ज्ञान करा दो।[१] इस पर सीताजी ने हनुमान को बताया कि 'राम परम ब्रह्म, सच्चिदानन्द, अद्वय, सब प्रकार की उपाधियों से निर्मुक्त, सत्तामात्र, अगोचर, आनन्द, निर्मल, शान्त, निर्विकार, निरंजन, सर्वव्यापी, आत्मा, स्वप्रकाश तथा कल्मष रहित हैं। सर्ग, स्थिति तथा संहार करने वाली मूल प्रकृति हम हैं तथा उन (राम) के सांनिध्यमात्र से निरालस्य होकर हम इस सृष्टि का सृजन करती हैं। उनके सांनिध्य के कारण हमारे द्वारा सृष्ट वस्तु का अज्ञानियों के द्वारा उनमें आरोप किया जाता है।' फिर अयोध्या नगर में निर्मल रघुवंश में जन्म से लेकर अभिषेक पर्यन्त की रामकथा का संक्षेप में उल्लेख करके सीता कहती हैं कि ये सब कार्य हमारे ही द्वारा किये गये हैं और अखिलात्मा निर्विकार इन राम में उनका आरोप किया जाता है। राम तो न चलते हैं,

१. अध्यात्मरामा० सर्ग १—सिंहासने समासीनः कोटिसूर्यसमप्रभः।।
दृष्ट्वा तदा हनूमन्तं प्रांजलिं पुरतः स्थितम्।
कृतकार्यं निराकांक्षं ज्ञानापेक्षं महामतिम्।।
रामः सीतामुवाचेदं ब्रूहि तत्त्वं हनूमते।
निष्कल्मषोऽयं ज्ञानस्य पात्रं नौ नित्यभक्तिमान्।।
तथेति जानकी प्राह तत्त्वं रामस्य निश्चितम्।
हनूमते प्रपन्नाय सीता लोकविमोहिनी।। ।।२८–३१।।

न स्थित हैं, न शोक करते हैं, न कोई आकांक्षा करते हैं, न कुछ त्याग करते हैं और न कोई कार्य करते हैं। वे तो आनन्दमूर्ति हैं, अचल हैं, परिणामहीन हैं माया के गुणों से अनुगत होने के कारण उस प्रकार मालूम पड़ते हैं।[१]

अध्यात्मरामायण के उत्तर कांड में रामगीता में भी राम कहते हैं[२]—

'हम प्रकाश रूप हैं, अज हैं, अद्वय हैं, हम सर्वदा विभात हैं, हम अतीव निर्मल हैं; विशुद्ध विज्ञान घन हैं, निरामय हैं, सम्पूर्ण, आनन्दमय तथा अक्रिय हैं।'

भगवद्गीता में भी भगवान् कृष्ण अपने सम्बन्ध में इसी प्रकार का भाव बतलाते हैं[३]—'हम अज हैं, अव्ययात्मा हैं, सम्पूर्ण भूतों के ईश्वर हैं तो भी अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर (उस पर अधिष्ठित होकर) अपनी माया से उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण भूतों में समानरूप से स्थित, विनाशशीलों में भी अविनाशी परमेश्वर को जो देखता है वही

१. अध्यात्मरामायण—बालकाण्ड प्रथम सर्ग—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्। सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम्॥
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरंजनम्। सर्वव्यापिनमात्मानं स्वप्रकाशमकल्मषम्॥
मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यंतकारिणीम्। तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतंद्रिता॥
तत्सान्निध्यान्मया सृष्टं तस्मिन्नारोप्यतेऽबुधैः। अयोध्यानगरे जन्म रघुवंशेऽतिनिर्मले॥
एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि। आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि॥
रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोचत्याकांक्षते त्यजति नो न करोति किंचित्।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो मायागुणाननुगतो हि तथा विभाति॥३२–३७॥

२. प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयोऽसकृद्विभातोऽहमतीवनिर्मलः।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः॥४३॥

३. गीता–४–६ अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
,, ७–२४ अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥
गीता १३–२८ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पश्यति॥
,, १४–१९ नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

यथार्थ देखने वाला है । जब द्रष्टा पुरुष गुणों से पर अन्य कर्ता को नहीं देखता तथा जो गुणों से ऊपर है उसे जान जाता है तब वह हमारे भाव को प्राप्त करता है ।'

यह कहा जा सकता है कि अध्यात्मरामायण में राम को तथा गीता और भागवत आदि में कृष्ण को परमात्मस्वरूप, अद्वितीय चित्स्वरूप माना गया है, परन्तु वाल्मीकि ने राम को दशरथ पुत्र, मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में ही माना है । परन्तु यह बात नहीं है । वाल्मीकि ने भी अनेक स्थलों में उनके परमात्मस्वरूप का निर्देश किया है । उसका विवेचन पृथक् प्रकरण में किया जायगा । यहाँ केवल दो स्थलों का निर्देश किया जाता है जहाँ उन्हें (राम को) विष्णु रूप से परमात्मा कहा गया है । रावण के वध के अनन्तर पति के मरण के कारण शोकविह्वल मन्दोदरी राम के सम्बन्ध में कहती है—

'स्पष्ट ही ये महायोगी सनातन परमात्मा हैं । आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं । महत् से परम महत् हैं । तम से परे हैं, धाता हैं, शंख, चक्र और गदा धारण करने वाले हैं । श्रीवत्स चिह्न से युक्त हैं । नित्य श्री से युक्त हैं, शाश्वत हैं, ध्रुव हैं । मानुष रूप धारण करने वाले सत्य पराक्रम विष्णु हैं ।'[१]

दूसरा स्थल वा० रा० में उत्तर कांड में है । महाप्रयाण के समय जब राम प्रस्थान कर रहे थे उस समय अंतरिक्ष से ब्रह्मा ये वचन बोले[२]—'हे विष्णो, आइये, आपका भद्र हो (अर्थात् आपका स्वागत है); हे राघव ! आप भाग्य से प्राप्त हो गये हैं ।

१. रावण के वध पर मन्दोदरी का विलाप—
व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः ।
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान् ।।
तमसः परमो धाता शंखचक्रगदाधरः ।
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः ।।
मानुषं रूपमास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः ।
—वा० रा० युद्धकाण्ड—अध्याय ११३—११—१२—१३

२. ततः पितामहो वाणीं त्वंतरिक्षादभाषत ।
आगच्छ विष्णो भद्रन्ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव ।।
भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्वकां तनुम् ।
यामिच्छसि महाबाहो तां तनुं प्रविश स्विकाम् ।।
वैष्णवीं तां महातेजो यद्वाकाशं सनातनम् ।।
त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित् प्रजानते ।।—११०, ८—१०

देवों के समान कान्ति वाले भाइयों के साथ आप अपने निज के शरीर में प्रविष्ट हों। हे महाबाहो ! अपने जिस शरीर में इच्छा हो उसमें प्रवेश कीजिये; हे महातेज ! चाहे वैष्णवी मूर्ति में प्रवेश कीजिये चाहे सनातन आकाश में। हे देव ! आप सब लोक के गति-स्थान हैं; आपको कोई जानते नहीं।'

यहाँ पर यह भी ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्मा ने रामजी से कहा कि चाहे वैष्णवी मूर्ति में प्रवेश कीजिये चाहे सनातन आकाश में। सनातन आकाश से यहाँ पर भूताकाश अभिप्रेत नहीं है। भूताकाश पंच महाभूतों में प्रथम है; उसकी उत्पत्ति बतायी गयी है। जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश भी अवश्यंभावी है। जिसका जन्म और नाश होता है, वह नित्य और सनातन नहीं माना जा सकता, अतः यहाँ आकाश से सनातन ब्रह्मरूप का अभिप्राय है। बादरायण ने ब्रह्ममीमांसा में 'आकाशस्तल्लिंगात्' (१.१.२२) सूत्र में इसे ब्रह्मपरक माना है। इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य लिखते हैं[1]—यह जो कहा गया है कि भूताकाश प्रसिद्ध है और इस प्रसिद्धि के आधार पर इस प्रकरण में भी भूताकाश मानना उचित है। प्रकरण यह है कि छान्दोग्योपनिषद् में यह कहा गया है कि ये सब भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही लीन होते हैं। आकाश ही इन सबमें बड़ा है; सबका परायण है। यहाँ यह संशय होता है कि आकाश से अभिप्राय भूताकाश से है अथवा ब्रह्म से ? पूर्वपक्ष में भूताकाश माना गया, उसका खण्डन करते हुए श्री शंकराचार्य कहते हैं कि केवल प्रसिद्धि के बल से यहाँ भूताकाश मानना उचित नहीं है क्योंकि वाक्य के अन्त में ब्रह्म के गुणों का निर्देश है। ब्रह्म में भी आकाश शब्द प्रयुक्त हुआ है—'आकाशो वै नाम रूपयोर्निर्वहिता' इत्यादि में। इसी प्रकार आकाश के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग भी ब्रह्म के लिए हुआ है। 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'—

१. "यत्पुनरुक्तं भूताकाशं प्रसिद्धिबलेन प्रथमतरं प्रतीयते इति तत्र ब्रूमः—प्रथमतरं प्रतीतमपि सन् वाक्यशेषगतान् ब्रह्मगुणान् दृष्ट्वा न परिगृह्यते। दर्शितश्च ब्रह्मण्यप्याकाशशब्दः—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' इत्यादौ। तथाकाशपर्यायवाचिनामपि ब्रह्मणि प्रयोगो दृश्यते—'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः' (ऋ० सं० १–१६४–३९), 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' (तै० ३–६), 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छां० ४–१०–५), इति चैवमादौ। वाक्योपक्रमेऽपि वर्तमानस्य आकाशशब्दस्य वाक्यशेषवशाद्युक्ता ब्रह्मविषयत्वावधारणा।"

आदि ऋग्वेद के मन्त्र में तथा 'सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता' इत्यादि में इस प्रकार अन्त में आकाश ब्रह्म के लिए स्पष्ट कर दिया गया है अतः प्रारंभ में भी आकाश शब्द से ब्रह्म का ही ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'शारीरिकविमर्श' में उल्लिखित है[1] कि आकाश तीन प्रकार का है—परमाकाश, पुराणाकाश और भूताकाश। खं ब्रह्म असीम ब्रह्माकाश परम है। परमेश्वर से अधिष्ठित इस परमाकाश में अनन्त विश्व हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के वाक्य में जो सनातन आकाश कहा गया है वह परमेश्वराधिष्ठित ब्रह्मस्वरूप परमाकाश ही हो सकता है और इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में—वाल्मीकि-रामायण में ही श्री रामचन्द्र का परमेश्वरत्व निर्दिष्ट है। नरलीला के समाप्त होने पर स्वस्वरूप में प्रविष्ट होना सर्वथा स्वाभाविक है।

सृष्टि क्रम की विचित्रता के कारण वर्षाकालीन मध्य रात्रि में जिस प्रकार अन्धकार बढ़ जाता है उसी प्रकार आसुर प्राणों के अवतरण की बहुतायत से परपीडा-प्रचारक तथा स्वार्थपरायण घोर प्राण से जब पृथ्वी बोझिल हो जाती है तथा सर्वत्र दुःख व्याप्त हो जाता है तब आसुर प्राणों से परिक्लिष्ट होकर देव भोग की न्यूनता के कारण देव प्राण क्षुब्ध हो जाते हैं। एकत्र हुए देव प्राणों से प्रेरित होकर परमेष्ठी फिर से पृथ्वी में दैव और आसुर प्राणों का साम्य प्रवर्तन करने के लिए देव-प्राणाधीन होकर अकस्मात् इस पृथ्वी में अवतीर्ण होते हैं। वे परस्पर विद्रोह प्रधान आसुरी संपत् का विनाश करते हैं तथा परमार्थ परायण दैवी संपत् का बाहुल्य से प्रचार करते हैं जिससे समत्वलक्षण सुख सबमें उत्पन्न होता है। इस तरह यह अवतरण का प्रयोजन रहता है। इस अधिकार को समाप्त करके वे फिर अपने धाम को प्राप्त होते हैं। इसी आशय से बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में लिखा है—'यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्' (ब्र० सू० ३–३–३३), अर्थात् आधिकारिक पुरुष अपने अधिकार को पूरा करने तक अवस्थित रहते हैं। सांसारिक जीव अपने कर्मानुसार शुभ-अशुभ योनि में जन्म लेते हैं तथा शुभ-अशुभ

१. शारीरकविमर्श—पं० मधुसूदन झा—पृष्ठ १८—'अथेदमत्रापरं बोध्यम्। अर्थप्रोनिर्वाणाकाशः। स त्रिविधः—परमाकाशः, पुराणाकाशः, भूताकाश इति। खं ब्रह्मेत्यसीमो ब्रह्माकाशः परमः। परमेश्वराधिष्ठितपरमाकाशे अनन्तानि विश्वानि।'

२. गीता-विज्ञानभाष्य—आचार्यकाण्डपृष्ठ —(११४–११५)

कर्मों के अनुसार फिर स्वर्ग-नरक का भोग करते हैं अथवा तदनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं। इसके विपरीत अवतार पुरुष कर्मबंधन से रहित होते हैं; उनका जन्म स्वेच्छा से होता है तथा कृत कर्मों के भोग करने के लिए उनमें संस्कार उत्पन्न नहीं होता, अधिकार समाप्ति के बाद ही अपने धाम में वे लौट जाते हैं। जैसा कि गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है—अजन्मा, अव्ययात्मा तथा भूतों के ईश्वर होते हुए भी हम अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी माया से उत्पन्न होते हैं। हे भारत ! जब जब धर्म की हानि होती है तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब हम अवतार ग्रहण करते हैं। सज्जनों की रक्षा के लिए, पापियों के विनाश के लिए तथा धर्म की संस्थापना करने के लिए हम प्रत्येक युग में उत्पन्न होते हैं।[1]

१. अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्या त्ममायया ।।
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।—४,६–८

उपसंहार

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध में वैदिक संस्कृति का संक्षिप्त निरूपण किया गया है। आर्यों के सर्वस्वभूत वेदों के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार के आपाततः विरोधी वाक्य उपलब्ध होते थे उनका समाधान वेदों के शब्द—ग्रन्थ और उनके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ इन दोनों (शास्त्रवेद और वैज्ञानिक वेद) के समन्वय से हो जाता है। इसी प्रकार एक, अद्वितीय, निर्लेप, निर्विशेष तत्त्व से बृंहण के द्वारा जो भिन्न संस्थाओं का विकास हुआ उस पर ध्यान देने से आत्मा के सम्बन्ध में जो अनेक विप्रतिपत्ति दिखाई देती हैं उनका समन्वय हो जाता है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' से लेकर जो कुछ दृष्टिगत होता है वह सब भी ब्रह्म है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'; इसका भी ऐक्य प्रतिपादन हो जाता है। यह जो आक्षेप किया जाता है कि वैदिक काल में अध्यात्म भाग में भले ही उन्नति रही हो परन्तु संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से वह प्रारम्भिक दशा थी। उस समय न तो विज्ञान का विकास था और न सभ्यता का ही। वाणिज्य व्यवसाय से भारतीय सर्वथा अपरिचित थे; केवल कृषि-कर्म में अपेक्षाकृत दक्षता प्राप्त हो गयी थी। इस भ्रान्त मत का शिल्प और विज्ञान के प्रकरण के द्वारा समूल उन्मूलन हो जाता है। जिस समाज में युद्ध-विद्या का ज्ञान पर्याप्त था; तदर्थ उपकरण अस्त्र शस्त्र आदि, रथ और घोड़े उपयुक्त होते थे, जहाँ राजनीति और कूटनीति से अनभिज्ञता न थी उस समाज को प्रारम्भिक काल का बताना नितान्त भ्रान्ति है। जहाँ के आचार विचार सर्वथा विज्ञानानुमोदित हैं; जहाँ प्राकृतिक तत्त्वों पर आधिपत्य प्राप्त करके यज्ञ प्रक्रिया के द्वारा सकलार्थसिद्धि का साधन सुलभ किया गया था, वह समाज असभ्य था यह कहना कहाँ तक न्याय्य है। जहाँ के आचार में वर्तमानकालीन सभ्य समाज की प्रथा के अनुसार ही भोजनकालीन भाषण-प्रतिभाषण की प्रथा विद्यमान थी; परस्पर भेंट होने पर अभिवादन आदि के कार्य विज्ञानसम्मत थे वहाँ सभ्यता का अभाव किस प्रकार कहा जा सकता है ?

यह कहना असंगत न होगा कि वैदिक काल सभ्यता-संस्कृति-विज्ञान का उत्कर्ष-काल था। वह विज्ञान-मार्तण्ड का मध्याह्न काल था। ब्रह्मा के वेद निर्माण काल से पूर्व ही साध्ययुग में यज्ञ विद्या आदि का प्रादुर्भाव हो चुका था। उसे विज्ञान का प्रारम्भ काल माना जा सकता है। साध्ययुग में दार्शनिक विचार भी प्रचलित थे परन्तु

इनमें अनेक मत-मतान्तर थे । सबके समन्वय करने वाले एक मूल तत्त्व तक पहुँच न थी । इन सबका उल्लेख ऋग्वेद के दशम मण्डल में नासदीय सूक्त में मिलता है । साध्य जाति में उत्पन्न आदि ब्रह्मा ने उन सबका समन्वय करके ब्रह्म-सिद्धान्त की स्थापना की, वही आगे के लिए स्थायी रूप से सबके लिए पथ-प्रदर्शक हुआ ।

वर्णाश्रम व्यवस्था, संस्कार, यज्ञ-तपो-दान ये वैदिक संस्कृति के प्रधान अंग थे और जब तक यह व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही तब तक वैदिक संस्कृति का साम्राज्य सुस्थिर बना रहा । आदि ब्रह्मा के समय से लेकर महाभारत काल तक यह युग माना जा सकता है । महाभारत के विप्लव के बाद से ही अव्यवस्था प्रारम्भ हो गयी और आज जो दशा है वह सर्वविदित है । इस ह्रास के कारण का अन्वेषण किया जाय तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि ब्रह्मवीर्य जो सबका नियन्त्रण करनेवाला था उसकी शक्ति कालगति से शनैः-शनैः क्षीण होती गयी और उसी के परिणामस्वरूप अन्य वर्णों में शैथिल्य आ गया । महाभारत काल तक भारतीय सभ्यता का उत्कर्ष बना हुआ था ।

यह सब होते हुए भी इस अत्यन्त जीर्ण शीर्ण दशा में भी अनेक क्षेत्रों में भारत का सिर उन्नत ही देखा गया है । वैदिक काल में अश्विनीकुमारों की समुद्रगामिनी नौका का उल्लेख मिलता है । यह परम्परा किसी न किसी रूप में आधुनिक काल तक देखी गयी है । नौका निर्माण कला में ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के समय में भारतीय कितने दक्ष थे; किस प्रकार अंग्रेजों ने इन भारतीय शिल्पियों से बहुत सी बातें सीख लीं और अन्त में किस प्रकार भारतीय नौका निर्माण कला का विकास अवरुद्ध किया, उसे नष्ट कर दिया गया; यह वर्तमान ऐतिहासिकों से तिरोहित नहीं है । इसी प्रकार गणित के विषय में, रसायन शास्त्र में तथा अन्यान्य शास्त्रों में भारत का उत्कर्ष था; यह इस सम्बन्ध के इतिहास के ग्रन्थों को देखने से स्पष्ट हो जाता है ।

कर्म, ज्ञान और उपासना के सम्बन्ध में तो विशेष कथन अनावश्यक है । इनका जितना विस्तार यहाँ मिलता है उसका एक अंश भी अन्यत्र नहीं है ।

इस निबंध में वेद निर्माण-काल पर विशेष विचार नहीं किया गया है । आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् वेद निर्माण-काल ई० पू० २५००–२००० से लेकर एक सहस्र ई० पू० तक खींच लाते हैं । अधिकांश भारतीय विद्वान् भी इसी मत का अनुगमन करने लगे हैं । इसके अनुसार मोहेंजोदरो आदि स्थानों में पुरातत्त्वान्वेषण से जो तथ्य मिलते हैं उन्हें आर्य सभ्यता से पूर्वकालीन सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है । परन्तु यह मत सर्वथा निस्सार और उपेक्षणीय है । आर्यों के मूल निवास, भौम-त्रैलोक्य व्यवस्था आदि प्रकरणों में प्रदर्शित युक्ति के द्वारा इस मत का स्वतः निरास हो जाता है ।

आर्य धर्म विश्व-धर्म है, इसमें प्रायः सब प्रधान धर्मों का समावेश हो जाता है। सामान्य धर्म—अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि सबके लिए समान रूप से उपकारक हैं। सभी प्रधान धर्मों ने इन्हें मान्यता दी है। इनके अनुगमन से चरित्र शुद्धि होती है; मानव जीवन सार्थक होता है; परधर्म से विद्वेष करने का कोई कारण नहीं रहता। अब ईश्वरानुग्रह से भारत अपने भाग्य विधान में सर्वथा स्वतंत्र है। अतः इस अंश से इस निबन्ध का उपसंहार किया जाता है कि धर्म-निरपेक्षता का क्षेत्र विशेष धर्म होना चाहिए; सामान्य धर्म का सब लोग समान रूप से पालन करते हुए 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः' इस गीता वाक्य का अनुगमन करते हुए अपने समाज, देश और विश्व के कल्याण में प्रवृत्त हों।

देहधारी मनुष्य के जन्म की यही सफलता है कि अपने प्राण से, अर्थ से, बुद्धि से तथा वचन से वह प्राणिमात्र के श्रेय का सम्पादन करे—

'एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा॥'

और भी—'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।'